

DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj)

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER S No	DUE DTATE	SIGNATURE

आचार्यश्री शिवार्य विरचित

भगवती आराधना

आचार्यश्री अपराजित सूरि रचित विजयोदया टीका
तथा तदनुमारी हिन्दी टीका सहित

भाग २

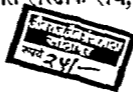
पूर्व ग्रथमाला सम्पादक
स्व० डॉ० हीरालाल जैन
स्व० डॉ० ए० एन० उपाध्ये

विद्यमान ग्रथमाला सम्पादक
श्री प० कैलाशचन्द्र शास्त्री
सिद्धान्ताचार्य, वाराणसी

सम्पादक एवं अनुवादक
सिद्धान्ताचार्य श्री प० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

प्रकाशक
सेठ लालचन्द होराचन्द,
जैन-संस्कृति-संरक्षक-संघ, शोलापुर

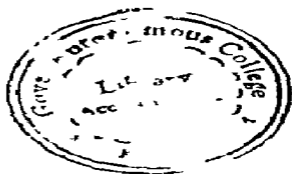
वीर सवन् २५०४]



[ई० मन् १९७८

प्रकाशक
श्रीमान् सेठ लालचंद हीराचंद
अध्यक्ष—जैन संस्कृति संरक्षक सघ
मोलापुर

प्रथमावृत्ति
प्रति ११००



सर्वाधिकार सुरक्षित

मुद्रकः
वर्द्धमान मुद्रणालय,
जवाहर नगर कॉलोनी, दुर्गाकुण्ड, रोड,
वाराणसी-२२१००१

ACHARYA SHRI SHIVARAY'S
BHAGVATI-ARADHANA

With
The Sanskrit tika Vijayo-daya of Aparajit suri



Ex General Editors

Late Dr H L Jain

Late Dr A N Upadhye

General Editor

Pt Kailaschandra Shastri

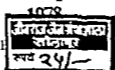
Edited along with the Hindi Translation etc.

By

Pandit Kailaschandra Shastri

published by
Lalchand Hirschund

**Jain Samskriti Samrakshaka Sangha
Sholapur**



Copies of this book can be had direct from Jain Samskṛti Samrakṣaṅg
Sangha, Santosh Bhavan, Phulni Galli, Sholapur (India)

Price Rs 70-00 per copy, exclusive of postage

श्री जीवराज जैन ग्रन्थमाला का परिचय

सोलापूर निवासी श्रीमान् स्व० व्र० जीवराज गोतम चन्द दोशी कई वर्षोंमें उदासीन होकर धर्म कायमे अपनी वृत्ति लगा रहे थे। सन् १९४० में उनकी प्रबल इच्छा हुई कि अपनी न्यायो-पार्जित सम्पत्तिका उपयोग विशेष रूपसे धर्म तथा समाजकी उन्नतिके कार्यमें लगे।

तदनुसार उन्होंने अनेक जैन विद्वानोंसे साक्षात् और लिखित रूपसे सम्मतियाँ इस बातकी सगृहीत की, कि कौनसे कायमे सम्पत्तिका विनियोग किया जाय।

अन्तमें स्फुट मत सचय कर लेने के पश्चात् सन् १९४१ में प्रौढ कालमें मिद्ध क्षेत्र श्री गजपथजीके शीतल वातावरणमें अनेक विद्वानोंको आमंत्रित कर उनके सामने लक्षपोह पूर्वक निर्णय करनेके लिए उक्त विषय प्रस्तुत किया गया।

विद्वत् सन्मेलनके फलस्वरूप श्रीमान् ब्रह्मचारी जीने जैन मस्कृति तथा प्राचीन जैन साहित्यका मरक्षण-उद्धार-प्रचारके हेतु 'जैन सस्कृति मरक्षण सभ' इस नामकी सस्था स्थापना की। तथा उनके लिए उक्त र० ३०००० का वृहत् दान घोषित किया गया।

आगे उनकी परिग्रह निवृत्ति बढ़ती गई। सन् १९४४ में उन्होंने लगभग दो लाखकी अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति सभको ट्रस्ट रूपसे अर्पण की।

इसी मस्थाके अन्तर्गत 'जीवराज जैन ग्रन्थमाला' द्वारा प्राचीन मस्कृत-प्राकृत-हिन्दी तथा मराठी ग्रन्थोंका प्रकाशन कार्य आज तक अखण्ड प्रवाहमें चल रहा है।

आज तक इस ग्रन्थमाला द्वारा हिन्दी विभागमें ३४ ग्रन्थ तथा मराठी विभागमें ४४ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ इस ग्रन्थमालाकी ३६ वा पुष्प प्रकाशित हो रहा है।



स्व ष जीवराज गौतमचंद दोषी
स्व रो ता १६-१-५७ (पीप शु १५)

प्रवचनमातृकाव्याख्यानायोत्तरप्रबन्धस्तत्र मनोगुप्ति वाग्गुप्ति व्याख्यातुमायातोत्तरगाथा—

जा रागादिगणितो मणस्स जाणाहि त मणोगुप्ति ।

अलियादिगणितो वा भोग वा होड वच्चिगुत्ती ॥११८१॥

'जा रागादिगणितो मणस्स जाणाहि त मणोगुप्ति या रागद्वेषाभ्या निवृत्तिर्नमस्ता जानीहि मनो-
गुप्ति । अत्रेदं परीक्ष्यते । मनसो गुप्तिरिति यदुच्यते किं प्रवृत्तस्य मनसो गुप्तिरथाप्रवृत्तस्य ? प्रवृत्त चेदं शुभ
मनं तस्य का रक्षा । अप्रवृत्तं यदि तथापि असत् का रक्षा । मतोऽप्यपारपरिहागपयुक्तोत्पद्यते ? किं च
मनं गन्देन किमुच्यते द्रव्यमन उत भावमन ? मनोद्वयवर्गणा मनस्चेन तस्य कोऽयाया नाम यस्य परिहारो
रक्षा स्यात् ? किं च द्रव्यान्तरेण तेन रक्षितेनास्य जीवस्य फलं य आत्मन परिणामोऽनुभवमावहति । ततो-
ऽप्युक्तं रक्षात्मन । अथ नो इन्द्रियमतिज्ञानावरणक्षयोपशममाजतं ज्ञानं मन इति गृह्यते तस्य अपायः कः ?
यदि विनाशः न परिहर्तुं शक्यते यतोऽनुभवसिद्धौ विनाशः । अन्यथा एकस्मिन्नेव ज्ञाने प्रवृत्तिरात्मन
स्यात् । ज्ञानानीह बोधश्च इवानागतमुत्पद्यन्ते न चास्ति तदविनाशोपायः । अपि च इन्द्रियमतिरपि रागादिव्या-
वृत्तिरिष्टैव किमुच्यते रागादिगणितो मणस्स इति ।

अथ प्रतिविधीयते—नो इन्द्रियमतिरिह मनं शब्देनोच्यते । सा रागादिपरिणामं सत् एककाल आत्मनि
प्रवर्तते । न हि विषयावग्रहादिज्ञानमन्तरेणास्ति रागद्वेषयोः प्रवृत्तिः, अनुभवमिदंवास्ति नापरा युक्तिः अनु-
गम्यते । वस्तुतस्तानुयायिना मानसेन ज्ञानेन समं रागद्वेषो न वर्तते इत्येतदप्यात्ममाशिक्षमेव । तेन मनमस्त-

आगे प्रवचनमाताओका व्याख्यान करते हैं । उनमें में प्रथम मनोगुप्ति और वचनगुप्तिका
व्याख्यान करते हैं—

शा०—टी०—मनकी जो रागादिसे निवृत्ति है उसे मनोगुप्ति जानो ।

शका—यहाँ यह विचार करते हैं कि यह जो आप मनकी गुप्ति कहते हैं सो यह गुप्ति प्रवृत्त
मनकी है या अप्रवृत्त मनकी है ? प्रवृत्त मन तो शभ रूप होता है उसको रक्षा कमी ? यदि मन
अप्रवृत्त है तो वह असत् हुआ, उसको रक्षा कसी । प्रवृत्त मनकी अपायमें बचाव करनेमें उप-
योगिता होती है । तथा मन शब्दसे द्रव्यमन लेते हैं या भावमन ? यदि द्रव्यवर्गणा रूप मन लेते
हैं तो उसका अपाय क्या, जिससे बचनेसे उसकी रक्षा हो । तथा द्रव्यवर्गणा रूप मन तो भिन्न
द्रव्य है । उसकी रक्षा करनेसे इस जीवको क्या लाभ जो आत्माके अनुभ परिणाम करता है ।
अन आत्माकी रक्षाकी बात युक्त नहीं है । यदि नोइन्द्रिय मतिज्ञानावरणके क्षयोपशममे उत्पन्न
हुए ज्ञानको मन शब्दसे ग्रहण करते हैं तो उसका अपाय क्या है ? यदि अपायसे मनलज विनाश
है तो उसका परिहार शक्य नहीं है क्योंकि विनाश तो अनुभवमे सिद्ध है । यदि ज्ञानका विनाश
न हो तो आत्माकी प्रवृत्ति सदा एक ही ज्ञानमे रहे । किन्तु ज्ञान तो तरंगोकी तरह निरन्तर
उत्पन्न होते रहते हैं । उनके विनाश न होनेका कोई उपाय नहीं है । तथा इन्द्रियजन्य मतिको
भी रागादिसे व्यावृत्ति मान्य है तब 'मनकी रागादिसे निवृत्ति' क्या कहते हैं ?

समाधान—यहाँ मन शब्दमे नोइन्द्रिय जन्य मति कही है । वह आत्मामे रागादि परि-
णामोके साथ एक ही कालमे प्रवृत्तिशील है । विषयोका अवग्रहादिज्ञान हुए विना रागद्वेषमे प्रवृत्ति
नहीं होती, यह बात अनुभव सिद्ध है । इसमे अन्य कोई युक्ति नहीं है । जो मानस ज्ञान वस्तुतत्त्व-
के अनुसार होना है उन ज्ञानके साथ रागद्वेष नहीं होते यह बात आत्ममाशिक्ष है । अन नत्व-

त्वावप्राहिणो रागादिभिरसहचारिता भा सा मनोगुप्ति । मनोग्रहणं ज्ञानोपलक्षणं तेन सर्वो बोधो निरस्तराग-
द्वेषकलङ्को मनोगुप्तिरन्यथा इन्द्रियमती श्रुते, अवधी, मनपर्यये वा परिणममानस्य न मनोगुप्ति स्यात् । इष्यते
च । अथवा मन शब्देन मनुते य आत्मा स एव भयते तस्य रागादिभ्यो या निवृत्ति रागद्वेषरूपेण या अपरि-
णति सा मनोगुप्तिरित्युच्यते । अथैव रूपे सम्यग्योगनिग्रहो गुप्ति दृष्टफलमनपेक्ष योगस्य वीर्यपरिणामस्य
निग्रहो रागादिकार्यकरणनिरोधो मनोगुप्ति । 'अलिणादिगिपत्तो वा मोष वा होइ ध्विगुत्तो' विपरीतार्थप्रति-
पत्तिहेतुत्वात्परदु श्लोत्पत्तिनिमित्तत्वाच्चाधर्मादा व्यावृत्ति सा वाग्गुप्ति । ननु च वाच पुद्गलत्वात् विपरी-
तार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वादिभ्यो व्यावृत्तिहेतुर्वाचो धर्मो न चासी सवरणे हेतुरनात्मपरिणामत्वात् । शब्दादिवत् ।
एव तर्हि व्यलीकाल्परुपादात्मप्रसासापरात् परनिन्दाप्रवृत्तात्परोपद्रवनिमित्ताच्च वचसो व्यावृत्तिरात्मनस्तथा-
भूतस्य वचसोऽप्रवृत्तिका वाग्गुप्ति । या 'वाच प्रवर्तयन् अनुभ कर्म स्विकरोत्येवमा तस्या वाच इह ग्रहण
वाग्गुप्तिरित्यत्र तेन वाग्विरोपस्पानुत्पादकता वाच परिहारो वाग्गुप्ति । मोन वा सवल्या वाचो या परि-
हृति सा वाग्गुप्ति । अयोयवचनेऽप्रवृत्ति प्रेक्षापूर्वकारितया योग्य तु वक्ति वा न वा । भाषामभितित्तु

का ग्रहण करने वाले मनका रागादि भावके साथ साहचर्य न होना मनोगुप्ति है । 'मन' शब्द ज्ञान-
का उपलक्षण है । अत रागद्वेषकी कालिमामे रहित ज्ञानमात्र मनोगुप्ति है । यदि ऐसा न माना
जाय तो जब आत्मा इन्द्रिय ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान अथवा मन पर्ययज्ञान रूपसे परिणत हो
उस समय मनोगुप्ति नहीं हो सकेगी । किन्तु उस समय भी मनोगुप्ति मानी जाती है । अथवा जो
आत्मा 'मनुते' अर्थात् पदार्थोंको जानना है वही मन शब्दसे कहा जाता है । उसको जो रागादिसे
निवृत्ति है अथवा रागद्वेषसे परिणमन करना वह मनोगुप्ति कही जाती है । ऐसा होने पर 'सम्यक्'
रूपसे योगका निग्रह गुप्ति है' ऐसा कहनेमें भी कोई विरोध नहीं है । सम्यक् अर्थात् किमी लौकिक
फलकी अपेक्षा न करके वीर्य परिणाम रूप योगका निग्रह अर्थात् रागादि कार्य करनेमें रोकना
मनोगुप्ति है ।

तथा विपरीत अर्थको प्रतिपत्तिमें कारण होनेमें और दूसरोंको दुःखकी उत्पत्तिमें निमित्त
होनेसे जो अधर्म मूलक वचनमें निवृत्ति है वह वचन गुप्ति है ।

शङ्का—वचन तो पौद्गलिक है अत विपरीत अर्थकी प्रतिपत्तिमें हेतु आदि होनेसे व्यावृत्ति
वचनका धर्म है और वह सवरमें कारण नहीं है क्योंकि वह तो पुद्गलका परिणाम है, आत्माना
परिणाम नहीं है जैसे शब्द वगैरह पुद्गलके परिणाम हैं ।

समाधान—मिथ्या, कठोर, अपनी प्रसासा और परकी निन्दा करने वाले तथा दूसरोंमें
उपद्रव कराने वाले वचनमें आत्माकी निवृत्ति, जो इस प्रकारके वचनोंकी प्रवृत्तिको रोकती है
वह वचन गुप्ति है । वचन गुप्तिमें वचन शब्दसे जिस वचनको सुनकर प्रवृत्ति करता हुआ आत्मा
अनुभ कर्म करता है उस वचनका ग्रहण है । अत वचन विरोधको उत्पन्न न करना वचनका
परिहार है और वही वचन गुप्ति है । अथवा ममस्त प्रकारके वचनोंका परिहार रूप मोन वचन-
गुप्ति है । अयोग्य वचनमें अप्रवृत्ति वचनगुप्ति है । प्रेक्षापूर्वकारो होनेमें वह योग्य वचन बोले
या न बोले । किन्तु योग्य वचन योचना—उनका कर्ता होना भाषासमितित है । अत. गुप्ति और

योग्यवचस कर्तृता नतो महान्भेदो गुप्तिममित्यो । मौन वाग्गुप्तिरत्र स्फुटतरो वचोभेद । योग्यस्य वचस प्रवर्तकता । वाच कस्याश्चित्तदनुत्पादकनेति ॥११८१॥

कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती ।

हिंमादिणियत्ती वा सरीरगुत्ती हवदि दिट्ठा ॥११८२॥

‘कायकिरियाणियत्ती’ कायस्योदारिकादे शरीरस्य या क्रिया तस्या निवृत्ति ‘सरीरगे गुत्ती’ शरीर-विषया गुप्ति कायगुप्तिरिति यावत् । आमनस्यानशयनादीना क्रियात्वात् तासा चात्मना प्रवर्तितत्वात् कथ-मात्मन कायक्रियाम्यो व्यावृत्ति । अथ मत, कायस्य पर्याय क्रिया, कायाच्चाथान्तरमात्मा ततो द्रव्यान्तरप-र्यायान् द्रव्यान्तर तत्परिणामश्चैव तथापरिणत व्यावृत्त भवतीति कायक्रियानिवृत्तिरात्मनो भण्यते । सर्वेषामे-वात्मनामित्य कायगुप्ति स्यात् न चेष्टेति ।

अत्रोच्यते—कायस्य सम्बन्धिनी क्रिया कायशब्देनोच्यते । तस्या कारणभूतात्मन क्रिया कायक्रिया तस्य निवृत्ति । ‘काउस्सग्गो’ कायोन्मग शरीरस्याशुचितामसारतामापनिमित्तता चावेत्य तद्गतममतापरि-हार कायगुप्ति । अन्यथा शरीरमायु शृङ्खलावबद्ध त्यक्तु न शक्यते इत्यमम्भव कायोत्सगस्य । धातूनाम-नेकार्थत्वान् गुप्तिनिवृत्तिवचन इहेति सूत्रकाराभिप्रायोऽन्यथा ‘कायकिरियाणिवत्ती सरीरगे गुत्ती’ इति कथ-यूयात् । कायोत्सगग्रहणेन निश्चलता नण्यते । यद्येव कायकिरियाणिवत्ती इति न वक्तव्य, कायोत्सगं काय-

समित्तमे महान् अन्तर है । मौन वचन गुप्ति है ऐसा कहने पर गुप्ति और समित्तिका भेद स्पष्ट हो जाता है । समित्तियोग्य वचनमे प्रवृत्ति कराती है । और गुप्ति किमी वचनकी उत्पादक नहीं है ॥११८१॥

गा०—टी०—काय अर्थान् औदारिक आदि शरीरकी जो क्रिया है उसकी निवृत्ति काय-गुप्ति है ।

शङ्का—बैठना, ठहरना, सोना आदि क्रियाएँ हैं । और वे क्रियाएँ आत्माके द्वारा प्रवर्तित हैं । तब आत्मा कायकी क्रियाओंसे कैसे निवृत्त हो सकता है । यदि कहोगे कि क्रिया कायकी पर्याय है और कायसे आत्मा भिन्न है । अत द्रव्यान्तर कायकी पर्यायसे द्रव्यान्तर आत्मा उस पर्यायमे रहित होनेमे कायकी पर्यायरूप परिणत नहीं होना अत उसमे वह निवृत्त है और इमीको आत्माकी कायकी क्रियाओंसे निवृत्ति कही है । तो इस प्रकारसे सभी आत्माओंके काय-गुप्तिका प्रमग आता है ।

समाधान—कायशब्दमे कायसम्बन्धी क्रिया कही है । उसकी कारणभूत आत्माकी क्रिया कायक्रिया है और उसकी निवृत्ति कायगुप्ति है । अथवा कायोत्सग अर्थान् शरीरकी अपवित्रता, अमारता और आपत्तिमे निमित्तपना जानकर उसमे ममत्व न करना कायगुप्ति है । अन्यथा शरीर तो आयुकी साकलमे बँधा है । जब तक आयु है शरीरका त्याग नहीं किया जा सकता । यदि शरीर त्यागको कायोत्सग कहेंगे तो कायोत्सग अमम्भव हो जायगा । धानुओंके अनेक अथ होते हैं जन यहाँ गुप्तिका अर्थ निवृत्ति है ऐसा गायामूत्रकार आचार्यका अभिप्राय है । यदि ऐसा न होना तो ‘कायक्रिया निवृत्ति शरीर गुप्ति है’ ऐसा कैसे कहते ।

गुप्तिरित्येतेनैव वाच्य इति चेत् न कायविषय ममेदभावरहितत्वमात्रमपेक्ष्य कायोत्सर्गस्य प्रवृत्ते धावनगमन-
लङ्घनादिक्रियामु प्रवृत्तस्यापि कायगुप्ति स्यात् चेप्यते । अथ कायक्रियानिवृत्तिरित्येतावदुच्यते मूर्च्छापङ्क्ति-
स्यापि अपस्त्रिपन्दना विद्यते इति वायुगुप्ति स्यात् । तत् उभयोपदान व्यभिचारनिवृत्तये । कर्मादाननिमित्त-
सकलकायत्रियानिवृत्ति कायगोचरममतात्यागपरा वा वायुगुप्तिरिति सूत्रार्थः । 'हिंसादिणियत्तो वा सरीरगुत्तो
हृषदि विद्वा' हिंसादिनिवृत्तीनां शरीरगुप्तिरिति दृष्टा जिनागमे, प्राणिप्राणवियोजन, अदत्तादान, मियुनकर्म
शरीरेण, परिग्रहादानमित्यादिका या विशिष्टा क्रिया सेह वायुशब्देनोच्यते । वायवोपवृत्तेर्गुप्तिर्व्यावृत्ति काय-
गुप्तिरिति व्याख्यात मूरिणा ॥११८२॥

छेत्तस्म वदी णयरस्म खाडया अहव द्रोड पायारो ।

तह पावस्स णिरोहे ताओ गुत्तीओ साहुस्स ॥११८३॥

छेत्तस्म वदी' क्षेत्रस्य वृत्ति 'नगरस्य छात्रिका अपवा पागारो अथवा प्राकारो भवति नगरस्य । 'तप
पावस्स णिरोधो' पापस्य निराध उपाय । 'ताओ गुत्तीओ' ता गुप्तय साधो ॥११८३॥

तम्हा तिविहेवि तुम मणवच्चिक्कायप्पओगजोगम्मि ।

होहि सुसमाहिदमदी णिरतर ज्जाणसज्जाए ॥११८४॥

'तम्हा' तिविधेण मणवच्चिक्कायप्पओगजोगम्मि' मनोवाक्कायविषये प्रवृत्ते योगे । 'तुम' त्व । 'सुसमा-

शङ्का—यदि कायोत्सर्गसे निश्चलना कही जाती है तो 'कायक्रियानिवृत्ति कायगुप्ति है'
ऐसा नही कहना चाहिए । किन्तु कायोत्सर्ग कायगुप्ति है ऐसा ही कहना चाहिए ।

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि कायमे यह मेग है' इस भावके न होने
मात्रकी अपेक्षासे कायोत्सर्ग शब्दको प्रवृत्ति होती है । किन्तु यदि कायगुप्ति यही है तो दौडना,
जाना, लापना आदि क्रियाओंको बरत हुए भी कायगुप्ति हो सकेगी । किन्तु ऐसा नही माना
जाता । और 'कायक्रियाकी निवृत्ति कायगुप्ति है' इतना ही कहा जाता है तो मूर्च्छित अवस्थामें
भी कायक्रियाकी निवृत्ति होनेसे कायगुप्तिका प्रसंग आता है । इसलिए व्यभिचार दोषकी
निवृत्तिके लिए दोनोका ग्रहण गायामे किया है ।

अत कमके ग्रहणमें निमित्त समस्त कायकी क्रियाओंसे निवृत्ति और वायविषयक ममत्वका
त्याग कायगुप्ति है, यह गायामसूत्रका अर्थ है ।

अथवा आगममें हिंसा आदिसे निवृत्तिको कायगुप्ति कहा है । यहाँ वायु शब्दमें प्राणियोंके
प्राणोंका घात, बिना दो टूई वस्तुका ग्रहण, शरीरसे मियुन कर्म और परिग्रहका ग्रहण इत्यादि
विशिष्ट क्रिया कही गई है । कायिक क्रियाओंमें गुप्ति अर्थात् व्यावृत्ति कायगुप्ति है ऐसा आचार्यने
व्याख्यान किया है ॥११८२॥

गा०—जैमें खेतकी बाड जोर नगरकी खाई अथवा चारदिवारी होती है वैसे ही पापको
गेकनेमें माधुकी गुप्तिया होनी है ॥११८३॥

गा०—इसलिए हे अथक ! तुम निरन्तर ध्यान और स्वाध्यायमें लगे रहकर मन बचन
काय विषयक तीन प्रकारके प्रकृष्ट योगमें सावधान रहो । क्योंकि ध्यान और स्वाध्यायके बिना
गुप्तियां नही ठहरनी ॥११८४॥

ह्रिदमदी होहि' मुष्टु ममाहितमतिर्भव । कथ ? 'गिरतर ज्ञानसज्जाए' निरन्तरप्रवृत्तध्यानस्वाध्याये । न हि ध्यानस्वाध्यायावन्तरेण गुप्तयोर्व्रतिष्ठन्त इति भावः ॥११८४॥

समितिव्याख्यानयोत्तरप्रबन्धस्तत्रेयांसमितिनिरूपणायोत्तरा गायाम्—

मरगुज्जोवपओगालवणसुद्धीहिं इरियदो मुणिणो ।

सुनाणुवीचि भणिदा इरियासमिदी पवयणम्मि ॥११८५॥

'मग्गुज्जोवपओगालवणसुद्धीहिं' मागशुद्धि, उद्योतशुद्धिरूपयोगशुद्धिश्चालम्बनशुद्धिरिति चतस्रशुद्धयस्ताभिः कर्णभूताभिः । 'इरियदो' गच्छत । 'मुणिणो' मुने । 'सुत्ताणुवीचि' सूत्रानुसारिण । 'भणिवा' कथिता । 'इरियासमिदी' ईर्यासिमिति । 'पवयणम्मि' प्रवचने । तत्र मार्गस्य शुद्धिर्नाम अप्रचुरविपीलिकादि-प्रसता, धीजाङ्कुरतृणहरितपलाशकदमादिरहितता । स्फुटतरता व्यापिता च उद्योतशुद्धिः । निशाकरनक्षत्रादीनामस्फुटप्रकाश, अव्यापी प्रदीपादिप्रकाश । 'पादोद्धारनिक्षेपदेशजीवपरिहरणावहितचेतस्ता उपयोगशुद्धिः । गुरुनीर्घर्षैत्ययनिवन्दनादिकमपूर्वशास्त्रार्थग्रहण, मयतप्रायोगक्षेत्रमार्गण, वैयावृत्यकरण, अनियतावाग-स्वाम्यासम्पन्नान् धमपरराज्य, नानादेशभाषाशिक्षण, विनियजनप्रतिबोधन चेति प्रयोजनापेक्षया आलम्बनाशुद्धिः । किं तन् सूत्रानुसारिगमन, अद्वरत, नातिविलम्बित, पुरो युगमात्रदर्शनप्रवृत्ति, अद्विकृष्टचरणन्यास, भयवि-स्मयावन्तरेणासलील मनत्युत्क्षेप परिहृतलङ्घनघावन प्रविलम्बितभुज, निविकार, अचपलमतभ्रान्तमनूद्घ्व-निर्यक्प्रेक्षण, हस्तमात्रपरिहृततरुणतृणपल्लव, जङ्गतपशुपक्षिमृगाङ्गेजन, विरुद्धयोनिप्रक्रमणजातवाधाव्युदासाय

भागो समितिका व्याख्यान करते हैं । प्रथम ईर्यासिमितिका कथन करते हैं—

गा०—दी०—मागंशुद्धि, उद्योतशुद्धि, उपयोगशुद्धि और आलम्बन शुद्धि, इन चार शुद्धियोंके द्वारा सूत्रके अनुसार गमन करते हुए मुनिके प्रवचनमे ईर्यासिमिति कही है ।

मार्गमे चीटी आदि प्रम जीवोकी अधिकताका न होना तथा दीज, अकुर, तृण, हरे पत्ते और कीचड आदिका न होना मार्गशुद्धि है । मूयके प्रकाशका स्पष्ट फेलाव और उसकी व्यापकता उद्योतशुद्धि है । चन्द्रमा नक्षत्र आदिका प्रकाश अस्पष्ट होता है और दीपक आदिका प्रकाश व्यापक नहीं होता । पैर उठाने और रखनेके देशमे जीवोकी रक्षामे चित्तकी सावधानता उपयोगशुद्धि है । गुरु, तीर्थ, चैत्य और यतिकी वन्दनाके लिए गमन करना आदि किसीके पास शास्त्रका अपूर्व अर्थ या अपूर्व शास्त्रके अर्थका ग्रहण करनेके लिए गमन करना, मुनियोके योग्य क्षेत्रकी खोजके लिए गमन करना, वैयावृत्य करनेके उद्देशसे गमन करना, अनियत आवासके उद्देशमे गमन करना, स्वास्थ्य लाभके लिए गमन करना, श्रमपर विजय पानेके लिए गमन करना, नाना देशोकी भाषा सीखनेके लिए गमन करना, शिष्य समुदायका प्रतिबोधन करनेके लिए गमन करना, इत्यादि प्रयोजनोंको अपेक्षा गमन करना आलम्बन शुद्धि है ।

सूत्रानुसार गमन इस प्रकार है—न बहुत जल्दी और न बहुत विलम्बसे सामने युगमात्र भूमि देखकर चलना, पादनिक्षेप अधिक दूर न करना, भय और आश्चयके बिना गमन करना, लोलापूर्वक गमन न करना, पैर अधिक ऊँचा न उठाते हुए गमन करना, लाघना दौडना आदि नहीं, दोनो भुजा लटकाकर गमन करना, विकार रहित, चपलता रहित, ऊपर तिर्यक् अवलोकन

कृतानुकूल्यतिशेयन, अप्रतिसारितप्रतिमार्गायापिमघट्टन दुःस्थेनु प्रलीवद्भारमेशादिपरिहृतिचतुर, परिहृतसुम-
तुगमपोभस्माद्रगामयतृणनिचयज'लोपलकलक, दूरीकृतचोरीकलह, 'अनाखडमक्रम निरूपयता यतेरीर्षा-
समिति ॥११८५॥

भाषागमिनिर्दिष्टाणायोत्तरमाया—

सत्त्वं अमरुचमोस अलियादीदोसवज्जमणवज्ज ।

वदमाणस्मणुवीची भासाममिदी हवदि सुद्धा ॥११८६॥

चतुर्विधा वाक्—मत्या, मृषा, मत्यसहिता मृषा, असत्यमृषा चेति । मता हिता सत्या । न सत्या
न च मृषा या सा अमरुचमोसा । द्विप्रकारा वाचमित्यभता । 'अलिगादिदोसवज्ज' व्यक्तीकता अर्थाभाव,
पाण्ड्य, पैशुन्यमित्यादिदोपरहृत । 'अणवज्ज' पापास्त्रयो न भवति इत्यनवद्य । 'वदमाणस्स' व्याट्टरत ।
'अणुवीचि' सूत्रानुसारेण 'भासासमिदो सुद्धा हवदि' भाषासमिति सुद्धा भवति ॥११८६॥

सत्यवचनमे- निरूपयति—

जणवदममदिठवणा णामे रूवे पडुच्चववहारे ।

सभावणववहारे भादेणोपम्ममरुचेण ॥११८७॥

'जणवदसत्तदि' ज्ञानाजनपदप्रसिद्धा गुसवेतानुविधायिनी वाणी जणपदनत्य । गच्छति इति गी, यज-

रहित गमन करना, तरुण तृण पत्रोंसे एक हाथ दूर रहते हुए गमन करना, पशु पक्षी और
मृगोंको भयभीत न करत हुए गमन करना, विरुद्ध योनिवाले जीवोंके मध्यसे जानेपर उनको
होनेवाली बाधाको दूर करनेके लिए पीछीमे अपने शरीरको बारबार प्रतिलेखना करते हुए गमन
करना, सामनेसे आते हुए मनुष्योंसे न टकराते हुए गमन करना, दुष्ट गाय, दुष्ट बैल, कुत्ता
आदिसे चतुरतापूर्वक बचते हुए गमन करना, भुक्त, तुप, मसी, गीला गोबर, तृणसमूह, जल,
पापाण और लकड़ीके तप्तसे बचकर गमन करना, चोरी और कलहसे दूर रहना और पुलपर न
चढ़ना । ये सब करते हुए गमन करना ईर्षसमिति है ॥११८५॥

आगे भाषासमितिका कथन करते हैं—

गा०—वचनके चार प्रकार हैं—सत्य, असत्य, सत्यमहित असत्य और असत्यमृषा ।
मज्जमोंके हितकारी वचनको सत्य कहते हैं । जो वचन न सत्य होता है और न असत्य उसे
असत्यमृषा कहते हैं । इस प्रकार सत्य और असत्यमृषा वचनको बोलना तथा असत्य, कठोरता,
चुगली आदि दोषोंसे रहित और अनवद्य अर्थात् जिससे पापका आश्रय न हो ऐसा वचन सूत्रा-
नुसार बोलनेवालेके शुद्ध भाषासमिति होती है ॥११८६॥

मत्यवचनके भेद कहते हैं—

गा०—जनपद सत्य, मम्मति मत्य, स्थापना सत्य, नामसत्य, रूपसत्य, प्रतीत्यसत्य,
मग्भावना सत्य, व्यवहार मध्य, भाव मत्य और उपमा सत्य इम प्रकार सत्यवचनके दस भेद हैं ।

टो०—निश्चिन जनपदोंमे जो उस उस जनपदके सकेतके अनुसार प्रचलित वाणी है वह

तीनि गज इत्येवमादिका अवयवार्थानुगमाभावेऽपि विवक्षितार्थप्रवृत्तिनिमित्तभूता । मम्मदिशब्देन सस्यानाभ्युपगम उच्यते । गजेन्द्रो नरेन्द्र इत्यादिका शब्दा शुभलक्षणयोगात् वेपाञ्चित स्वतो लक्षणत्वात् नामीश्वरत्वेनाभ्युपगममाश्रित्य क्वचिद्गजे मानवे वा प्रयुज्यमाना सम्प्रतिमत्यशब्देनोच्यन्ते । अहग्निन्द्र स्कन्द इत्येवमादय मद्भावात्मभावस्थापनाविषया स्थापनामत्य । अग्रहनन, रजोहनन, इन्दन इत्येवमादीना क्रियाणा तत्राभावाद्ध्यलीकता नाशङ्कनीया आकारमात्रे परमाश्रयत्वात्मवभावाना । तस्य च स्थापनाया वस्त्वाम्भित्वाद् बुद्धिपरिग्रहेण वा सद्भावात् । इन्द्रादिमज्ञा स्वप्रवृत्तिनिमित्तजातिगुणक्रियाद्रव्यनिरपेक्षा तच्छब्दाभिधेयसम्बधपरिणतिमात्रेण वस्तुन प्रवृत्ता नामसत्य । रूपग्रहण उपलक्षण प्रवृत्तिनिमित्ताना नीलमुपन घबलो हि मृगलाञ्छन इत्येवमादिक रूपसत्य । सम्बन्धन्तरापक्षामिध्यग्य च वस्तुस्वरूपालम्बन दीर्घो ह्रस्व इत्येवमादिक प्रतीत्यसत्य । वस्तुनि तथाऽप्रवृत्तेऽपि तथाभूतकार्यव्यतादज्ञानात् सम्भावनया वृत्त मम्भावनासत्य । अपि दोर्म्यां समुद्र तरेत्, चिरसा पर्वत भिन्वात् इत्यादि । वतमानकाले न परिणामा यद्यपि नास्ति तथाप्यतीतानागत-

जनपद सत्य है । जैसे गमन करे वह गाय है गर्जन करे वह गज—हार्थी है । यद्यपि गमनरूप और गर्जनरूप अर्थ नहीं होनेपर भी इन अर्थोंकी प्रवृत्तिमे निमित्तभूत वाणी जनपद सत्य है । अर्थात् जैसे गाय और गजशब्द गमन और गर्जन अर्थको लेकर निष्पन्न हुए हैं और उनका भवेत्त गाय और गजमे किया गया है । गाय बैठी हो तब भी उमे गाय कहते हैं । इस प्रकार प्रत्येक देगकी भाषामे शब्द जनपद सत्य हैं ।

मम्मनि शब्दसे आकार विशेषकी स्वीकृति बर्हा जानो है । जैसे गजेन्द्र नरेन्द्र इत्यादि शब्द शुभलक्षणके योगमे व्यवहृत होते हैं । किन्हीमे स्वय शुभलक्षण पाये जानेसे उन्हे इन्द्र या ईश्वरके रूपमे स्वीकार करके किसी गजको गजेन्द्र या मनुष्यको मुरेन्द्र कहना सम्प्रति सत्य है । किसी तदाकार या अतदाकार वस्तुमे अर्हन्त, इन्द्र या स्कन्दकी स्थापना करके उमे अर्हन्त आदि कहना स्थापना मत्य है । मूर्तिमे स्थापित अर्हन्त या इन्द्रमे अर्हन्तशब्दका अर्थ अरि—बर्मशत्रुका हनन करनी या कर्मगजका हनन करना और इन्द्र शब्दका अर्थ इन्दन क्रिया नहीं पाई जानी, इसलिए उममे अमत्यपनेकी आजका नहीं करनी चाहिए । क्योंकि मभो पदार्थ आकारमात्रम परमार्थ माने जाते हैं । और वह आकार तदाकार स्थापनामे वस्तुरूपमे रहता है अथवा अतदाकार स्थापनामे उममे उम प्रकारकी बुद्धि कर लो जाती है ।

इन्द्रादि नामोंकी प्रवृत्तिमे निमित्त जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यकी अपेक्षा न करके जो उम शब्दका अपने वाच्यार्थके साथ सम्बन्ध है केवल उमी दृष्टिमे रखा वस्तुका इन्द्रादि नाम नामसत्य है । रूपका ग्रहण शब्दकी प्रवृत्तिके निमित्तोका उपलक्षण है । जैसे कमलका नीला रूप देखकर नीलकमल कहना या चन्द्रमा सफेद कहना रूप सत्य है । अन्य वस्तुके सम्बन्धसे व्यक्त होनेवाला वस्तुका स्वरूप प्रतीत्य सत्य है जैसे किसीको लम्बा या ठिगना कहना ।

वस्तुमे वैसा नहीं होने पर भी उस प्रकारके कार्यकी योग्यता देखकर जो सम्भावना मूलक वचन है वह सम्भावना सत्य है । जैसे कहना अमुक व्यक्ति हाथोंमे समुद्र पार कर सकता है या मिरमे पर्वत तोड सकता है । इत्यादि । यद्यपि वर्तमान कालम वस्तुमे वह परिणाम नहीं है तथापि

परिणामा^१ इदमेव द्रव्यमिति कृत्वा प्रवृत्तानि वचांसि ओदन पच, कट कुटित्वेवमादीनि व्यवहारसत्य । अहिमा-
लक्षणो भाव पाल्यते येन वचसा तद्भावसत्य निरीक्ष्य रवप्रयताचारो भवेत्येवमादिक । पत्योपममागरोप-
मादिवमुपमा सत्यम् ॥११८७॥

मृपादिवचनत्रयलक्षण वक्ष्यन्ति—

तद्विवरीद मोस न उभय जत्य सच्चमोम त ।

तद्विवरीया भामा अनच्चमोमा हवे दिट्टा ॥११८८॥

‘तद्विवरीद’ सत्यविवरीत । मोस’ मृपा । ‘असदभिधानमनृत’ [न० सू० ७] इति वचनान । मिथ्या-
ज्ञानमिथ्यादर्शनयोरसयमस्य वा निमित्त वचनमसदभिधान अप्रगस्त तत्सत्यविवरीत । ‘त उभय’ तत्सत्यमनु-
च उभय । जत्य’ यस्मिन् वाक्ये । ‘त’ तद्वाक्य । ‘सच्चमोस’ सत्यमृपेत्युच्यते । तद्विवरीया भासा’ सत्याद-
नृतान्मिश्राच्च पृथग्भूता । भासा’ भाषा वचन ‘असच्चमोसा’ असत्यमृपेति । ‘हव’ नवेन । ‘दिट्टा’
दृष्टा पूर्वगमेपु । एतन्नेन न सत्या नापि मृपा नोभयमिश्रा वितु जात्यन्तर यथा वस्तु नैकात्तेन नित्य नापि
अनित्य नापि सर्वथा एकान्तयो समुच्चय वितु कथंचिद्रूपान्नित्यानित्यान्तर । एवमिय भारती ॥११८८॥

मा नवप्रकारा तन्ग्यास्व भेदा^२ इत्यन्त इति गाथादयेनाचष्टे—

आमत्तणि आणवणी जायणि मपुच्छणी य पणवणी ।

पचकखाणी भामा भामा इच्छणुलोमा य ॥११८९॥

अतीत और अनागत परिणाम रूप यही द्रव्य है ऐसा मानकर किया गया वचन व्यवहार सत्य है
जैसे भात पकाओ या चटाई बुनो । ये दोनों परिणाम वर्तमानमें नहीं हैं क्योंकि चावल पकने पर
भात बनेगा और बुनने पर चटाई होगी । फिर भी अनागत परिणामकी अपेक्षा इनका व्यवहार
होता है । जिस वचनके द्वारा अहिमा रूप भाव पाला जाता है वह वचन भाव सत्य है । जैसे
देखकर सावधानतापूर्वक प्रवृत्ति करो आदि । पत्योपम, मागरोपम आदिका जो कथन आगममें
कहा है वह उपमा सत्य है ॥११८७॥

असत्य आदि तीन वचनोका लक्षण कहते हैं—

गा०—टी०—सत्यसे विपरीत वचन असत्य है । तत्त्वार्थ सूत्रमें कहा है ‘असत् वहना इच्छ
है ।’ जो वचन मिथ्याज्ञानमें, मिथ्याश्रद्धानमें और असयममें निमित्त होता है वह वचन असत्
कथन रूप होनेमें अप्रगस्त है । अत सत्यसे विपरीत है । जो वचन सत्य और असत्य दोनों रूप
होता है वह वचन सत्यमृपा है । जो वचन सत्य, असत्य और सत्य असत्यसे विपरीत होता है उसे
पूर्व आगमोंमें असत्यमृपा कहा है । वह वचन न तो एकान्तसे सत्य होता है न एकान्तसे असत्य
होता है और न सत्यासत्य होता है किन्तु जात्यन्तर होता है । जैसे वस्तु न तो एकान्तमें नित्य है,
न अनित्य है और न सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य है, किन्तु कथंचित् नित्यानित्य है । उमी
प्रकार यह असत्यमृपा वचन भी होता है ॥११८८॥

उम असत्यमृपा वचनके नौ भेद दो गाथाओंसे कहते हैं—

'आमत्रणी' यया वाचा परोऽभिमुखीक्रियते सा आमन्त्रणी । हे देवदत्त इत्यादि । अगृहीतमन्त्रेण नाभिमुखी करोति इति न सत्यैकान्तेन गृहीतमभिमुखी करोति तेन न मृषा गृहीतागृहीतमन्त्रेणो प्रतीतिनिमित्तमनिमित्त चेति द्वयात्मकता । स्वाध्याय कुतः, विरमतामयमात् इत्यादिका अनुशासनवाणी आणवणी । चोदिताया क्रियाया कारणमकरण वापेक्ष्य नैकान्तेन सत्या न मूर्ख वा । 'जायणी' ज्ञानोपकरण पिच्छादिक वा भवद्भिर्दर्शनव्य इत्यादिका याचनी । दानुरोपेक्षया पूर्ववदुभयरूपा । निरोध^१ वेदनास्ति भवता न वेति प्रदन्वाक् 'सपुच्छणी' । यद्यन्ति यस्या न चेदितरा इति । वेदनाभावभावमपेक्ष्य प्रवृत्तेरुभयरूपता । 'पण्यवणी' नाम धर्मकथा । मा वहन्निर्दिश्य प्रवृत्ता वैश्विन्मनसि करणमितरैरुपकरण चापेक्ष्य द्विरूपा । 'पचञ्चराणी' नाम केनचिद्गुरुमननुज्ञाप्य उद शौरादिक इत्यन्त काल मया प्रत्याख्यात इत्युक्त कार्यान्तरमुद्दिश्य^२ तत्कुर्वित्युदित गुरुरा प्रत्याख्यानावधिकालो^३ न पूर्ण इति नैकान्तत सत्यता गुणवचनात्प्रवृत्तो न दोषायति न मूर्खान्त । 'इच्छानुलोमा म' ज्वरितेन पुष्ट घृतदन्करामिध क्षीर न शोभनमिति । यदि परो ब्रूयात् शोभनमिति माघुर्वादि-

गा०—आमन्त्रणी आणवणी, याचनी, सपुच्छणी, प्रज्ञापनी, प्रत्याख्यानी और इच्छानुलोमा ।

टी०—जिस वचनमें दूसरेको बुलाया जाता है वह आमत्रणी भाषा है । जैसे हे देवदत्त । यह वचन जिनमें सबके ग्रहण नहीं किया उमें बुलाने वालेके अभिमुख नहीं करता अर्थात् वह बुलाने पर नहीं आता । इसलिए यह वचन सत्य भी नहीं है और जिसने सर्वथा सकेत ग्रहण किया है उमें अभिमुख करता है इसलिए असत्य भी नहीं है । इस तरह यह वचन गृहीत सकेत वालेको तो प्रतीति करानेमें निमित्त होता है किन्तु जिसने सकेत ग्रहण नहीं किया उमको प्रतीति करानेमें निमित्त नहीं होनेमें दो रूप है । 'स्वाध्याय करो, असयमसे विरत होओ,' इत्यादि अनुशासन वचन आणवणी है । जो काम करनेकी प्रेरणा की गई है वह करने या करनेकी अपेक्षा यह वचन न तो एकान्तसे सत्य है और न एकान्तमें असत्य है । आप मुझे ज्ञानके उपकरण अथवा पीठी आदि प्रदान करें, इत्यादि वचन याचनी भाषा है । यह भी दाताकी अपेक्षा पहलेकी तरह न तो सर्वथा सत्य है और न सर्वथा असत्य है क्योंकि माँगने पर दाता दे भी सकता है और नहीं भी दे सकता ।

आपकी वेदना—कष्ट रुका या नहीं ? या निरोध—जेलमें आपको कष्ट है या नहीं ? इस प्रकार पूछना सपुच्छनी भाषा है । यदि वेदना है तो सत्य है, नहीं है तो मिथ्या है । इस प्रकार वेदनाके भाव और अभावकी अपेक्षासे प्रवृत्त होनेसे यह वचन उभयरूप है ।

धर्मकथाको पण्यवणी या प्रज्ञापनी कहते हैं । यह बहुतसे श्रोताओंको लक्ष करके होती है अतः कुछ तो अपने मनमें उमका पालन करनेका विचार करते हैं और कुछ नहीं करते । इस अपेक्षा यह भी उभयरूप है । प्रत्याख्यानी भाषा इस प्रकार है—किमीने गुम्मे निवेदन किये बिना यह दूध आदि मैंने इतने कालतक त्यागा' ऐसा नियम किया । किमी अन्य कार्यको लक्ष करके गुरुने कहा ऐसा करो । उसके त्याग करनेकी मर्यादाका काल पूरा नहीं हुआ, इसलिए उसका प्रत्याख्यान सर्वथा सत्य नहीं है और गुरुकी आज्ञामें उमने त्यागी हुई वस्तुमें प्रवृत्ति की इसलिए दोष भी न होनेसे सर्वथा असत्य भी नहीं है ।

इच्छानुलोमा भाषा इस प्रकार है—किसी ज्वरके रोगीने पूछा—धी और शक्कर मिला

१ घो वेदनाया अस्ति—आ० । निरोधो वेदनास्ति—ज० २ इय तद्गृह्णित—ज० इय तद्गृह्णितगु—अ० । इय तद्गृह्णित ग—आ० । ३ कालेन पूर्वं इति—अ० । वाचो न पूर्वं इति—ज० ।

प्रशम्यगुणसद्भाव ज्वरवृद्धिनिमित्तात् चापेक्ष्य न शोभनमिति वचो मूर्धनान्ततो नापि मृत्यमेवेति द्वयात्म-
कता ॥११८९॥

ससयवयणी य तद्वा असच्चमोमा य अट्टमी भासा ।

पथमी अणवसरगदा अमरुचमोमा हवदि णेया ॥११९०॥

‘ससयवयणी’ क्रिय स्याणुक्त पुरप इत्यादिवा द्वयोरेवस्य मदभावनिर्गम्याभाव चापेक्ष्य
द्विरूपता । ‘अणवसरगदा’ अट्टुल्लिस्फोटोटादिचिन्नि वृत्तावृत्तसर्वेत्तपुण्यापेक्षया प्रतीतिनिमित्तामनिमित्तात् य
प्रतिपद्यते इत्युभयरूपा ॥११९०॥

उग्गमउप्पायणएमणाहिं पिंडमुवधि सेज्ज च ।

सोधितस्स य सुणिणो विसुज्झए एसणासमिदी ॥११९१॥

‘उग्गमउप्पायणएमणाहिं’ उद्गमोत्पादनपणादोपरहित भक्तमुपकरण वनति च गृह्यत एपणासमित्तिर्भ-
वतीति सूत्राय । दगवैकालिकटीकाया श्रोविजयोदयाया प्रपञ्चिता उद्गमादिशेषा इति नेह प्रत-
न्यन्ते ॥११९१॥

आदाननिक्षेपणसमित्तिरूपणा गाया—

सहसाणाभोगिददुप्पमज्जिय अपच्चवेमणा दोसो ।

परिहरमाणस्स हवे समिदी आदाणाणक्खेवो ॥११९२॥

‘सहसाणाभोगिद’ आलोकनप्रमाजने कृत्वा आदान निक्षेप इत्येको भङ्ग । अनालोक्य प्रमाजंन कृत्वा

दूध उत्तम नहीं है ? यदि दूसरा कहे कि माधुर्य आदि प्रशस्त गुणोंकी अपेक्षा नो उत्तम है किन्तु
ज्वरको बढ़ानेवाला होनेसे उत्तम नहीं है तो इस प्रकारके वचन न सर्वथा लसत्य हैं और न सर्वथा
सत्य हैं किन्तु दोनों रूप होनेमें उभयात्मक हैं । यहाँ उभयात्मकमें इन वचनोंको नत्य और
असत्यरूप नहीं समझना चाहिए । किन्तु सत्य भी नहीं और असत्य भी नहीं अर्थात् अनुभयरूप
समझना चाहिए ॥११८९॥

गा०—आठवी असत्यमूपा भाषा सशय वचनी है । जैसे यह स्थाणु है या पुरप । दोनोंमेंसे
एकके सद्भाव और दूसरेके अभावकी अपेक्षा यह वचन उभयरूप है । और नौवी असत्यमूपा
भाषा अनक्षरात्मक भाषा है । जैसे अगुलि चटवने आदिका शब्द । जिस पुरपने मन्त्र ग्रहण
किया है उसे तो ध्वनिसे प्रतीति होती है दूसरेको नहीं होती । इन तरह यह वचन उभयरूप
है ॥११९०॥

अथ एपणा समित्तिका कथन करते हैं—

या०—उद्गम, उत्पादन और एपणा दोषसे रहित भोजन, उपकरण और वनतिको
ग्रहण करनेवाले मूनिकी एपणा समिति निर्मल होती है ॥११९१॥

आदाननिक्षेपण समित्तिका कथन करते हैं—

गा०—दो०—विना देखे और विना प्रमाजंन किये पुस्तक आदिका ग्रहण करना या रखना

आदान निक्षेपो वेति द्वितीयो भङ्गः । आलोचय दु प्रमूढ इति तृतीय । आलोकित प्रमूढ च न पुनरालोकित शुद्ध न शुद्ध वेति चतुर्थो भङ्गः । एतदोपचतुष्टय परिहरतो भवति आदाननिक्षेपणसमिति ॥११९२॥

एदेण चैव पदिट्ठावणसमिदीवि वणिया होदि ।

वोमरणिज्ज दव्व थडिल्ले वोसरितस्स ॥११९३॥

'एदेण चैव' आदाननिक्षेपविषययत्नकथनेन । 'पदिट्ठावणसमिदीवि वणिया होदि' प्रतिष्ठापनसमितिवर्णिता भवति । 'वोसरणिज्ज' परित्यक्त्य मूत्रपुरीषादिक मल । 'थडिल्ले वोसरितस्स' थडिल्ले निर्जन्तुके, निश्चिद्रे, समे व्युत्सृजत ॥११९३॥

एदाहिं सदा जुत्तो समिदीहिं जगम्मि विहरमाणो हु ।

हिमादीहिं ण लिप्पइ जीवणिकायाउले साहु ॥११९४॥

'एदाहिं समिदीहिं' गताभि । 'सदा जुत्तो' सदा युक्त । 'जगम्मि विहरमाणो हु' जगति विचरन्नपि । कीदृशी ? जीवणिकायाउले' षड्जीवनिकायाजीर्णं । 'हिमादीहिं' हिंसादिभिः । 'ण लिप्पइ' न लिप्यते साधु । आदिग्रहणेन परित्यापन, सघट्टन, अङ्गव्यूनाकारादिपरिग्रह । समितिषु प्रवर्तमान प्रमादरहित । 'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपण हिंसेत्युच्यते' । हिंसादिसहितानि कर्माणि हिंसादिसन्दर्भोच्यन्ते । कार्ये कारणशब्दप्रवृत्ति प्रतीततरत्त्वान् ॥११९४॥

यद्यपि विवर्जननिमित्तगुणान्वित तत्र प्रवर्तमानमपि तेन न लिप्यते यथा स्नेहगुणान्वित तामरसपत्र

सहसा नामक प्रथम दोष है । विना देखे प्रमार्जन करके पुस्तक आदिको ग्रहण करना या रखना अनाभोगित नामक दूसरा दोष है । देखकर भी सभ्य प्रतिच्छेदना न करके पुस्तक आदिको ग्रहण करना या रखना दुष्प्रमूढ नामक तीसरा दोष है । देखा भी और प्रमार्जन भी किया किन्तु यह शुद्ध है या अशुद्ध, यह नहीं देखा यह चतुर्थ अप्रत्यवेक्षण नामक दोष है । इन चारो दोषोको जो दूर करता है उसके आदान निक्षेपण समिति होती है ॥११९२॥

प्रतिष्ठापन समिति कहते हैं—

गा०—आदान और निक्षेप विषयक सावधानताका कथन करनेमें प्रतिष्ठापन समितिका कथन हो जाना है । त्यागने योग्य मूत्र विष्टा आदिको जन्तुरहित और छिद्ररहित समभूमिमें त्यागना प्रतिष्ठापन समिति है ॥११९३॥

गा०—टी०—इन पाँच समितियोंका सदा पालन करनेवाला मुनि छ प्रकारके जीवनिवायोसे भरे हुए लोकमें गमनागमन आदि करता हुआ भी हिंसा आदिमें लिप्त नहीं होता । 'आदि' शब्दसे छहकायके जीवोको कष्ट दना उनका परस्परमें सघट्टन करना, उनके अंग उपागोको छिन्न-भिन्न करना आदि पापोंसे लिप्त नहीं होता । समितियोंमें प्रवृत्ति करते हुए मुनि प्रमादमें रहित होता है । और प्रमत्तयोगमें प्राणोंके घातको हिंसा कहा है । हिंसा आदिमें सहित कर्म हिंसा आदि शब्दमें कहे जाते हैं । क्योंकि कार्यमें कारणशब्दकी प्रवृत्ति अति प्रसिद्ध है । आदान निक्षेपमें निमित्त गुणोंसे युक्त मुनि प्रवृत्ति करते हुए भी हिंसा आदि पापसे लिप्त नहीं होता ॥११९४॥

जैसे चित्रकणगुणमें युक्त कमल नीलमणिके समान निर्मल जलमें मदा रहते हुए भी

वाचनीलनीरनिगन्तरवत्यपि नाम्बुना लिप्यते । निरन्तरनिचितजोवनिकायावृत्तेऽपि जगति मञ्जरन्तपि मुनिर्न लिप्यते' अप्रमत्ततया प्रवृत्त पक्षेऽपि समितिष्विति वक्ष्यति—

पउमणिपत्त व जहा उदयेण ण लिप्यदि सिणेहगुणजुत्त ।

तह समिदीहिं ण लिप्यइ माधु काएसु इरियतो ॥११९५॥

पउमणिपत्त' धरनया गायया-पधपत्र यथा मोदनेन विलिप्यते स्नेहगुणममन्वित । तथा कासेऽपि शरीरेषु प्राणभृता प्रवतमानोऽपि न लिप्यते साधु समितिभिर्हेतुभूताभि ॥११९५॥

सरवासे वि पडते जह दढकवचो ण विज्झदि मरेहि ।

तह ममिदीहिं ण लिप्यइ माधु काएसु इरियतो ॥११९६॥

सरवासे वि पडते शरवपेऽपि पतति सति च रणऽङ्गणे यथा दृढकवचो न शरीरिभ्यत, यथा समित्त-भिर्हेतुभूताभिर्न लिप्यते कायेषु वतमाना मुनि ॥११९६॥

जत्थेव चरइ बालो परिहारण्हू वि चरइ तत्थेव ।

वज्झदि पुण मो बालो परिहारण्हू वि मुच्चइ सो ॥११९७॥

जत्थेव चरइ बालो यत्रैव क्षत्र चरति जीवपरिहारव्रतमानभिः । परिहारण्हू वि जीववाधापरिहार-व्रतज्ञोऽपि तत्रैव चरति । तथापि वज्झदि सो पुण बालो' वक्ष्यते पुनरमो ज्ञानबालश्चारिबालश्चानो । परि-हारण्हू' परिहारज्ञ । मुच्चइ' मुच्यत वर्मलेपात् ॥११९७॥

उक्तमथमुपसंहारत्युत्तरगायया—

तम्हा चेद्धिदुकामो जइया तइया भवाहि त ममिदो ।

ममिदो हु अण्णमण्ण णादियदि खवेदि वेगण ॥११९८॥

जलसे लिप्त नहीं होता । पांचो समित्तियामे अप्रमादोदृष्टमे प्रवृत्ति करनेवाला मुनि भी निगन्तर जीव निवाधासे भरे हुए जगत्मे गमनागमन करते हुए पापसे लिप्त नहीं होना । यह कहते हैं—

गा०—जंमे स्नेह गुणसे युक्त कमलपत्र जलसे लिप्त नहीं होता । उसी प्रकार प्राणियोंके शरीरोंके मध्यमेसे गमनागमन करते हुए भी साधु समित्तिका पालन करनेसे पापसे लिप्त नहीं होता ॥११९५॥

गा०—जंमे दृढ कवचसे युक्त थोड़ा थुद्धभूमिमे वाणोंकी वर्षा होते हुए भी वाणोंमे नहीं छिद्रता । उसी प्रकार पट्टकायके जीवोंके मध्यमे विचरण करता हुआ भी समित्तियोंके वारण हिंसा आदिसे लिप्त नहीं होता ॥११९६॥

गा०—जीवोंकी हिंसामे वचनेके उपायोंको न जाननेवाला जिस क्षेत्रमे विचरण करता है, जीवोंकी हिंसामे वचनेके उपायोंको जाननेवाला भी उसी क्षेत्रमे विचरण करता है । तथापि वह ज्ञान और चाग्निमे बालकके समान अज्ञ तो पापमे बद्ध होता है किन्तु उपायोंको जाननेवाला पापसे लिप्त नहीं होता बल्कि उससे मुक्त होता है ॥११९७॥

आगे उक्त वचनका उपसंहार करते हैं—

यस्मात्समितिषु प्रवर्तमानो न बध्यते, पापेन मुच्यते । असमितस्तु महता बध्यते कर्मसमूहेन 'तप्हा' तस्मात् । 'चेद्विदुकाभो' गमनभाषणाद्यभिलाषी । 'जड्या तड्या' यदा तदा । 'त' भवान् 'समितो भवाहि' समितिपरो भवेति निर्यापकमूरिराह क्षपक । 'समितो खु' समित सम्बन्धप्रवृत्त ईर्यादिषु । 'अण्णमण्ण कर्म' अन्यत् अन्यत् । प्रत्यग्र । 'णादियदि' नैवादत्ते । 'त्ववेदि पोरण' प्राक्तन च कर्म क्षपयति निजरति ॥११९८॥

एदाओ अट्टपवयणमादाओ णाणदसणचरिच ।

ग्गसति मदा मुणिणो मादा पुत्त व पयदाओ ॥११९९॥

'एदाओ अट्टपवयणमादाओ' एता अष्टपवचनमातृका 'पयदाओ' प्रयता । 'णाणदसणचरिच रक्खति' ममीचीनज्ञानदर्शनचारित्राणि पालयन्ति सदा मुने । 'मादा पुत्त व जधा' जननी पुत्र यया । प्रयता माता पुत्र पालयत्यपायस्थानेभ्य ॥११९९॥

व्रतभावनानिरूपणाद्योत्तरप्रबन्ध । श्रयोदशा वध चारित्र अखण्डमाराधयतश्चारित्राराधना । तत्र व्रताना स्वर्ये मम्यदयितु भावना एकैकस्य पञ्च पञ्चाभिहितास्तत्रेमा अहिमाव्रतभावना इति बोधयति ।

एषणाममितिनिरूप्यते—

एसणणिकखेवादाणिगियासमिदी तथा मणोगुची ।

आलोयभोयण वि य अहिमाए भावणा होति ॥१२००॥

'एसणणिकखेवादाणिगियासमिदी' एसणसमिदी एषणाममितिरादाननिक्षेपणासमिति, ईर्यासमितिरत्तथा मनोगुति । 'आलोयभोयण च' आलोकभोजन च । अहिमाए' अहिमाव्रतस्य । 'भावणा' भावना । 'होति' भवति ।

भिक्षाकाल, बुभुक्षाकालोऽग्रहकालश्चेति कालत्रयं ज्ञातव्यं । ग्रामनगरादिषु इयता कालेन आहार-

गा०-टी०—यत् समितियोका पालक पापसे लिप्त नहीं होता किन्तु उससे छूटता है और समितिका पालन न करनेवाला महान् कर्मसमूहसे बँधता है अतः जब तुम गमन करना या बोलना चाहो तो समितिसे तत्पर रहो । ऐसा निर्यापकाचार्य क्षपकसे कहते हैं । क्योंकि ईर्या आदिसे सम्बन्ध प्रवृत्ति करनेवाला नवीन नवीन कर्मों का बन्ध नहीं करता और पूर्वमे वीधे कर्मों की निर्जरा करता है ॥११९८॥

गा०—जैसे सावधान माता पुत्रकी अनिष्टोसे रक्षा करके उसका पालन करती है । वैसे ही सम्बन्धरूपसे पालित ये आठ प्रवचन मातायें मुनिके सम्बन्धज्ञान सम्बन्धदर्शन और सम्बन्धचारित्र की रक्षा करती हैं ॥११९९॥

आगे व्रतोकी भावनाओका कथन करते हैं । जो तेरह प्रकारके चारित्रको निर्दोष आराधना करता है उसके चारित्राराधना होती है । उनमेमे व्रतोकी स्थिर करनेके लिए एक-एक व्रतकी पाँच-पाँच भावना कही है । उनमेसे अहिमाव्रतकी भावना कहते हैं—

गा०-टी०—एषणा समिति, आदान निक्षेपण समिति, ईयासमिति, मनोगुति और आलोक भोजन ये पाँच अहिमाव्रतकी भावना हैं । उनमेमे एषणा समिति कहते हैं—भिक्षाकाल, बुभुक्षाकाल और अवग्रहकाल ये तीन काल जानना चाहिए । अमुक मानोमे ग्राम नगर आदिमे अमुक

निष्पत्तिर्भवति, अमीषु मानेषु, अल्प वा कुलरप वाप भोजनकाल इच्छाया प्रमाणादिना भिक्षाकालोच्य-
 गन्तव्यः । क्षुद्रमम तीव्रमन्दा वति स्वशरीरव्यवस्था च परीक्षणयोग्या । अयमवग्रह पूर्व गृहीत एवभूत
 आहारो मया न भोग्य इति । अद्याप्यवग्रहो ममेति मीमांसा कार्या । तदन्तरं पुरतो युगान्तरमात्रभूताप-
 लोमनरत अद्भुत, अविश्वम्बिन, असमान्न व्रजेत् प्रलम्बबहुरविदृष्टवरणस्यामो निरिवाग ईषदवनतीक्ष्णमाह
 अक्षदमेनानुद्वेन अत्रमहरितवहूलेन वर्त्मना । दृष्ट्वा तु खरान्, करमान्, बलीवदान्, गजान्तुराणामहिषान्ना-
 रमेयान्कल्हकारिणो वा मनुष्यान्धरन परिहरेत् । पक्षिणो मृगारवाहंशकालोद्यता वा यथा न विन्वति यथा
 वा स्पमाहार मुक्त्वा न व्रजन्ति तथा यायात् । मुमुना प्रतिलेखनेन वृत्प्रमाज्जो गच्छेत्तदि निरन्तरानु-
 माहितफलादिक वाचरो भवेत् मार्गान्तरमस्ति नित्यवर्णा वा भूमिं प्रविशन्तद्वेषभूभा एव बद्धप्रमाज्जं
 कुर्मत् । तुषगोमयभ्रमबुसपलालनिचय दलोपलफलादिक च परिहरेत् । निन्दनानो न क्रुष्येत्, पूज्यमानो-
 ऽपि न तुष्येत् । न गीतनृत्यबहुल, उद्धितपताक वा गृह प्रविशेत् । तथा नसताना गृह न प्रविशेत् । सुगन्ध्या-
 ज्जनालोत्राहितकुल वा यज्ञशाला दानशाला, विवाहगृह वार्षमागानि रक्ष्यमाणानि, अनुत्तानि च गृहाणि
 परिहरेत् । दरिद्रबुलानि उत्स्मादरकुलानि न प्रविशेत् । ज्यष्टान्पमथ्यानि मममेवादेत् । द्वारमाल वधाट वा
 नोद्घाटयेत् । बालक्य एलक गुनो दा नोल्लक्षयेत् । पार्ष फर्दीजैवकीर्णा भूमिं वर्जयेत् तदानीमेव अव-
 ण्णिया । भिक्षाचरेष परेष नाभाषिषु न्यतेषु तद्गृहे न प्रविशेत् । तथा कुट्टिम्बु व्रथाविषण्णदीनकुलेष च

समय भोजन वनता है अथवा अमूक कुलका या अमूक मुहालका अमूक समय भोजनका है ।
 इस प्रकार इच्छाके प्रमाण आदिसे भिक्षाका काल जानना चाहिए । तथा भेरी भूख बाज मन्द है
 या तीव्र है इन प्रकार अपने शरीरकी स्थितिकी परीक्षा करनी चाहिये । मैंने पहले यह नियम
 लिया था कि इस प्रकारका आहार मैं नहीं लूंगा और आज मेरा यह नियम है इस प्रकार विचार
 करना चाहिए । उनके पश्चात् आगे केवल चार हाथ प्रमाण जमीन देखते हुए न अधिक शीघ्रता-
 से न रक-रककर किसी प्रकारके वेगके बिना गमन करना चाहिए । गमन करते समय हाथ
 लटकते हुए हो चरण निक्षेप अधिक अन्तरालमें न हो, शरीर विकाररहित हो, निर धोडा झुका
 हुआ हो, मांमें कीचड और जल न हो तथा द्रमजीवो और हरितकायकी बहुलता न हो । यदि
 मांमें गधे ऊँट, बैल, हाथी, घोड़े, भैंस, कुत्ते लपवा कलह करनेवाले मनुष्य हो तो उस भासि
 दूर हो जाये । पक्षी और खाने पीते हुए मृग भयभीत न हो और अपना आहार छोड़कर न भागे,
 इन प्रकारसे गमन करे । आवश्यक होनेपर पीछेसे अपने शरीरकी प्रतिरेखना करे । यदि मांमें
 आगे निरन्तर इधर उधर फलादि पड़े हो, या मार्ग बदलता हो या भिन्न वर्णवाली भूमिमें प्रवेश
 करना हो तो उन वर्णवाले भूमिभागमें ही पीछेसे अपने शरीरको साक कर लेना चाहिये । तुष,
 गोबर, राख, भुस, और घामके ढेरमें तथा पत्ते, फल, पत्थर आदिसे बचते हुए चलना चाहिये,
 इनपर पैर नहीं पडना चाहिये । कोई निन्दा करे तो क्रोध न करे और पूजा करे तो प्रसन्न न
 हो । जिस घरमें गाना नाचना होता हो, झण्डिया लगी हो उस घरमें न जावे । तथा मतवालोंके
 घरमें न जावे । शराबी, बेश्या, लोकमें निन्दित कुल, यज्ञशाला, दानशाला, विवाहवाला घर
 तथा जिन घरोंमें जानिकी मनाई हो, आगे रक्षक खड़ा हो, मंत्र कोई न जा नक्ता हो ऐसे घरोंमें
 नहीं जाये । दरिद्रबुलोंमें और आचारहीन सम्पन्नबुलोंमें भी प्रवेश न करे । बड़े छोटे और मध्यम
 गृहोंमें एक साथ ही भ्रमण करे । द्वारपर यदि साकल लगी हो या कपाट बन्द हो तो उन्हें खोलें
 नहीं । बालक, बछडा, भेडा और कुत्तेको लौपकर न जावे । जिन भूमिमें पुष्प, फल और बीज
 फले हो उनपरमें न जावे । तत्कालकी लिपी भूमिपर न जावे । जिन घरपर अन्य भिक्षार्थी

सत्सु नो तिष्ठेत् । भिक्षाचर भिक्षामार्गणभूमिमतिक्रम्य न गच्छेत् । याञ्चामव्यक्तस्वन वा स्वागमननिवेद-
नार्थं न कुर्यात् । विद्युदिव स्वा तनु^१ च दर्शयेत् कोऽमलभिक्षा दाम्यतीति अभिसाधि न कुर्यात् । रहस्यगूढ,
वनगूह, कदलीलतागुन्मगूह, नाट्यगान्धर्वशालाश्च अभिन्नन्दिमानोऽपि न प्रविशेत् । बहुजनप्रचारे प्राणिरहिते
अगुच्यपरोपरोषवर्जिते अनिर्गमनप्रवेशमार्गे गृहिभिरनुज्ञातस्तिष्ठेत् । समे विच्छिद्रे, भूभागे चतुरङ्गुलपा-
दान्तरो निश्चल कुड्यस्तम्भादिप्रमनवलम्ब्य तिष्ठेत् । छिद्रद्वार कवाट, प्राकार वा न पश्येत् चार इव ।
दानुदागमनमाग अवस्थानदेश, कडुच्छत्रभाजनादिक च शोषयेत् । स्तन प्रयच्छन्त्या, गभिण्या वा दीयमान न
गृह्णीयात् । रागिणा, अनिवृद्धेन, बालेनोन्मतेन पिशाचेन, भुग्धेनान्धेन, मूकेन, दुर्बलेन, भीतेन, शङ्कितेन,
अत्यमन्नेन^२, दूरेण, लज्जान्वावृतमुख्या, आवृतमुख्या, उपानदुपरिन्म्यस्तपादेन वा जनेनोन्नतदेशावस्थितेन वा
दीयमान न गृह्णीयात् । न खण्डेन भिन्नेन वा कडवच्छुक्तेन दीयमान कपालोच्छिष्टभाजने पद्मकदलीपत्रादि
भाजने निक्षिप्य दीयमान वा मास, मधु, नवनीत, फल^३ अदारित, मूल, पत्र, साङ्गुर, वन्द च वजयेत् ।
तत्सस्पृष्टानि मिद्वान्यपि विपन्नपरमगन्धानि, कुपितानि, पुष्पितानि, पुराणानि, जन्तुसस्पृष्टानि च^४ न दद्यात्
खादेन, न स्पृशेच्च । उद्गमोन्पादनपणादापदुष्ट नाम्बवहरेत् । नवकोटिपरिगुद्धाहारग्रहणमेपणामिति ।

भिक्षाके लिए खडे हो उस घरमे प्रवेश न करे । जिस घरके कुटुम्बी घरराये हो, उनके मुखपर
विपाद और दीनता हो वहाँ न ठहरे । भिक्षार्थियोंके लिए भिक्षा माँगनेकी जो भूमि हो, उस
भूमिमे आगे न जावे । अपना आगमन बतलानेके लिए याचना या अव्यक्त शब्द न करे । विजली
की तरह अपना शरीरमात्र दिखला दे । कौन मुझे निर्दोष भिक्षा देगा ऐसा भाव न करे । एकान्त
घरमे, उद्यान घरमे, केले लता और झाड़ियोंमे बने घरमें, नाट्यशाला और गायनशालामें
आदरपूर्वक आतिथ्य पानेपर भी प्रवेश न करे । जहाँ बहुतसे मनुष्योंका आना जाना हो, जीव
जन्तुसे रहित, अपवित्रता रहित, दूसरेके द्वारा रोक्-टोकसे रहित तथा जाने आनेके मार्गसे
रहित स्थानमें गृहस्थोंकी प्रार्थनामे ठहरे । सम और छिद्ररहित जमीनपर दोनो पैरोंके मध्यमें
चार अगुलका अन्तर रखकर निश्चल खडा हो और दीवार स्तम्भ आदिका सहारा न ले ।
चोरकी तरह द्वारमे लगे कपाटोंके छिद्र अथवा चार दीवारीके छिद्रमेसे न देखे । दाताके आनेके
मार्ग, उसके खडे होनेके स्थान और करछुल आदि भाजनोकी शुद्धताकी ओर ध्यान रखे । जो
स्त्री बालकको दूध पिलाती हो या गभिणी हो, उसके द्वारा दिये गये आहारको ग्रहण न करे ।
गेगी, अतिवृद्ध, बालक, पागल, पिशाच, मूढ, अन्धा, गूंगा, दुर्बल, डरपोक, शकालु, अनि
निवृत्तवर्ती, दूरवर्ती मनुष्यके द्वारा, जिसने लज्जासे अपना मुख फेर लिया या मुखपर घूँघट
डाला है ऐसी स्त्रीके द्वारा, जिसका पैर जूतेपर रखा है या जो ऊँचे स्थानपर खडा है ऐंमे
व्यक्तियोंके द्वारा दिये गये आहारको ग्रहण नहीं करे । टूटे हुए या फूटे हुए करछुल आदिसे दिया
हुआ आहार ग्रहण न करे । तथा कपालमें, जूटे पात्रमें, कमल केल आदिके पत्ते आदिमें रखकर
दिया हुआ आहार ग्रहण न करे । मास, मधु, मक्खन, विना कटा फल, मूल, पत्र, अकुरित तथा
कन्द ग्रहण न करे । इनमे जो भोजन छू गया हो उमे भी ग्रहण न करे । जिस भोजनका रूप
रस गन्ध विगड गया हो, दुर्गन्ध आती हो, फफूँद आ गई हो, पुराना हो गया हो और जीव-
जन्तु जिसमें पडे हो उमे न ता किसीको देना चाहिये, न स्वयं खाना चाहिये और उसे छूनातक

१ तनु न च-अ० ज० ।

२ न्नेन अदूरे-अ० ज० म० ।

३ पत्राई हरित-अ० ।

४ चराद-अ० । च दानाद-अ० ।

यन्निक्षिप्यते यत्र यदाशीयते यतस्तदुभय प्रतिलेखनायोग्य न वति विलोष्य पश्चात्कृतमार्जनं पुनरवलोक्ष्य निक्षिपेद् गृह्णीयाद्वा । एषा आदाननिक्षेपणसमिति । ईर्यामितिनिष्पतित्वं तथा मनोगुप्तिश्च । स्फुटतरप्रकाशा-
वशोक्तिन्त्य अन्नस्य भोजनमित्यहिमाव्रतभावना पञ्च ॥१२००॥

द्वितीयव्रतभावना उच्यन्ते—

क्रोधभयलोभहस्मपदिष्णा अणुवीचिभासण चेव ।

विदित्यस्म भावणाओ वदस्स पचेव ता होंति ॥१२०१॥

क्रोधभयलोभहास्याना प्रत्याख्यानानि चतस्रः । 'अणुवीचिभासण चेव' सूत्रानुसारेण च भाषण । मत्मा, मृषा, मत्यमृषा, अमत्यमृषा चेति चतस्रो वाच । तत्र सत्या असत्यमृषा वा ध्यवहरणीया नेतरद्वय । क्राधादीनामसंयवचनकारणाना प्रत्याख्याने अमत्यावाकपरिहृता भवति नान्यथा ॥१२०१॥

तृतीयव्रतभावना उच्यन्ते—

अणुष्णादग्गहण अमग्वुद्धी अणुष्णवित्ता वि ।

एदावतियउग्गहजायणमध उग्गहाणुस्स ॥१२०२॥

'अणुष्णादग्गहण' तस्य स्वामिभिरननुज्ञातस्य अग्रहणं ज्ञानापकरणेदे । 'अमग्वुद्धी अणुष्ण वित्ता वि' पगनुज्ञा सम्पाद्य गृहीतेऽपि असाक्षबुद्धिता । 'एदावतिय उग्गहजायण' एतत्परिमाणमिदं भवता दातव्य-
मिति प्रयोजनमात्रपरिग्रहं यावन्नाशितो यावदगुल्लामि इति न बुद्धिं कार्या । उग्गहाणुस्स' ग्राहवस्तुत्तस्य इदं

नहीं चाहिये । जो भोजन उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषसे दुष्ट है उसे नहीं खाना चाहिये । इस तरह नौ कोटियोमें शुद्ध आहार ग्रहण करना एषणा समिति है । जो वस्तु जिस स्थानपर रम्यो जाय और जो वस्तु जिस स्थानसे उठाई जाये वे दोनों प्रतिलेखनाके योग्य हैं या नहीं, यह देखनेके पश्चान् पीछीसे उनको झाडकर पुन देखे और तब रखे या ग्रहण करे । यह आदान निक्षेपण समिति है । ईर्यामिति पहले कही है और मनोगुप्ति भी वही है । अति स्पष्ट प्रकाशमें देखे गये अन्नका भोजन आलोकभोजन है । ये पाँच अहिमाव्रतकी भावना हैं ॥१२००॥

दूसरे सत्यव्रतकी भावना कहते हैं—

गा०—क्रोधका त्याग, भयका त्याग, लोभका त्याग, हास्यका त्याग और सूत्रके अनुसार बोलना ये पाँच सत्यव्रतकी भावना हैं । वचनके चार भेद हैं—सत्य, असत्य, सत्य अमत्य तथा न सत्य न अमत्य । इनमेसे सत्य और अनुभय वचन बोलने योग्य हैं । शेष दो नहीं बोलने चाहिये । क्रोध आदि झूठ बोलनेके कारण होते हैं । उनको त्याग देने पर असत्य वचनका त्याग हो जाता है अन्यथा नहीं होता ॥१२०१॥

तीसरे व्रतकी भावना कहते हैं—

गा०—टी०—ज्ञानोपकरण आदिके स्वामीकी स्वीकृतिके बिना ज्ञानोपकरण आदिके स्वी-
कार न करना, स्वामीकी स्वीकृति मिलने पर स्वीकार की गई वस्तुमें भी आसक्ति न होना, 'आपको इतना देना चाहिये' इस प्रकार जितनेसे प्रयोजन हो उतना ही ग्रहण करना, जितना मांगा है उतना ही ग्रहण करूँगा ऐसी वृद्धि नहीं रखनी चाहिये । जो ग्रहण करने योग्य वस्तुको

ज्ञानसयमयोरन्यतरस्य साधनमन्तरेण ज्ञान चारित्र्य वा मम न सिध्यतीति तस्य ग्रहणं नानुपयोगि नो याच-
तश्च ते ॥१२०२॥

वज्जणमणपुणादगिहप्पवेसस्म गोयरादीसु ।

उग्गहजायणमणुवीचिए तद्वा भावणा तडए ॥१२०३॥

‘वज्जणमणपुणादगिहप्पवेसस्म’ गृहस्वानिभिरननुज्ञानगृहप्रवेशजन भावना । ‘गोयरादीसु’ गोचरा-
दियु इदं वेश्म प्रविश, अन वा तिष्ठेति योजननुज्ञातो देशस्तस्य अप्रवेशन । ‘उग्गहजायणमणुवीचिए’ अवग्रह-
याचना मत्रानुसारेण तृतीये भावना ॥१२०३॥

महिलालोयणपुव्वरदिमरणमसत्तवसहिविकहाहिं ।

पणिदरसेहिं य विरदी भावणा पच वभस्स ॥१२०४॥

‘महिलालोयणपुव्वरदिसरणसत्तवसहिविकहाहिं’ स्त्रीणामालोकन, पूर्वतरस्मरण, स्त्रीभिराकुला य-
वसति शृङ्गारकथा इत्येतद्विरतय । ‘पणिदरसेहिं य विरदी’ बलदपक्वरेम्यो विरतिश्चेति पञ्च व्रत-
भावना ॥१२०४॥

अपडिग्गहस्स मुणिणो सद्धफरिसररूपवगधेसु ।

रागदोसादीण परिहारो भावणा हुति ॥१२०५॥

‘अपरिग्गहस्स’ परिग्रहरहितस्य । ‘मुणिणो’ मुने । ‘सद्धफरिसररूपवगधेसु’ शब्दस्पर्शरसरूपगन्धेषु ।
मनोज्ञामनोज्ञेषु । ‘रागदोसादीण’ रागद्वेषयो परिहारो विषयभेदात्पञ्चप्रकारभावना पञ्चमस्य ॥१२०५॥

जानता है कि यह वस्तु ज्ञान और सयममेंसे एककी साधन है इसके विना मुझे ज्ञान अथवा
चारित्र्यकी सिद्धि नहीं होगी और उसीको ग्रहण करता है, अनुपयोगी वस्तुको ग्रहण नहीं करता ।
उसीके ये भावना होती है ॥१२०२॥

गा०—गोचरी आदिमें गृहस्वामीके द्वारा अनुज्ञा नहीं दिये धरमें प्रवेश न करना अर्थात्
इस धरमें प्रवेश करें, अथवा यहाँ ठहरें इस प्रकारसे जहाँ गृहस्वामीकी अनुज्ञा प्राप्त न हो उस
देशमें प्रवेश न करे और शास्त्रके अनुसार ग्रहण करने योग्य वस्तुकी याचना करना, ये पाँच
अदत्तादानविरमण्यन की भावना हैं ॥१२०३॥

गा०—स्त्रियोकी ओर देखना, पूर्वमें भोगे हुए भोगोका स्मरण, स्त्रियोमें युक्त वसतिका,
शृङ्गारकथा और इन्द्रियोमें मद और बल पैदा करनेवाले रस, इन सबसे विरत होना ग्रहणचर्य-
व्रत की पाँच भावनाएँ हैं ॥१२०४॥

गा०—परिग्रह रहित मुनिका मनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्धमें राग और द्वेषका
स्यान अर्थात् मनोज्ञमें राग और अमनोज्ञमें द्वेष न करना विषयोंके भेदसे पाँच प्रकारकी भावना
पाँचवें अपरिग्रह व्रत की हैं ॥१२०५॥

१ नो याच्यन्ते न्यन्ते—अ० । नो योग्य लभ्यन्ते—अ० । ग्रहण, इत्यस्य अग्रे पाठो नाम्नि आ० ।

भाव माहात्म्य कथयति—

ण करेदि भावणाभाविदो खु पीड वदाण सव्वेसि ।

साधू पासुत्तो ममुहदो व किमिदाणि वेदतो ॥१२०६॥

'ण करेदि खु' न करोत्येव । क ? 'भावणाभावितो' भावनाभिभावित । 'पीड' पीडा । 'वदाण' व्रताना । 'सव्वेसि' सर्वेषा । 'साधू' साधु । 'पासुत्तो' प्रकर्षेण निद्रामुपगत । 'समुहदो व' समुद्रात् गतो वा । 'किमिदाणि' किमिदानो । 'वेदितो' चेतयमान ॥१२०६॥

एदाहिं भावणाहिं हु तम्हा भावेहि अप्पमत्तो त ।

अच्छिदाणि अख्खडाणि ते भविस्सति हु वदाणि ॥१२०७॥

'एदाहिं' एताभि । 'भावणाहिं' भावनाभि । 'तम्हा' तस्मान् । 'भावेहि' भावय । 'अप्पमत्तो त' अप्रमत्तस्त्व । 'अच्छिदाणि' अच्छिद्राणि । 'नैरन्तर्येण प्रवृत्तानि । 'अखडाणि' सम्पूर्णानि तव भविष्यन्ति व्रतानि ॥१२०७॥

व्रतपरिणामोपघातनिमित्तानि शल्यानि ततस्तद्वर्जन कार्यामित्याचष्टे—

णिस्सल्लस्सेव पुणो महव्वदाइ हवंति सव्वाइं ।

वदमुवहम्मदि तीहिं दु णिदाणमिच्छत्तमायाहिं ॥१२०८॥

'णिस्सल्लस्सेव' शल्यरहितस्यैव । शृणाति हिनस्तीति शल्य शरकण्टवादि शरीरादिप्रवेसि तेन तुल्य यत्प्राणिनो वाधानिमित्त, अन्तर्निविष्ट परिणामजात तच्छल्यमिह गृहीत । 'महव्वदाइ' महाव्रतानि भवन्ति । शल्य कस्यचिदेव व्रतस्योपघातक, यथा एषणाममित्यभावो अहिमाव्रतस्येत्याशङ्का निरन्म्यति सर्वशब्दो । ननु च महत्त्वेन व्रतमवशेष्य । मिथ्यात्वादिशल्य अणुव्रतान्यपि हन्त्येव । सत्य प्रस्तुतत्वान्महाव्रतानामित्यमुच्यते ।

भावनाका माहात्म्य कहते हैं—

गा०—भावनाओंसे भावित साधु गहरी नीदमें सोता हुआ भी अथवा मूर्छित हुआ भी सब व्रतोमें दोष नहीं लगाता । तब जागते हुए की तो बात ही क्या है ॥१२०६॥

गा०—इसलिये हे क्षपक ! तुम प्रमाद त्यागकर इन भावनाओंमें अपनेको भावित करो । इससे तुम्हारे व्रत निरन्तर बने रहेंगे और सम्पूर्ण होंगे ॥१२०७॥

शल्य व्रतरूप परिणामोके घातमें निमित्त होते हैं । अतः उनको त्यागना चाहिये, यह कहते हैं—

गा०—टी०—शल्यरहितके ही सब महाव्रत होते हैं । 'शृणाति' अर्थात् जो कष्ट देता है वह शल्य है । जैसे शरीर आदिमें घुसनेवाला वाण, काँटा आदि । उनके समान जो अन्तरगमने घुसा परिणाम प्राणीको कष्ट पहुँचानेमें निमित्त है उसे यहाँ शल्य शब्दसे कहा है । जैसे एषणाममित्तिका अभाव अहिमा व्रतका घातक है वैसे ही शल्य किसी एक व्रतका घातक है क्या ? इस आशंका को दूर करनेके लिये सर्व शब्दका प्रयोग किया है ।

शका—मिथ्यात्व आदि शल्य अणुव्रतोका भी घात करते हैं । यहाँ उन्हें महाव्रतोका घातक क्यों कहा ?

अथ चोत्र—हिमादिभ्यो विरतिपरिणाममात्राणि व्रतानि । शक्ये मिथ्यात्वादिवे सति किं न भवन्ति । येनैव-
मुच्यते नि शक्यमैव महाव्रतानि भवन्ति इति ? एतत्प्रतिविधानायाह—‘वदमुवहम्मदि’ व्रतमुपहृत्यते । ‘तोहि दु’
निमृभि । ‘णिदाणमिच्छत्तमायाहि निदानमिथ्यात्वमायाभि । अल्पात्तरत्वात्मायाशब्दस्य पूर्वनिपात इति
चेन—मिथ्यात्व व्रतविधान प्रकरणेण करोतीति प्रधानं ततो मिथ्यात्व माया चेति द्विपदे द्वन्द्वे मिथ्यात्वशब्दस्य
पूर्वनिपात पञ्चान्निदानशब्देन द्वन्द्वे तस्यान्पात्तरत्वात्पूर्वनिपात । मम्यक्चारित्रमिह मोक्षमार्गत्वेन प्रस्तुत,
तच्च नामतो सम्यग्दर्शनज्ञानयोर्भवति । सति मिथ्यात्वे विरोधिनि न ते स्त समीचीनज्ञानदर्शने । रत्नत्रय-
त्वात्मुक्ते अनन्तज्ञानादिकाच्चात्पत्र चित्तप्रणिधान इदमेतत्स्व स्यादिति निदान । तच्च सम्यग्दर्शनादि-
परम्परया व्रतोपघातकारि । मनसा स्वातिचारनिगूह्नलक्षणा माया च व्रतमुपहन्तीति मन्यते ॥१२०८॥

तथ णिदाण तिविहं होड पसस्थापमत्थभोगकद ।

तिविध पि त णिदाण परिपथो सिद्धिमग्गस्स ॥१२०९॥

तस्य तेषु शक्येषु । ‘णिदाण’ निदानाह शक्य । ‘तिविध’ त्रिविध । ‘होडि’ भवति । ‘पसत्यमप-
स्यभोगकद’ प्राम्गनिदानमप्राम्गनिदान, भोगनिदान चेति । ‘तिविध पि तनिदान’ विप्रकारमपि निदान ।
‘परिपथो विध्न । सिद्धिमग्गस्स’ रत्नत्रयस्य ॥१२०९॥

समाधान—आपका कहना सत्य है किन्तु यहाँ महाव्रतका प्रकरण होनेसे महाव्रतका
घातक कहा है ।

शंका—व्रत तो हिंसा आदिसे विरतिरूप परिणाम मात्र है । वे मिथ्यात्व आदि शक्यके
होने पर क्यों नहीं होने, जिससे यह कहा गया है कि नि शक्यके ही महाव्रत होते हैं ?

समाधान—इस शङ्काका निराकरण करनेके लिये कहते हैं—निदान, मिथ्यात्व और माया
इन तीनोंके द्वारा व्रतका घात होता है ।

शंका—माया शब्द अल्प अचूवाला है अतः उसे पहले रखना चाहिये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि मिथ्यात्व व्रतका घात प्रकर्ष रूपसे करता है अतः प्रधान है ।
तब ‘मिथ्यात्व और माया’ ऐसा द्वन्द्व समाप्त करने पर मिथ्यात्व शब्दका पूर्व निपात होता है ।
फिर निदान शब्दके साथ द्वन्द्व करने पर निदान शब्दका पूर्व निपात होता है क्योंकि वह अल्प
अचूवाला है । यहाँ मोक्षके मार्ग रूपसे सम्यक्चारित्रका कथन है । वह सम्यक्चारित्र सम्यग्दर्शन
और सम्यग्ज्ञानके अभावमें नहीं होता । क्योंकि विरोधी मिथ्यात्वके रहते हुए सम्यग्ज्ञान और
सम्यग्दर्शन नहीं होने । रत्नत्रयरूप अथवा अनन्त ज्ञानादिरूप मुक्तिमें अन्यत्र चित्तका उपयोग
लगाना कि इसका यह फल मुझे मिले, निदान है । यह सम्यग्दर्शन आदिकी परम्परासे व्रतका
घातक है । तथा मनसे अपने दोषोंको छिपाने रूप माया भी व्रतका घात करती है ।

विशेषार्थ—निदानमें सम्यग्दर्शनमें अतिचार लगना है और व्रतका मूल सम्यग्दर्शन है ।
तथा निदानमें व्रतका घात होता है ॥१२०८॥

गा०—उन शक्योमें निदान नामक शक्यके तीन भेद हैं—प्रगम्त निदान, अप्रगम्त निदान
और भोग निदान । तीनों ही प्रकारका निदान मोक्षके मार्ग रत्नत्रयका विरोधी है ॥१२०९॥

प्रशस्तनिदाननिरूपणार्थोत्तरगाथा—

सजमहेदु पुरिसत्तसवलविगियसघदणबुद्धी ।

सावअवधुकुलादीणि णिदाण होदि हु पसत्थ ॥१२१०॥

'सजमहेदु' समयनिमित्त । 'पुरिसत्तसवलविगियसघदणबुद्धी' पुरुषत्वमुत्साह, बल शरीरगत दाढघं, वीर्य वीर्यान्तरायक्षयोपशमज परिणाम । अस्थिवन्धविषया वज्रश्रृंगभनाराचसहननादि । एतानि पुत्रपत्वा-
दोनि समयमाघनानि मम स्युरिति चित्तप्रणिधान प्रशस्तनिदान । 'सावयवधुकुलादिनिदान' धावकवन्धुनिदान ।
'अदरिद्रकुले, अदन्धुकुले वा उत्पत्ति प्रार्थना प्रशस्तनिदान ॥१२१०॥

अप्रशस्तनिदानमाचष्टे—

माणेण जाइकुलरूपमादि आइरियगणधरजिणत्त ।

सोभग्गाणादेय पत्थतो अप्पसत्थ तु ॥१२११॥

माणेण' मानेन हेतुना । 'जातिकुलरूपमादि' जातिमातृवश, कुल पितृवश, जातिकुलरूपमात्रस्य
सुलभत्वात्प्रशस्तजात्यादिविपरिग्रह । इह 'आइरियगणधरजिणत्त' आचार्यत्व, गणधरत्व, जिनत्व । 'सोभग्गाणा-
देय' सोभाष्य, आज्ञा, आदेयत्व च । 'पच्छेतो' प्रार्थयत । 'अप्पसत्थ तु' अप्रशस्तमेव निदान मानकपाय-
दूषितत्वात् ॥१२११॥

प्रशस्त निदानका कथन करते हैं—

गा०—मयममे निमित्त होनेमे पुत्रत्व, उत्साह, शरीरगत दृढता, वीर्यान्तरायके क्षयोपशम
से उत्पन्न वीर्यरूप परिणाम, अस्थियोंके बन्धन विशेष रूप वज्रश्रृंगभनाराच सहनन आदि, ये
सयम सावन भुजे प्राप्त हो, इस प्रकार चित्तमे विचार होना प्रशस्त निदान है । तथा मेरा जन्म
श्रावक कुलमे हो, ऐसे कुलमे हो जो दरिद्र न हो, बन्धु वान्धव परिवार न हो, ऐसी प्रार्थना
प्रशस्त निदान है ॥१२१०॥

विशेषार्थ—एक प्रतिमे दरिद्रकुल तथा एकमे बन्धुकुल पाठ भी मिलता है । दीक्षा लेनेके
लिये दरिद्रकुल भी उपयोगी हो सकता है और सम्पन्न घर भी उपयोगी हो सकता है । इसी
तरह बन्धु वान्धव परिवारवाला कुल भी उपयोगी हो सकता है और एकाकीपना भी । मनुष्यके
मनम विरक्ति उत्पन्न होने की बात है ॥१२१०॥

अप्रशस्त निदान कहते हैं—

गा०—मानरूपायके वश जाति, कुल, रूप आदि तथा आचार्यपद, गणधरपद, जिनपद,
सोभाष्य, आज्ञा और आदेय आदिकी प्राप्तिकी प्रार्थना करना अप्रशस्त निदान है ॥१२११॥

टी०—माताके वशको जाति और पिताके वशको कुल कहते हैं । जाति कुल और
रूप मात्र तो सुलभ हैं क्योंकि मनुष्य पर्यायमे जन्म लेनेपर ये तीनों अवश्य मिलते हैं । इसलिये
यहां जाति कुल और रूपसे प्रशमनीय जाति आदि लेना चाहिये । मान कपायमे दूषित होनेसे
यह अप्रशस्त निदान है ॥१२११॥

कुद्धो वि अप्ससत्य मरणे पत्येडं पत्रघादीयं ।

जह उगसेणघादे कद् गिदाणं वसिष्ठेण ॥१२१२॥

'कुद्धो वि' कुद्धोऽपि । 'अप्ससत्य' परवधादिक । 'मरणे' मरणकाले । 'पत्येदि' प्रार्थयते । 'जवा' यथा 'उगसेणघादे' उग्रमेतमरणे । 'कद् गिदाण' कृत निदान 'वसिष्ठेण' वसिष्ठेन यनिना ॥१२१२॥

भोगनिदाननिष्पन्ना—

देविगमाणुसभोगे पारिस्सरसिद्धिसत्यवाहत्त ।

कैमवचक्कघरत्तं पत्यते होडि भोगकद् ॥१२१३॥

'देविगमाणुसभोगे' देवेषु मनुष्येषु च भवान्भोगान् । 'पत्यते' कर्मिलपति । 'भोगकद्' भोगकृत निदान । 'पारिस्सरसिद्धिसत्यवाहत्त' नारीन्व, ईश्वरन्व, श्रेष्ठिन्व, सार्यवाहत्त्व च । 'किसवचक्कघरत्तं' वामुदेवत्व सकलवचकवत्तित्व च वाञ्छति भोगार्थं । भोगनिदान भवति ॥१२१३॥

सजम सहगरुद्धो घोगतवपरक्कमो तिगुत्तो वि ।

पगरिञ्ज जड गिदाण सोवि य वड्ढेड दीहममार ॥१२१४॥

'सजमसिहरुद्धो' सजम शिखरमिव दुःखरोहत्वात्तद्वल्पात् । एतदुक्त भवति । प्रहृष्टमयमोऽपि । 'घोरतवपरक्कमो' घोरं तदपि पराक्रम उन्नाहो यम्य मोऽपि दुर्घरतपोऽनुष्ठाप्यपि । 'तिगुत्तो वि' गुप्तित्रय-समन्वितोऽपि । 'पगरिञ्ज जड गिदाण' निदान यदि कुर्यात् । 'सो वि' व्यावर्णितगुणोऽपि 'वड्ढेड' वर्धयति सनारमान् । किमपरमिन्निदानकारिणि वाच्यम् ॥१२१४॥

जो अप्ससुक्खहेदु कुणडं गिदाणमविगणियपरमसुहं ।

सो कागणीए विक्केड मणिं बहुकोडिमयमोल्ल ॥१२१५॥

शा०—क्रोध कपायके बध होकर भी कोई मरते समय दूसरेका बध करनेकी प्रार्थना करता है । जैसे वसिष्ठ ऋषिने उग्रमेतका घात करनेका निदान किया था ॥१२१२॥

विशेषार्थ—वशिष्टनामने उग्रमेतको मारनेका निदान किया था । इस निदानके फलमे वह मरकर उग्रमेतका पुत्र बन हुआ । और उनमे पिताको जेलमे डालकर राज्यपद प्राप्त किया । पीछे कृष्णके द्वारा स्वयं भी मारा गया ॥१२१२॥

भोगानिदानका कथन करते हैं—

शा०—देवों और मनुष्योंमे होनेवाले भोगोंकी अभिलाषा करना तथा भोगोंके लिए नारी-पना, ईश्वरपना, श्रेष्ठिपना, सार्यवाहपना, नारायण और सकल चक्रवर्तीपना प्राप्त होनेकी बाधा करना भोगनिदान है ॥१२१३॥

शा०—टी०—मयम पर्वतके शिखरके समान है क्योंकि जैसे पर्वतका शिखर अचल और दुःखमे चडने योग्य है वैसे मयम भी है । उस मयमपर जो आश्रुत है अर्थात् उत्कृष्ट मयमका धारो है, घोर तप करनेमे उन्नाही है अर्थात् दुर्ग तप करता है और तीन गुप्तिपोंका धारो है, वह भी यदि निदान करता है तो अपना ममार बढाता है, फिर दूसरे निदान करनेवालेका तो कहना ही क्या है ॥१२१४॥

‘जो अल्पसुखदेहु’ योऽल्पसुखनिमित्त निदान करोति परमे मुक्तिमुखे अनादर कृत्वा । स वाक्प्या
विज्ञीणीते मणि बहुकोटिदातमत्यम् ॥१२१५॥

सो भिदइ लोहत्य णाव भिदइ मणि च सुत्तथ ।

छारफदे गोमीरं डहदि णिदाणं खु जो कुणदि ॥१२१६॥

‘सो भिदइ’ स भिनत्ति कीललोहार्यं नाव अनेकवस्तुभूता । भिनत्ति रत्न च सूक्ष्मं । गोमीरं चन्दन
दहति भस्मार्यं यो निदान करोति स्वन्पार्यं । सारविनाशसाधन्यदिभेदमाचष्टे—‘सूपकारोपरि कया यो
निदानकारी, तेन नोप्रभृतिक विनाशित । अर्थास्थानकानि वाच्यानि ॥१२१६॥

कोठी सतो लद्धूण डहइ उच्छु रमायण एसो ।

सो सामण्ण णासेइ भोगहेदुं णिदाणेण ॥१२१७॥

‘कोठी सतो’ कुण्डो सन् रसायनभूतमिधु लब्धा दहति य समानता नाशयति सर्वदुःखन्याधिविना-
शोद्यता भोगार्थनिदानेन ॥१२१७॥

पुरिमत्तादिणिदाण पि मोक्खकामा मुणी ण इच्छंति ।

ज पुरिमत्ताइमओ भवो भवमओ य ससारो ॥१२१८॥

पुरिसत्तादिणिदाणपि’ पुण्यत्वादिनिदानमपि मोक्षाभिलाषिणो मुनयो न वाञ्छन्ति । यस्मात्पुण्यत्वा-
दिरूपो भवपर्याय । नवात्मकश्च सत्तार भवपर्यायपरिवर्तस्वरूपत्वात् ॥१२१८॥

दुक्खक्खयकम्मक्खयसमाधिमरण च वोधिलाभो य ।

एय पत्थेयव्व ण पत्थणीय त्तओ अण्ण ॥१२१९॥

गा०—जो मुक्तिके उत्कृष्ट सुखका अनादर करके अल्पसुखके लिए निदान करता है वह
करोडो रुपयोके मूत्तवाली मणिको एक कौडीके बदले बेचता है ॥१२१५॥

गा०—जो निदान करता है वह लोहेकी कीलके लिए अनेक वस्तुओंसे भरी नाव को—
जो समुद्रमें जा रही है तोडता है, भस्मके लिए गोशीर्षचन्दनको जलाता है और घागा प्राप्त
करनेके लिए मणिनिमित्त हारको तोडता है । इस तरह जो निदान करता है वह थोड़ेसे
लाभके लिए बहुत हानि करता है । एक सूपकारने अपनी मूर्खतासे अपनी नाव नष्ट कर डाली
थी । इनकी कथाएँ (कथाकोशसे) जानना ॥१२१६॥

गा०—जैसे कोई कोठी मनुष्य अपने रोगके लिए रसायनके समान ईखको पाकर उसे
जलाकर नष्ट करता है वैसे ही भोगके लिए निदान करके मूर्ख मुनि सर्व दुःख और व्याधियोंका
विनाश करनेमें तत्पर मुनि पदको नष्ट करता है ॥१२१७॥

गा०—मोक्षके अभिलाषी मुनिगण ‘मैं मरकर पुरुष हों’ या ‘मेरे वज्ररूपभनाराच
सहसन आदि हो, इस प्रकारका भी निदान नहीं करते । क्योंकि पुरुष आदि पर्याय भवव्यप है
और भवपर्यायका परिवर्तन स्वरूप होनेसे सत्तार भवमय है । अर्थात् नाना भवधारण करने रूप
ही तो सत्तार है ॥१२१८॥

‘दुषस्वस्वयं दुःखानां शरीराणां, आगन्तुकानां स्वाभाविकानां च क्षयो भवतु । तथा कर्मणां तत्कारणभूतानां रत्नत्रयसम्पादनपुरं सरं मरणं, दीक्षाभिमुखो बोधिलाभश्च एतत्प्रार्थनीयं नान्यत ॥१२१९॥

पुरिसत्तादीणि पुणो सजमलाभो य होइ परलोए ।

आराधयस्स णियमा तदत्थमकूदे णिदाने वि ॥१२२०॥

‘पुरिसत्तादीणि’ पुरुषत्वादिकं, सयमलाभश्च भविष्यति परजन्मनि । कस्य ? वृत्तरत्नत्रयाराधनस्य निश्चयेन । तदर्थं महत्तेऽपि निदाने ॥१२२०॥

माणस्म भजणत्थ चिंतेद्वो सरीरणिव्वेदो ।

दोसा माणस्स तथा तहेव ससारणिव्वेदो ॥१२२१॥

‘माणस्स भजणत्थ’ मानभङ्गनार्थं ध्यातव्यं शरीरनिर्वेद । तथा दोषाश्च मानस्य । तथैव ससार-निर्वेदश्च ध्यातव्य इति क्षपकं निर्यापकपुरिं शिक्षयति । शरीरस्य अनुचित्वादिवस्वभावचिन्तननं । किमेनेन शरीरेणेति शरीरे अनादरं शरीरनिर्वेदं । स कस्य मानस्य भङ्गने निमित्तं । स हि शरीरानुरागमेव विहन्ति तत्प्रतिपक्षत्वान् । अत्रोच्यते—मानशब्दं सामान्यवचनोऽपि स्थाभिमानविषयो गृह्येत । स च शरीरनिर्वेदेन भज्यते । मानस्य दोषा नीचकुलेपूत्यत्तिमन्यगुणालाभं, सबन्धे व्यता, रत्नत्रयाद्यलाभ इत्यादिका । ससारस्य द्रव्यक्षेत्रकालभावभ्रवपरिवर्तनरूपस्य पराङ्मुखता ससारनिर्वेदं । तत्रोपयुक्तस्य अहङ्कारनिमित्तानां विनाशानां,

गा०—हमारे शारीरिक, आगन्तुक और स्वाभाविक दुःखोंका नाश हो । तथा उनके कारणभूत कर्मोंका क्षय हो । रत्नत्रयका पालन करते हुए मरण हो और जिनदीक्षाकी ओर अभिमुख करनेवाले जानका लाभ हो, इतनी ही प्रार्थना करने योग्य है । इनके सिवाय अन्य प्रार्थना करना योग्य नहीं है ॥१२१९॥

गा०—जो रत्नत्रयकी आराधना करता है उसे निदान न करने पर भी आगामी जन्ममें पुरुषत्व आदि का तथा मयमका लाभ निश्चय ही होता है ॥१२२०॥

गा०—टी०—निर्यापकाचार्य क्षपकको शिक्षा देता है कि तुम्हें मानकपायका विनाश करने-के लिए शरीरमें निर्वेदक, मानके दोषों का और ससारसे निर्वेदका चिन्तन करना चाहिये । शरीरके अशुचित्व आदि स्वभावका चिन्तन करनेसे ‘इस शरीरसे क्या लाभ’ इस प्रकार शरीरमें अनादर होता है उसे ही शरीर निर्वेद कहते हैं ।

शङ्का—शरीरका चिन्तन मानकपायको दूर करनेमें निमित्त कैसे हो सकता है उसमें तो शरीरमें अनुराग का ही घात होता है क्योंकि शरीर निर्वेद उसका प्रतिपक्षी है ?

समाधान—यद्यपि मान शब्द मानसामान्यका वाचक है तथापि यहाँ स्थाविषयक अभिमान लिया है । वह शरीरके निर्वेदसे नष्ट होता है । नीच कुलोमें जन्म, आदरणीय गुणोंका प्राप्त न होना, सपका अपनेसे द्वेष करना, रत्नत्रय आदिका लाभ न होना, ये सब मानकपायमें होनेवाले दोष हैं । द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भ्रवपरिवर्तन रूप ससारमें विमुख होना ममार-निर्वेद है । ससारनिर्वेदमें उपयोग लगानेमें अहङ्कारके निमित्तोंका विनाश होता है । क्योंकि

निन्द्याना च गुणाना बहूना असद्वृत्प्रवृत्तिं अनेकप्राणिलम्बत्वान् । स्वप्राप्तेभ्यो गुणेभ्योऽतिप्रयिताना गुणानामन्यैस्त्वलम्बनात् ॥१२२१॥

कुलाभिमाननिरासोपायमावष्टे—

णीचो वि होइ उच्चो उच्चो णीचत्तण पुण उवेइ ।

जीवाणं खु कुलाइं पधियस्स ष विस्समंताणं ॥१२२२॥

'णीचो वि होइ' स्थानमानैस्वर्पादिभिस्तिरोभूतो नीच इत्युच्यते । सोपि 'होइ' भवति । 'उच्चो' तरेवोदत । स उच्चो अतिप्रयितस्थानमानादिकाऽपि 'नीचत्तण' तन्मूलात् । 'पुण उवेइ' पुन उपैति । जीवानां खु जीवाना यत्तु । कुलाइं कुलानि । कीदृग्भूताना ? 'विस्समत्ताण' विश्रमता बहूनि कुलानि कुलबहुत्वप्रकटनेन कुलानित्यता दक्षिता । अनियतकुलस्य क कुलगर्व । 'पधियस्सव' पधियन्म्य यथा विश्रामस्थान न नियतमस्ति तददेवास्तेति भाव ॥१२२२॥

किं च गर्वो ह्यात्मनो वृद्धि परस्य वा हानि बुद्ध्या मशेषते तस्य युक्तोद्धार न चास्य वृद्धिहानौ स्त इति कथयति—

उच्चासु व णीचासु व जोणीसु ण तस्स अत्थि जीवस्स ।

बड्ढी वा हाणी वा सब्बत्थ वि तित्तिओ चेव ॥१२२३॥

'उच्चासु व णीचासु व' यत्र स्थित आत्मा शरीर निष्पादयति तत्रोनिशब्देनोच्यते । न तस्य उच्चता नीचता वा तत् किमुच्यते उच्चासु व णीचासु व इति । अत्रोच्यते—योनिशब्देन कुलमेवात्रोच्यते । तैनायमर्थ । मान्ये कुले महिते वा उत्पन्नस्य न तस्य जीवस्य वृद्धिर्हानिर्वा सर्वत्र तत्परिमाण एव ज्ञानादि-

अनेक निन्दनीय गुण, जो अहंकारमे निमित्त होते हैं, अनेक प्राणियोंमे पाये जाते हैं । तथा अपने-को जो गुण प्राप्त हैं उनसे भी अतिशयशाली गुण दूसरोंको प्राप्त हैं । अतः उनका अभिमान कैसा ? ॥१२२१॥

कुलका अभिमान दूर करनेका उपाय कहते हैं—

गा०टी०—स्थान, मान, ऐश्वर्य आदिसे हीन व्यक्तिको नीच कहते हैं । जो स्थान, मान, ऐश्वर्य आदिसे हीन होता है वही नीच हो जाता है । जोवोंके कुल पथिकके विश्राम स्थानकी तरह हैं । जैसे पथिकके विश्राम लेनेका स्थान नियत नहीं है वैसे ही कुल भी नियत नहीं है । तब अनियत कुलका गर्व कैसा ? 'कुलानि' पद बहुवचनान्न होनेसे कुलोंको बहुतायत प्रकट करता है । और कुलोंकी बहुतायतसे कुलोंकी अनित्यता दिखलाई है ॥१२२२॥

आगे कहते हैं कि अपनी वृद्धि और दूसरेकी हानिकी भावनासे गर्व होता है उसका अहंकार करना युक्त है किन्तु उच्च या नीच कुलमे जन्म लेनेसे आत्माकी हानि वृद्धि नहीं होती—

गा०टी०—शंका—जिसमे रहकर जीव अपने शरीरको रचता है उसे योनि कहते हैं । योनि तो उच्च या नीच होती नहीं । तब 'उच्चासु व नीचासु' क्यों कहा ?

समाधान—यहाँ योनि शब्दसे कुलको ही कहा है । अतः ऐसा अर्थ होता है—मान्य कुलमे अथवा निन्दनीय कुलमे उत्पन्न हुए जीवकी वृद्धि या हानि नहीं होती । सर्वत्र जीवका परिमाण

गुणातिशयादेव उत्कृष्टता । निन्दितगुण कुलीनोऽपि न पूज्यतेतरामन्यै । अमान्योऽपि कुले सम्भूतो यदि गुणी स्यात् । उक्तं च—

ससारव्रते भ्रमतो हि जतोर्न चात्र किञ्चित्कुलमस्ति नित्यं ।
स एव नीचोत्तममध्यजाती स्वकर्मवश्यं समुपैति तास्ता ॥
नृपश्च दासः श्वपचरश्च विप्रो दरिद्रश्चशशश्च समृद्धश्च ।
चोराग्निदावाहितयाचिता (?) च सजायते कर्मवशात्स एव ॥
को वाधिकार मुकुलेषु नृणां का वा विहिंसान्यकुलप्रभृती ।
कार्योऽधिकारो ननु परमं एव कर्प्या विहिंसापि च दुष्कृतेषु ॥ [] ॥१२२३॥

कालमणत णीचागोदो होदूण लहह सगिमुच्च ।
जोणीमिदरसलाग ताओ वि गदा अणंताओ ॥१२२४॥

‘कालमणत णीचागोदो होदूण’ अनन्तकाल नीचगोत्रो भूत्वा । ‘लभदि सगिमुच्च जोणि’ लभते मङ्गदुर्चर्चगोत्र । कीदृशी ‘इदरसलाग’ इतरशलाका । इतरा नीचैर्योनय शलाका यस्या उच्चैर्योनिस्ता इतर-शलाका । ‘ताओ वि’ ता अपि ‘अन्तराले लब्धा अपि उच्चैर्योनय । ‘गदा अणताओ’ अनन्ता प्राप्ता एवेन जीवने ॥१२२४॥

उत्तना ही रहता है । जानादि गुणोमे अतिशय होनेमे ही उत्कृष्टता होती है । कुलीन भी यदि निन्दित गुण वाला होना है तो दूसरे उसका आदर सम्मान नहीं करते । और अनादरणीय कुलमे उत्पन्न होकर भी यदि गुणी होता है तो दूसरे उसका सम्मान करते हैं । कहा है—ससारमे भ्रमण करते हुए प्राणीका कोई कुल स्थायी नहीं है । वही जीव अपने कर्मके अधीन होकर नीच, उत्तम अथवा मध्यम कुलोमे जन्म लेता है । वही जीव अपने कर्मके वश होकर राजा और दास, चाण्डाल या ब्राह्मण, दरिद्र वश वाला या सम्पन्न वश वाला होता है तथा चोर, आग और दावानलमे पीडित तथा माँगने वाला होता है । उच्च कुलोमे मनुष्योको जन्म लेनेका गर्व कैसा ? और नीच कुलोमे जन्म लेने पर घृणा कैसी ? गर्व करना हो तो धर्ममे ही करना चाहिए और घृणा भी पापमे कर्तनी चाहिए ॥१२२३॥

गा०-टी०—यह जीव अनन्तकाल तक नीच गोत्रमे जन्म लेकर एक बार उच्च गोत्रमे जन्म लेता है । इस प्रकार उच्च गोत्रकी शलाका नीच गोत्र है । शलाकासे मतलब है अनन्तकाल नीच गोत्रमे जन्म लेकर एक बार उच्च गोत्रमे जन्म । नीच गोत्रोके अन्तरालमे प्राप्त उच्च गोत्र भी एक जीवने अनन्त बार प्राप्त किये हैं ॥१२२४॥

विशेषार्थ—यद्यपि यह जीव सारमे भ्रमण करते हुए अनन्तबार नीच गोत्रमे जन्म लेना है तब कहीं एक बार उच्च गोत्रमे जन्म लेना है । तथापि अनन्त बार नीच गोत्रमे जन्म लेनेके पश्चान् एक बार उच्च गोत्रमे जन्म लेनेकी परम्पराको भी इमने अनन्त बार प्राप्त किया है अर्थात् इस क्रममे इमने उच्च गोत्रमे भी अनन्त बार जन्म लिया है ॥१२२४॥

बहुसो वि लद्धविजडे को उच्चतम्मि विन्भओ णाम ।

बहुसो वि लद्धविजडे णीचत्ते चावि कि दुक्ख ॥१२२५॥

'एव बहुसो वि' बहुसोऽपि, 'लद्धविजडे' लब्धपरित्यक्तं च । 'उच्चतम्मि' मान्यकुलप्रसूतत्वे । 'ओ णाम विन्भओ' को नाम विस्मय । कदाचिदलब्धपूर्वमिदानोभेव लब्धमिति भवेत्सर्वं । 'बहुसो वि' बहुसोऽपि । 'लद्धविजडे' लब्धपरित्यक्तं । 'णीचत्ते चावि' नीचगोत्रप्रसूतत्वे अपि । 'कि दुक्ख' किमिदं दुःखं ॥१२२५॥

उच्चतणम्मि पीदी सकप्पवसेण होइ जीवस्स ।

णीचत्तणे ण दुक्ख तह होइ कसायवहुलस्स ॥१२२६॥

'उच्चतणम्मि' मान्यकुलत्वे । 'पीदी' प्रीतिः । सकप्पवसेण' सकल्पवसेन 'होइ जीवस्स' भवति जीवस्य प्रारम्भे कुले जानोऽहमिति मनोनिधानात् प्रीतो भवत्यत्यथ जन नेत्यभूत् सकल्पमन्तरेण सामान्यकुलत्वे सत्यपि प्रीतिर्भवति । नीचकुलत्वमेव च न दुःखस्य निमित्तं । अपि च 'नीचतणे ण' नीचगोत्रत्वे च दुःख 'तथा होइ' तथा भवति । प्रीतिरिव परनिमित्तकं भवति । कस्य ? क्वायवहुलस्स' कसायवद् बहु सामान्य-वधनोऽपि मानकपाये वर्तते । तेनायमथ प्रचुरमानकपायो जनयति दुःखमस्य न नीचगोत्रत्वमेव ॥१२२६॥

प्रीतिपरितापो सकल्पायत्तावित्येतत्पष्टयत्युत्तरगायया—

उच्चत्तण व जो णीचत्त पिच्छेज्ज भावदो तस्स ।

उच्चत्तणे व णीचत्तणे वि पीदी ण किं होज्ज ॥१२२७॥

'उच्चत्तण व' उच्चगोत्रत्वमिव 'जो णीचत्त पेच्छदि' यो नीचगोत्रं प्रेक्षते इदं चण्डालत्वं वरमिति । भावराशेऽनेकार्थवत्त्वमपि इह चित्तवाची । यन् येन लब्धं तत्तस्य शोभनं । अलम्बने शोभनतापि किं नेनेति मनसि करोति यदा तदा तत्रैव श्रौतिरस्य जायते इति वदति उच्चत्तणं वि' मान्यकुलत्वं इव नीचत्तणं वि' नीचगोत्रत्वेऽपि । 'पीदी कि ण होज्ज' प्रीति कि न भवेत् भवत्येवेति यावत् ॥१२२७॥

गा०—इस प्रकार अनन्त बार प्राप्त करके छोड़े हुए उच्च कुलमे जन्म लेनेका गर्व कंसा ? गर्व तो तब होता जब अभी तक न पानेके बाद प्रथम बार ही इसे प्राप्त किया होता । तथा अनन्त बार प्राप्त करके छोड़े हुए नीच गोत्रमे जन्म लेनेका दुःख कैसा ॥१२२५॥

गा०—टी०—'मैं उच्च कुलमे जन्मा हूँ' ऐसा मनमे सकल्प होनेमे जीवका उच्चकुलमे अत्यन्त अनुराग होता है । इस प्रकारके सकल्पके बिना सामान्य कुलमे जन्म होने पर भी अनुराग नहीं होना । तथा नीच कुलमे जन्म लेना ही दुःखका कारण नहीं है । दुःखका कारण है मानकपायकी बहुतायत । गाथामे कपाय शब्द सामान्यवाची है तथापि यहाँ उसका अर्थ मानकपाय लेना चाहिए । मानकपायकी बहुतायत जीवको दुःख देती है, केवल नीच गोत्रमे जन्म ही दुःखका कारण नहीं होता ॥१२२६॥

अनुराग और दुःख सकल्पके अधीन हैं, यह कहते हैं—

गा०—टी०—गाथामे आये भाव शब्दके यद्यपि अनेक अर्थ हैं तथापि यहाँ उसका अर्थ चित्त लिया है । जो मनमे उच्च गोत्रके समान नीच गोत्रको देखता है अर्थात् यह चाण्डाल कुलमे जन्म श्रेष्ठ है ऐसा मानना है । मनमे विचारता है कि जो जन्मको प्राप्त है वही उसके लिए उत्तम है । जो प्राप्त नहीं है वह श्रेष्ठ भी हो तो उससे क्या ? ऐसा विचार करने ही उच्च कुलके समान नीच

णीचत्तणं व जो उच्चत्त पेच्छेज्ज भावदो तस्स ।

णीचत्तणेव उच्चत्तणे वि दुक्ख ण किं होज्ज ॥१२२८॥

‘नद्विपरोताघोत्तरगाया । स्पष्टतया’ वस्तुस्थिति नापेक्षते । मङ्गलपायता प्रीतिरप्रीतिर्वैत्यनुभव-
निद्रमैत्रविलस्य जगत् इति वदति । यस्मानुच्चर्त्तणोच्चैर्गोत्रेण न मुखदुःखयोर्भावभावो च भवत
मङ्गलपाय ॥१२२८॥

तम्हा ण उच्चणीचत्तणाड पीदिं करोति दुःखत्वं वा ।

सक्कप्पो से पीदों करोदि दुक्ख च जीवस्स ॥१२२९॥

‘तम्हा’ तस्मान् । ‘उच्चणीचत्तणाणि’ मान्यामान्यकुलत्वानि । ‘न करोति पीदि दुक्ख वा’ न कुरत
प्रीतिं दुःख वा । ‘सक्कप्पो पीदि करोदि’ मङ्गलो से’ अस्य जीवस्य तस्मात् प्रीतिं करोति दुःख वा । यदि मङ्गले
भाववदति अभावाच्च ॥१२२९॥

मानकपायमान्योऽयं दोष इति कथयति—

कुपादि य माणो णीयागोदं पुरिस भवेसु बहुएसु ।

पत्ता हु णीचजोणी बहुमो माणेण लच्छिमदी ॥१२३०॥

‘कुपादि य’ करोति । ‘माणो’ अहंकार । ‘णीयागोदं पुरिस’ नीचर्त्तणोच्चैर्गोत्रेण ‘पुरिस’
आत्मान । ‘मत्रेसु’ जन्मसु । ‘बहुएसु’ बहुषु । ‘पत्ता’ प्राप्ता । ‘णीचजोणी सु’ नीचर्त्तणमेव । का ? ‘लच्छि-
मदी’ लक्ष्मीमती । केन निमित्तेन ? ‘माणेण’ सुखा यौवनानुकूला कुलीना चेति गर्वणे ॥१२३०॥

कुलमे भी अनुत्तरग क्यों नहीं होगा ? अवश्य ही होगा ॥१२२७॥

आगेकी गायामे इनमे विपरीत कथन करते है—

गा०—जो जीव भावमे उच्चपनेको नीचपनेकी तरह देखता है उसको नीचपनेकी तरह
उच्चपनामे क्या दुःख नहीं होता ? होता ही है । किमीमे प्रीति या अप्रीति तो मङ्गलके अधीन है
यह बात ममस्त जगत्के अनुभवमे सिद्ध है । क्योंकि मङ्गलमे उच्च गोन होते हुए भी मुखका
भाव और दुःखका अभाव नहीं होता ॥१२२८॥

गा०—अत उच्च कुल या नीच कुल सुख या दुःख नहीं देता । किन्तु जीवका मङ्गल
सुख या दुःख करता है । मङ्गलके होने पर सुख दुःख होता है और मङ्गलके अभावमे नहीं
होता ॥१२२९॥

आगे कहते हैं कि मानकपायके कारण यह दोष होता है—

गा०—मानकपाय अर्थात् अहंकार पुरषकी अनेक जन्मोंमे नीच गोत्री बनाना है । देवो,
लक्ष्मीमती, मैं सुन्दर हूँ, कुलीन हूँ यौवनवती हूँ इस गर्वके कारण अनेक बार नीच गोत्रमे उत्पन्न
हुई ॥१२३०॥

विशेषार्थ—बृहत्कथा कोणमे १०८ नम्बरमे इसकी कथा दी है ॥१२३०॥

पूयावमाणरूपविरूपं सुभगत्तदुभगत्तं च ।

आणाणाणा य तद्वा विधिणा तेणेव पडिसेज्ज ॥१२३१॥

‘पूयावमाणरूपविरूप’ पूजा, अवमान परिभव’ । रूपशब्द सामान्यवचनोऽपि गोभनारोभनरूपविषयतया इह विरूपशब्दमन्निधाने प्रयुज्यमानोऽतिरायिते रूपे प्रवर्तते । तेन सौरूप्य चेत्यर्थ । ‘सुभगत्तदुभगत्तं च’ सौभाग्य दुर्भाग्य च सर्वेषां प्रियत्व द्वेष्यत्व चेति यावत् । ‘आणाणाणा य तद्वा’ आणा आदेशाप्रतिपाद्यता अनाज्ञा च तथा । विधिना’ माननिषेधप्रकारेणैव । ‘पडिसेज्ज’ प्रतिषेध्या । अभिधेयवशात्प्रियवचनप्रवृत्तिरिति लिप्यन्तरेण पूजादिशब्दोपनीतेन प्रतिषेध्याशब्दस्याभिमन्वन्व । परिभव प्राप्तोऽपि बहुधा कदाचित्सूज्यते । एवमपि प्राप्ता ह्यनन्तेषु पूजास्तत्र कोऽनुरोगेऽप्य । दुःख वा परिभवप्राप्ती । ‘पूज्यमानोऽपि बहुषु पुन परिभवानवाप्स्यति । न चात्मन पूजाया काचिद् वृद्धि’ परिभवे वा हानि । सङ्कल्पवशादेवात्मनो ज्ञायने प्रीतिपरितापी न केवल पूजापरिभवाभ्यामेवेति । उक्तं च—

य स्तूपते गुचिगुणैर्मधुरैर्वचोभिः स निदृते च परपर्वचनैर्विचित्रैः ।

हा चित्रतां रूपमय भवसकटस्थः प्राप्तोऽयनेवविधिवमंफलोपभोग ॥

भूत्वा मनुष्यपतय पुनरेव दासा हीना भवन्ति शूचयोऽगुचयश्च भूय ।

कान्त्या^३ च ये युवतिभिर्विद्यमानरूपा द्वेष्या भवन्त्यसुभगत्वमुपैष्य भूय ॥

दृष्टः श्वविभ्रवररत्नविभूषणो यः सदुष्यते विक्लपुण्यपतया दरिद्रः ।

भूयश्च मित्रवद्वधुजनोपगूः सलक्ष्यते ध्यसतभारभूदेक^४ एव ॥ [] ॥१२३१॥

गा०—टी०—मानकपायका ज्ञेये निषेध किया है वैसे ही पूजा, अपमान, सौरूप्य, वैरूप्य, सौभाग्य, दुर्भाग्य, आज्ञा अनाज्ञाका भी निषेध जानना । गायामे आगत रूपशब्द यद्यपि सामान्यवाची होनेसे सुन्दर और असुन्दर दोनों ही प्रकारके रूपका वाचक है तथापि विरूप शब्दके साथमे प्रयुक्त होनेसे अतिशयरूपको कहता है । अतः उसका अर्थ सौरूप्य और वैरूप्य लिया गया है । सौभाग्यका अर्थ है सबको प्रिय होना और दुर्भाग्यका अर्थ है सबके द्वारा तिरस्कृत होना । जिम्ने अनेक जन्मोमे तिरस्कार पाया है वह भी कभी पूजा जाता है । इसी प्रकार अनन्त जन्मोमे पूजा प्राप्त करनेवाला भी तिरस्कृत होता है । अतः उनमे अनुराग कैसा और तिरस्कार पानेपर दुःख कैसा ? जो बहुत जन्मोमे पूजा जाता है वह पुनः तिरस्कारको प्राप्त करेगा । पूजा होनेपर आत्मामे वृद्धि नही होती और तिरस्कार होनेपर आत्मामे कोई हानि नही होती । सकल्पके कारण ही प्रीति और सन्ताप होते हैं केवल पूजा और तिरस्कारमे नही होते । कहा भी है—

जो मधुर वचनोंके द्वारा अपने मिर्मल गुणोंके लिये सस्तुत होता है वही नाना प्रकारके बठोर वचनोंसे निन्दाका पात्र होता है । कैसा आश्चर्य है कि ससाररूपी मकटमे पडा हुआ यह प्राणी अनेक प्रकारके कर्मोंके फलको भोगता है । मनुष्योंका स्वामी होकर उनका नीच दाम हो जाता है । पवित्र होकर पुनः अपवित्र हो जाता है । जो युवतियोंके प्रिय होते हैं वे ही दुर्भाग्य आनेपर द्वेषके पात्र बनते हैं । जो मनुष्य कभी उत्कृष्ट रत्नभूषणोमे भूषित देखा गया है वही मनुष्य पुण्यहीन होनेपर दरिद्र देखा जाता है । जो बहुतमे मित्रों और बन्धु-बान्धवोंमे घिरा हुआ

१ पूजातोऽपि—अ० । २ नैवधित्वा—अ० ज० । ३ कान्ता च ये युवति—अ० विपमाणरूप द्वेष्या भवन्त्यसुभगत्वमुपैष्य भूय—अ० ज० । ४ कूपे च—अ० ।

‘इच्छेवमादि अविचितयदो माणो ह्वेज्ज पुरिसस्स ।

एदे सम्मं अत्थे पसदो णो होइ माणो हु ॥१२३२॥

जइदा उच्चत्तादिणिदाणं संसारवहुण होदि ।

कह दीहं ण करिस्सदि ससार परवघणिदाण ॥१२३३॥

‘जइदा’ यदि तावत् । ‘उच्चत्तादिणिदाण’ उच्चैर्गोत्रता, पुण्यत्व, स्थिरशरीरता, अदरिद्रकुलप्रभृति-
बन्धुत्वैश्चेवमादिक् मुक्तं परम्परया वारणमपि चित्ते क्रियमाणमपि । ‘ससारवहुण होदि ममारब्धि करोति ।
‘क्खि ण करिस्सदि’ कथं न करिष्यति । ‘दीहससार’ दीर्घससार । ‘परवघणिदाण’ परवधे चित्तप्रणि-
धान ॥१२३३॥

आचार्यगणधरत्वादिप्रार्थना कथमशोभना रत्नत्रयातिशयलाभप्रार्थिता हि ‘सैत्यासाङ्गायामुच्यते—

आयरियत्तादिणिदाणे त्वे कदे णत्थि तस्म तम्मि भवे ।

धणिद पि मंजमंतस्म सिज्झण माणदोसेण ॥१२३४॥

‘आयरियत्तादिणिदाणे त्वे कदे’ आचार्यत्वादिनिदानेऽपि कृते । ‘णत्थि तस्म’ नाम्नि तस्य । ‘तम्मि
भवे’ तस्मिन्भवे निदानकरणभवे । ‘धणिद पि मंजमंतस्म’ निन्दरामपि समयं कुर्वत । किं नाम्नि ‘सिग्घाण’
मेघन मुक्तिः । केन ? ‘माणदोसेण’ मानरूपायदोषेण । स ह्याचार्यत्वादिप्रार्थना करोति । पृष्टो भविष्यामीति
मङ्गल्येन, ततोऽप्यहमुता ॥१२३४॥

भोगदोषचिन्ताया मर्या निदान तथा न भवति इति कथयति—

होता है, विपत्तिमें पडनेपर वही एकाकी देखा जाता है ॥१२३१॥

गा०—इत्यादि वातोंका विचार न करनेवाले पुरुषको मान होता है । और जो इन
वानोंको मम्यरूपमें देखता है उसको मान नहीं होता ॥१२३२॥

गा०—उच्चगोत्र, पुण्यत्व, शरीरकी स्थिरता, अदरिद्रकुलमें जन्म, बन्धु-बान्धव आदि
परम्परामें मुक्तिके कारण हैं ऐमा चिन्तमें विचारकर इनका निदान करना कि ये मुझे प्राप्त हो,
यदि ममारको बढ़ानेवाला है तो दूसरेके वधका चित्तमें निदान करना दीर्घ मसारका कारण
क्यों नहीं है ? अवश्य है ॥१२३३॥

यहाँ कोई गका करता है कि रत्नत्रयमें अनिश्चय लाभकी भावनासे मैं आचार्य गणधर
आदि वनूँ ऐसी प्रार्थना क्यों बुरी है ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०—आचार्य पद आदिका निदान करनेपर भी जिम भवमें निदान किया है उस भवमें
अन्यन्त मयमका पालन करनेपर भी मानकरायके दोषके कारण उसकी मुक्ति नहीं होती, क्योंकि
वह ‘मैं पूज्य हूँ’ इस मङ्गलमें आचार्य आदि होनेकी प्रार्थना करता है । इसमें उसका बह्वार
प्रकट होता है ॥१२३४॥

आगे रहते हैं कि भोगोंके दोषोंका चिन्तन करनेमें भोगोंका निदान नहीं होना—

भोगा चितेदब्बा किंपागफलोवमा कडुविवागा ।

मधुरा व भुंजमाणा पच्छा बहुदुक्खभयपउरा ॥१२३५॥

'भोगा चितेदब्बा' भोगाचिन्तया । 'किंपागफलोवमा' किंपागफलसदृशा । 'कडुविवागा' कटु अतिष्ट विपाक हल एवमिति कटुविपाका । 'मधुरा व' मधुरा इव । 'भुंजमाणा' भुज्यमाना । 'मज्जे' मज्जे । 'बहुदुक्खभयपउरा' विचिबहु खभया ॥१२३५॥

भोगनिदानदोष कथयति—

भोगणिदाणेण य सामण्णं भोगत्थमेव होइ कदं ।

'साहालंगा जह अत्थिदो वणे को वि भोगत्थं ॥१२३६॥

'भोगनिदाणेण य' भोगनिदानेन वा । 'सामण्णं' ध्यामण्य । 'भोगत्थमेव होइ कदं' भोगार्थमेव इत् न कर्मक्षयार्थं भवति । 'भोगनिदाने मति रागव्याकुलितचित्तस्य प्रत्यक्षरूपप्रवाहस्वीहृती उदयतस्य वा मरु-
तता ॥१२३६॥

आवडणत्थं जह ओसरणं मेसस्म होइ मेसादो ।

मणिदाणवभवेर अब्बभत्थं तहा होइ ॥१२३७॥

'आवडणत्थं' अभिघातार्थं । 'जह' यथा । 'ओसरणं' उपगम । 'मेसस्म होइ' मेपस्य भवति । 'मेसादो' मेघान् । 'मणिदाणवभवेर' सनिदानस्य यत्तद्ब्रह्मचर्यं । 'अब्बभत्थं' मैघुनायं । 'तहा होइ' तथा भवति ॥१२३७॥

जह वाणिया य पणियं लाभत्थं विकिणंति लोभेण ।

भोगाण पणिदभूदो मणिदाणो होइ तह घम्मो ॥१२३८॥

गा०—ये भोग किंपाकफलके ममान हैं । जैसे किंपाकफल खाते समय मोठा लगता है किन्तु उसका परिणाम अतिवटुव होता है । उसको खानेवाला मर जाता है । उसी प्रकार इन्द्रियोंके भोग भोगनेमें मधुर लगते हैं किन्तु उनका फल अतिवटु होता है पीछेमें जीवको बहूत दु ख और भय भोगना पडता है ॥१२३५॥

भोगनिदानके दोष कहते हैं—

गा०—टी०—मुनिपद धारण करके भोगका निदान करनेमें तो मुनिपद भोगोंके लिए ही धारण किया कहलायेगा । कर्मक्षयके लिये नहीं कहलायेगा । क्योंकि भोगका निदान करनेपर चित्त रागने व्याकुल रहता है और ऐसा होनेमें नवीन कर्मोंका बन्ध होता है तब उनके मुनिपद कैसा ? जैसे कोई वनमें वृक्षको शाखामें लगे फलोंको खानेमें लग जाये तो उसके अपने इच्छित्त स्थानपर पहुँचनेमें विघ्न आ जाता है वैसे ही भोगका निदान करनेवाले अमणवी भी दगा होती है ॥१२३६॥

गा०—जैसे एक मेढा दूसरे मेढेपर अभिघात करनेके लिये पीछे हटता है वैसे ही भोगका निदान करनेवाले यतिका ब्रह्मचर्य भी ब्रह्म अर्थात् मैघुनके लिए ही होता है ॥१२३७॥

‘जह् वाणिया’ यथा वणिज् । ‘पणिय’ पण्य । ‘लाभत्य’ लाभार्थं । ‘विविकणति’ विक्रीणन्ति । ‘लोभेण’ लोभेन । ‘भोगाण’ भोगानां । ‘पणिदो भूदो’ पण्यभूत । ‘सणिदाणो’ सनिदान । ‘तहा धम्मो होदि’ तथा धर्मो भवति ॥१२३८॥

भोगनिदानवत् १ श्रामण्य प्रणिद्यति—

मपरिग्गहस्स अब्बभचारिणो अविरदस्स से मणसा ।

काएण सीलवहण होदि हु णडसमणरूव व ॥१२३९॥

‘सपरिग्गहस्स’ सपरिग्रहस्य भोगनिदानवतो वेदजनितो रागोऽप्यन्तर परिग्रह इति सपरिग्रह । तस्य । ‘अब्वभचारिणो’ मनसा मैथुनकर्मणि प्रवृत्तस्य । ‘अविरदस्स’ अव्यावृत्तस्य मैथुनात् । ‘मनसा’ चित्तेन । ‘से’ तस्य कायेन ऋ शरीरेणैव । ‘सीलवहण’ ब्रह्मचरतवहन । ‘होदि’ भवति । ‘णडसमणरूव व’ नटानां श्रमण-रूपमिव । कायेन भावश्रामण्यरहित यथा अफलमेवमिदमपि इति भाव ॥१२३९॥

रोग इच्छेज्ज जहा पडियारसुहस्स कारणे कोई ।

तह अण्णेसदि दुक्ख सणिदाणो भोगतण्हाए ॥१२४०॥

‘रोग क्लेञ्ज’ व्याधिर्मिलपति । ‘जहा कोई’ यथा कश्चिन् । किमय ? ‘पडियारसुहस्स कारणे’ औपघनेवामुत्थाविगमनाय । ‘तह’ तथा ‘अविरदस्स’ अव्यावृत्तस्य । ‘अण्णेसदि’ अन्वेषते । ‘दुक्ख’ दुःख । क ? ‘सणिदाणो’ सनिदान । ‘भोगतण्हाए’ भोगतृष्णाया ॥१२४०॥

खघेण आसणत्थ वहेज्ज गरुम सिलं जहा कोड ।

तह भोगत्थ होदि हु संजमवहणं णिदाणेण ॥१२४१॥

‘खघेण’ स्वन्वेन । ‘जहा कोड’ यथा कश्चिन् । ‘गरुम सिल’ गुर्वो गिला । ‘वहेज्ज’ वहति । किमय ?

गा०—जैसे व्यापारी लोभवश लाभके लिये अपना माल बेचता है । वैम ही निदान करनेवाला मुनि भोगोंके लिए धमकी बेचता है ॥१२३८॥

भोगोंका निदान करनेवालेके मुनिपदकी निन्दा करते हैं—

गा०—टी०—भोगोंका निदान करनेवालेके अभ्यन्तरमे वेदजनित राग रहता है अत वह परिग्रही है । तथा वह मनसे मैथुन कर्ममे प्रवृत्त होनेसे अश्रद्धाचारी है और मनमे मैथुनसे निवृत्त न होनेसे अविरत है । वह केवल शरीरमे ब्रह्मचर्यव्रत धारण करता है अत वह नरुश्रमण है । जैसे नट श्रमणका वेश धारण करता है वैसे ही उसने भी श्रमणका वेश धारण किया है । भावश्रामणके बिना केवल शरीरमे मुनि बनना जैसे व्यर्थ है उसी तरह उस मुनिका मुनिपद भी व्यर्थ है ॥१२३९॥

गा०—जैसे कोई औपधि सेवनके मुखकी अभिलाषासे रोगी होना चाहता है वैसे ही निदान करनेवाला भोगोंकी तृष्णासे दुःख चाहता है ॥१२४०॥

गा०—मैं इसके ऊपर मुखपूर्वक बैठूंगा, ऐसा मानकर जैसे कोई भारी गिलाको कन्वेपर उठाना है और उसके उठानेके कष्टकी परवाह नहीं करता । वैसे ही इस दुःख समयको धारण

‘आसन्नस्य आसन्नार्थं । अस्या उपरि सुखेनाने इति मत्वा स यथा गुणश्लोडहनखेद नापेक्षति, स्वल्प तस्या उपर्यासितसुखमपेक्षते स्वबुद्धया । ‘तद् भोगस्य शु’ तथा भोगार्थमेव । ‘होदि’ भवति । ‘सञ्जमवहण’ दुर्बलं सयमधारण । ‘निदानेषु’ निदानेन सह ॥१२४१॥

बाह्यवस्तुजनितानिन्द्रियसुखात्तन्निमित्तवस्तुविनाशे यज्जायते दुःख तदधिकं तम अत स्वल्पसुखनिमित्तं को नाम सचेतनो दुःखभीरुर्दुःखाच्चो पतेदिति दर्शयति—

भोगोवभोगसोक्खं ज ज दुक्खं च भोगणासम्मि ।

एदेसु भोगणासे जातं दुक्खं पडिविमिट्ठं ॥१२४२॥

‘भोगोवभोगसोक्खं’ मृष्टानसतनाम्बूलादिकैः स्त्रीवस्त्रालङ्कारादिभिश्च जनिता वस्तुसुख । ‘भोगणानम्मि’ सुखनाशतस्य वस्तुनो विनाशो च । ‘जं दुक्खं च’ यच्चदुःखं जायते । ‘एदेसु’ एतयोः सुखदुःखयोः ‘भोगणासे’ सुखसाधनानां विनाशे च । ‘जातं दुक्खं पडिविमिट्ठं’ अधिकतममिति यावत् ॥१२४२॥

देहे छुहादिमहिदे चले य मत्तस्म होज्ज कद्द मोक्खं ।

दुक्खस्स य पडियारो रहस्मणं चेव सोक्खं सु ॥१२४३॥

‘देहे’ शरीरे मनुजाना । ‘छुहादिमहिदे’ धुषा, पिपासया, शीतोष्णेन, व्याधिनिश्च भयिते । ‘चले’ अनित्ये च । ‘सत्तस्स’ आसन्नस्य । ‘किं च सुखं होज्जं’ किमत्र सुखं भवेत् । ‘दुक्खस्स य पडियारो’ दुःखस्य प्रतीकार । ‘रहस्मणं चेव’ नृस्वकरण एव ‘सोक्खं’ मोक्ष्य । ‘सु’ शब्द पादपूरणे दुःखप्रतीकारोऽप्यना वा दुःखस्य सुखमित्यनेनाख्यातम् ॥१२४३॥

सुखमन्तराणां अस्ति दुःख, सुखं पुनरिन्द्रियकं न जायते दुःखं विना ततः सुखार्थो दुःखमेव प्रागात्म-

करनेसे सुखे भोगोंकी प्राप्ति हो इस निदानके साथ जो मयम धारण करता है उनका मयम धारण भोगोंके लिये है अर्थात् स्वल्पसुखके लिए बहुत दुःख उठाता है ॥१२४१॥

आगे कहते हैं कि बाह्य वस्तुने उत्पन्न होनेवाले इन्द्रिय सुखसे उस सुखमे निमित्त वस्तुका विनाश होनेपर जो दुःख होता है वह अधिक है, अतः थोड़ेसे सुखके लिये कौन दुःखभीरु ज्ञानी दुःखके समुद्रमे गिरना पसन्द करेगा—

गा०—भोग अर्थात् सुम्वादु भोजन पान आदि और उपभोग अर्थात् स्त्री वस्त्र अलंकार आदिमे होनेवाला सुख तथा सुखके साधनमे निमित्त वस्तुका विनाश होनेपर होनेवाला दुःख, इन दोनों सुख और दुःखमेंसे भोगके साधनोका विनाश होनेपर होनेवाला दुःख बहुत अधिक होता है ॥१२४२॥

गा०—यह शरीर भूख, प्यास, शीत, उष्ण तथा रोगोंसे पीडित और विनाशशील है । इसमे जो आसक्त है उसे क्या सुख होता है ? वास्तवमे दुःखका प्रतीकार अथवा दुःखको कम करना ही सुख है । अर्थात् दुःखके प्रतीकारको या दुःखकी कमीको ही सुख मान लिया गया है । वास्तवमे सुख नहीं है ॥१२४३॥

सुखके विना भी दुःख होता है किन्तु इन्द्रियजन्य सुख दुःखके विना नहीं होता । अतः

नोर्मिलपति न च दुःखामिलाय प्राज्ञस्य युक्त इति कथयति—

सोऽस्व अणवेऽस्वित्ता वाधति दुःखमणुगपि जह पुरिस ।

तह अणवेऽस्वित्त्वं दुःखं णत्थि सुह णाम लोगम्मि ॥१२४४॥

‘सोऽस्व’ सोऽह्य । ‘अणवस्वित्ता’ अनपेक्ष्य । वाधति दुःखमणुगपि वाधते दुःखमण्वपि । जह पुरिस’ यथा पुरुष । ‘तह’ तथा । अणवेऽस्वित्त्वं अनपेक्ष्य । ‘दुःख’ दुःख । ‘लोगम्मि णत्थि सुह’ लोके नास्ति सुह नामैन्द्रियक । क्षुत्पिपासाम्बा पीडित एवाशन पान वान्धेपते । कठोरातपतप्त एव शीत, शीतमकुचिचततनुरेव प्रावरणादिक, वातातपाम्बुभिरेकोपद्रुतो भवनमभिलपति । स्थानासनोपजातश्चम एव शय्या कामयते । पादगमनजातखेदव्यपोहनार्यैव शिबिकादिक, वैरूप्यनिराङ्गुत्ये एव वस्त्राणि भूषणानि च दौर्गन्ध्यनाशनार्यैव तृष्णकालागुर्वादिक, खेदगमनार्यैव रमण्य इति सब दुःखप्रतीकारमेव । त्रिविधवेदोदयजनित प्राणिना लिङ्गत्रयवतिना परस्परामिलाय । म तेषा परस्परशरीरमसर्गे सत्यपि न विनश्यति । अभिलापनिमित्ताना कम्पा तद्भावात् । न हि कार्यमविरहकारणसन्निधौ न भवति । कामो हि सेष्यमानो वेदत्रय प्रत्यग्रमाकपति । सतोऽप्यनुभवमुपवृ ह्यते । कारणमभ्यर्कात्कार्यमम्पादो नित्यमिति निरन्तरामिलायदहनदह्यमानचेतनो न कदाचिन्निवृत्तिरस्ति । अपनोते तु वेदत्रये कारणाभावात् कार्याभाव इति निरवरोपवेदापगमे स्वाम्भ्य यदस्य तदेव सुखमिति मन्यमानो दृष्टान्त दर्शयति ॥१२४४॥

जो इन्द्रिय सुखका अभिलाषी है वह पहले दुःख चाहता है किन्तु विद्वान्के लिए दुःखकी चाह युक्त नहीं है यह कहते हैं—

गा०—जैसे मुखकी अपेक्षाके बिना थोडा-सा भी दुःख पुरुषको कष्टदायक होता है वैसे ही लोकमें इन्द्रियजन्य सुख दुःखकी अपेक्षाके बिना नहीं है ॥१२४४॥

टी०—भूख और प्याससे पीडित पुरुष ही भोजन और पेयको खोजता है । कठोर धामसे पीडित शीतल प्रदेश खोजता है । शीतसे जिसका शरीर छिठुर गया है वही आँटना आदि खोजता है । वायु धाम वर्षा आदिसे पीडित ही मकान खोजता है । उठने बैठनेमें थका हुआ ही शय्या चाहता है । पैदल चलनेसे हुए कष्टको दूर करनेके लिए ही सवागी आदि चाहता है । विरूपता दूर करनेके लिए ही वस्त्र आभूषण चाहता है । दुर्गन्ध दूर करनेके लिए ही सुगन्धित द्रव्य लोबान आदि होते हैं । खेद दूर करनेके लिए ही सुन्दर स्त्रियाँ होती हैं । इस तरह सब दुःखके प्रतीकारके लिए हैं । स्त्री लिङ्गी, पुरुष लिङ्गी और नपुंसक लिङ्गी प्राणियोंको स्त्रीवेद पुष्पवेद और नपुंसकवेदके उदयसे परस्परमें रमण करनेकी अभिलाषा होती है । किन्तु वह अभिलाषा परस्परमें शारीरिक ससर्ग होनेपर भी नष्ट नहीं होती, क्योंकि उम अभिलाषामें निमित्त वेदकर्मका सद्भाव है । कारणोंके अविकल होते हुए कार्य अवश्य होना है । कामका सेवन करनेसे नवीन स्त्रीवेद पुरुषवेद या नपुंसकवेदका बन्ध होता है । तथा सत्तामें स्थित इन कर्मोंके अनुभागमें वृद्धि होती है क्योंकि कारणके होनेपर कार्य नित्य ही हुआ करना है । जिनके चित्त निरन्तर अभिलाषारूप धामसे जलते हैं उन्हें कभी भी शान्ति नहीं मिलती । तीनों वेदोंके चले जानेपर कारणका अभाव होनेमें कार्यका भी अभाव होता है । अतः वेदोंका पूरणमें अभाव होनेपर जो स्वास्थ्य होना है वही मख है ॥१२४४॥

जह कोडिल्लो अगि तप्पतो जेव उवसमं लभदि ।

तह भोगे भु जतो खणं पि णो उवसमं लभदि ॥१२४५॥

‘जह कोडिल्लो’ यथा कुष्ठेनोपद्रुत । ‘अगि तप्पतो’ अग्निना दह्यमानमूर्तिरपि । ‘जेव उवसमं लभदि’ नैव व्याघ्रेत्पशाम लभते । न ह्यग्निरपशामक कुष्ठस्यापि तु बद्धक । यद्यस्य वृद्धिनिमित्त न तत्तदुपशामयति । यथा कुष्ठ नोपशामयति वह्नि । वर्धयति चाभिलाष अबलादिसगम ‘तह’ तथा । ‘भोगे भु जतो’ भोगानुभवनोद्यत । ‘खणपि णो उवसम लभदि’ क्षणमात्रमपि नोपशाम लभते भोगाभिलाषरोगस्य ॥१२४५॥

कच्छुं कंडुयमाणो सुहाभिमाणं करेदि जह दुक्खे ।

दुक्खे सुहाभिमाण मेहुण आदीहिं कुणादि तथा ॥१२४६॥

‘कच्छुं’ कच्छु । ‘कंडुयमाणो’ नखैर्मर्दयन् । ‘सुहाभिमाणं करेदि’ सुहाभिमानं करोति । ‘जह दुक्खे’ यथा दुःखे । ‘तह मेहुण आदीहिं’ तथा मैद्युनादिदुःखं रभसालिङ्गने, अधरदशने, उरस्ताडने नखैर्निशितरङ्गच्छेदने कचारूपणे । उक्त च—

नग्न प्रेत इचाविष्टं स्वनन्निवि शवन्निव ।

श्वासात्पासपरिभ्रान्तं स कामी रमते किल ॥१॥ इति ॥ [] ॥१२४६॥

घोसादकीं य जह किमि खतो मधुरिचि मण्णदि चराओ ।

तह दुक्खं वेदतो मण्णइ सुक्ख जणो कामी ॥१२४७॥

‘घोसादकीं’ घोषातकी । ‘किमि’ कृमि । ‘खतो’ भक्षयन् । ‘जहा मधुरिचि’ यथा मधुरमिति मन्यते वराक । ‘तह’ तथैव । ‘दुक्खं वेदतो’ दुःखमनुभवन् । ‘मण्णदि सुक्खं जणो कामी’ मन्यते कामिजनसुख ॥१२४७॥

इमे दृष्टान्त द्वारा बतलाते हैं—

गा०—जैसे कुष्ठ रोगसे पीडित व्यक्ति का शरीर आगमें जलने पर भी कुष्ठ रोग शान्त नहीं होता, क्योंकि आग कुष्ठ रोगको शान्त नहीं करती, बल्कि बढ़ाती है । और जो जिसको बढ़ाता है वह उसको शान्त नहीं कर सकता । जैसे आग कुष्ठ रोगको शान्त नहीं करती । उसी प्रकार स्त्रीका सगम स्त्री विषयक अभिलाषाको बढ़ाता है । अतः जो भोगोंके भोगनेमें तत्पर है उसका भोगकी अभिलाषा रूप रोग एक क्षणके लिए भी शान्त नहीं होता ॥१२४५॥

गा०—टी०—जैसे खाजकी नखोंसे धुजाने वाला दुखको सुख मानता है । उसी प्रकार मंथुनके समय वेगपूर्वक आलिंगन, ओष्ठ काटना, छाती मसलना, लोक्षण नखोंमें शरीर नोचना, केश खीचना आदिसे होने वाले दुखको कामी सुख मानता है । कहा भी है—कामी पुष्टपिशाचसे ग्रहीत पुरुषकी तरह नग्न होकर स्त्रीके साथ रमण करता है और श्वास तथा थकानसे पीडित होकर शब्द करते हुए श्वास लेता है ॥१२४६॥

गा०—जैसे बेचारा कीट घोषा नामक लताको खाते हुए उसे मीठी मानता है उसी प्रकार कामी जन दुःखका अनुभव करते हुए उसे सुख मानता है ॥१२४७॥

मुट्टु वि मग्गिज्जतो कत्थ वि कयलीए णत्थि जह सारो ।
तह णत्थि सुह मग्गिज्जते भोगेसु अप्पं पि ॥१२४८॥

'मुट्टु वि' मुट्टु अपि । 'मग्गिज्जतो' मृग्यमाणोऽपि । सार कदव्या क्वचिदपि मूले मध्येऽन्ते वा यथा नास्ति तथा भोगेष्वन्विष्यमाणं सुखं न विद्यते ॥१२४८॥

ण लहदि जह लेहंतो सुखखल्लयमद्धियं रसं सुणहो ।
से सगतालुगरुहिर लेहतो मण्णए सुख ॥१२४९॥

'जय सुणयो सुखखल्लयमद्धियं लेहतो रसं जहा ण लभदि' इवा शुष्कमस्थि लिहन् सन् यथा रमं न लभते । 'सगतालुगरुहिर लेहतो सो सोख मण्णदे' तीक्ष्णास्थिच्छिन्नस्वन्तालुगलितरुधिरमास्वादयन्मुखाभिमानं करोति । 'जह तह' यथा तथा । 'पुरिसो ण किंचि सुख लभइ' पुरुषो न किंचित्सुखं लभते ॥१२४९॥

महिलादिभोगसेवी ण लहदि किंचिवि सुह तथा पुरिसो ।
सो मण्णदे वराओ सगकायपरिस्समं सुखं ॥१२५०॥

'महिलादिभोगसेवी' स्थादिभोगसेवनाद्यत । तथा 'पुरिसो ण किंचि वि सुह लहदि' तथा पुरुषो न किंचिदपि सुखं लभते एव । 'सो वरायो सगकायपरिस्समं सोख मण्णदे' स वराक स्वकायधमं तीक्ष्णं मन्यते ॥१२५०॥

अनुभवमिदं सुखं कथं नाम्नीति शक्यते वक्तुं इत्याशङ्क्य अस्त्यपि सुखं सुखज्ञानं जगतो भवति विपर्यन्तं सुखकारणम्येति दृष्टान्तोपन्यासेन वदति—

दीसइ जलं व मयतण्हिया हु जह वणमयस्स तिसिदस्स ।
भोगा सुह व दीसंति तह य रागेण तिसियस्स ॥१२५१॥

'दीसइ वणमयस्स तिसिदस्स बहा जल मयतण्हिया वने मृगेण हरिणादिना तृणामिभूतेन जलकाशा-

गा०—जैसे अच्छी तरह खोजने पर भी केलके वृक्षमें मूल मध्य या अन्तमें कहीं भी कुछ नार नहीं है वैसे ही खोजने पर भी भोगोमें कुछ भी नार नहीं है ॥१२४८॥

गा०—जैसे कुत्ता सूखी हड्डीको चबाते हुए रम प्राप्त नहीं करता । किन्तु तीक्ष्ण हड्डीके द्वारा कटे अपने तालुसे झरते हुए रक्तका स्वाद लेते हुए सुख मानता है ॥१२४९॥

गा०—उसी तरह पुरुष स्त्री आदि विरमभोगमें किञ्चिन् भी सुख प्राप्त नहीं करता वह वेचारा अपने शरीरके श्रमको ही सुख मानता है ॥१२५०॥

विषयभोगमें सुख अनुभवसे मिट्ट है आप कैसे कहते हैं कि उनमें सुख नहीं है ऐसी आशंका करने पर दृष्टान्त द्वारा कहते हैं कि सुखके नहीं होने पर भी सुखके कारणमें विपरीत बुद्धि होनेसे जगत्को सुखका बोध होता है—

गा०—जैने वनमें हरिण आदि जव प्याममें व्याकुल होकर जलकी इच्छा करते हैं तो उन्हें मरीचिका जलके समान प्रतीत होती है किन्तु हरिणके उमें जल मानने पर भी वह जल रूप नहीं होती । उसी प्रकार रागके प्यामेको भोग सुखकी तरह प्रतीत होने हैं ॥१२५१॥

वता जलमिव दृश्यते मृगतृष्णिका । न ना मृगेण बलतपोपलब्धेऽपि जल भवति । तथा 'रागेण तित्तिदस्स भोगा सुह व दोत्तति' रागतृषितेन भोगा सुखमिव दृश्यन्ते ॥१२५१॥

वग्घो सुखेज्ज मदय अवगासेऊण जह मसाणम्मि ।

तह कुणिमदेहसफसणेण अबुहा सुहायति ॥१२५२॥

वग्घो सुखेज्ज' 'दमशाने व्याघ्रो मृतकमवघ्रास्य तृष्यति यथा तथा कुथितदेहनम्पन्नेनावुधा सुखाधि-
गमहपनिर्मरा भवति ॥१२५२॥

नवतु नाम मुख भागस्तथापि तदव्यन्वमिति निवेदयति—

तह अप्प भोगसुह जह धावतस्स अठितवेगस्स ।

गिम्हे उण्हातत्तस्स होज्ज छायासुह अप्पं ॥१२५३॥

तथा अप्प भोगसुह धावतस्स अठितवेगस्स गिम्हे उण्हातत्तस्स जहा छायासुह अप्प तह अप्प भोगसुह'
धावतोऽस्मितवेगस्य प्रीणमे उप्पाभितप्तस्य यथा मागस्सकतच्छायासुखमन्य भोगमुख तथा ॥१२५३॥

अहवा अप्प आमाससुह सरिदाए उप्पियतस्स ।

भूमिच्छिवक्कगुट्ठस्म उच्चमाणस्स होदि सोत्तेण ॥१२५४॥

अहवा' अथवा । 'अप्प' अल्प । 'आमाससुह' आश्वान एव मुख । 'सरिदाए' नद्या । 'उप्पियतस्स'
निमज्जन । 'भूमिच्छिवक्कगुट्ठस्स' भूमिन्पटाङ्गुष्ठस्य । 'सोत्तेण उच्चमाणस्स' द्योतसा प्रवाहेनोद्यमानस्य ।
अल्प आशवासमुख तद्वदिन्द्रियमुखमत्यल्पमित्यतिक्रान्तेन संबन्ध ॥१२५४॥

इन्द्रियमुखानि यदलव्यपूर्वाणि युक्तो विस्मयस्तत्र तानि सर्वाणि अनन्तवारपरिभुक्तानि, तेषु भुक्तेषु
परित्यक्तेषु न युक्तो विस्मय इति अनादर जनयति तेषु सूरि —

जायति केड भोगा पत्ता सव्वे अणतसुत्ता ते ।

को णाम तत्थ भोगेसु विंभओ लद्धविजडेसु ॥१२५५॥

गा०—जैसे स्मशानमे व्याघ्र मुर्देको खाकर सुखी होता है वैसे ही दुर्गन्धित शरीरके
आलिंगनमे अज्ञानी सुख मानकर हर्षसे भर जाते हैं ॥१२५२॥

आगे कहते हैं कि भोगमे भले ही सुख हो किन्तु वह सुख अति अल्प है—

गा०—जैसे प्रीणम ऋतुमें अत्यन्त वेगमे दौड़ते हुए और मध्यकालके सूर्यकी किरणोंसे सतप्त
पुरुषको मार्गमें स्थित एक वृक्षकी छायामें जानेमे थोडा-भा सुख होता है वैसे ही भोगमे अति
अल्प सुख है ॥१२५३॥

गा०—अथवा नदीमें डूबते हुए और प्रवाहके द्वारा बहाकर ले जाते हुए मनुष्यको भूमिसे
जगूठके छू जाने पर जैसा अप्प आशवास सुख होता है कि मैं तट पर लग जाऊंगा, उमी प्रकार
इन्द्रियजन्य सुख अति अल्प होता है ॥१२५४॥

गा०—यदि इन्द्रिय सुख पूर्वमे कभी प्राप्त न हुए होते तो उनकी प्राप्तिमे हर्ष होना

'जावति केइ भोगा' यावन्त केचन भोगा । 'ते सर्वे पत्ता अणतल्लुत्ता ते' सर्वे प्राप्ता अनन्तवार
तव । 'को णाम तत्तव भोगेसु' को नाम तेषु भोगेषु विम्मय-लब्धेषु जितेषु ॥१२५५॥

भोगतृष्णा निरन्तर दहति भवन्त, मेवमाला पुनर्भोगास्तामेव तृष्णा बर्द्धयन्ति ततो भोगेच्छा शिथि-
लता नेयेति वदति—

जइ जइ भु जइ भोगे तह तह भोगेसु वड्ढदे तण्हा ।
अग्गीव इधणाइ तण्ह दीव्विति से भोगा ॥१२५६॥

'जह जह भु जइ भोगे' यथा यथा भोगान्मुड्क्ने । 'तह तह' तथा तथा । 'भोगेसु वड्ढदे तण्हा' भोगेषु
वर्धते तृष्णा । 'अग्गी व' अग्नि वा । यथा 'इधणाइ' इन्धनानि । 'दीव्विति' दीपयन्ति । 'तहा' तथा । 'तण्ह'
तृष्णा दीपयन्ति । 'से' तस्य भोक्तुर्भोगा । तथा चोत्रन—

तृष्णाचित् परिवहन्ति न क्षातिरासा । इष्टेन्द्रियाण्यविभवे परिवृद्धिरेव ॥ [बृहत्सव्यभू०] ॥१२५६॥

जीवस्म णत्थि तित्थी चिरं पि भोएहिं भु जमाणेहिं ।
तित्थीए विणा चित्तं उच्चूर उच्चुद होइ ॥१२५७॥

'जीवस्स जीवस्य । नास्ति तृप्तिश्चिरकालमपि भोगाननुभवत पत्योपमत्रय काल भोगभूमिषु
त्रयस्त्रिंशत्सावरोपमकाल अमरेषु । तृप्त्या च विना चित्त । 'उच्चूर उच्चुद' उत्तूर उद्धृत भवतीति
सूत्राय ॥१२५७॥

जह इ धणेहि अग्गी जह व ममुदो णदीमहस्सेदि ।
तह जीवा ण ह्नु सक्का तिप्पेदुं कामभोगेहिं ॥१२५८॥

'जह इधणेहिं' मयेन्वनेरनिर्न तृप्यति । यथा वा समुद्रो नदीसहस्रं । तथा जीवो न सक्त्यो भोगेस्स-
पयित्तु ॥१२५८॥

उचित था, किन्तु उन सबको तुमने अनन्त वार भोगा है । उन भोगकर छोडे गये विषयोमें हर्ष
मानना उचित नहीं है । इस प्रकार आचार्य विषयोंके प्रति अनादर भाव उत्पन्न करते हैं—जितने
ससारके भोग हैं वे सब तुमने अनन्त वार प्राप्त किये हैं उन प्राप्त करके छोडे गये विषयोंमें
आश्चर्य कैसा ? ॥१२५५॥

आगे कहते हैं कि तुम्हे भोगोंकी तृष्णा निरन्तर जलाती है । भोगोंका सेवन उसी तृष्णा-
को बढ़ाता है अतः भोगोंकी इच्छाको कम करो—

गा०—जैसे जैसे भोगोंको भोगते हो वैसे वैसे भोगोंकी तृष्णा बढ़ती है । जैसे इधनसे
आग प्रज्वलित होती है वैसे ही भोगोंमें तृष्णा बढ़ती है । कहा भी है—यह तृष्णारूपी ज्वाला सदा
जलाती है, इष्ट इन्द्रियोंके विषयोंमें इनकी तृप्ति नहीं होती, बल्कि बढ़ती है ॥१२५६॥

गा०—नोन पल्य तक भोगभूमिमें, तेनीम मागर तक देवोंमें इस तरह चिरकाल तक भोगों
को भोगते हुए भी तृप्ति नहीं होती और तृप्तिके विना चित्त अत्यन्त उत्कण्ठित रहता है ॥१२५७॥

गा०—जैसे ई धनमें आगकी तृप्ति नहीं होती । अथवा जैसे हजारों नदियोंमें समुद्रकी

देविंदचक्रवट्टी य वासुदेवा य भोगभूमिया ।

भोगेहि ण तिप्पति हु तिप्पदि भोगेसु किह अण्णो ॥१२७९॥

‘देविंद’ देवानामधिपतय, चक्रलाञ्छना वासुदेवा अर्धचक्रवतिन, भोगभूमिजाद्वय भोगेर्न तृप्यन्ति । कथमन्यो जनस्तृप्तिमुपेयाद्भोगे । मुलभामितभोगसाधनादिचरजीविन स्वतन्त्रास्वामी । अन्ये तु भवादृशा जठरभरणमात्रमपि कर्तुं अशक्ता स्वल्पायुष, पराधीनवृत्तयदच तृप्यन्तीति वा कथा ॥१२५९॥

सपत्तिविवत्तीसु य अज्जणरक्खणपरिग्गहादीसु ।

भोगत्थ ढोदि णरो उद्धुयचित्तो य घण्णो य ॥१२६०॥

संपत्तिविवत्तीसु य’ सम्पत्सु विपत्सु च । ‘अज्जणरक्खणपरिग्गहादीसु’ द्रव्यस्यालक्ष्यस्याजने, पुञ्जीकरणे, राशीकृतस्य रक्षणे । पर हस्ते विप्रकीर्णस्य ग्रहणे । आदिदानेन तद्द्वयकरणे वा । भोगत्थ अनुभवार्थं । अजनादिषु प्रवृत्त । ‘उद्धुयचित्तो य णरो होदि’ चलचित्त उत्कृष्टावाच्च भवति नर । द्रव्यमम्पदि जाताया रागाच्चलचित्त भवति । द्रविणादिविनारी कथ जोबामि पुनर्द्रव्याजंन करोमीति ॥१२६०॥

उद्धुयमणस्स ण सुह सुहेण य विणा कुदो हवदि पीदी ।

पीदीए विणा ण रदी उद्धुयचित्तस्य घण्णस्स ॥१२६१॥

‘उद्धुयमणस्स’ व्याकुलचित्तस्य ‘ण सुह’ न सुख भवति । ‘सुहेण य विणा कुदो हवदि पीदी’ सुखेन विना कुतो भवति प्रीतिस्तृप्ति । ‘पीदीए विणा’ प्रीत्या विना । ‘ण रदी’ न रति । ‘उद्धुयचित्तस्स’ व्याकुलचित्तस्य । ‘घण्णस्स’ उत्कृष्टाडाकिन्या गृहीतस्य ॥१२६१॥

तृप्ति नहीं होती, वैसे ही भोगोसे जोवकी तृप्ति नहीं होती ॥१२५८॥

गा०—टी०—देवोके अधिपति इन्द्र, चक्रवर्ती, वासुदेव अर्थात् अर्धचक्रो और भोगभूमियाँ जीव भी भोगोसे तृप्त नहीं होते । तब साधारण मनुष्य कैसे भोगोसे तृप्त हो सकता है ? अर्थात् इनके लिए भोगोके अपरिमित साधन मुलभ हैं, तथा इनकी आयु भी बहुत होनेसे चिरकालतक ये जीवित रहते हैं और किमीके अधीन न होनेसे स्वतन्त्र होते हैं । आप सरीखे साधारण मनुष्य तो पेट भरनेसे भी असमर्थ और थोड़ी आयुवाले तथा पराधीन होते हैं । अतः उनकी भोगोसे तृप्ति होनेकी तो बात ही क्या है ? ॥१२५९॥

गा०—मम्पत्ति होनेपर मनुष्य अप्राप्त द्रव्यके कमानेमें, एकत्र हुए द्रव्यके रक्षणमें, दूसरेके हाथमें गई सम्पत्तिको उभने लेंनेमें और आदि शब्दने उसे खर्च करनेमें, तथा भोगनेमें व्याकुल रहता है और विपत्तिमें अर्थात् घन आदिका विनाश होनेपर कैसे मैं जीवित रहूँगा ? कैसे पुन द्रव्य कमाऊँगा इस उत्कृष्टामे व्याकुल रहता है ॥१२६०॥

गा०—जिसका चित्त व्याकुल रहता है उसे सुख नहीं होता । सुखके विना प्रीति नहीं होनी । प्रीतिके विना रति नहीं होती । इस तरह जिसका चित्त व्याकुल रहता है और जो उत्कृष्टाम्पी डाकिनीमें ग्रस्त है उसे सुख कैसे हो सकता है और सुखके विना प्रीति और प्रीतिके विना रति सम्भव नहीं है ॥१२६१॥

जो पुण इच्छदि रमिदुं अज्झप्पसुहम्मि णिव्वुदिकरम्मि ।
कुणदि रदिं उवसंतो अज्झप्पसमा हु णत्थि रदी ॥१२६२॥

‘जो पुण इच्छदि रमिदुं’ य पुना रमितु इच्छति । ‘सो कुणदि रदिं’ स करोतु रतिं । नव ? ‘अज्झप्प-
सुवम्मि’ अध्यात्ममुखे । ‘णिव्वुदिकरम्मि’ निवृत्तिकरे । ‘उवसतो’ उपशान्तरागकोष । एतदुक्तं भवति—मनो-
ज्ञानमोक्षविषयसन्निधाने स्वसकरपहेतुको यौ रागद्वेषौ तौ परित्यज्य निवृत्तितृप्तिकरे अध्यात्ममुखे रतिं करोतु ।
‘अज्झप्पसमा’ आत्मस्वरूपविषया रतिरध्यात्मशब्देनाच्यते । तथा मद्गयी रति । ‘णत्थि खुं’ न विचते एव ।
यस्मान् भोगरतिरध्यात्मनो रत्या न मद्गयी ॥१२६२॥

कथम् ?

अप्पायत्ता अज्झपरदी भोगरमण परायत्तं ।
भोगरदीए चड्ढो होदि ण अज्झप्परमणेण ॥१२६३॥

‘अप्पायत्ता’ स्वायत्ता । ‘अज्झपरदी’ आत्मस्वरूपविषया रति परद्रव्यानपेक्षणात् । ‘भोगरमण’
भोगरति ‘परायत्तं’ परायत्ता परद्रव्यालम्बनत्वात् । तेषा च कथंचिदेव सात्रिध्य क्वचिदेव कथंचिदवेति ।
एतेन स्वायत्ततया परायत्ततया चासाम्यमाख्यात । प्रकारान्तरेणापि वंपम्य दर्शयति । ‘भोगरदीए चड्ढो होदि’
भोगरत्या च्युतो भवति । न प्रच्युतो भवति ‘अज्झप्परमणेण’ अध्यात्मरत्या ॥१२६३॥

अनेकविघ्नसहिता विनाशिनी च भोगरति, अध्यात्मरत्नेस्तु भाविताया न नाशो नापि विघ्न इति
कथयत्युत्तरगाथा—

भोगरदीए णासो णियदो विग्घा य होंति अदिवहुगा ।
अज्झपरदीए सुभाविदाए णासो ण विग्घो वा ॥१२६४॥

गा०—टी०—हे क्षपक ! जो तू रमण करना चाहता है तो रागद्वेषका शमन करके परम
तृप्तिकारक अध्यात्म मुखमें रति कर । कहनेका अभिप्राय यह है कि इष्ट और अनिष्ट विषयोके
प्राप्त होनेपर ‘यह अच्छा है और यह बुरा है’ इस प्रकारके मकल्पके कारण जो रागद्वेष होते हैं
उन्हे त्यागकर तृप्तिकारक अध्यात्म मुखमें रमण कर । यहाँ अध्यात्म शब्दसे आत्मस्वरूप विषयक
रति कही है । उसके समान कोई रति नहीं है । क्योंकि भोगसम्बन्धी रति अध्यात्म विषयक रति-
के समान नहीं है ॥१२६२॥

गा०—टी०—क्योंकि आत्मस्वरूप विषयक रति अपने अधीन है उसमें परद्रव्यकी अपेक्षा
नहीं है । किन्तु भोग रति पराधीन है क्योंकि उसमें परद्रव्यका अवलम्बन लेना होता है । और
परद्रव्य कभी-कभी ही किसीको ही थोड़े बहुत प्राप्त होते हैं । इससे स्वाधीन और पराधीन
होनेसे दोनोंमें असमानता कही । अन्य प्रकारसे भी दोनोंमें विषयता बतलाते हैं—

भोग रतिसे तो मनुष्य वंचित हो जाता है किन्तु अध्यात्म रतिसे नहीं होता क्योंकि
आत्म द्रव्य सर्वत्र सर्वदा और सर्वथा उसके पास रहता है ॥१२६३॥

भोग रतिमें अनेक विघ्न रहते हैं और वह नष्ट होने वाली है किन्तु भाविन अध्यात्म
रतिका कभी नाश नहीं होता और न उसमें विघ्न आता है, यह आगे कहते हैं—

'भोगरदोए' भोगरदया । 'गिपदो शासो' नियतो विनाश । 'विग्धा म हृ ति' विघ्नाश्च भवन्ति । 'अदिबहुगा' अतीव बहुव । 'अङ्गुपरदोए' अध्यात्मरते । 'सुभाविदाए' सुपुद्भविताया । 'शासो' नासो, न विद्यते । 'विग्धा धा' विघ्ना वा न सन्ति । नियत नश्वरतयाऽनश्वरतया वा बहुविघ्नतया, निविघ्नतया च तयो रत्योर्वपम्यमिति भावः ॥१२६४॥

इन्द्रियसुख शशुतया सङ्कलनीय तथा च तत्रादगो जन्तोनिवृत्ते अतो अतीन्द्रियसुखत्वमेव वीतरागत्व- हेतुके नवरे इति मत्वा सूरिचूलाभगिराह—

दुक्खं उप्पादिता पुरिसा पुरिसस्स होति जदि सत्तू ।

अदिदुक्ख कदमाणा भोगा सत्तू किहु ण हुती ॥१२६५॥

'दुक्ख उप्पादिता' दुःखमुत्पाद्य । 'जदि सत्तू होति' यदि शशुको भवन्ति । 'पुरिसा पुरिसस्स' पुरया पुरस्य । अदिदुक्ख कुणमाणा भोगा' अतीव दुःख कुर्वन्तो भोगा इन्द्रियसुखानि । 'किध सत्तू ण हुति' कथं शशुको न भवन्ति भवन्त्येवेति । कथं भोगानां दुःखहेतुता एव मन्यते ? इन्द्रियसुख नाम स्त्रीवस्त्रगन्धमालादि- परद्रव्यमन्निधानजन्य । तच्च स्थादिव दुर्लभतम निर्द्रविणस्य, तेन तदर्थं वृष्यादिवर्माणि प्रयतितस्य । ततो महानायास । इहैव भवानुगामी दुःखनिमित्तं च कर्म हिमादिषु प्रवर्तमानोऽर्जयति । तदिमं दुरन्ते ससाराग्भोषो निमज्जयति । तत्र च निमग्नेन क्तम दुःखमनेन नावाप्पते ॥१२६५॥

शशुतया भोगा इति कथयति—

इहइ परलोगे वा सत्तू भित्तत्तण पुणमुवेति ।

इहइ परलोगे वा सदावि दुःखावढा भोगा ॥१२६६॥

'इहइ' अस्मिन्नेव जन्मनि । 'परलोगे धा' परजन्मनि वा । 'सत्तू' शशुव । 'भित्तत्तण' मिश्रता ।

गा०—भोग रतिका नियमसे विनाश होता है तथा उसमें विघ्न भी बहुत हैं । किन्तु अच्छी रीतिसे भावित अध्यात्म रतिका न विनाश होता है और न उसमें कोई विघ्न आते हैं । इस तरह भोगरति नियमसे नश्वर और बहुत विघ्न बालो है तथा अध्यात्मरति निविघ्न और अविनाशी है इसलिए दोनोंमें कोई समानता नहीं है ॥१२६४॥

आचार्य कहते हैं कि इन्द्रिय सुखको शशुके समान मानो । ऐसा करनेसे उनमें जो आदर- भाव है वह दूर होगा । तथा अतीन्द्रिय सुख ही वीतरागताका कारण होनेसे सवर रूप है—

गा०—टी०—यदि दुःख देने वाले पुष्ट पुरुषके शशु होते हैं तो अति दुःख देने वाले भोग अर्थान् इन्द्रिय सुख शशु क्यों नहीं है ? अवश्य है । भोग दुःखके कारण क्यों है यह विचार करें । स्त्री, वस्त्र, गन्धमाला आदि परद्रव्यके मिलनेसे जो होता है उसे इन्द्रिय सुख कहते हैं । वह स्त्री आदि धनहीनके लिए अत्यन्त दुर्लभ हैं । अतः धनकी प्राप्तिके लिए कृषि आदि कर्म करना चाहिए । उससे महान् आरम्भ होता है । हिंसा आदिमें प्रवृत्ति करनेमें इसी भव तथा परभवमें दुःख देने वाले कर्मका उपाजन करता है । और वह कर्म उसे ऐसे ससार समुद्रमें डुबाता है जिसका पार पाना अत्यन्त कठिन है । उम ससार समुद्रमें डूबकर यह जीव बौन दुःख नहीं भोगता ॥१२६५॥

आगे कहते हैं कि भोग सबसे बड़े शशु हैं—

गा०—इस जन्ममें अथवा परजन्ममें शशु शशुताको छोड़कर मित्र वन जाते हैं । अर्थान्

'पुण्यभुवैति' पुनर्भोक्तन्ते । सत्रव गन्तुतामपि जह्यु । कार्यवसान्, उपकारातिशयसम्पादनाभिमतता वा यान्ति च । वाचा न स्फुटतरा । इहैव तथा परलोके वा 'सत्रव वा दुःखस्यवहा भोगा भवन्दा दुःखावहा भागा । ततः सन्तुनमा इति भावनीय ॥१२६६॥

एगम्मि चैव देहे करेज्ज दुक्ख ण वा करेज्ज अरी ।

भोगा से पुण दुक्ख करति भवकोडिकोडीसु ॥१२६७॥

'एगम्मि चैव देहे' एगम्मिन्नेव देहे । 'करेज्ज दुक्ख ण वा करेज्ज अरी' दुःखाद्दुःख न वा शत्रु । 'भोगा पुण' भोगा पुन । 'से' तस्य । 'दुक्ख करति' दुःख कुर्वन्ति । 'भवकोडिकोडीसु' अनन्तेषु भवेषु । एव भागशोपानवेत्यात्र निदान त्वया न काय इत्युपदिष्ट स्मरिणा ॥१२६७॥

मधुमेव पिच्छदि जहा तडिओलधो ण पिच्छदि पपादं ।

तह सणिदाणो भोगे पिच्छदि ण हु दीहससार ॥१२६८॥

'मधुमेव पिच्छदि' मधुमेव पश्यति यथा तदेज्जलम्बमान । 'ण पिच्छदि' न प्रेक्षते । 'पपादं' प्रपातमात्मन । 'तह' तथा 'सणिदाणो' निदानमहित । 'भोगे पिच्छदि' भोगान्प्रेक्षते । 'ण हु पेच्छदि' नैव प्रेक्षते । 'दीहससार' दीर्घमसार ॥१२६८॥

जालस्स जहा अते रमति मच्छा भय अयाणता ।

तह सगादिसु जीवा रमति संसारमगणता ॥१२६९॥

'जालस्स' जालस्य । 'अते मध्ये । 'जहा मच्छा रमति' यथा मत्स्या रमन्ते । 'भयमयाणता' भयमनवबुध्यमाना । 'तह सगादिसु' तथा परिग्रहादिषु । 'जीवा रमति' जीवा रमन्ते । 'ससारमगणता' संसारमगणयन्त ॥१२६९॥

दुक्खेण देवमाणुमभोगे लद्धूण चावि परिवडिदो ।

णियदमदीदि कुजोणीं जीवो सघर पउत्थो वा ॥१२७०॥

उपकार आदि करनेसे प्रभावित होकर शत्रु मित्र बन जाते हैं वह भी केवल कहनेके लिए नहीं किन्तु खुले दिलमें मित्र बन जाते हैं । किन्तु भोग इम जन्ममें और परजन्ममें मदा ही दुःखदायी होते हैं । इसलिए वे शत्रुसे भी बडे शत्रु हैं ॥१२६६॥

गा०—शत्रु एक ही भवमें दुःख दे या न भी दे । किन्तु भोग तो अनन्त भवोंमें दुःख देते हैं ॥१२६७॥

इम प्रकार भोगोंके दोष जानकर हे क्षपक तुम्हें निदान नहीं करना चाहिए, ऐसा आचार्य उपदेश देते हैं—

गा०—इम प्रकार जैसे कुएँकी दीवारके एक ओर लटका हुआ मनुष्य टपकने वाले मधुकी बूंदोंको ही देखता है किन्तु अपने गिरनेको नहीं देखता । वैसे ही निदान करने वाला भोगोंको तो देखना है किन्तु अपने दोष मभारको नहीं देखता ॥१२६८॥

गा०—जैसे मत्स्य भयको न जानते हुए जालके मध्यमें उछलते-कूदते हैं, वैसे ही जीव समारकी चिन्ता न करके परिग्रह आदिमें आनन्द मानते हैं ॥१२६९॥

'दुःखेण लडूण' नलेषेन लब्ध्वा । 'देवमाणुसभोगे' देवान्मानुषस्य भोगान् । 'परिवर्तितो' परिपतित प्रच्युतस्ततो भोगाज्जीव । 'कुजोर्णां नियमदोदि' कुलिता योनि नियतमुपैति । निमिव ? 'सघर' स्वगृह, 'पठस्यो वा' प्रवासीव ॥१२७०॥

जीवस्स कुजोणिगदस्स तस्स दुक्खाणि वेदयतस्स ।

किं ते करति भोगा मदोव वेज्जो मरंतस्स ॥१२७१॥

'जीवस्स कुजोणिगदस्स' कुयोनिगतस्य जीवस्य । 'दुक्खाणि वेदयतस्स' दुःखानि वेदयमानस्य । 'किं ते करति भोगा' किं ते कुर्वन्ति भोगा स्त्रीवत्प्रादय । नैव किञ्चिदपि दुःखत्वमपनेतु क्षमा । 'मदोव वेज्जो' वैद्यो मृतो यथा । 'मरंतस्स' म्रियमाणस्य न किञ्चित्कतुं क्षम ॥१२७१॥

जह सुत्तवद्धसउणो दूरपि गदो पुणो व एदि तहि ।

तह ससारमदीहि हु दूरंपि गदो णिटाणगदो ॥१२७२॥

'जह सुत्तवद्धसउणो' यथा सूत्रेण दीर्घेण वद्ध पशो । 'दूरपि गदो' दूरमपि गत । 'पुणो एदि तहि' पुनरप्येति तमेव देश । 'तह ससारमदीहि सु' ससारशब्दात्परं सु शब्दो द्रष्टव्य, ततोऽपमर्थं—ससार-मेवाधिगच्छतीति । 'दूर पि गदो' महादिक स्वर्गादिस्थानमुपगत । 'णिटाणगदो' निदान परभवमुखातिपये मन प्रविधान गत ॥१२७२॥

वश्विचद्रुद्ध कागगृहे इयता कालेन तव द्रविण दास्यामि नवदीयमेव तावत्प्रयच्छेति गृहीत्वा द्रव्य रोषवेभ्य प्रदाय स्वगृहे सुख वसन्त्वपि पुनर्यथा तैरुक्तमर्थोपायंते तथैव निदानकारी स्वकृतेन पुष्येन परिप्राप्त-स्वर्गोऽपि पुनरथ पततीति निगदति—

इन्द्रिय सुख नियमसे कुयोनियोमे भ्रमण करनेका मूल कारण है क्योंकि अत्यधिक राग-द्वेषकी उत्पत्तिमे निमित्त है । उन कुयोनियोमे उत्पन्न होकर नाना प्रकारके दुःखोंका अनुभव करने वाले जीवके दुःखोंके, देवगति आदिके भोग वस्त्र खलकार भोजन आदि दूर करनेमे समर्थ नहीं हैं, ऐसा आगे कहते हैं—

गा०—जैसे देशान्तरमे गया व्यक्ति सर्वत्र घूमकर अपने घरको ही जाता है वैसे ही वडे कष्टसे प्राप्त देव और मनुष्य सम्बन्धी भोगोंको भोगकर उन भोगोंके नष्ट हो जाने पर नियममे कुयोनिये जाता है ॥१२७०॥

गा०—जैसे मरा हुआ बंद्य मरते हुएकी रक्षा नहीं कर सकता । वैसे ही कुयोनिये जाकर उस दुःख भोगते हुए जीवका स्त्री वस्त्र आदि भोग क्या कर सकते हैं ? वे उमका किञ्चित् भी दुःख दूर नहीं कर सकते ॥१२७१॥

गा०—जैसे लम्बे धागेमे बधा पक्षी सुदूर जाकर भी पुन वही लौट आता है । वैसे ही परभव सम्बन्धी विषय मुक्तमे मन लगाने वाला निदानो महान् वृद्धिसे सम्पन्न स्वर्गादि स्थानोमे जाकर भी ससारमे ही लौट आता है ॥१२७२॥

जैसे कोई जेलखानेमे पडा व्यक्ति, मे इतना समय बीतने पर तुम्हारा धन तुम्हें लौटा दगा तुम मुझे धन दो, ऐसा वादा करके धन लेता है और वह धन जेलके रक्षकोंको देकर अपने घरमे सुखपूर्वक निवास करता है किन्तु उसे पुन कर्ज देने वाले पकड लेते हैं उसी प्रकार निदान करने

दाऊण जहा अत्थ रोघणमुक्को सुह घरे वसइ ।

पत्ते समए य पुणो रुभइ तह चेव धाराणओ ॥१२७३॥

'दाऊण' दत्ता । 'अत्थ' अर्थ । 'जह' यथा । 'रोघणमुक्को' रोघेन मुक्त । 'सुह घरे वसवि' सु-
सुग्गेन गृहे वसति । 'पत्ते समये य' प्राप्ते चावधिपाले । 'पुणो रु भइ' पश्चाच्च रुम्यते । 'तथा चेव' पूर्ववदेव ।
'धाराणओ' अधमर्ण ॥१२७३॥

दाप्टान्तिके योग्यति—

तह सामण्णं किच्चा किलेसमुक्क सुहं वसइ सग्गे ।

ससारमेव गच्छइ तत्तो य चुदो णिदाणरुदो ॥१२७४॥

सभूदो वि णिदाणेण देवसुक्क च चक्कहरसुक्क ।

पत्तो तत्तो य चुदो उववण्णो तिरियवासम्मि ॥१२७५॥

'सभूदो वि णिदाणेण' निदानेन सभूत कश्चित् । 'देवसुक्क' देवमुत् । 'चक्कपरसोक्क' चक्रपर-
सोक्क । 'पत्तो' प्राप्ते । 'तत्तो य चुदो' तस्मात्सुखात्प्रच्युत उत्पन्न । 'उववण्णो' उपपन्न । 'तिरियवासम्मि'
'तिर्यग्वावाते ॥१२७४॥

णच्चा दुरत्तमद्ध्यमत्ताणमतप्पय अविस्माय ।

भोगसुह तो तम्हा विरदो मोक्खे मदि कुज्जा ॥१२७६॥

'णच्चा' ज्ञात्वा । 'दुरत्त' दुरवमानदुःखकामित् यवत् । 'अद्ध्युव' अनित्य । 'अत्ताण' अत्राण ।
'अतप्पय' अतर्पक । 'अविस्साय' असहृद्बुद्ध । 'भोगसुह' भोग्यन्ते, सेव्यन्ते इति भोगा स्यादयं, तंजनित
सुख । 'तो' पश्चान् । 'तम्हा' तस्मात् । 'भोगसुत्तान्, दुरन्तादिदुष्टदोषात् । 'विरदो' व्यावृत्त । 'मोक्खे' मोक्षे

वाला अपने द्वारा किये गये पुण्यसे स्वर्ग प्राप्त करके भी पुन गिरता है, यह कहते हैं—

गा०—जैसे धन देकर कागारमे मुक्त हुआ कर्जदार सुखपूर्वक घरमे रहता है । किन्तु
कर्ज चुकानेका समय आने पर पुन पकडकर बन्द कर दिया जाता है ॥१२७३॥

गा०—वैसे ही मुनिपद धारण करके निदान करने वाला स्वर्गमे बन्दे रहित सुगपूर्वक
रहता है और वहाँसे च्युत होकर ससारमे ही भ्रमण करता है ॥१२७४॥

गा०—सभूत नामक व्यक्ति निदानके द्वारा देवगतिके सुख और चक्रवर्तिके सुगको प्राप्त
हुआ अर्थात् मरकर सौधर्म स्वर्गमे उत्पन्न हुआ और वहाँसे मरकर ब्रह्मादत्त चक्रवर्ती हुआ । उसके
पश्चात् मरकर तिर्यग्गति (नरक गति) मे उत्पन्न हुआ ॥१२७५॥

गा०—जो भोगे जाते हैं उन स्त्री आदिको भोग कहते हैं । उनमे होने वाला सुख ऐसा
दुःख देना है जिसका अन्त होना दुष्कर है, तथा यह भोग जन्य सुख अनित्य है, अरक्षक है उममे
तूष्नि नहीं होती, अनादि ससारमे उसे जीवने अनेक बार भोगा है । अत उसमे मनको हटाकर
समस्त कर्मके अपायरूप मोक्षमे मन लगाना चाहिए । अर्थात् चारित्र और तपका पालन करनेमे

निरवदोषकर्मापाये । 'मद्वि कुञ्जा' मतिं कुर्यात्, अनुष्ठायमानेन चारित्र्येण तपसा वा बर्मक्षयोऽस्तीति मतिं कुर्यात्, न निदानं कुर्यादित्यर्थ ॥१२७६॥

निदानदोष विस्तरत उपदर्श्य अनिदानत्वे गुण व्याचष्टे—

अणिदाणो य मुणिवरो दंसणणाणचरणं विमोघेदि ।

तो सुद्धणाणचरणो तवसा कम्मकखय कुणइ ॥१२७७॥

अणिदाणो य मुणिवरो' अनिदानो यतिवृत्त, 'दंसणणाणचरण' रत्नत्रय, 'विमोघेदि' विमोघयति, निदानाभावादनविचार सम्यग्दर्शनं शुद्ध भवति, तस्मिन्निर्मले निर्मलं ज्ञान, निर्मलं विगुह्यज्ञानपुरोगं चारित्र्यं विगुह्य भवति, 'तवसा कम्मकखय कुणइ' तपसा कर्माणि निरवदोषाणि वियोजयिष्यात्मनः ॥१२७७॥

इच्चेवमेदमविचित्तयदो होञ्ज ह् णिदाणकरणमदी ।

इच्चेव पस्मतो ण ह् होदि णिदाणकरणमदी ॥१२७८॥

'इच्चेवमेदमविचित्तयदो' इत्थेवमेतद्भक्तुज्ञानं प्रविचिन्तयति । 'होञ्ज ह्' भवेदेव, 'णिदाणकरणमदी' निदानकरणे बुद्धि, 'इच्चेव पस्मतो' इत्थेवमेतत्प्रसूयन्, 'न ह् होदि' नैव भवति 'णिदाणकरणमदी' निदानकरणमति । णिदाण ॥१२७८॥

मायामल्लस्मालोयणाधियारम्मि वणिणदा दोसा ।

मिच्छत्तमल्लदोसा य पुब्बमुववणिणया सत्त्वे ॥१२७९॥

'मायामल्लस्त' मायागत्यस्य, 'आलोयणाधियारम्मि' आलोचनाधिकारे 'वणिणदा दोसा' वणिता दोषा, 'मिच्छत्तमल्लदोसा' मिथ्यात्ववशात्प्रदोषाश्च । 'सत्त्वे' सर्वे, 'पुब्बमुववणिणदा' पूर्वमेव व्यावर्णिता, शल्य-त्रयगतदोषा भवतो व्यावर्णिता इत्यनेन सूत्रैरेतत्कथयति आबुद्धदोषेण शल्यत्रयं त्वया त्याग्यमिति ॥१२७९॥

मायाशल्यापरित्यागात्प्राप्तदोषमर्थास्थानेन दर्शयति—

कर्मक्षय होता है ऐसी मति करना चाहिए । निदान नहीं करना चाहिए ॥१२७६॥

विस्तारमें निदानके दोष बतलाकर निदान न करनेमें गुण कहते हैं—

गो०—निदान न करने वाले मुनिवर सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य रूप रत्न-त्रयको विगुह्य करते हैं । अर्थात् निदान न करनेसे निरतिचार सम्यग्दर्शन शुद्ध होता है । सम्यग्-दर्शनके निर्मल होने पर ज्ञान निर्मल होता है । और निर्मल विगुह्य ज्ञान पूर्वक चारित्र्य विगुह्य होता है । तब विगुह्य ज्ञान चारित्र्यमें सम्पन्न मुनि तपके द्वारा सब कर्मोंका क्षय करता है ॥१२७७॥

गो०—उक्त प्रकारमें जो वस्तुस्वरूपका विचार नहीं करता उसकी मति निदान करनेमें लगती है । और जो उसका विचार करता है उसकी मति निदान करनेमें नहीं लगती ॥१२७८॥

गो०—आलोचना अधिकारमें मायाशल्याके दोष कह जाये हैं । और मिथ्यात्व शल्यके दोष पूर्वमें ही बड़े हैं । इस प्रकार हे क्षपक ! तीनों शल्योंके दोष आपमें हमने कहे हैं । अब इन दोषोंको जानकर तुम्हें तीनों शल्योंका त्याग करना चाहिए । इनमें आचार्य क्षपकके प्रति ऐसा कहते हैं ॥१२७९॥

मायाशल्याका त्याग न करनेमें प्राप्त हुए दोषको दृष्टान्त द्वारा कहते हैं—

फम्भट्टबोधिलाभा मायासल्लेण आसि पूदिमुही ।

दासी सागरदत्तस्स पुप्फदंता हु विरदा वि ॥१२८०॥

‘फम्भट्टबोधिलाभा’ प्रभ्रष्टो विनष्टो दीक्षाभिमुखबुद्धिलामो यस्या सा प्रभ्रष्टबोधिलाभा । ‘आसी’ आसीन् । का ? ‘पूदिमुही’ पूतिमुखीसजिता । ‘सागरदत्तस्स दासी’ सागरदत्तवैश्यस्य दासी । केन ? ‘मायासल्लेण’ मायासल्लेण । ‘पुप्फदंता हु विरदा वि मायासल्लेण फम्भट्टबोधिलाभा आसी’ इति पदसम्बन्धा पुष्यदत्ताख्या सयता च मायया प्रभ्रष्टबोधिलाभा आसीत् । मायाशल्य ॥१२८०॥

मिच्छत्तसल्लदोसा पियघम्मो साधुवच्छलो सतो ।

बहुदुक्खे ससारे सुचिर पडिहिंढिओ मरीची ॥१२८१॥

‘मिच्छत्तसल्लदोसा’ मिथ्यात्वशल्यदोषात् । ‘पियघम्मो’ प्रियघर्म । ‘साधुवच्छलो सतो’ साधूना यत्सलोऽपि सन् मरीचि । ‘ससारे सुचिर पडिहिंढिओ ससारे सुचिर भ्रान्त, कीदृशे ? ‘बहुदुक्खे’ बहुदुःखे । मिथ्याशल्य ॥१२८१॥

एव निर्वाणकेण मूरिणा मस्तूयमान साधुवर्गो निर्वाणपुर प्रविशतीति दर्शयति उत्तरप्रबन्धेन—

इय पव्वज्जाभडि समिदिवइल्लं तिगुत्तिटिडचक्क ।

रादियभोयणउद्ध मम्मचक्ख सणाणधुर ॥१२८२॥

‘इय सारमिज्जतो साधुवर्गसत्यो साधुवर्णियो ससारमहाडिं वरति’ पदघटना । व्यावर्णितक्रमेण सन्निवृत्तमात्र साधुवन्दनार्थं ससारमहाटवी तरति । ‘पव्वज्जाभडिमारुह्य षष्ठिदो’ प्रव्रज्याभडिमारुह्य प्रस्थित, ‘समिदिवइल्लं’ समितिवलीवर्ती, ‘तिगुत्तिटिडचक्का’ त्रिगुप्तिटिडचक्रा, ‘सम्मत्तक्ख’ सम्मतवक्त्रा, ‘सणाणधुर’ समीचीनज्ञानधूर्वती ॥१२८२॥

गा०—पुष्पदन्ता नामकी आर्थिका आर्थिका होनेपर भी मायाशल्यके कारण दीक्षाके अभिमुख होनेकी बुद्धिके लाभसे भ्रष्ट होकर सागरदत्त वैश्यके घरमें पूतिमुखी नामकी दासी हुई ॥१२८०॥

विशेषार्थ—इसकी कथा वृहत्कथाकोशमें ११० नम्बरपर कही है ॥१२८०॥

मायाशल्यका वर्णन हुआ ।

गा०—धर्मप्रेमी और साधुओंके प्रति वात्सल्यभाव रखनेवाला मरीचिकुमार मिथ्यात्व-शल्य दोषके कारण बहु दुःखपूर्ण ससारमें भ्रमता हुआ ॥१२८१॥

विशेषार्थ—यह मरीचिकुमार भरतका पुत्र था जो महावीर तीर्थंकर हुआ । भगवान् आदिनाथके मुखमें अपना तीर्थंकर द्रोना सुनकर यह भ्रष्ट हो गया था ॥१२८१॥

आगे कहते हैं कि इस प्रकार निर्वाणकाचार्यके द्वारा मस्तुन साधुवर्गके माय शपक मोक्ष-नगरमें प्रवेश करते हैं—

गा०—इस प्रकार शपकमाधुरूपी व्यापारी दीक्षारूपी गाढीपर साधुओंके सघके माय चटकर निर्वाणरूपी भाँडके लिए मिद्धिपुरीकी ओर प्रस्थान करता है । उस दीक्षारूपी गाढीमें

वदभडभरिदमारुहिदसाधुसत्थेण पत्थिदो ममय ।

णिच्चाणभडहेदु सिद्धपुरीं साधुवाणियओ ॥१२८३॥

'वदभडभरिद' व्रतभाण्डपूर्णं । 'साधुसत्थेण पत्थिदो ममय' साधुसत्थेण सह प्रस्थित । 'णि प्रति ? सिद्धिपुर । 'णिच्चाणभडहेदु' त्रिद्विणद्रव्यनिमित्त । 'साधुवाणियओ' क्षपकमाधुवाणिक् ॥१२८३॥

आयरियसत्थवाहेण णिच्चजुत्तेण मारविज्जतो ।

सो साधुवग्गसत्थो संसारमहाडवि तरड ॥१२८४॥

'आयरियसत्थवाहेण' आचार्यसार्थवाहेण । 'णिच्चजुत्तेण' सर्वदानपायिना । 'सारविज्जतो' 'सत्स्य-माण ॥१२८४॥

तो भावणादियतं रक्खदि त साधुसत्थमाउत्त ।

इदियचोरेहितो कमायवहुसावदेहिं च ॥१२८५॥

'तो' तत् । 'भावणादियतं रक्खदि' भावनादिभि प्रयत्न रक्षति । 'त साधुसत्थ' त साधुसत्थं । 'आउत्त' जायकन आत्मना । 'तुतो' रक्षति इत्याशङ्क्या उत्तर—'इदियचोरेहितो' इन्द्रियचोरेभ्यः । 'कसाय-वहुसावदेहिं वा' कपायवहुस्त्रापदेभ्यश्च ॥१२८५॥

विसयाडवीए मज्जे ओहीणो जो पमाददोसेण ।

इदियचोरा तो से चरित्तभड विलुपति ॥१२८६॥

'विसयाडवीए मज्जे' स्पर्शरसस्पर्शगन्धशब्दादिविषया अटवीव ते दुरतिव्रामणीया । तस्या विषया-टव्या मध्ये । 'जो ओहीणो' य साधुरपसृत । 'पमाददोसेण' प्रमादाद्येन दोषेण । 'इदियचोरा' इन्द्रियास्या-इचोरा । 'से' तस्यापसृतस्य साधुवणिज । 'चरित्तभड' चरित्रभाण्ड । 'विलुपति' अपहरन्ति । सन्निहित-मनोजामनोर्जाविषयजा इन्द्रियमत्यनुमायिनो रागद्वेषाश्चारित्र्य विनाशयन्ति प्रमादिन । आचार्यस्तु ध्याने स्वाध्याये प्रवर्तयन् प्रमादमपसारयतीति नेन्द्रियचोरेर्विच्यते इति भाव ॥१२८६॥

समितिरूपी बेल जुडे है, तीन गुप्तिरूपी उसके मजबूत चक्के हैं। रात्रि भोजनसे निवृत्तिरूप दो दीर्घ लण्डे हैं। मम्यक्त्वरूपी अक्ष है समीचीनज्ञानरूपी घुरा है ॥१२८२-८३॥

गा०—आचार्य उम सघके नायक है जो निरन्तर सावधान हैं। उनके द्वारा वार-वार सन्मार्गमें लगाया गया वह आराधक साधु समुदाय ससाररूपी महावनको पार करता है ॥१२८४॥

गा०—वह सघपति आचार्य अपने द्वारा भावना आदिमें नियुक्त उस साधु समुदायकी इन्द्रियरूपी चोरोसे और कपायरूपी अनेक जगली हिंसक जानवरोंसे रक्षा करता है ॥१२८५॥

गा०—टी०—स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, शब्द आदि विषय अटवीके समान बड़े कष्टसे लाने जाते हैं इसलिए उन्हें अटवी (घोर वन) की उपमा दी है। उस विषयरूपी अटवीके मध्यमें जो साधु प्रमाद दोषसे जाता है उसके चारित्ररूपी धनको इन्द्रियरूपी चोर चुस लेते हैं। अर्थात् प्राप्त इष्ट अनिष्ट विषयको लेकर इन्द्रिय बुद्धिके अनुमान उत्पन्न हुए रागद्वेष उम प्रमादी मुनिके चारित्रको नष्ट कर देते हैं। किन्तु आचार्य ध्यान और स्वाध्यायमें लगाकर प्रमादको दूर करता

अहवा तल्लिच्छाइ कूराडं कसायसावदाइं तं ।
खज्जति असजमदादाहिं संकिलेसादिदसेहिं ॥१२८७॥

‘अहवा’ अथवा । ‘तल्लिच्छाइ’ अपसृतजनलिप्पावन्त । कूराडं करा । ‘कसायसावदाइ’ कपाय-
व्याल्लमृगा । त अपसृत । ‘खज्जति’ भक्षयेयु । ‘असजमदादाहिं’ असजमदद्व्याभि । ‘संकिलेसादिदसेहिं’
सकिलेसादिदसेदश्च । इन्द्रियाणा कपायाणा वा वये निपतन्त्यमनि निर्यापके मूराविति भाव ॥१२८७॥

तयोरिन्द्रियकपाययो प्रवृत्तिरनेकदोषमूलैति कथयति—

ओमण्णमेवणाओ पडिसेवतो असजदो होड ।
सिद्धिपहपच्छिदाओ ओहीणो साधुमत्यादो ॥१२८८॥
इ दिक्कसायगुरुगत्तणेण सुहमीलभाविदो समणो ।
करणालसो भवित्ता मेवदि ओमण्णसेवाओ ॥१२८९॥

‘इ दिक्कसायगुरुगत्तणेण’ तीव्रेन्द्रियकपायपरिणामतया । ‘सुहमीलभाविदो समणो’ सुखममाधिभावित
अमण । ‘करणालसो’ त्रयोदशविधामु क्रियामु अलग्ना । ‘भवित्ता’ भूत्वा । ‘सेवदि’ मेवने । ‘ओमण्णसेवाओ’
अवमन्मसेवा भ्रष्टचारित्र्याणा क्रियामु प्रवतने इति यावत् । ओमण्णो ॥१२८९॥

केडं गहिदा इदियचोरेहिं कसायसावदेहिं वा ।
पथ छडिय गिज्जति साधुसत्यस्स पासम्मि ॥१२९०॥

‘केडं गहिदा इदियचोरेहिं’ केचिद्गृह्यता इन्द्रियचोर । ‘कसायसावदेहिं’ तहा’ तया कपायस्वापदेश्च
गृह्यता । ‘साधुसत्यस्स पथ छडिय’ मनुमार्थस्य पथात् त्यक्त्वा । ‘पासम्मि गिज्जति’ पाश्वं
यान्ति ॥१२९०॥

है इसलिए इन्द्रिय चोर नहीं मनाते, यह उक्त कथनका भाव है ॥१२८६॥

गा०—अथवा उस विषयरूपी अटबोमे फँसे हुए लोगोको खानेके इच्छुक क्रूर कपायरूपी
मिहादि उम आगत माधुको अमयमन्पी दाडोमे और रागद्वेष मोहरूपी दाँतोसे खा जाते हैं ।
कहनेका भाव यह है कि निर्यापकाचार्यके अभावमे क्षपक इन्द्रियो और कपायके फन्देमे फँस
जाना है ॥१२८७॥

जागे कहते हैं कि इन्द्रिय और कपायकी प्रवृत्ति अनेक दोषोका मूल है—

गा०—जो साधु चारित्र्य भ्रष्ट साधुओकी क्रिया करता है वह अमयमी होकर साधुओके
सधमे बाहर हो जाता है और मोक्षमार्गसे दूर हो जाता है ॥१२८८॥

गा०—इन्द्रिय और कपायरूप तीव्र पणिणाम होनेसे सुखपूर्वक समाधिमे लगा साधु तेरह
प्रकारकी क्रियाओमे आलसी होकर चारित्र्य भ्रष्ट साधुओकी क्रिया करने लगता है ऐमा साधु
अवमन्न कहलाना है ॥१२८९॥

गा०—कोई माधु इन्द्रियरूपी चोरो और कपायरूपी हिंसक जाँवके द्वारा पकडे जाकर
साधु मधके मार्गके छोडकर माधुओके पारसर्वतो हो जाते हैं । माधु मधके पारसर्वतो होनेमे इन्हे
पासत्य या पारसर्वम्य कहते हैं ॥१२९०॥

तो साधुसत्थपंथ छडिय पासम्मि णिज्जमाणा ते ।

गारवगहिणकुडिल्ले पडिदा पार्वेति दुवखाणि ॥१२९१॥

'तो साधुसत्थपंथ' साधुसार्यस्य पन्थान । 'छडिय' त्यक्त्वा । 'पासम्मि' पार्वे । 'णिज्जमाणा ते' नीयमानास्ते । 'गारव गहिण कुडिल्ले' चिरऋद्धिर्गसातगौरवमञ्छन्ते गहने । 'पडिदा' पतिता । 'पार्वेति' प्राप्नुवन्ति । 'दुवखाणि' दुःखानि ॥१२९१॥

सल्लविसकटएहिं विद्धा पडिदा पडति दुक्खेसु ।

विसकटयविद्धा वा पडिदा अडवीए एगागी ॥१२९२॥

'सल्लविसकटएहिं विद्धा' मिथ्यात्वमायानिदानशल्मकण्टकैर्वा विद्धा 'पडिदा' पतिता । 'दुक्खेसु पडति' दुःखेषु पतन्ति । 'विसकटयविद्धा अडवीए एगागी पडिदा इव' विपक्वण्टवेन विद्धा अटव्यामेवाकिन पतिता यथा दुःखेषु पतन्ति तथैवेति दाष्टान्तिके योजना ॥१२९२॥

पथ छडिय सो जादि साधुसत्थस्स चैव 'पामाओ ।

जो पडिसेवदि पासत्थसेवणाओ हु णिद्धम्मो ॥१२९३॥

साधुसार्यस्य पन्थान त्यक्त्वा कस्य पार्वे याति मस्यामी दोषा व्यावर्णिता — गौरवगहने पात शल्म-
विपक्वण्टकवेधादयश्चेरयागद्भ्राया वदति । 'पथ छडिय साधुसत्थस्स सो जादि' परित्यज्य साधुसार्यस्य पन्थान-
मसो याति । 'पासम्मि' पार्वे । 'जो पडिसेवदि' य प्रतिसेवते, 'पासत्थसेवणाओ हु' पार्वस्वस्यसेवना, 'णिद्धम्मो'
धर्मश्चारित्र तम्मादपगत, धर्मादपगत सन्पार्वस्वस्याचरणीयानु क्रियासु प्रवर्तते ॥१२९३॥

सैव कथं निर्धर्मता तस्येत्याशङ्क्य वदन्ति—

इ दिवकसायगरुयत्तणेण चरणं तण व पस्सतो ।

णिद्धम्मो हु सविच्चा सेवदि पासत्थसेवाओ ॥१२९४॥

'इ दिवकसायगरुयत्तणेण' इन्द्रियकषायविषयैर्गौरवाच्च रागद्वेषपरिणामयो क्रोधादिपरिणामाना च

गा०—साधु समूहके मार्गको छोडकर पार्वस्वस्य मुनिपनेको प्राप्त हुए वे ऋद्धिगौरव, रस-
गौरव और सातगौरवसे भरे गहन वनमे पडकर तीव्र दुःख पाते है ॥१२९१॥

गा०—अथवा जैसे विपर्ले कांटोसे विधे हुए मनुष्य अटवोमे अकेले पडे हुए दुःख पाते हैं,
वैसे ही मिथ्यात्व माया और निदानशत्यरूपी कांटोसे वीधे हुए वे पार्वस्वस्य मुनि दुःख पाते
है ॥१२९२॥

गा०—वह पार्वस्वस्य मुनि साधु सघका मार्ग त्यागकर ऐसे मुनिके पास जाता है जो
चारित्र्यमे भ्रष्ट होकर पार्वस्वस्य मुनियोका आचरण करता है ॥१२९३॥

वह मुनि चारित्र्य भ्रष्ट क्यों है ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०—टी०—इन्द्रिय, कषाय और विषयोंके कारण रागद्वेषरूप परिणामो और क्रोधादि

तीव्रत्वात् । 'चरण' चारित्र्य, 'तण व' तृणमिव, 'पसतो' पश्यन् रामादयोऽप्यनुभपरिणामास्तत्त्वज्ञानम्य प्रतिबन्धकास्तेन सकलुष ज्ञानचारित्र्य निस्सारमिव पश्यति, तत एव तत्राङ्गतादर चारित्र्यादपतीति निर्दोष-
तास्य । तत पार्श्वस्थसेवामु प्रयतते । 'पासत्यो' ॥१२९४॥

इ दियचोरपरद्धा कसायसावदभएण वा केई ।

उम्मगेण पलायति साधुसत्थस्स दूरेण ॥१२९५॥

'इ दियचोरपरद्धा' इन्द्रियचोरकृतोषद्रवा । 'कसायसावदभएण वा केई' कपायव्यालमूगभयेन वा
वेचित् । 'उम्मगेण' उन्मार्गेण 'पलायति' पलायन कुर्वन्ति । 'साधुसत्थस्स दूरेण' साधुसार्थस्य दूरात् ॥१२९५॥

तो ते कुमीलपडिसेवणावणे उप्पयेण धावता ।

सण्णाणदीसु पडिदा किलेमसोदेण बुद्धति ॥१२९६॥

'तो' नत साधुनार्थद्वारादपमुता, 'कुमीलपडिसेवणावणे' कुशीलप्रतिसेवनावने, 'उप्पयेण' उन्मार्गेण ।
'धावता' धावन्त । 'सण्णाणदीसु' सज्जानदीपुः 'पडिदा' पतिता । 'किलेमसोदेण' कठेराश्रमसा । बुद्धन्ति'
ते बुद्धन्ति ॥१२९६॥

सण्णाणदीसु ऊढा बुद्धा थाह कहपि अलहता ।

तो ते संसारोदधिमदति बहुदुक्खभीसम्मि ॥१२९७॥

'सण्णाणदीसु ऊढा' सज्जानदीभिराकृष्टा सतो निर्गमना 'थाह' अदस्यान 'कहिपि' नवचिंदपि 'अलहता'
अलभमाना । 'तो' पश्चात् । 'ससारोदधिमदति' संसारसागर प्रविशन्ति । 'बहुदुक्खभीसम्मि' बहुदु-
खभीष्म ॥१२९७॥

आमागिरिदुग्गाणि य अदिगम्म तिदडकवखडसिलासु ।

ऊलोडिदपम्भट्टा खुप्पंति अणंतय काल ॥१२९८॥

परिणामोके तीव्र होनेसे वह चारित्र्यको तृणके समान मानता है । क्योंकि रागादिरूप अशुभ
परिणाम तत्त्वज्ञानके प्रतिबन्धक होते हैं । अत उसका ज्ञान दूषित होनेसे वह चारित्र्यको सार-
हीन मानता है । इसीसे वह उसमें आदरभाव न रखनेके कारण चारित्र्यसे च्युत होता है । इसीसे
उसे चारित्र्य भ्रष्ट कहा है । चारित्र्य भ्रष्ट होकर वह पार्श्वस्थ मुनियोंकी सेवामें लग जाता है ।
यह पार्श्वस्थ मुनिका कथन है ॥१२९४॥

गा०—अथवा कोई मुनि इन्द्रियरूपी चोरोसे पीडित होकर कपायत्प हिंसक प्राणियोंके
भयसे साधु सधसे दूर होकर उन्मार्गमें चले जाते हैं ॥१२९५॥

गा०—साधु सधसे दूर होकर वे मुनि कुशील प्रतिसेवनात्प वनमें उन्मार्गमें दौडते हुए
आहार भय मैथुन परिग्रहत्प सज्जानदीमें गिरकर कष्टरूपी प्रवाहमें पडकर डूब जाते हैं ॥१२९६॥

गा०—सज्जान्प नदीमें डूबनेपर उन्हें कही भी छहरनेका स्थान नहीं मिलता वन वे
बहुत दु खीमें भयानक समाग समुद्रमें प्रवेश करते हैं ॥१२९७॥

गा०—समार समुद्रमें प्रवेश करनेपर आगारूपी पहाड़ोंको लाधने हुए मन-वचन-नायकी
८१

'आतागिरिदुर्गाणि य' आतागिरिदुर्गा इव । 'अदिगम्' अतिव्रम्य । 'तिदइक्कडतिलासु' तिरुण्डन-
कंताशिलासु । 'ऊलोडिड' 'पल्मट्ट' अवलुण्ठना मन्त प्रञ्जटा 'खवेति' गमयन्ति । 'अणतय काल' अनत
काल ॥१२९८॥

बहुपावकम्मकरणाडवीसु महदीसु विप्पणट्टा वा ।

अदिट्टणिव्वुदिपथा भमति सुचिरंपि तत्थेव ॥१२९९॥

'बहुपावकम्मकरणाडवीसु' बहुविधान्यशुभकर्माप्येवाटन्य तामु 'महदीसु' दीर्घानु । 'विप्पणट्टा' विप-
नट्टा । 'अदिट्टणिव्वुदिपथा' अदृष्टनिवृत्तिमार्गा । 'भमति' भ्रमन्ति । 'सुचिरंपि' सुचिरमपि । 'तत्थेव'
तथैव ॥१२९९॥

दूरेण साधुसत्थ छंडिय सो उप्पघेण खु पलादि ।

सेवदि कुमीलपडिसेवणाओ जो सुत्तदिट्टाओ ॥१३००॥

'दूरेण साधुसत्थ' दूरात्साधुमार्य । 'छंडिय' त्यक्त्वा । 'सो' म । 'उप्पघेण खु' उन्मार्गेण । 'पलादि'
पलायते । 'सेवदि कुमीलपडिसेवणाओ' सेवते कुमीलप्रतिमेवना । 'जो' य । 'सुत्तदिट्टाओ' सूत्र-
निर्दिष्टा ॥१३००॥

इंदियकसायगुरुगतणेण चरण तण व पस्सतो ।

णिदधसो भवित्ता सेवदि हु कुसीलसेवाओ ॥१३०१॥

'इ विद्यकसायगुरुगतणेण' इन्द्रियकपायपरिणामाना गुन्त्वेन । 'चरण तण व पस्सतो' चरण तृणमिव
पश्यन् । 'णिदधसो भवित्ता' अह्नीको भूत्वा । 'सेवदि' सेवते कुसीलसेवा ॥ कुसीला ॥१३०१॥

मिद्विपुरमुवल्लीणा वि केड इदियकसायचोरेहिं ।

पविलुत्तचरणभडा उवहदमाणा णिवट्टति ॥१३०२॥

दुष्प्रवृत्तिरूप शिलाभोपर लटकते हुए गिरकर अनन्तकाल विताते हैं ॥१२९८॥

विशेषार्थ—पहले वे उत्तरगुण छोड़ते हैं फिर मूलगुण और सम्यक्त्वसे भी भ्रष्ट होकर
ममारमे भ्रमण करते हैं ॥१२९८॥

गा०—अनेक प्रकारके अशुभकर्मरूप सुदीर्घ अटवीमे भटकते हुए वे निर्वाणका मार्ग कभी
देखा न होनेसे चिरकालतक वही भ्रमण करते रहते हैं ॥१२९९॥

गा०—वे दूरसे ही साधुसगको त्यागकर कुमार्गमे दौड़ते हैं । और आगममे कहे कुमील
मुनिके दोषोंको करते हैं ॥१३००॥

गा०—इन्द्रिय और कपायरूप परिणामोंकी तीव्रताके कारण चारित्र्यको तृणके समान
मानते हैं और निर्लज्ज होकर कुमीलका सेवन करते हैं ॥१३०१॥

इस प्रकार कुमील मुनिका कथन हुआ ।

गा०—कोई-कोई मुक्तिपुरीके निकट तक जाकर भी इन्द्रिय और कपायरूपी चोरोंके
द्वारा चारित्र्यरूपी धन चुराये जानेपर सयमका अभिमान त्यागकर इसमे लीट आते हैं ॥१३०२॥

'सिद्धिपुरमुबल्लोणा वि' सिद्धिपुरमुपलीना अपि । 'केई' नेचित् । 'इदियकसायचोरेहिं' इन्द्रियरूपाय-
चोरे । 'पबिलुत्तचरणमडा' अपहृतचारित्रमाण्डा । 'उवहदमाणा' उपहृताभिमाना । 'निवट्ठति' निव-
र्तन्ते ॥१३०२॥

तो ते शीलदरिदा दुक्खमणत सदा वि पावति ।

बहुपरियणो दरिदो पावटि तिच्च जघा दुक्ख ॥१३०३॥

'तो' पश्चात् । 'ते शीलदरिदा' ते शीलदरिदा । 'दुक्ख' दुःख । 'अणत' अन्तातीत । 'सदा वि
पावति' सदा प्राप्नुवन्ति । 'बहुपरियणो' बहुपरिजनो । 'दरिदो' दरिद्र । 'पावटि दुक्ख तिच्च' प्राप्नोति
दुःख तीव्र यथा ॥१३०३॥

मो होदि साधुसत्थादु णिग्गदो जो भवे जघाछदो ।

उस्सुत्तमणुवदिट्ठ च जधिच्छाए विरुप्पतो ॥१३०४॥

'सो होदि' स भवति । 'साधुसत्थादु णिग्गदो' साधुमार्यान्निवृत्त । 'जो भवे जघाछदो' या भवति
स्वेच्छावृत्ति । 'उस्सुत्त' उत्सूत्र । 'अणुवदिट्ठ' अनुपदिष्ट च स्थविर । 'जधिच्छाए विरुप्पतो' यपेच्छया
विकल्पयन् ॥१३०४॥

जो होदि जघाछदो तस्म धणिदपि मजमित्तस्म ।

णत्थि दु चरण चरण खु होदि सम्मत्तसहचारी ॥१३०५॥

'जो होदि जघाछदो' यो भवति स्वेच्छावृत्ति । 'तस्म धणिदपि मजमित्तस्म' तस्य निवृत्तामपि समयमे
प्रवर्तमानस्य । 'णत्थि दु' नास्त्येव । 'चरण' चारित्र । 'चरण खु होदि सम्मत्तसहचारी' सम्यक्त्वसहचार्यैव
यतेऽचारित्र । स्वच्छन्दवृत्तस्तु यत्किचित्परिक्ल्पयत सूत्रमनुसरत नैव सम्यग्दर्शनमस्ति । तदन्तरेण सम्य-
क्चारित्र नैव भवति ॥१३०५॥

इ'दियकसायगुरुगतणेण सुत्त पमाणमकरतो ।

पग्गिमाणेदि जिणुत्ते अत्थे मच्छन्ददो चेव ॥१३०६॥

गा०—पश्चात् वे शीलमे दरिद्र मुनि सदा अनन्त दुःख पाते हैं । जैसे बहुत परिवारवाला
दरिद्र मनुष्य तोत्र दुःख पाता है ॥१३०३॥

अब यथाच्छन्द मुनिका स्वरूप कहते हैं—

गा०—साधुमधसे निकलकर जो पूर्वाचार्योके द्वारा नहीं कहें थागम विरद्ध मार्गकी अपनी
इच्छानुसार कल्पना करता है वह यथाच्छन्द मुनि होता है ॥१३०४॥

गा०—टी०—जो स्वच्छन्दचागी मुनि होता है वह समयमे अत्यन्त प्रवृत्ति भी करे तो भी
उसका चारित्र चारित्र नहीं है क्योंकि सम्यक्त्वके साथ जो चाग्रि होता है वही चारित्र होता
है । जो स्वच्छन्दचारी होता है वह तो जो उसकी इच्छा होती है तदनुसार आचरण करता है ।
आगमका अनुसरण नहीं करता, अतः उसके सम्यग्दर्शन नहीं है । और सम्यग्दर्शनके बिना
सम्यक्चारित्र नहीं होता ॥१३०५॥

'इन्द्रियकसायगुरात्पणे' कपायाधगुरुत्वेन सूत्रमप्रमाणम् । 'परिमाणेदि' अन्यथा गृह्णाति ।
'जिणुत्ते अन्ये' जिनां वतानपान् । 'सच्छब्दो देव' वेच्छामिप्रायेणैव ॥ जघाच्छब्द ॥१३०६॥

इन्द्रियकसायदोसेहिं अधवा सामण्णजोगपरिततो ।

जो उव्वायदि सो होदि णियत्तो साधुमत्थादो ॥१३०७॥

'इन्द्रियकसायदोसेहिं' इन्द्रियकसायदोषे । अधवा सामण्णजोगपरिततो' अथवा नामान्ययोगेन दान्त ।
'जो उव्वायदि' यस्चारित्राख्यवत्ते । 'सो होदि' स भवति । 'णियत्तो साधुमत्थादो' निवृत्त साधु-
सायान् ॥१३०७॥

इन्द्रियकसायवसिया केई ठाणाणि ताणि सव्वाणि ।

पाविज्जते दोसेहिं तेहिं सव्वेहिं संसत्ता ॥१३०८॥

इन्द्रियकसायवसिया' इन्द्रियकसायवरागा । केई' केचित् । 'ठाणाणि ताणि सव्वाणि' तान्द्रियगुणम्भा-
नपरिणामानि । 'पाविज्जति' प्राप्यन्ते । 'दोसेहिं तेहिं सव्वेहिं संसत्ता दोषैस्तं सर्वं संसन्ता ।
संसत्ता ॥१३०८॥

इय एदे पचविघा जिणेहिं मवणा दुमुच्छिटा सुत्ते ।

इन्द्रियकसायगुरुयत्तणेण णिच्चपि पडिकुद्धा ॥१३०९॥

पासत्पत्तिगद ॥१३०९॥

दुद्धा चवला अदिदुज्जया य णिच्च पि समणुवद्धा य ।

दुक्खावहा य भीमा जीवाणं इन्द्रियकसाया ॥१३१०॥

'दुद्धा' दुष्टा अगमोपद्रवकारित्वान् । चपला' अनवस्थितत्वान् । अदिदुज्जया य' अतोव दुर्जया अनु-
पलब्धकारित्रमोहधोषनामप्रवर्षणे जीवेन दुत्तेन अभिनूयन्ते इति । 'णिच्चपि' नित्यमपि । 'समणुवद्धा य'

गा०—इन्द्रिय और कपायोकी प्रवृत्तताके कारण वह आगमवो प्रमाण नहीं मानता ।
और अपनी इच्छाके अनुसार जिनभगवान्के द्वारा कहे गये अर्थको विपरीतरूपमें ग्रहण करता
है ॥१३०६॥

पा०—इन्द्रिय और कपायोके दोषमें अधवा नामान्य योगसे विरक्त होकर जो चारित्र्यमें
गिर जाता है वह साधु मगने बलग हो जाता है ॥१३०७॥

अब मसक्त मुनिका स्वरूप कहते हैं—

गा०—इन्द्रिय और कपायोके बगमें हुए कोई मुनि उन सब दोषोंमें मसक्त होकर उन सब
अशुभ स्थान रूप परिणामोंको प्राप्त होते हैं ॥१३०८॥

गा०—इस प्रकार ये पाँच प्रकारके मुनि जिन भगवान्के द्वारा आगममें निन्दनीय कहे
हैं । ये इन्द्रिय और कपायोकी प्रवृत्ता होनेसे नित्य ही जिनागममें विमुख रहते हैं ॥१३०९॥

गा०-टी०—इन्द्रिय और कपायरूप परिणाम बड़े दुष्ट हैं क्योंकि ये आत्मामें उपद्रव पैदा
करते हैं । अनवस्थित होनेमें चपल हैं । इनको जितना अति कठिन है क्योंकि जिन जीवोंके चारित्र्य-

सम्यगनुबद्धाश्चारित्रमोहोदयस्य स्वकारणस्य सदा सद्भावात् । नित्यशपेत्कथ चपला । नित्यशब्दो ध्रौव्ये न प्रयुक्त कित्त्वभीक्ष्णे मुहुमुहुरनुबद्धा इत्यर्थः । चपलता तु परिणामाना अनवस्थितत्व अतो न विरोधः । 'दुःखा-
घहा य' दुःखावहाइत्यत्र । 'जीवाण' जीवाना । अभिमतमोगालाभे पाप्तस्य वाश्याये महत दुःखमित्यनुभवसिद्ध-
मेव सर्वप्राणभृता । कण्गायास्तु क्रोधादय कपायन्ति^१ हृदयः । अथवा दुःखकारणामद्वैतार्जन^२निमित्तत्वात्
दुःखावहा । इन्द्रियकपायवशगो जीवान् हिनस्ति । दुःखकरणेन वासवत्यसद्रेच इति । यत एव दुःखावहा
अतएव भीमा । 'इ इदिकसाया' इन्द्रियकपायपरिणामा ॥१३१०॥

मरुतेऽल्पि पियतो वत्थो जह वादि पूदिय गघ ।

तघ दिक्खिदो वि इ इदियकसायगघ वहदि कोई ॥१३११॥

'सुदुष्कलेलमपि' 'पियतो' पियन्, 'वत्थो' वस्त अजपोत । 'जह वादि पूदिय गघ' पुनियन्ध यया
वाति । प्राकृतगन्ध यया न जहाति सश्रियमाणोऽपि मुरमिणा द्रव्येण, 'तघ विक्खिवो वि' तथा दीक्षितो-
ऽपि परित्यक्तासयमोऽपि । इदियकपायगघ वहदि' इन्द्रियकपायदुर्गन्धमुद्देहति इति यावत् ॥१३११॥

भु जतो वि सुभोयणमिच्छदि जघ सूयरो समलमेव ।

तघ दिक्खिदो वि इदियकसायमलिणो हवदि कोइ ॥१३१२॥

'भु जतो वि सुभोयण' भुञ्जानोऽपि शोभनमाहार । 'सूयरो जघ समलमेव इच्छदि' सूकरो यया
समलमेवाभिलपति चिरन्तनाभ्यासान । 'सत्' तथा । 'दिक्खिवो वि' दीक्षितोऽपि कृतव्रतपरिग्रहणस्कारोऽपि ।
'कोइ' कश्चित् । 'इदियकसायमलिणो हवदि' इन्द्रियकपायास्थाभुभपरिणामोपनतो भवति । भग्णोऽपि जन

मोहके क्षयोपशमका प्रकर्ष नहीं है वह जीव बड़े कष्टमें इन्हे वशमें कर पाता है । तथा इनका
कारण चारित्रमोहका उदय सदा रहता है अतः ये नित्य बने रहते हैं ।

शङ्का—यदि ये नित्य हैं तो चपल कैसे हैं ?

समाधान—नित्य शब्दका प्रयोग ध्रौव्यके अर्थमें नहीं है किन्तु बार-बारके अर्थमें है । और
परिणामोके स्थिर न होनेको चपलता कहते हैं अतः कोई विरोध नहीं है ।

तथा ये जीवोको दुःखदायी हैं । इष्ट भोगकी प्राप्ति न होने पर अथवा प्राप्त भोगका
विनाश होने पर महान् दुःख होता है यह सभी प्राणियोंको अनुभवसिद्ध है । क्रोधादि कपाय
हृदयको सताप पहुँचाती है । अथवा दुःखका कारण जो असातावेदनीय कर्म है उसके बन्धमें
निमित्त है इसलिए दुःखदायी हैं । जो इन्द्रिय और कपायके वशमें होता है वह जीवोका घात
करता है । जीवोंके दुःख देनेमें असातावेदनीय कर्मका आस्रव होता है । और यत ये इन्द्रिय तथा
कपाय दुःखदायी हैं, अतएव भयकर हैं ॥१३१०॥

गा०—जैसे बकरीका बच्चा मुगन्धित तेल भी पिये फिर भी अपनी पूँव दुर्गन्धको नहीं
छोडता । उसी प्रकार दीक्षा लेकर भी अर्थान् असयमको त्यागने पर भी कोई कोई इन्द्रिय और
कपाय रूप दुर्गन्धको नहीं छोड पाते ॥१३११॥

जैसे मुअर मुन्दर स्वादिष्ट आहार खाते हुए भी चिरतन अभ्यास वग विष्टा ही खाना
पसन्द करता है । उसी प्रकार व्रतको ग्रहण करके भी कोई कोई इन्द्रिय और कपायरूप अनुभ

शुक्रपदेशादधिगतदुःखनिवृत्त्युपायतया परित्यक्तेन्द्रियरूपायांसि गार्हस्थ्यपरित्यागकारे पुरारिप तत्रापत-
तीति ॥१३१२॥

एतदनेकदृष्टान्तोपन्यासेन दर्शयति गूरुत्तरप्रवन्धेन—

वाहभएण पलादो जूह दट्टूण वागुरापडिद ।

सयमेव मओ वागुरमदीदि जह जूहतण्हाए ॥१३१३॥

‘वाहभएण’ व्याधभयेन । ‘पलादो मगो’ वृत्तपलायनो मृग । ‘वागुरापडिद जूह दट्टूण’ वागुरापतितं स्वययुष दृष्ट्वा । ‘सयमेव वागुरमदीदि मगो’ स्वयमेव वागुरा प्रविशति मृग । ‘जह’ यथा, वृत्त । ‘जूहतण्हाए’ मूथतृष्णया । ‘एव के षि गिह्वास मुच्चा’ इत्यनया गायया सबन्ध वार्य ॥१३१३॥

पंजरमुक्को सउणो सुइर आरामएसु विहरंतो ।

सयमेव पुणो पजरमदीदि जघ णीडत्तण्हाए ॥१३१४॥

‘पजरमुक्को सउणो’ पञ्जरान्मुक्त णी । ‘सुइर आरामएसु विहरतो’ आरामेषु स्वेच्छया विहरन् । ‘सयमेव’ स्वयमेव । ‘पुणो’ पुन । ‘पजरमदीदि’ पञ्जरमुपति । ‘जह णीडत्तण्हाए’ यथा णीडत्तृष्णया ॥१३१४॥

कलभो गएण पकादुद्धरिदो दुत्तरादु बलिएण ।

सयमेव पुणो पके जलत्तण्हाए जह अदीदि ॥१३१५॥

‘कलभो’ मज्जपान महति कर्दमे पतित । ‘गएण पकादुद्धरिदो’ गजेन परेण पक्कादुद्धृतो । ‘दुत्तरादु’ दुम्तरान् पक्कान् बलिष्णतिसयवता गजेन । ‘सयमेव पुणो पक जह अदीदि’ स्वयमेव कलभो यथा पक्क-
मुपति । ‘जलत्तण्हाए’ जलत्तृष्णया ॥१३१५॥

अग्गिपरिक्खितादो मउणो रुम्सादु उप्पडित्ताण ।

मयमेव त दुम सो णीडणिमित्त जघ अदीदि ॥१३१६॥

परिणाम वाले होते हैं । भव्य जीव भी गुरुके उपदेशसे गृहस्थाश्रमका परित्याग करते समय दुःख-
को निवृत्तिका उपाय जानकर इन्द्रिय और कर्माय रूप परिणामोका त्याग करता है किन्तु फिर
भी वह उन्हींके चक्रामे पड जाता है ॥१३१२॥

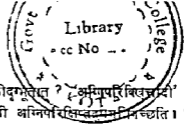
आगे आचार्य अनेक दृष्टान्तोंके द्वारा इमीको दर्शाते हैं—

गा०—जैसे व्याधके भयसे भागा हुआ हिरन अपने झुण्डके जालमे फँसा देखकर झुण्डके
मोहसे स्वय भी जालमे फँस जाता है वैसे ही कोई मुनि गृह त्यागनेके बाद स्वय ही उसमे फँस
जाता है ॥१३१३॥

गा०—जैसे पीजरेसे मुक्त हुआ पक्षी उच्चानामे स्वेच्छापूर्वक विहार करते हुए स्वय ही
अपने आवासके प्रेमवश पीजरेमे चला जाता है ॥१३१४॥

गा०—जैसे महती कीचडमे फँसा हाथीका बच्चा बलवान् हाथीके द्वारा निकाला गया ।
किन्तु पानोकी प्यासवश वह स्वय ही कीचडमे फँस जाता है ॥१३१५॥

गा०—जैसे पक्षी आगसे घिरे वृक्षसे उडकर स्वय ही अपने घोंसलेके कारण उस वृक्षपर
जा पहुँचता है ॥१३१६॥



‘वृक्षस्रावो सज्जो उप्पडित्तान्’ वृक्षादुत्पत्त्य सज्जु । कीदृग्भूतेत ? ‘अग्निपरिक्वित्तदी’ अग्निना समन्ताद्वेष्टितान् । ‘सयमेव त दुम जह अदीदि’ स्वयमेवासी पक्षी अग्निपरिक्वित्तदीमिच्छति । ‘गीडणित्त स्वामानिमित्त ॥१३१६॥

लधिज्जतो अहिणा पासुत्तो कोइ जग्गमाणेण ।

उट्ठविदो त धेत्तुं इच्छदि जध कोडुगहलेण ॥१३१७॥

‘लधिज्जतो अहिणा’ लक्ष्यमानोऽहिना, ‘कोइ पासुत्तो’ कश्चित्प्रमुत्त, ‘जग्गमाणेण उट्ठविदो’ जाग्रता उत्थापित । ‘जह त धेत्तुमिच्छति’ यथा सर्पं प्रहीतुमिच्छति, ‘कोडुगहलेण’ कौतूहलेण ॥१३१७॥

सयमेव वतमसण णिल्लज्जो णिग्घिणो सय चेव ।

लोलो क्विणो भुंजदि सुणहो जध असणतण्हाए ॥१३१८॥

‘सयमेव वतमसण’ स्वयमेव वान्तमसान । ‘सुणहो णिल्लज्जो णिग्घिणो’ द्वा निर्लज्ज निर्गुण । ‘जहा’ यथा । ‘सयमेव भुजदि’ स्वयमेव भूङ्क्ते । ‘लोलो’ आमक्त । ‘क्विणो’ उष्ण । ‘असणतण्हाए’ अशनतृष्णया ॥१३१८॥

एव केइ गिहवासदोममुक्का वि दिक्खिदा सता ।

इं दिक्कसायदोसेहि पुणो ते चेव गिण्हति ॥१३१९॥

‘एव केइ’ एव केचिन् । ‘गिहवासदोममुक्का वि’ गृहवासोम्यो ये दोपास्तेम्यो मुक्ता । ‘दिक्खिदा वि सता’ दीक्षिता अपि सन्त । ‘इं दिक्कसायदोसे’ इन्द्रियकपायशोषान् । ‘ते चेव’ ताश्चैव गृहवासगतान् । ‘गिण्हति’ गृह्णाति । कीर्णगृहवासो येन दुष्ट इति भण्यते । ममद भावाधिष्ठान अनुपरतमायालोभोत्पादन-प्रवोगजीवनोपायप्रवृत्त कपायाणामाकर परेपा पीडानुग्रहयोरामदपरिकर पुषियत्तेजोवायुवनस्पतिष्वनारत-वृत्तव्यापारो, मनोवाक्कार्यं सचित्ताचित्तानेकाणुस्थूलद्रविणग्रहणवर्द्धनोपजातायास, यत्र स्थितो जनोऽनारे सारता, अनित्ये नित्यता, अशरणे शरणता, अशुचौ शुचिता, दुःखे सुखिता, अहिते हितता, असधये मथयणीयता,

गा०—जैसे किसी सोते हुए मनुष्यपरसे सर्प जा रहा है । उसे कोई जागता हुआ मनुष्य उठाता है और वह उठकर कीर्णहलवश उस सर्पको पकडना चाहता है ॥१३१७॥

गा०—जैसे कोई निर्लज्ज घिनावना कुत्ता अपने ही वगन किये भोजनको भोजनकी तृष्णावश लोलुपनासे खाता है ॥१३१८॥

गा०—टी०—जैसे ही गृहवासके दोपोसे मुक्त कोई दीक्षा स्वीकार करके भी गृहवासके उन्ही इन्द्रिय और कपायरूप दोपोको स्वीकार करता है । गृहवासको बुरा क्यों कहा यह बतलाते हैं—

गृहस्थाश्रम ‘यह मेरा है’ इस भावका अधिष्ठान है, निरन्तर माया और लोभको उत्पन्न करनेमें दक्ष जीवनके उपायोंमें लगानेवाला है, कपायोकी खान है, दूसरोको पीटा देने और अनुग्रह करनेमें तत्पर रहता है, पृथिवी जल आग वायु और वनस्पतिमें उमका व्यापार सदा चला करना है, मन वचन कायसे मचित्त अचित्त अनेक सूक्ष्म और स्थूल द्रव्योंके ग्रहण और वढानेके लिए उममें प्रयास करना होता है । उसमें रहकर मनुष्य अमारमें मारता, अनित्यमें नित्यता, अशरणमें शरणता, अशुचिमें शुचिता, दुःखमें सुखपना, अहितमें हितपना,

शक्रभूते मित्रता च मन्यमान परित् परिधावति । सममनसाङ्गोऽपि पदमधिगच्छति । दुष्टतरवाल्गोहृष्यजरो-
दग्गतो हरिरिव, वागुरापतितमृगकुलनिव, अन्यायकर्ममोन्मग्नो जरत्कुञ्जर इव हनाश, पादावद्यो विहग इव,
चारवावरद्वस्तस्कर इव, व्याघ्रमध्यमध्यामीनोऽप्यबलो मृग इव, तदन्तिकोपयानजातसङ्घट्ट कूटपाशावृष्टो
जलचर इव, यथावन्मितो जन काममहलतम पटलेनाग्निपते । रागमहानागं स्पृष्ट चिन्नाडाकिनीभि क्वली-
श्रियते शोक्रवर्करनुगम्यते, रोपपादकेन भ्रममनान् क्रियते, दुरागालतिवार्त्तिनिश्चल वध्यते, प्रियविप्रमोपास-
निभिरनिश शकलीश्रियते, प्राथिनालाभसारसात्स्तूपीरता नीयते, मायास्यविरिक्या गाढमालिग्यते, परिभव-
कठिनकुठारैर्विदार्यते, अयसामलेन लिप्यते, मोहमहावनवारणेन हन्यते, पापघातैर्वबोध पान्यते, भयाय-
शलाघातिस्तुद्यते, आयासवासे प्रतिवासर भ्रश्यते, ईर्ष्यामप्या विरूपता परिप्राप्यते, परिग्रहग्रहैर्गुह्यते ।
यथावन्मितोऽन्यभाभिमुखो भवति । असूयाजायाया प्रियता माति, मानदानवाधिपतिता अनुभवति, विनाश-
घवलचारित्रपत्रप्रयछायामुख न लभते, समारचारकाशरमान नापनयति, कर्मनिर्मूलनाय न पभवति, मरण-
विषपाशप न दहति, मोहधनशृङ्खला न श्रोत्यति, विचित्रयोनिमुखमचरण न निषेधति । तत इत्यभूताद्गृहवास-
दोषान्मयता मन्तोर्जपि दीशिता 'इ शिवकसायदोसे हि' इन्द्रियरूपपादोषान् । हि शब्द ममुच्चयार्थ । तेनैव-
मभिसम्बध्यते 'पुणो हि' पुनरपि 'ते चैव' तानेव । 'गिण्हाति' गृह्णाति ॥१३१९॥

अनाश्रयमे आश्रयपना, शत्रुमे मित्रता मानता हुआ सब ओर दौडता है । भय और शकाने युक्त होते हुए भी आश्रय प्राप्त करता है । जिनमे निकलना कठिन है ऐसे कालरूपी लोहेके पीजरेके पेटमे गये सिंहकी तरह, जालमे फंसे हिरणोकी तरह, अन्यायरूपी कीचडमे फंसे बड़े हाथीकी तरह, पासासे बद्ध पक्षीकी तरह, जेलमे बन्द चोरकी तरह, व्याघ्रोंके मध्यमें बँठे हुए दुर्बल हिरणकी तरह, जिके पासमे जानेमे सकट बाया है ऐसे जालमें फंसे मगरमच्छकी तरह, जिस गृहस्थाश्रममे रहनेवाला मनुष्य कालरूपी अत्यन्त गाढे अन्धकारके पटलसे आच्छादित हो जाता है । रागरूपी महानाग उमे मताते हैं । चिन्तारूपी डाकिनी उसे खा जाती है । शोक्ररूपी भेड़िये उसके पीछे लगे रहते हैं । कोपरूप आग उमे जलाकर राख कर देती है । दुरागारूपी लताजोमे वह ऐसा बंध जाता है कि हाथ पैर भी नहीं हिला पाता । प्रियका वियोगरूपी वज्रपात उसके टुकडे कर डालता है । प्रार्थना करनेपर न मिलनेरूपी सैकड़ों बापोंका वह तरकस बन जाता है अर्थात् जैसे तरकसमें बाण रहते हैं वैसे ही गृहस्थाश्रममें वाञ्छित वस्तुका लाभ न होनेरूपी बाण भरे हैं । मायरूपी बुद्धिया उसे जोरमे चिपकाये रहती है । तिरस्काररूपी कठोर कुठार उमे काटते रहते हैं । अपयशरूपी मलसे धह लिप्त होता है । महामोहरूपी जगली हाथीके द्वारा वह मारा जाता है । पापरूपी पातकोंके द्वारा वह ज्ञानशून्य कर दिया जाता है । भयरूपी लोहेकी सुइयोंसे कोचा जाता है । प्रतिदिन श्रमरूपी कौओंके द्वारा स्याया जाता है । ईर्ष्यारूपी काजलसे विरूप किया जाता है । परिग्रहरूपी मगरमच्छोंके द्वारा पकड़ा जाता है । जिन गृहस्थाश्रममें रहकर उत्सवकी जोर जाता है । असूयरूपी पत्नीका प्यारा होता है । अर्थात् दूररोंके गुणोंमें भी दोष देखता है अपनेकी मानरूपी दानवका स्वामी मानने लगता है । विनाश घवल चारित्ररूपी तीन छत्रोंकी छायाका सुख उसे नहीं मिलता । वह अपनेको समाररूपी जेलमे नहीं छोडा पाता । कर्मोंका जडमूलमे विनाश नहीं कर पाता । मृत्युरूपी विषवृक्षको नहीं जला पाता । मोहरूपी मजबूत साबलको नहीं तोडता । विचित्र योनियामें जानेकी नहीं रोक पाता । दीक्षा

बंधणमुक्को पुनरेव बधण सो अचेयणोदीदि ।

इन्द्रियकमायबंधणमुवेदि जो दिक्खिदो सतो ॥१३२०॥

'बंधणमुक्को' बन्धनमुक्त । 'पुनरेव बधण' पुनर्बन्धन । 'अचीदि' प्रतिपद्यते । 'सो अचेयणो' मोक्ष ।
क ? 'जो दिक्खिदो सतो इन्द्रियकमायबंधणमुवेदि' यो दीक्षित मनिन्द्रियकपायबन्धमुपैति । इन्द्रियकपायपरि-
पामा कर्मबन्धनत्रिधाया साधकतमतया इह बन्धनराधेनाच्यन्ते ॥१३२०॥

मुक्को वि णरो कलिणा पुणो वि तं चेव मग्गदि कलिं सो ।

जो दिक्खिदो वि इन्द्रियकमायमइय कलिमुवेदि ॥१३२१॥

प्रतिद्वार्या ॥१३२१॥

उत्तरगाथा—

सो णिच्छदि मोत्तुं जे हत्थगय उम्मिय सुपज्जलिय ।

सो अक्कमदि कण्हसप्प छाद वग्थ च परिमसदि ॥१३२२॥

'सो णिच्छदि' स नेच्छति । 'मोत्तुं' मोक्षतु । कि ? 'हत्थगय' हस्तन्वित हस्तगत वा । 'उम्मिय सुपज्जलिय' उन्मुक्त सुप्तु प्रज्वलित । 'सो कण्हसप्पमक्कमदि' स कृष्णपमाज्ञानति । 'छाद वग्थ च परिमसदि'
क्षुधोपद्रुत व्याघ्र च स्पृशति ॥१३२२॥

सो कठोन्ल्लगिदमिलो दहमत्थाहं अदीदि अण्णाणी ।

जो दिक्खिदो वि इन्द्रियकमायवनिगो हवे साधु ॥१३२३॥

'सो कठोन्ल्लगिदमिलो' स कृष्ठावलम्बितमिल । 'दहमत्थाहं' नृदमगाथ । 'अदीदि' प्रविव्रति ।
'अण्णाणी' अन्न । 'जो दिक्खिदो वि य' यो दीक्षितोऽपि 'इन्द्रियकमायवनिगो' इन्द्रियकपायवशवर्तो मादृस्याद-
भेदव्यवहार ॥१३२३॥

धारण करके इस प्रकारके गृहवाम सम्बन्धी दोषोमे मुक्त होकर भी पुन उन्ही दोषोको स्वीकार करता है ॥१३१९॥

गा०—जो दीक्षित होकर इन्द्रिय और कपायोके बन्धनमे पटना है वह अज्ञानी बन्धनमे मुक्त होकर पुन बन्धनको प्राप्त होता है ॥१३२०॥

गा०—जो दीक्षित होकर भी इन्द्रिय कपायमयो कलिको स्वीकार करता है वह मनुष्य कलिकालमे मुक्त होकर भी पुन उसी कलिको खोजता है ॥१३२१॥

गा०—जो साधु दीक्षित होकर भी इन्द्रिय और कपायोके बन्धनमे पडता है वह हाथमे न्यून जलते हुए अलातको छोडवा नहीं चाहता, वह काले माँपको लाँघता है और भूमे व्याघ्र-का स्पर्श करता है ॥१३२२॥

गा०—जो साधु दीक्षित होकर भी इन्द्रिय और कपायोके अज्ञान होता है वह अज्ञानी अपने गलेमे पन्थर बाँधकर अज्ञान तालाबमे प्रवेश करता है ॥१३२३॥

इ दियगहोवसिद्धो उवसिद्धो ण दु गहेण उवसिद्धो ।

कुणदि गहो एयभवे दोम इदरो भवसदेसु ॥१३२४॥

‘इ दियगहोवसिद्धो’ इन्द्रियग्रहगृहीत । ‘उवसिद्धो’ गृहीत । ‘ण दु गहेण उवसिद्धो’ नैव ग्रहेणोप-
सृष्ट । कुत ? यस्मान् । ‘कुणदि गहो एयभवे दोस’ एकस्मिन्नेव भवे ग्रहो बुद्धिब्रामोहलक्षण दोष करोति ।
‘इदरो भवसदेसु’ इन्द्रियकपायग्रहो भवन्तेषु दोष करोति ॥१३२४॥

होदि कमाउम्मत्तो उम्मत्तो तथ ण पित्तउम्मत्तो ।

ण कुणदि पित्तुम्मत्तो पाव इदरो जघुम्मत्तो ॥१३२५॥

‘होदि कमाउम्मत्तो’ अर्थव पदघटना । ‘उम्मत्तो होदि’ उम्मत्तो भवति यथा । क ? ‘कमाउम्मत्तो’
कपायोन्मत्त । यथा ‘उम्मत्तो ण होदित्ति’ पदघटना तथा उम्मत्तो न भवति । क ? ‘पित्तउम्मत्तो’ पित्तो-
न्मत्त । एतेन पित्तदृतादुन्मादात् कपायदृत्तम्योन्मादस्य जघन्यता क्ख्याता । कथ ? ‘न कुणदि पित्तुम्मत्तो’
पाप न करोति पित्तोन्मत्त । ‘पाव इदरो जघुम्मत्तो’ कपायोन्मत्तो यथा पाप करोति, तथाभूत न करोति ।
यत् एकैकोऽपि क्रोधादि हिंसादिषु प्रवर्तयति । कर्मणा स्थितिवन्ध दोषोऽकरोति । विवेकज्ञानमेव तिरस्करोति
पित्तोन्माद । ततोऽनयोर्महदन्तर इति भाव ॥१३२५॥

इ दियकसायमइओ णर पिसाय करति हु पिसाया ।

पावकरणवेल्ब पेच्छणयकरं सुयणमज्जे ॥१३२६॥

‘इ दियकसायमइओ’ इन्द्रियकपायमय पिशाच । ‘णर पिसाय करेदि’ नर पिशाच करोति । कीदृ-
ग्भूत पिशाच करोति ? ‘सुयणमज्जे पेच्छणयकरं’ सुजनमध्ये प्रेषणिकवारण । ‘पावकरणवेल्ब’ हिंसादिषुप-
क्रियाविलम्बना प्रेषणीयत्वेन सपादयन्त पिशाच करोतीति यावन् ॥१३२६॥

कुलजसम जसमिच्छत्तगस्स णिघणं वर खु पुरिसस्स ।

ण य दिक्खिदेण इ दियकसायवसिएण जेदुंजे ॥१३२७॥

गा०—जो इन्द्रियरूपी ग्रहसे पकड़ा हुआ है वही ग्रह पीड़ित है । जो ग्रहमे पकड़ा हुआ है वह ग्रहपीड़ित नहीं है । क्योंकि ग्रह तो एक ही भवमे कष्ट देता है किन्तु इन्द्रियरूपी ग्रह संकड़ो भवोमे कष्ट देता है ॥१३२४॥

गा०—टी०—जो कपायसे उन्मत्त (पागल) है वही उन्मत्त है । जो पित्तसे उन्मत्त है वह उन्मत्त नहीं है । इसे पित्तके द्वारा हुए उन्मादमे कपायके द्वारा हुए उन्मादको निवृष्ट बतनाया है । क्योंकि कपायसे उन्मत्त पुरुष जैसा पाप करता है पित्तसे उन्मत्त वैसा पाप नहीं करता । एक-एक भी क्रोधादि कपाय हिंसा आदिमे प्रवृत्त करता है । कर्मके स्थितिवन्धको बटाता है । किन्तु पित्तसे हुआ उन्माद केवल विवेकमूलक ज्ञानका ही तिरस्कार करता है । इसलिए इन दोनोंमे बहुत अन्तर है ॥१३२५॥

गा०—इन्द्रिय और कपायमय पिशाच मनुष्यको सुजनोके मध्यमे देखने योग्य पापक्रिया-
को विडम्बनाओको करनेवाला पिशाच बना देता है ॥१३२६॥

'कुलजस्त पुरिसस्त जसमिच्छस्तगस्म' कुलप्रभूतस्य पुत्र यशोऽभिलाषिण । 'निचण वर' मृति शोभना । ण तु जीविदु जे' नैव वर जीवन । 'दिकिन्देण इ दिक्कसायवसिण' दीक्षितस्वेन्द्रियकपायवशा-
वत्तिन जीवन न शोभनमित्यर्थ ॥१३२७॥

जध सण्णद्धो पग्गहिदच्चावकडो रधी पलायतो ।

णिदिज्जदि तध इ दिक्कसायवसिणो वि पव्वज्जिदो ॥१३२८॥

'यथा रधी पलायतो णिदिज्जदि' यथा रधी पलायन्निन्दते । कीदृक् ? 'सण्णद्धो पग्गहिदच्चावकडो'
सन्देह उपगृहीतचान्काण्ड । तथा 'इ दिक्कसायवसिणो वि पव्वज्जिदो' तथा इन्द्रियकपायवशावत्यपि प्रव्रजितो
निन्दते ॥१३२८॥

जध भिक्खु हिदतो मज्झादि अलंकिदो गहिदसत्थो ।

णिदिज्जइ तध इ दिक्कसायवसिणो वि पव्वज्जिदो ॥१३२९॥

'जध भिक्खु हिदतो' मुकुटादिभिर्गृहृतो गृहीतस्मात्तो भिक्षा भ्रमन् निन्दते । तथा निन्दते इन्द्रिय-
कपायवशावर्तो प्रव्रजित ॥१३२९॥

इ दिक्कसायवसिणो मुण्डो णग्गो य जो मलिणग्गो ।

सो चित्तक्कम्ममणोव्व मणक्खो असमणो हु ॥१३३०॥

'इ दिक्कसायवसिणो' इन्द्रियकपायवशावृत्त, मुण्डो तन्मन्त्र मो मलिनगात्र मन् । 'सो समणह्वो
न समणो' स भ्रमणरूपो न भ्रमण 'स चित्तक्कम्ममणो व्व' स चित्तकर्मभ्रमण इव । परमार्यभ्रमणमदृशरूपो-
ऽपि यथा चित्तभ्रमणो न भ्रमणस्वरूपमभ्रमणपरिणामप्रवण ॥१३३०॥

ज्ञान नरन्त्य दोषानपहरति इन्द्रियकपायत्रयमुखेन यथा मत्त्ववत् प्रहरणमावरण च शत्रु नाशयती-

गा०—कुलीन और यदाके अभिलाषी पुरुषका मरना थोष्ट है किन्तु दीक्षित होकर इन्द्रिय
और कपायके वशमे रहकर जीना थोष्ट नहीं है ॥१३२७॥

गा०—जैसे घनुप वाण लेकर युद्धके लिए तैयार रथारोही यदि युद्धमे भागता है तो
निन्दाका पात्र होता है । उमी प्रकार दीक्षित साधु यदि इन्द्रिय और कपायके वशमे होता है
तो निन्दाका पात्र होता है ॥१३२८॥

गा०—जैसे मुकुट आदिमे सुशोभित और हायमे शम्भ लिये हुए कोई भिक्षाके लिए
धूमता है तो निन्दाका पात्र हाता है । वैसे ही दीक्षित होकर इन्द्रिय और कपायके वशमे होने-
वाला भी निन्दाका पात्र होता है ॥१३२९॥

गा०—टी०—जो मुण्डित नग्न और मलिन शरीरवाला होकर भी इन्द्रिय और कपायके
वशमे होता है वह चित्रमे अक्ति भ्रमणके समान भ्रमणरूपका धारि होनेपर भी भ्रमण नहीं
है । अर्थात् जैसे चित्रमे अक्ति भ्रमण वास्तविक भ्रमणके समान रूपवाला होनेपर भी भ्रमण
नहीं है उमी प्रकार भ्रमणका वेप धारण करने भी जिनके परिणाम अशुभ है वह भ्रमण नहीं
है ॥१३३०॥

आगे कहने हैं कि इन्द्रिय और कपायको जीतनेके द्वारा ज्ञान मनुष्यके दोषोंको दूर करता

त्युत्तरगायत्र्य इन्द्रियकपायाजये ज्ञान दोषापरिहृत्वात् अतिगमन न लभते यथा सत्त्वहीनस्यावरगसन्ना-
हाम्य प्रहरण च खड्गचक्रादिक दाम्जयत्वमतिशय नामादयति—

पाण दोसे णासिदि णरस्स इ दियकमायविजयेण ।

आउहरण पहरण जह णासेदि अरि समत्तस्म ॥१३३१॥

‘पाण’ ज्ञान ‘दोसे’ दोषान् । ‘णासिदि’ नाशयति । ‘णरस्स’ नरस्य । ‘इ दियकसायविजयेण’
‘जह’ यथा । ‘आउहरण पहरण’ आगुणो हरण प्रहरण शब्द । सह सत्त्वेन वसते इति सत्त्वस्त्वस्य । ‘अरि
रिपु । ‘णासेदि’ नाशयति ॥१३३१॥

पाणां पि कुणदि दोसे णरस्स इ दियकसायदोसेण ।

आहागे वि ह पाणो णरस्स विसमजुदो हरदि ॥१३३२॥

‘पाणां पि कुणदि दोसे णरस्स’ ज्ञान दोषानपि करोति नरस्य । ‘इ दियकसायदोसेण’ इन्द्रियकपायपरि-
णामदोषेण । उपकार्यपि अनुपकारितामुद्धृति परसमर्पण । यथा प्राणधारणनिमित्ताऽप्याहारो विद्यमिथ प्राण-
न्विनाशयति ॥१३३२॥

पाण करेदि पुरिसस्म गुणे इ दियकमायविजयेण ।

वलरूववणमाऊ करेदि जुत्तो जघाहारो ॥१३३३॥

पाण करेदि’ ज्ञान करोति । ‘पुरिसस्म गुणे’ पुरुषस्य गुणान् । कथं ? ‘इ दियकसायविजयेण’ इन्द्रिय-
कपायविजयेण । ‘वलरूववणमाऊ करेदि’ वल, रूप, तेज, आयुश्च करोति । ‘जुत्तो जघाहारो’ युक्त
शोभनो यथाहार विषेणामिश्रित ॥१३३३॥

पाणां पि गुणे णासेदि णरस्स इदियकमायदोसेण ।

अप्पवधाए मत्थ होदि हु कापुरिसइत्थगय ॥१३३४॥

है । जैसे मत्त्वमम्पर मनुष्यका शस्त्र और कवच शत्रुका नाश करता है । तथा इन्द्रिय और
कपायको न जीतनेपर ज्ञान दोषोको दूर करनेरूप अतिगमको प्राप्त नहीं करता । जैसे सत्त्वहीन
पुरुषका कवच और तलवार चक्र आदि शस्त्र शत्रुको जीतनेरूप अतिगमको नहीं प्राप्त
करता ॥१३३०॥

पा०—इन्द्रिय और कपायको जीतनेसे ज्ञान मनुष्यके दोषोको नष्ट करता है । जैसे सत्त्व-
शालीका आशुको हरनेवाला शस्त्र शत्रुको नष्ट करता है ॥१३३१॥

पा० इन्द्रिय और कपायरूप परिणामोके दोषमे ज्ञान भी मनुष्योमे दोष उत्पन्न करता
है । दूमेरेके ममर्गमे उपकारी भी अनुपकारी हो जाता है । जैसे आहार प्राण धारणमे निमित्त
है किन्तु विषमे मिला आहार प्राणोका घातक होता है ॥१३३२॥

पा०—और इन्द्रिय तथा कपायोको जीतनेमे ज्ञान पुरुषमे गुण उत्पन्न करता है । जैसे
विषसे रहित उत्तम आहार वल, रूप, तेज और आयुको बढ़ाता है ॥१३३३॥

पा०—इन्द्रिय और कपायरूप परिणामोके दोषमे ज्ञान भी पुरुषके गुणोको नष्ट करता
है । जैसे कायर पुरुषके हाथमे गया शस्त्र उमके ही बधमे निमित्त होता है ॥१३३४॥

ज्ञानमपि गुणानाशयति नरस्य इन्द्रियकपायपरिणामदोषेण । आत्मवधाय भवति शस्त्र कायुरूपहस्तगत
इति ॥१३३४॥

उत्तरणायाम् —

मग्रहस्सुदो वि अवभाणिज्जदि इदियकमाय'दोसेण ।

णरमाउधहत्थपि हु मदय गिद्धा परिभवति ॥१३३५॥

'मग्रहस्सुदोवि मुष्टुवहृश्रुतोऽप्यवमन्यते इन्द्रियकपायदोषेण । गृहीतास्त्रमपि नर मृत गृद्धा परि-
भवन्ति यथा ॥१३३५॥

इदियकमायवमगो ग्रहस्सुदो वि चरणे ण उज्जमदि ।

पक्खीव डिण्णपक्खो ण उप्पहदि इच्छमाणो वि ॥१३३६॥

'इदियकसायवमगो' इन्द्रियकपायवराग बहुश्रुतोऽपि चारित्र्ये नोद्यम करोति । यथा छिन्नपक्ष पक्षी
नोन्वतति इच्छन्नपि ॥१३३६॥

णस्मदि मग बहुगं पि णाणमिदियकसायमम्मिस्मं ।

विमभम्मिमिददुद्धं णस्मदि जध मकराकदिदि ॥१३३७॥

'णस्सदि सग बहुपपि णाण' नश्यति स्वयं बहुपि ज्ञान इन्द्रियकपायसमिध । शर्कराकवधित दुग्ध
विपमिधमिध । मायुर्यात्मातिशयता दुग्धस्य शर्कराकवधितगन्धेन कष्यते ॥१३३७॥

इदियकमायदोसमलिणं णाणं वट्टदि हिदे से ।

वट्टदि अप्पणम्म हिदे खरेण जह चदणं ऊठ ॥१३३८॥

ज्ञान यदोय तन्मै उपकारितया प्रमिद्धमपि सन्तोषकारि भवति इन्द्रियकपायमलिन, परोपकारि तु
भवति खरेणोठ चन्दनगदिक्रमिर्वेति सूत्रार्थ ॥१३३८॥

शा०—इन्द्रिय और कपायोंके दोषमें अच्छे प्रकारमें बहुतसे शस्त्रोंका जाता भी विद्वान्
अपमानका पात्र होना है । जैसे हाथमें बन्धके होते हुए भी मरे मनुष्यको गृद्ध खा जाने
हैं ॥१३३५॥

शा०—इन्द्रिय और कपायोंके वशमें हुआ बहुश्रुत भी विद्वान् चारित्र्यमें उद्योग नहीं
करता । जैसे जिमका पर कट गया है ऐना पत्रा इच्छा करने हुए भी नहीं उठ सकता ॥१३३६॥

शा०—इन्द्रिय और कपायके योगमें बहुत भी ज्ञान स्वयं नष्ट हो जाता है । जैसे शर्करके
साथ कटा हुआ दूध विपके मिलनेमें नष्ट हो जाता है अथवा अपने स्वभावको छोड़ देता है ।
यहाँ शर्करके साथ कटाया हुआ कृत्नेमें मिठानके कारण दूधको सानिधयता बतलाई है । ऐना
दूध भी विपके मेलमें हानिकर होता है ॥१३३७॥

शा०—जिमका ज्ञान होना है उसीका उपकारी होना है यह वान प्रमिद्ध है किन्तु इन्द्रिय
और कपायमें मलिन ज्ञान जिमका होता है उसका उपकार नहीं करता, दूसरोंका उपकार

ज्ञान प्रकाशकत्वमपि स्व जहाति इन्द्रियकपायपरिणामवगादिति निग्रहति—

इ दियकसायणिगहणिमीलितस्स हु पयासदि ण णाणं ।

रत्तिं चक्खुणिमीलस्स जघा दीवो सुपज्जलितो ॥१३३९॥

इन्द्रियकसायणिगहणिमीलितस्स' इन्द्रियकपाय'निग्रहे निमीलितस्यात्मनो ज्ञान न प्रकाशत् । 'रत्तिप' रानाविष । 'चक्खुणिमिलितस्स' निमीलितचक्षुष पुस । 'जह दीवो सुपज्जलितो' यथा सुप्रज्वलित प्रदीप ॥१३३-९॥

इ दियकसायमइलो वाहिरकरणणिहुदेण वेसेण ।

आवहदि को वि विसए सउणो वादसगेणेव ॥१३४०॥

इन्द्रियकसायमइलो' इन्द्रियकपायपरिणाममलिन । 'वाहिरकरणणिहुदेण वेसेण' बाह्याया गमनागम-
नादिकाया क्रियाया निमृतेन वेसेण । 'कोई विसए आवहदि' कश्चिद्विषयानावहति आत्मनो भोगाय ॥१३४०॥

घोडगालिंडसमाणस्स तस्स अब्भतरग्ग्मि कुधिदस्स ।

वाहिरकरणं किं से काहिदि वगणिहुदकरणस्स ॥१३४१॥

घोडगालिंडसमाणस्स' घोटकालिंडममानस्य यथा बहिर्ममृगता न तद्वदन्तममृगता । तद्वत्कम्पचिद्राह्य
चरण समीचीन नाम्यन्तरा परिणामा शुद्धा । स एवमुच्यते । 'वाहिरकरणं किं काहिदि' बाह्यक्रिया अन-
शानादिना किं करिष्यति । 'अब्भतरग्ग्मि कुधिदस्स' अन्त कुथितस्स । इन्द्रियकपायसजागुभपरिणामेन
नष्टाभ्यन्तरतपोवृत्तेरिति यावत् । 'वगणिहुदकरणस्स' वक्वन्निभूतक्रियस्य ॥१३४१॥

करता है । जैसे गधेपर लदा चन्दन दूसरोका उपकार करता है ॥१३३८॥

आगे कहते हैं कि इन्द्रिय कपायरूप परिणामोंके दोषसे ज्ञान अपने प्रकाशकत्व धर्मको भी छोड़ देता है—

गा०—टी०—इन्द्रिय और कपायोका निग्रह करनेमें जो अपना उपयोग नहीं लगाता
अर्थात् जो इन्द्रिय और कपायोसि प्रभावित है, उसका ज्ञान वस्तुस्वरूपका प्रकाशक नहीं होता ।
जैसे, जिमने आंखे मूँदी है उसके लिए तीव्रतासे जलना हुआ दीपक पदार्थोंका प्रकाश नहीं
करता ॥१३३९॥

गा०—जिमका परिणाम इन्द्रिय और कपायसे मलिन होता है ऐसा कोई साधु बाह्य
गमन आगमन आदि क्रियाओंके द्वारा अपने वेगको छिपाकर अपने भोगके लिये विषयोंको
ग्रहण करता है जैसे निश्चल बैठा पक्षी अपनी चोंचमें अपने निकारको ग्रहण करता है ॥१३४०॥

गा०—टी०—जंमे घोडेकी लोद ऊपरमें चिकनी और भीतरमें खुरदरी होती है वैसे ही
किसीका बाह्य आचरण तो समीचीन होना है किन्तु अभ्यन्तर परिणाम शुद्ध नहीं होते । उमें
घोडेकी लोदके समान कहा है । जिसके अभ्यन्तर परिणाम शुद्ध नहीं हैं उसकी बाह्यक्रिया अनशन
आदि क्या करेगी ? अर्थात् इन्द्रिय और कपायरूप अगुभ परिणामके द्वारा अभ्यन्तर तपोवृत्ति
जिसको नष्ट हो चुकी है वह बाह्य अनशन आदि तप करे भी तो क्या लाभ है । वह तो नदीके
तटपर निश्चल बैठे हुए बगुलेकी तरह है ॥१३४१॥

बाह्य तप करणीयतयोपदिष्ट तत्स्वफलं सम्पादयत्येव किमुच्यते बाह्यक्रिया किं करोतीत्याशङ्क्य
सूरिराचष्टे—

बाहिरकरणविसुद्धी अब्भतरकरणसोघणत्याए ।

ण हु कुडयस्स सोधी सक्का मत्तुसस्स काडु जे ॥१३४२॥

‘बाहिरकरणविसुद्धी’ बाह्यक्रियाविसुद्धि । ‘अब्भतरकरणसोघणत्याए’ अभ्यन्तरक्रियाणां विनयादीनां शक्ये, अभ्यन्तरतपसा लब्ध्वेव बहुतरकमनिर्जरारक्षणमाणां परिवृद्धये धूयन्ते बाह्याग्नयनशानादितपासि । ततोऽ-
न्वर्थतया बाह्यान्वुपदिष्टानि । यदि यदय तत्प्रधान इति प्रधानताभ्यन्तरतपस तच्च शुभशुद्धपरिणामात्मक ।
तेन विना न निर्जरार्यं बाह्यमल । उक्तं च—बाह्य तप परमदुश्चरमाचरस्त्वमाप्यारिमकस्य तपस परिवृह-
णार्यं । इति । ‘ण खु कु डयस्स सोधी सक्का काडु जे’ नैवान्तर्मलस्य शुद्धिं शक्या वक्तुं । कस्य ? ‘सत्तुसस्स’
सत्तुपत्त्य धान्यस्य ॥१३४२॥

अब्भतरसोधीए सुद्ध णियमेण बाहिर करणं ।

अब्भंतरदोसेण हु कुणदि णरो बाहिरं दोस ॥१३४३॥

‘अब्भतरसोधीए’ अभ्यन्तरशुद्ध्या । ‘सुद्ध णियमेण बाहिर करणं’ शुद्ध निश्चयेन बाह्यं करणं ।
‘अब्भतरदोसेण खु’ अन्तःपरिणामदोषैर्गव इन्द्रियकपायपरिणामादिना । ‘कुणदि णरो बाहिरं दोस’ करोति
नरो बाह्यान्दोषान्वाक्कायाद्ययान् ॥१३४३॥

लिंगं च होदि अब्भतरस्स सोधीए बाहिरा सोधी ।

भिउडोकरण लिंगं जह अतोजादकोधस्स ॥१३४४॥

‘लिंगं च होदि’ चिह्नं च भवति । ‘अब्भतरस्स परिणामसोधीए’ अभ्यन्तरस्य परिणामस्य शुद्धे ।
‘बाहिरा सोधी’ बाह्यां शुद्धिरथानादितपोविषया । ‘भिउडोकरण लिंगं’ भृकुटीकरणं लिङ्गं । ‘जह’ यथा ।

यहाँ कोई शङ्का करता है कि ऊपर बाह्यतप करनेका उपदेश किया है वह अपना फल
अवश्य देता है । तब आप कैसे कहते हैं कि बाह्यक्रिया क्या करेगी ? इसका उत्तर आचार्य
देते हैं—

गा०-टी०—अभ्यन्तर क्रिया विनय आदिकी शुद्धिके लिये बाह्यक्रियाकी विसुद्धि कही
है । शीघ्र ही वृहत्तमे कर्मोंकी निर्जरामे समर्थ अभ्यन्तर तपोंकी वृद्धिके लिए बाह्य अनशन आदि
तप सुने जाते हैं । इसीलिए उनका बाह्य नाम सार्थक है । जो जिसके लिये होता है वह प्रधान
होता है । इसलिए अभ्यन्तर तपकी प्रधानता है । वह अभ्यन्तर तप शुभ और शुद्ध परिणामरूप
होता है । उसके विना बाह्यतप निर्जरामे समर्थ नहीं होता । कहा भी है—‘भगवन् ! आपने
आध्यात्मिक तपकी वृद्धिके लिए अत्यन्त कठोर बाह्यतप किया ।’ ठीक ही है, क्योंकि छिलकेके
रहते हुए धान्यकी अन्त शुद्धि सम्भव नहीं है ॥१३४२॥

गा०—नियमसे अभ्यन्तर शुद्धिके होनेमें ही बाह्यशुद्धि होती है । इन्द्रियकपाय परिणाम
आदि अन्तरंग परिणाम दोषमें ही मनुष्य वचन और कायसम्बन्धी बाह्य दोषोंको करता
है ॥१३४३॥

गा०-टी०—अनशन आदि तत्रविषयक बाह्यशुद्धि अभ्यन्तर परिणामोंकी विसुद्धिका

'अतोनादिकोधस्त' अन्तर्गतस्य कोपस्य लिङ्ग लिङ्गभाव । बाह्यानामभ्यन्तराणा चैव भवति यदि परस्पर-
विनाभाविता स्यादन्निधूमयोरिव । प्रसिद्धश्च लिङ्गलिङ्गिभाव कार्येण बाह्येन कारणम्याभ्यन्तरस्येति
भावार्थ ॥१३४४॥

ते चैव इदियाणं दोसा सञ्चे हवति णाटच्चा ।

कामस्म य भोगाण य जे दोसा पुञ्चणिदिट्ठा ॥१३४५॥

'ते चैव इदियाण दोसा' त एवेन्द्रियाणा सर्वेषा दोषा भवन्ति इति ज्ञातव्या । के ? 'ये दोसा पुञ्च
णिदिट्ठा' ये दोषा पूर्वनिदिष्टा । कामस्म य भोगाण म' कामस्य भोगाना च नवन्धितया निदिष्टा
दोषा ॥१३४५॥

मधुलिच असिधार तिक्ख लेहिज्ज जघ णरो कोई ।

तघ विसयसुह सेवदि दुहावह इहहि परलोगे ॥१३४६॥

'मधुलिच' मधुना लिप्ता । 'असिधार' अनेधारा । तिक्ख' तीक्ष्णा । 'जह णरो कोई लेहिज्ज' यथा
नर करिचदान्वादयति जिह्वया । 'तह विसयसुह सेवदि' तथा विषयसुख भवति । 'दुहावह इह म परलोए'
दुःखग्रहमत्र जन्मनि परत्र च, स्वल्पमुखनया बहुदुःखतया च साम्य दृष्टान्तदार्ष्टान्तियो ॥१३४६॥

एकैरेन्द्रियविषयवशयतिभिर्मुग्धादिभिरुपद्रवां ह्याप्त, कि पुनरनेपेन्द्रियविषयलम्पटंजने प्राप्येज्ये
वाच्यमिति मत्वाघटे—

सदेण मओ रूवेण पद्दगो वणमओ वि फरिसेण ।

मच्छो रसेण भमरो गधेण य पाविदो दोस ॥१३४७॥

चित्त है । जैसे क्रोध उत्पन्न होनेका चित्त मनुकी चटाना होता है । इस प्रकार बाह्य और
अभ्यन्तरकी अग्नि और धूमकी तरह परस्परमें अविनाभाविता है । अर्थात् जैसे आगके होनेपर
ही धूम होता है अत जहाँ धूम होता है वहाँ आग अवश्य होती है । इसीसे अविनाभाविता
कहते हैं । धूम लिंग है आग लिंगी है । इसी प्रकार बाह्य कार्यके साथ अभ्यन्तर कारणका लिंग-
लिंगी भाव सम्बन्ध जानना ॥१३४४॥

गा०—जो दोष पहले काम और भोगके सम्बन्धमें कहे हैं वे ही सब दोष इन्द्रियोंके
सम्बन्धमें जानना ॥१३४५॥

गा०—टी०—जैसे कोई मनुष्य जिह्वाके द्वारा मनुसे लिप्त तलवारको तीक्ष्ण धारको
चाटता है वैसे ही मनुष्य विषय सुखका सेवन करता है जो इस जन्ममें और परजन्ममें दुःखदाया
है । जैसे मधुलिप्त तलवारकी धारको जिह्वासे चाटनेमें प्रारम्भमें मधुके कारण थोड़ा सुख
होता है किन्तु जोष कट जानेपर बहुत दुःख होता है उसी प्रकार विषय भोगमें भी सुख अल्प है
दुःख बहुत है ॥१३४६॥

आगे कहते हैं कि एक एक इन्द्रियके विषयमें आसक्त हिरन आदि कष्ट भोगते हैं तब समस्त
इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त जनोंके द्वारा प्राप्य अनर्थका क्या कहना है—

‘सद्देण मओ’ शब्देन मृग वाष्पच्छेदितसरसमुत्थितगन्धपानेन, मृदुपवनानीनशैत्यस्फटिकमकाशपानीय-
पानेन च पृथग्भूतिरन्त करणमिव लघुनरप्रयाणो हरिणो व्याघ्रकलगीतश्रवणेन सुवासूक्ष्णितलोच्चत दुष्टयमदन्द्वा-
समाननिश्चितविशिखावलीभिन्नतनुर्जहाति प्रियतमाम्प्राणान् । ‘स्वेण पदगो च’ एककलिकाकारप्रदीपस्वपेण जनि-
तानुराग पतगो दीपांचिपि भस्ममाद्भावमुपयाति । ‘वगगजो वि फरितेण’ वनगजश्च विलासिनोहृदयमिव
दुष्प्रवेशामु ममृतिरिव महानोपु अरण्यानोपु विपद इव दुरतिरमणोयामु मल्लकीतरुणतरुशाशाहार, रम्य-
गिरिदीविपुलन्देपु, स्वेच्छापानरम्यनिमज्जनोन्मज्जनैरुपगतप्रीति, अनुकूलानेकरिणीकदम्बवेनानुगम्यमानो
वासिनाविशालजपतम्परानोपनीतप्रीतिर्मदकलो विचेनतो रागवहल्लतिमिरपटलावणुष्ठितलोचनो महति पदं निप-
नित पर व्यसनमवगाहते । ‘मच्छो’ मत्स्य युवजनमन ‘सरोतपापिविलासिनो विलोचनविभ्रमविलम्बनोद्यत
स्वल्पाहाररसलोलुपो विपदमाश्रवणत प्रयाति । विचित्रमुरभिप्रसूनप्रकररजोऽङ्गगगो भ्रमर विपपादपकुसुम-
गन्धेनापहृतप्रियमप्राणो भवति । एवमेते दापाम्प्रापिता ॥१३४७॥

तिरश्चा दु ख प्रतिपाद्य विषयराजनिन मनुजगती दर्शयति—

‘इति पचहि पच इदा सहरसफरिसगधरूवेहिं ।

इक्को कह ण हम्मदि जो सेवदि पच पचेहिं ॥१३४८॥

गा०—टी०—वनमे हिरण मुखके वाष्पसे टटनेवाले सरस सुगन्धित तृणोके अग्रभागोको
खाकर और कोमल वायुके द्वारा शीतल किये गये स्फटिकके समान स्वच्छ जलको पीकर पुष्ट
होता है । उसकी गति मनमे भी तीव्र होनी है । वह व्याघ्रके मनोहर गीतको सुनकर मुखने
अपनी आँखें मूँद लेता है । और दुष्ट यमराजकी दाढके समान तीक्ष्ण विशाल बाणोके द्वारा
छेदा जाकर अत्यन्त प्रिय प्राणोको त्याग देता है । एक कलिकाके आकार दीपकके रूपसे अनुराग
करनेवाला पतगा दीपकको लौमे जलकर भस्म ही जाता है । वनका हाथी स्त्रीके हृदयकी तरह
जिसमे प्रवेश करना कठिन है, जो समारकी तरह महान् है और विपत्तिकी तरह जिसे लाघना
अशक्य है ऐसे महान् वनमे सल्लकीके तरुण वृक्षोकी शाखा खाता है, रमणोको पहाडी नदी ओर
वडे-वडे तालाबोमे स्वेच्छापूर्वक जल पीता है, अवगाहन करता है, डुबकी लगाता है, अनेक
अनुकूल हृथिनयोका समूह उमके पीछे चलता है, हृथिनोके विशाल जघन भागके स्पर्शनमे
अनुरक्त होकर मदमत्त हो, रागकी अधिकतारूपी अन्कारके पटलमे आंगे बन्द कर लेता है और
महान् गतमे गिरकर कष्ट भोगता है । युवा पुरुषोके मनरूपी सरोवरमे विरास करनेवाली स्त्रियो-
के लोचनके हावभावका अनुकरण करनेवाला मच्छ थोडेमे भोजनकी लोलुपभावश शोघ्र ही
विपत्तिमे पड जाता है । अनेक प्रकारके सुगन्धित फूलोके समूहको रजमे आवेष्ठित भोग विप-
वृक्षके फूलकी गन्धमे प्राण खो देता है । इस प्रकार एक एक इन्द्रियके वग होकर ये बण्ट उठाने
हैं ॥१३४७॥

तिर्यञ्चोवर विषयरागमे उत्पन्नु दु ख कहकर मनुष्य गतिमे कहते हैं—

गा०—इम प्रकार शब्द, रस, स्पर्श, गन्ध, रूप इन पांच विषयोके द्वारा पांच जीव अपने
प्राण गँवाते हैं । तब जो एक ही पुरुष पांचो इन्द्रियोके द्वारा पांचो विषयोका भोग करता है वह
प्राण बयो न गँवायेगा ॥१३४८॥

सरजूए गधमित्तो घाणिदियवसगदो विणीदाए ।

विसपुप्फगंधमग्घाय मदो गिरयं च संपत्तो ॥१३४९॥

‘सरजूए’ मरख्या नद्या । ‘गधमित्तो’ गधमित्तो नाम भूपाल । ‘मदो’ मृत । ‘विणीदाए’ विनीतापुरो-
पति । ‘घाणिदियवसगदो’ घ्राणेन्द्रियवसागत । ‘विसमपुप्फमग्घाय’ विपचूर्णवानितपुष्पमाघाय । ‘मदो’
मृत । गिरय च सपत्तो नरक च संप्राप्त तीव्रविषयरगाज्जानेन कर्मभारेण ॥१३४९॥

पाटलिपुत्ते पंचालगीदसहेण मुच्छिउदा सती ।

पासादादो पडिदा णट्ठा गधव्वदत्ता वि ॥१३५०॥

पाटलिपुत्रे पाचालस्य गीतशब्देन मूर्च्छिता सती प्रासादात्पतिता नट्या गन्धर्वदत्ता नामधेया
गणिका ॥१३५०॥

माणुसमसपसत्तो कपिल्लवदी तधेव भीमो वि ।

रज्जव्वभट्टो णट्ठो मदो य पच्छा गदो गिरय ॥१३५१॥

‘मानुसमसपसत्तो’ मानुषमानप्रभवत काम्पित्यपुराधिपो भीमो राज्यभ्रष्टो नट्यो मृत परवान्तरक-
मुपयात ॥१३५१॥

चोरो वि तह सुवेगो महिलारूवम्मि रचदिट्ठीओ ।

विट्ठो सरेण अच्छीसु मदो गिरय च संपत्तो ॥१३५२॥

‘चोरो वि तह सुवेगो’ सुवेगनामधेयचोरोऽपि युवतिरुपावृष्टदृष्टि शरविद्धेसणे मृतो नरकमुप-
गत ॥१३५२॥

फासिदिएण गोवे सत्ता गिहवदिपिया वि णासक्के ।

मारदूण सपुत्त धूयाए मारिदा पच्छा ॥१३५३॥

‘फासिदिएण’ स्पशनेन्द्रियेण हेतुना । ‘गोवे सत्ता’ आत्मीये गोपाले आसन्न । ‘गिहवदिपिया’

गा०—अयोध्यापुरीका राजा गन्धमित्र घ्राणेन्द्रियके वशमे होकर सरयू नदीमे विपैले फूल-
की गन्धको सूँघकर मरा और नरकमे गया ॥१३४९॥

विशेषार्थ—उसके बडे भाईने भयकर विपसे फूलको सुवासित करके दिया था । इसकी
कथा बृहत्कथाकोशमे ११३ नम्बर पर है ।

गा०—पाटलीपुत्र नगरमे गधर्वदत्ता नामक गणिका पचालके गीतके शब्द सुनकर मूर्च्छित
हो महलसे नीचे गिरकर मर गई ॥१३५०॥

विशेषार्थ—इसकी कथा बृहत्कथाकोशमे ११४ नम्बर पर है ।

गा०—कपिला नगरीका राजा भीम मनुष्यके मासका प्रेमी था । वह राज्यसे निकाला
जाकर मरकर नरकमे गया ॥१३५१॥

विशेषार्थ—बृहत्कथाकोशमे ११५ नम्बर पर इसकी कथा है ।

राष्ट्रकूटमार्या । 'शासकके' नास्तिक्ये नगरे । 'मारेदूण सपुत्र' स्वपुत्र हत्वा । 'भूदाए' दुहिना । 'पच्छा' पश्चान् । 'मरिदा' मृति नीता ॥१३५३॥ इदिया ।

एवमिन्द्रियदोषानुपदर्श्य दोषदायप्रकटनार्थं प्रक्रम्यते—

रोसाड्डो णीलो हृदप्पभो अरदिअग्गिससत्तो ।

सीदे वि णिवाइज्जदि वेवदि य गहोवसिद्धो व ॥१३५४॥

'रोसाड्डो' रोषाविष्ट । नोलवर्णो भवति 'हृदप्पभो' विनष्टदीप्ति । 'अरदिअग्गिससत्तो' अरत्य-
ग्निसत्तत् । 'सीदे वि णिवाइज्जदि' मोक्षेऽपि तृपितो भवति । 'वेवदि' वेपते च । 'गहोवसिद्धोव' ग्रहेणोपसृष्ट
इव ॥१३५४॥

भिउड्डीतिवलियवयणो उग्गादणिच्चलसुरत्तलुक्खखो ।

कोवेण रक्खसो वा णराण भीमो णरो भवदि ॥१३५५॥

'भिउड्डीतिवलियवयणो' भृकुटीविलितवदनो । 'उग्गादणिच्चलसुरत्तलुक्खखो' उद्गननिश्चलसुरक-
रक्षेक्षण । 'रोसेण' रोषेण हेतुना । 'रक्खसो' राक्षस इव । 'णराण भीमो णरो' होवि' नराणा भीमो भयावहो
भवति नर ॥१३५५॥

जह कोइ तत्तलोह गहाय रुद्धो पर ह्णामिति ।

पुव्वदं सो ड्ज्जदि ड्हिज्ज व ण वा परो पुग्गिमो ॥१३५६॥

'जह कोइ' यथा कश्चिन् 'तत्तलोह गहाय' तप्तलोह गृहीत्वा । 'किमर्थं ?' 'रुद्धो पर ह्णामिति'

गा०—सुवेग नामक चोर युवती स्त्रियोके रूपको देखनेका अनुरागो था । उसकी आँखमें
वाण लगा और वह मरकर नरक गया ॥१३५२॥

विशेषार्थ—वृ० क० को० में इसकी कथा ११६ वी है । उसमें सुवेगकी म्लेच्छराज
कहा है ॥१३५२॥

गा०—नामिक नगरमें गृहपति सागरदत्तकी भार्या नागदत्ता स्पर्शन इन्द्रियके कारण अपने
गवाले पर आमक थी । उसने अपने पुत्रको मारा तो उसकी लडकीने अपनी माको मार
दिया ॥१५१३॥

विशेषार्थ—इसकी कथा उसी कथाकोशमें ११७ नम्बर पर है ॥१३५३॥

इस प्रकार इन्द्रियके दोष बतलाकर क्रोधके दोष बतलाते हैं—

गा०—टी०—जो क्रोधसे ग्रस्त होना है उसका रग नीला पड जाता है, कान्ति नष्ट हो
जाती है, अरतिरूपी आगमें मत्त होना है । ठडमें भी उसे व्यास सनाती है और पिनाचसे गृहीत
की तरह क्रोधसे कांपता है ॥१३५४॥ भृकुटी चटनेमें मस्तक पर तीन रेखाएँ पड जाती है, लाल
लाल निश्चल आँखें बाहर निकल आती हैं । इन तरह क्रोधसे मनुष्य दूरमें मनुष्योके लिए राक्षम-
की तरह भयानक हो जाता है ॥१३५५॥

गा०—जैसे कोई पुस्य रष्ट होकर दूसरेका घात करनेके लिए तपा लोहा उठाता है ।
ऐसा करनेसे दूसरा उससे जले या न जले, पहले वह स्वयं जलना है ॥१३५६॥

रष्ट पर ह्यभीति । 'पुष्पवर सो इज्जदि' पूर्वतर स एव दहते तेन तप्तेन लोहेन गृहीतेन । 'द्विज्जग्ग परो ण वा पुरिसो' दहते पर पुरपो न वा दहते ॥१३५६॥

तथ रोसेण सय पुव्वमेव डज्झदि हु कलकलेणेव ।

अणस्स पुणो दुवस करिज्ज रुट्ठो ण य करिज्ज ॥१३५७॥

'तथ रोसेण' तथा रोपेण स्वय पूर्वं दहते द्रवीकृतलोहसस्थानीयेन । अन्यस्य पुनर्दु स कुर्यान्न वा रष्ट ॥१३५७॥

णासेदूण कसाय अग्गी णसदि सय जधा पच्छा ।

णासेदूण तथ णर णिरासवो णससदे कोधो ॥१३५८॥

कोधो सत्तुगुणकरो णीयाण अप्पणो य मण्णुकरो ।

परिभवकरो सवासे रोसो णासेदि णरभवस ॥१३५९॥

'रोसो सत्तुगुणकरो' राप शत्रुयो गुणो धर्मोऽपकारिव नाम त करोति । अथवा शत्रूणा गुणमुपकार करोति राप । यतोऽयं हि रापदहनेन दह्यमान त दृष्ट्वा ते तुष्यन्ति । कथमस्य रोपमुत्पादयाम इत्येवमादास्तास्ते सदापीति । 'णीयाण अप्पणो वा' बान्धवाना आत्मनश्च नाक करोति । 'परिभवकरो सवासे' स्वनिवासस्थाने परिभवमानयति । 'रोसो णासेदि णरभवस' रोपो नरमवश नाशयति ॥१३५९॥

ण गुणे पेच्छदि अववटदि गुणे जंपदि अजपिदव्वं च ।

रोसेण रुद्धिदओ णारगसीलो णरो हौदि ॥१३६०॥

'ण गुणे पेच्छदि' गुण न पश्यति, यस्मै कुप्यति । 'अववटदि' निन्दति । 'गुणे' गुणानपि तदीयान् । 'जंपदि अजपिदव्वं च' बदत्यवाच्यमपि । 'रोसेण रुद्धिदओ' रोपेण गेद्वचित्तः । 'णारगसीलो णरो हवदि' नारकसीलो भवति नर ॥१३६०॥

गा०—उमी प्रकार पिघले हुए लोहेकी तरह क्रोधसे पहले वह स्वयं जलता है । दूसरेको वह दुःखी करे या न करे ॥१३५७॥

गा०—जैसे आग ई धनको नष्ट करके पीछे स्वयं बुझ जाती है उमी प्रकार क्रोध पहले क्रोधो मनुष्यको नष्ट करके पीछे निराकार होनेसे स्वयं नष्टही जाता है ॥१३५८॥

गा०—टी०—क्रोध शत्रुका जो धर्म है अपकार करना, उसे करता है अथवा क्रोध शत्रुका उपकार करता है क्योंकि उसे क्रोधकी आगमें जलते हुए देखकर शत्रु प्रमत्त होते हैं । वे सदा इस प्रयत्नमें रहते हैं कि कैसे इसमें क्रोध उत्पन्न करे । क्रोध अपने और बन्धु बान्धवोंको शोकमें डालता है । अपने ही धर्म अपना तिरस्कान करता है । परवश मनुष्यका नाश करता है ॥१३५९॥

गा०—क्रोधो जिमपर क्रोध करता है उसके गुणोंको नहीं देखता । उसके गुणोंकी भी निन्दा करता है । जो कहने योग्य नहीं है वह भी कहता है इस प्रकार क्रोधसे रौद्र हृदय मनुष्यका स्वभाव नारकी जंसा होता है ॥१३६०॥

जघ करिसयस्स धण्ण वरिसेण ममज्जिद सल पत्त ।

डहदि फुलिङ्गो दित्तो तध कोहग्गी ममणमार ॥१३६१॥

‘जह करितगस्स’ यथा वर्षकस्य धान्य वर्षेण समाजित खलप्राप्तं दहति विस्फुल्लिङ्गो दीप्तस्तथा
क्राधाग्निर्दहति श्रमणस्य मार पुण्यपण्य ॥१३६१॥

जघ उग्गविसो उरगो दब्भतणङ्कुग्गहदो पकुप्पतो ।

अचिरेण होदि अविमो तध होदि जदी वि णिस्सारो ॥१३६२॥

‘जह उग्गविसो उरगो’ यथोपविप उरगो । दम्भतुणाङ्कुरहते तत्प्रहृष्टरोपवशमुपनयन् स्पष्ट तृणादिक
भक्षयित्वा झटिति निविपो भवति । तथा यतिरपि निस्सारो भवत्यचिरेण रत्नत्रयविनाशाद् ॥१३६२॥

पुरिमो मक्कडसरिमो होदि सरुवो वि रोमहदरुवो ।

होदि य रोमणिमित्त जम्मसहस्सेसु य दुग्घो ॥१३६३॥

‘पुरिमो मक्कडसरिमो’ पुरुषो मकटमृगो भवति मुरुषोऽपि सन् गोपाश्रहतस्य । इह जन्मनि
दीपानुपदर्शय पाश्रभनिकमाचष्टे—‘होदि’ भवति । जन्मसहस्रेषु कुस्य एकभवकृतोत्तरोपान् ॥१३६३॥

मुट्ठु वि पिओ मुहुत्तेण होदि वेसो जणस्म कोधेण ।

पघिदो वि जसो णस्सटि कुद्धस्म अक्कज्जकरणेण ॥१३६४॥

‘मुट्ठुवि’ नितरामपि । जनस्य प्रियो मुहूर्तमात्रेणैव द्वेष्या भवति रापेण प्रथितमपि यस्य नश्यति ।
कस्य ? ‘कुद्धस्य अक्कज्जकरणेण’ कुद्धस्य अकार्यकरणेण ॥१३६४॥

णीयल्लगो वि रुद्धो कुणटि अणीयल्ल एव मत्त वा ।

मारेदि तेहिं मारिज्जदि वा मारेदि अप्पाण ॥१३६५॥

गा०—जंसे चिनगारी एक वर्षके श्रममे प्राप्त खलिहानमे थाये किमानके धान्यको जला
देती है उसी प्रकार क्रोधरूपी आग श्रमणके जीवन भरमे उपार्जित पुण्य धनको जला देती
है ॥१३६१॥

गा०—जंमे उग्र विपवाले सर्पको घासके एक तिनकेमे मारने पर वह अत्यन्त रोपमे आकर
उस तिनके पर अपना विष वमन करके तत्काल विष रहित हो जाता है उसी प्रकार यति भी
क्रोध करके अपने रत्नत्रयका विनाश करता है और शीघ्र ही निस्मार हो जाता है ॥१३६२॥

गा०—गुन्दर सुस्य पुस्य भी क्रोधमे रूपके नष्ट हो जाने पर बन्दरके समान खाठ मुख-
वाला विरूप हो जाता है । इस जन्ममे क्रोधके दोष दिख आकर परलोकमे दिखलाने हैं एक भवमे
क्रोध करनेसे हजारो जन्मोमे कुरूप होना है ॥१३६३॥

गा०—क्रोध करनेमे अत्यन्त प्रिय व्यक्ति भी मुहूर्त-मात्रमे ही द्वेषका मात्र होता है ।
तथा क्रोधी मनुष्यके अनुचित काम करनेसे उमका फला हुआ यश भी नष्ट हो जाता है ॥१३६४॥

'गोयल्लगो वि 'बद्धो' बन्दुरपि बन्दुन्करोति शत्रुवत् । हन्ति बान्धवान् । मायंते वा स्वय तैरात्मान
वा हन्मात् ॥१३६५॥

पुञ्जो वि परो अवमाणिज्जदि कोवेण तक्खणे चैव ।

जगविस्सुद वि णस्सदि माहृप्पं कोहवसियस्स ॥१३६६॥

'पुञ्जो वि' पूज्योऽपि परो अवमन्यते रोपेण । तरक्षण एव जगति विधुतमपि माहात्म्य नश्यति
रोपेण ॥१३६६॥

हिंस अलिय चोञ्ज आचरदि जणस्स रोसदोसेण ।

तो ते सव्वे हिंसालिया दि दोसा भवे तस्स ॥१३६७॥

'हिंस अलिय चोञ्ज' हिंसामसत्य चोर्म वाचरति जनस्य रोपदोषेण । तस्मात्तस्य हिंसादिप्रभवा दोषा
भवे भविष्यन्ति ॥१३६७॥

वारवदीप असेसा दड्ढा दीवायणेण रोसेण ।

वद्ध च तेण पाव दुग्गदिभयवघणं घोर ॥१३६८॥

'वारवती' द्वारवती । निरसोपा दग्गा रष्टेन द्वीपायनेन । घोर च पाप वद्ध दुर्गतिभयप्रवृत्तिनिमित्त ।
'कोपति गव' ॥१३६८॥

मानदोषप्रवृत्तनाथं प्रबन्ध उत्तर —

कुलरूवाणावलसुदलाभस्सरयत्त्वमदितवादीहि ।

अप्पाणमुष्णमतो नीचागोदं कुणदि कम्मं ॥१३६९॥

'कुलरूवाणा' कुलेन रूपेण आज्ञया, बलेन, श्रुतेन, सामेन, ऐश्वर्येण मर्यादा तपसाऽन्यैश्च आत्मानमुत्क-
र्यन्तीर्चर्गां कर्म बध्नाति ॥१३६९॥

गा०—क्रोधी मनुष्य अपने निकट सम्बन्धियोको भी असम्बन्धी अथवा शत्रु बना लेता है ।
उनको मारता है या उनके द्वारा मारा जाता है अथवा स्वय मर जाता है ॥१३६५॥

गा०—पूजनीय मनुष्य भी क्रोध करनेसे तत्काल अपमानित होता है । क्रोधीका जगत्में
प्रसिद्ध भी माहात्म्य नष्ट हो जाता है ॥१३६६॥

गा०—क्रोधके कारण मनुष्य लोगोकी हिंसा करता है, उनके सम्बन्धमें झूठ बोलता है,
चोरी करता है । अत उसमें हिंसा झूठ आदि सब दोष होते हैं ॥१३६७॥

गा०—दीपायन मुनिने क्रोधसे समस्त द्वारका नगरी भस्म कर दी । और दुर्गतिमें ले
जाने वाले घोर पापका बन्ध किया ॥१३६८॥

क्रोध का कथन समाप्त हुआ ।

आगे मानके दोष कहते हैं—

गा०—मुल, रूप, आज्ञा, बल, श्रुत, लाभ, ऐश्वर्य, तप तथा अन्य बातोंमें अपनेको बड़ा

१. विबुद्धो आ० । २ लियचोञ्ज समुन्भवा दोसा—मु० ।

ददृष्ट्वा अप्पणादो हीणे मुक्खाउ विति माणकलिं ।

ददृष्ट्वा अप्पणादो अधिए माणं णयति बुधा ॥१३७०॥

‘ददृष्ट्वा अप्पणादो’ आत्मनो हीणान् दृष्ट्वा मूर्खा मानकलिं उद्ब्रहन्ति । बुधा पुनरात्मनोऽधिकान्बुद्धपा-
वलोक्य मान निरस्यन्ति ॥१३७०॥

माणी विस्सो सब्बस्स होदि कलहमयवेरदुक्खाणि ।

पावदि माणी णियदं इहपरलोए य अवमाणं ॥१३७१॥

‘माणी विस्सो सब्बस्स’ मानी सर्वस्य द्वेष्यो भवति । कलह, मय, वैर, जन्मान्तरानुग दुःख च
प्राप्नोति । नियोगत इह परत्र चावमान ॥१३७१॥

सब्बे वि कोहदोसा माणकसायस्स होदि णादब्बा ।

माणेण चैव मेघुणहिंमालियचोञ्जमाचरदि ॥१३७२॥

‘सब्बे वि कोहदोसा’ क्रोधस्य वणिता दोषा । ‘न गुणे पिच्छदि’ इत्येवमादिमूत्रेण ते सर्वे मानकपाय-
स्यापि ज्ञातव्याः । मानेन मयुने चोपे हितायामसत्याभिधाने च प्रयतते ॥१३७२॥

सयणस्स जणस्स पिओ णरो अमाणी सदा हवदि लोए ।

णाणं जसं च अत्यं लभदि सकज्जं च साहेदि ॥१३७३॥

‘सयणस्स’ मानरहित स्वजनस्य परजनस्य च सदा प्रियो जनो भवति । ‘लोए’ लोके । ‘णाण’ ज्ञान ।
‘जसं’ यशः, ‘अत्यं’ द्रविण लभते स्व कार्यमन्यदपि साधयति ॥१३७३॥

ण य परिहायदि कोई अत्ये मउगत्तणे पउत्तम्मि ।

इह य परत्त य लभदि विणएण दु सब्बकल्लाण ॥१३७४॥

‘ण य परिहायदि’ मादवे प्रयुक्ते नैव कश्चिदयो हीयते येनायमर्थहानिमयात् मान कुर्यात् । मादवे तु
प्रयुक्ते इह जन्मान्तरे च लभ्यते विनयेनैव सर्वकल्याण ॥१३७४॥

मानने वाला, उनका अहंकार करनेवाला नीच गोत्र नामक कर्मका बन्ध करता है ॥१३६९॥

गा०—अपनेमें हीन व्यक्तियोंको देखकर मूर्ख लोग मान करते हैं । किन्तु विद्वान् अपनेमें
बड़ोको देखकर मान दूर करते हैं ॥१३७०॥

गा०—मानसे सब द्वेष करते हैं । वह कलह, मय, वैर और दुःखका पात्र होता है तथा
इस लोक और परलोकमें नियमसे अपमानका पात्र होता है ॥१३७१॥

गा०—पहले जो क्रोधके दोष कहे हैं वे सब दोष मानकपायके भी जानना । मानसे मनुष्य
हिंसा, अमत्य बोलना, चोरी और मयुनमें प्रवृत्ति करता है ॥१३७२॥

गा०—मान रहित व्यक्ति जगत्में स्वजन और परजन सदा सबका प्रिय होता है । धह
ज्ञान, यश और धन प्राप्त करता है तथा अन्य भी अपने कार्यको सिद्ध करता है ॥१३७३॥

गा०—मादवं मुक्त व्यवहार करने पर कोई धनहानि नहीं होती जिनमें धनहानिके भय-
में मनुष्य मान करे । विनयने इस जन्ममें और जन्मान्तरमें सर्व कल्याण प्राप्त होते हैं ॥१३७४॥

सद्विं साहस्मीओ पुत्रा सगरम्स रायमोहम्स ।

अदिवलवेगा मंता णट्टा माणस्म दोसेण ॥१३७५॥

'सद्विं साहस्मीओ' मगरम्स राजमिहम्स चक्रिण पण्डितमहत्वनरना पुत्रा महादना विनय्य मान-
दोपेण ॥१३७५॥ मापन्निगद ।

मायादोपनिष्पणायोत्तराया—

जघ कोडिममिदो वि समल्लो ण लभदि सरीरणिन्वाणं ।

मायामल्लेण तथा ण णिवुट्ठिं तवसमिदो वि ॥१३७६॥

'जघ कोडिममिदो वि' यथा वाटिनमूद्धोऽपि शरीरानुप्रविष्टान्यो न शरीरानुच लभते । तथा माया-
शल्पेन न निर्वाति लभते तप समुद्धोऽपि ॥१३७६॥

होदि य वेस्सो अप्पच्चइदो तघ अवमदो य सुजणम्म ।

होदि अचिरेण मत्तू णीयाणवि णियडिदोसेण ॥१३७८॥

'होदि य वेस्सो' होष्यो भवत्यप्रत्ययित तथा सुजनस्यावमत । वाग्धवानामपि शत्रुचिरेण भवति
मायादोपेण ॥१३७८॥

पावड दोसं मायाए महल्लं लहु सगावराधेवि ।

मच्चाण महस्साणि वि माया एक्का वि णासेदि ॥१३७८॥

'पावदि दोसं' प्राप्नोति दोष महान्त बल्यपराधोऽपि मायया । एकापि माया मत्सहसाणि नाश-
यति । महादोपप्रापण सत्यमहस्रविनाशन च मायादोषो ॥१३७८॥

मायाए मित्तभेदे कटम्मि इधलोगिगच्छपरिहाणी ।

पांमदि मायादोसा विसजुदुदुव मामणं ॥१३७९॥

गा०—सगर चक्रवर्तीके साठ हजार पुत्र महाबलशाली हाते हुए भी मान दोषके कारण
मृत्युको प्राप्त हुए ॥१३७५॥

'मानके दोषोका वर्णन पूर्ण हुआ ।

'आगे मायाके दोष कहते हैं—

गा०—जैसे एक कोटी धनका स्वामी होने पर भी यदि शरीरमें बीलकाँटा घुसा हो तो
शारीरिक सुख नहीं मिलता । उसी प्रकार तपमें समृद्ध होने पर भी यदि अन्तरमें मायारूपी
दुःख घुसा है तो मोक्ष लाभ नहीं हो सकता ॥१३७६॥

गा०—माया दोषमें मनुष्य मवने द्वेषका पात्र होता है उसका कोई विश्वास नहीं करता ।
सुजन भी उसका जपमान करते हैं । वह शीघ्र ही अपने बन्धु-बान्धवोंका भी शत्रु बन जाता
है ॥१३७७॥

गा०—अग्नि द्वारा थोड़ा भा अपराध होने पर भी मायाचारी महान् दोषका भागी बनता
है । एक धारका भी मायाचार हजारों सन्तोंको नष्ट कर देता है इस प्रकार महादोषका भागी
होना और हजार मृत्योंका विनाश ये मायाके दोष हैं ॥१३७८॥

'मायाए' मायया । 'मित्तभेदे' मैत्र्या विनाशे कृते । 'इह लोमिगच्छपरिहाणी' ऐहलौकिककायविनाशः । 'नामदि सामण्य' नश्यति श्रामण्य । 'मायादोषा' मायास्य दोषाद्धेतोः । 'विमज्जदुद्ध व' विपयुतदुग्गमिव । मित्रकार्यविनाश श्रामण्यहानिश्च मायाजनितदोषो ॥१३७९॥

माया करेदि णीचागोद इत्थी णवुंसय तिरिय ।

मायादोसेण य भवमएसु डभिज्जदे बहुसो ॥१३८०॥

'माया करेदि णीचागोद' माया करोति नीचैर्गोन कर्म । नीचैर्वी गोत्रमभ्य जन्मान्तरे । 'इत्थी णवुंसय-तिरिय' स्त्रीवेद, नपुमकवेद नियोगति च नामकम करोति । अथवा स्त्रीन्व, नपुसकत्व, तिर्यक्त्व वा । 'मायादोसेण' 'मायासज्जितेन दोषेण' । 'भवसदेसु' जन्मगतेषु । 'डभिज्जदि' वच्यते । 'बहुसो' बहुस ॥१३८०॥

कोहो माणो लोहो य जत्थ माया वि तत्थ सण्णिहिदा ।

कोहमदलोहदोसा मव्वे मायाए ते होति ॥१३८१॥

'कोहो माणो' क्रोयमानलोभास्तत्र जीवे सन्निहिता यत्र म्यिता माया । क्रोयमानलोभजन्या दोषा सर्वेऽपि मायावतो भवन्ति ॥१३८१॥

मम्मो य मग्घगामस्स मत्तसव्वच्छराणि णिस्सेमो ।

दद्धो डभणदोमेण कुम्भकारेण रुट्ठेण ॥१३८२॥

'सस्सो' मस्य । 'भरघगामस्स' भरतनामधेयग्रामस्य । 'सत्तसव्वच्छराणि' वर्षसप्तक । 'णिस्सेसो दद्धो' निरवशेष दस्य । 'डभणदोमेण' मायादोषेण हेतुना । 'दद्धेण कुम्भकारेण' सृष्टेन कुम्भकारेण ॥१३८२॥ मायात्तिगादा ।

लोभदोषानाचष्टे—

लोभेणासाधत्तो पावइ दोमे वहुं कुणदि पाव ।

णीए अप्पाणं वा लोभेण णरो ण विगणेदि ॥१३८३॥

गा०—मायाचारमे मित्रता नष्ट हो जानी है और उसमे इस लोक सम्बन्धी कार्योंका विनाश होता है । तथा मायादोषमे विष मिश्रित दूधकी तरह मुनि धर्म नष्ट हो जाता है । इस प्रकार मित्रता और कार्यका नाश तथा मुनि धर्मकी हानि ये मायाके दोष है ॥१३७९॥

गा०—टी०—मायासे नीच गोत्र नामक कर्मका बन्ध होता है, जिससे दूसरे जन्ममे नीच कुलमे जन्म होना है । तथा स्त्रीवेद, नपुसकवेद और नियोजगति नाम कर्मका बन्ध करती है । अथवा मायासे स्त्रीपना, नपुमकपना और नियोजपना प्राप्त होना है । मायामे उत्पन्न हुए दोषमे सैकड़ो जन्मोमे बहुत बार ठाया जाता है अर्थात् किसीको एक बार ठानेमे बार-बार ठगा जाता है ॥१३८०॥

गा०—जहाँ मायाचार है वहाँ क्रोध, मान लोभ भी रहते हैं । क्रोय मान और लोभमे उत्पन्न होने वाले सब दोष मायाचारीमे होते हैं ॥१३८१॥

गा०—मायाचारके दोषमे नष्ट हुए कुम्भकारने भगत नामक गाँवका धान्य मान वर्ष तक पूर्ण रूपसे जलाया था ॥१३८२॥

'लोभेण' लोभेन हेतुना । 'आत्ताधत्तो' ममेदभविष्यतीत्याशया द्रस्त । 'पावदि दोसे' प्राप्नोति दोषान् । बहु कुणदि पाव' पाप च बहु करोत्याशवान् । 'णौए' बान्धवान् । 'अप्पाण वा' आत्मान वा । 'लोभेण' लोभेन । णरो ण विगणेदि' न विगणयति । बान्धवानपि बाधते स्वशरीररथम च नापेक्षते इति यावन् ॥१३८३॥

वस्तुन सारासारतया न कश्चित् कर्मबन्धातिशय येन केनचिद्द्रव्येण जनिता मूर्च्छा कर्मबन्धे निमित्त आत्मा शुभपरिणामनिमित्तत्वादिति मत्वा सूरिराचष्टे—

लोभो तणे वि जादो जणेदि पावमिदरत्थ किं वच्च ।

'लगिदमउडादिसगम्म वि हु ण पाव अलोहस्स ॥१३८४॥

'लोभो तणो वि जादो' लोभस्तुणेश्चि जातो । 'जणेदि पाव' जनयति पाप । 'इदरत्थ' इतरत्न सारवति वस्तुनि । 'कि वच्च' कि वाच्य । 'लगिदमगुवादिंसगस्स वि' स्वशरीरविलसन्मुकुटादिपरिग्रहस्यापि न पाप भवति । 'अलोहस्स' लोभकपापवजितम्य मुकुटादे सारद्रव्यस्याति प्रत्यासत्तिर्न बन्धावेति मन्यते ॥१३८४॥

साकेदपुरे सीमघग्ग्स्स पुत्तो मियद्धओ नाम ।

भद्दयमहिस्सनिमित्त जुवराय्या केवली जादो ॥१३८५॥

तृप्तिमापादयति द्रव्यमिति योऽशास्यानुराग स नास्ति द्रव्यत इत्यचष्टे—

विशेषार्थ—इसकी कथा वृ० क० को० में १२० नम्बर पर है उसमें गाँवका नाम भरणा दिया है ॥१३८२॥

लोभके दोष कहते हैं—

गा०—लोभसे मनुष्य 'यह वस्तु मेरी होगी' इस आशासे ग्रस्त होकर वृद्ध दोष करता है, वृद्ध पाप करता है । लोभसे अपने कुटुम्बियोंकी और अपनी भी चिन्ता नहीं करता । उन्हें भी कष्ट देता है और अपने शरीरको भी कष्ट देता है ॥१३८३॥

वस्तुके सारवान या अमार होनेसे कर्मबन्धमें कोई विदोषता नहीं होती । जिसमें किसी द्रव्यमें उत्पन्न हुआ भ्रमत्व भाव कर्मबन्धमें निमित्त होता है क्योंकि वह भ्रमत्व भाव आत्मके अनुभ परिणाममें निमित्त होता है, ऐसा मानकर आचार्य कहते हैं—

गा०—तृणमें भी हुआ लोभ पापको उत्पन्न करता है तब सारवान् वस्तुमें हुए लोभका तो कहना ही क्या है ? जो लोभकपापसे रहित है उसके शरीरपर मुकुट आदि परिग्रह होनेपर भी पाप नहीं होता । अर्थात् सारवान् द्रव्यका सम्बन्ध भी लोभके अभावमें बन्धका कारण नहीं है ॥१३८४॥

गा०—साकेत नगरीमें सीमन्तरका पुत्र मृगध्वज नामक था । वह भद्रक नामक भँसके निमित्तसे केवली हुआ ॥१३८५॥

विदोषार्थ—वृ क को में मृगध्वजकी कथा १२१ नम्बर पर है ।

'द्रव्य तृप्ति देता है' इस भावनामें मनुष्यका द्रव्यमें जो अनुराग है वह नहीं होनेसे बन्ध नहीं होता, यह कहते हैं—

तेलोककेण वि चित्तस्स णिव्वुदी णत्थि लोभघत्थम्स ।
संतुट्ठो हु अलोभो लभदि दरिदो वि णिव्वाण ॥१३८६॥

‘तेलोककेण वि’ त्रैलोक्येनापि । ‘चित्तस्स णिव्वुदो णत्थि’ चित्तस्य निवृत्तिर्नास्ति । ‘लोभघत्थम्स’ लोभप्रसृतस्य । ‘संतुट्ठो’ मन्तुष्ट लब्धेन केनचिद्वस्तुना शरीरस्थितिहेतुभूतेन । ‘अलोभो’ द्रव्यगतमूर्च्छारहित । ‘लभदि’ लभते । ‘दरिदो वि’ दरिद्रोऽपि । ‘णिव्वाण’ निर्वाण । सन्तोपापता चित्तनिवृत्तिर्न द्रव्यायत्ता, सत्यपि द्रव्ये महति असन्तुष्टस्य हृदये महति दुःखानिका ॥१३८६॥

सव्वे वि गयदोसा लोभकमायस्स हुति णादव्वा ।
लोभेण चैव मेहुणहिंमालियचोज्जमाचरदि ॥१३८७॥

‘सव्वे वि गयदोसा’ सर्वेऽपि परिग्रहस्य ये दोषा पूर्वमाख्यातास्ते सर्वेऽपि । ‘लोभकसायस्स’ लोभ-
कपायवत लोभ कपायोऽप्येति लोभकपाय इति गृहीतत्वान् । अथवा लोभसंज्ञितस्य कपायस्य दोषा इति
मन्त्रन्वनीय । ‘लोभेण चैव’ लोभेन च । मैथुन, हिंसा, अलोक, चौर्य वाचरति । ततः मगद्यक्रियाया सर्वस्या
आदिमान् लोभ ॥१३८७॥

रामम्म जामदग्गिम्म वच्छ धित्तूण कत्तविरिओ वि ।
णिघणं पत्तो मकुलो मसाहणो लोभदोसेण ॥१३८८॥

‘रामस्स’ रामस्य । ‘जामदग्गिस्स’ जामदग्न्यस्य । ‘वज्ज’ वज्र । ‘धित्तूण’ गृहीत्वा । ‘कत्तविरिओ वि’
कार्तवीर्योऽपि । ‘णिघण पत्तो’ नियम प्राप्त । ‘मकुलो’ सवन्धुवर्म । ‘मसाहणो’ सबल । ‘लोभदोसेण’ लोभ-
दोषेण ॥१३८८॥ लोभ ।

ण हि त कुणिज्ज मचू अग्गी वग्घो व कण्हसप्पो वा ।
जं कुणइ महादोस णिव्वुदिविग्घ कसायरिवू ॥१३८९॥
स्पष्टा ॥१३८९॥

गा०—टी०—जो लोभमे प्रसूत हैं उसके चित्तको तीनो लोक प्राप्त करके भी मन्तोप नहीं
होता । और जो शरीरकी स्थितिमे कारण किमो भी वस्तुको पाकर सन्तुष्ट रहता है जिते
वस्तुमे ममत्वभाव नहीं है वह दरिद्र होने हुए भी सुख प्राप्त करता है । अतः चित्तकी शान्ति
सन्तोषके अधीन है, द्रव्यके अधीन नहीं है । महान् द्रव्य होने हुए भी जो असन्तुष्ट है उसके
हृदयमे महान् दुःख रहता है ॥१३८६॥

गा०—पूर्वमे परिग्रहके जो दोष बहे हैं वे सब दोष लोभकपायवालेके अथवा लोभ नामक
कपायके जानना । लोभमे ही मनुष्य हिंसा, झूठ, चोरी और मैथुन करता है । अतः समस्त पाप-
क्रियाजोका प्रथम कारण लोभ है ॥१३८७॥

गा०—जमदग्निके पुत्र परशुरामकी गायोको ग्रहणकर लेनेके कारण राजा कार्तवीर्य
लोभदोषने ममस्स परिवार और मेनाके माय मन्थुको प्राप्त हुआ । परशुगमने ममको मार
हाला ॥१३८८॥

विशेषार्थ—वृ क को मे कार्तवीर्यकी कथा १०२ नम्बर पर है ।

उत्तरगाथा—

इदियकसायदुद्दत्तस्मा पाडेंति दोसविममेसु ।

दु खावहेसु पुरित्से पत्तडिलिणिव्वेदखलिया हु ॥१३००॥

'इदियकसायदुद्दत्तस्मा' इन्द्रियवपायदुर्दान्तास्वा । 'पाडेंति' पातयन्ति । 'दोसविममेसु' पापविषयस्थानेषु । 'दुखावहेसु' दुखावहेषु । 'पुरित्से' पुरपान् । 'पत्तडिलिणिव्वेदखलिया' प्रसिद्धिलिखितैस्खलिना ॥१३००॥

इदियकसायदुद्दत्तस्मा णिव्वेदखणिलिदा सता ।

ज्झाणकसाए भीदा ण दोसविसमेसु पाडेंति ॥१३०१॥

'इदियकसायदुद्दत्तस्मा' इन्द्रियकसायदुर्दान्तनुरज्जा वैराग्यवलीननियमिता सन्त ध्यानकशामुनीना न दोषविषयेषु पातयन्ति ॥१३०१॥

इदियकसायपण्णगदट्टा बहुवेदणुदिदा पुरिमा ।

पम्भट्टझाणमुक्खा मजमजीय पविजहति ॥१३०२॥

इन्द्रियकसायपण्णगदट्टा, बहुवेदनावष्टब्धा पुमास प्रभ्रष्टध्यानमुख्या मयमजीव परित्यजन्ति ॥१३०२॥

ज्झाणागदेंहि इदियकसायभुजगा विरागमंतेंहि ।

णियमिज्जंतंता मजमजीयं साहुस्स ण हरंति ॥१३०३॥

ध्यानागदेंरिन्द्रियवपायभुजगा वैराग्यमन्त्रनियम्यमाणा साधो मयमजीवित न हरन्ति ॥१३०३॥

सुमरणपुस्ता चित्तवेगा विसयविमलित्तरडधारा ।

मणघणुमुक्खा इ दियकडा विंधेति पुरिसमयं ॥१३०४॥

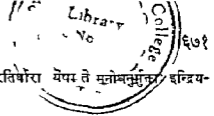
गा०—शत्रु, आग, व्याघ्र और कृष्ण सर्प भी वह बुगई नही करना जो बुगई कपायरूपी शत्रु करता है । वह कपायरूप शत्रु मोक्षमें बाधाएँ महादोषका कारण है ॥१३०४॥

गा०—इन्द्रिय वपायरूपी घोडे दुर्दमनीय हैं इनको वशमें करना बहुत कठिन है । वैराग्यरूपी लगामसे ही ये वशमें होते हैं । किन्तु उम लगामके ढोले होनेपर वे पुरषको दु खदायी पायरूपी विषम स्थानोंमें गिरा देते हैं ॥१३०५॥

गा०—किन्तु इन्द्रिय वपायरूपी दुर्दमनीय घोडे जब वैराग्यरूपी लगामसे नियमित होते हैं और ध्यानरूपी कौडेमें भयभीत रहते हैं तो विषम पापस्थानमें नहीं गिराते ॥१३०६॥

गा०—इन्द्रिय और कपायरूपी सर्पोंमें डमे हुए मनुष्य बहुत कष्टमें पीड़ित होकर, उत्तम ध्यानरूपी सुखमें भ्रष्ट हो, मयमरूपी जीवनको त्याग देते हैं ॥१३०७॥

गा०—किन्तु इन्द्रिय और वपायरूपी सर्प मयमध्यानरूपी निद्ध औषधि और वैराग्यरूपी मन्त्रोंसे वशमें होनेपर माघुके मयमरूपी जीवनको नहीं हरते ॥१३०८॥



'सुमरणपुला' स्मरणपुन्ला चिन्तावेगा' विषयविषेणालिप्ता रतिबोरा येपर ते मनोमनुमुता इन्द्रिय-
बाणा पुष्टपमृग घातयन्ति ॥१३९४॥

तान्वाणान्पुष्टपमृगहनवोद्यतान्यतप एव वारयन्तीति कथयति—

धिदिखेडएहिं इ दिवकडे ज्ञाणवरसत्तिमंजुत्ता ।

'वारति ममणजोहा सुणाणदिट्ठीहिं ददरूण ॥१३९५॥

'धिदिखेडएहिं' घृतिखेटे इन्द्रियशरान्वारयन्ति ध्यानसत्त्वसमन्विता । 'समणजोहा' श्रमणयोधा
मम्यग्नानदुत्था दृष्ट्वा ॥१३९५॥

गथाडघोचरत कसायविसकंटया पमायमुहा ।

विद्धति विमयतिक्त्वा अधिदिददोवाणह पुरिस ॥१३९६॥

'गथाडघोचरत' परिग्रहवने चरन्त कपायविपकटका प्रमादमुत्वा विष्यन्ति विषयैस्तीक्ष्णा घृतिदुदोषान-
द्रहित पुष्ट ॥१३९६॥

मयतस्य पुनरेवपरिकरस्य कपायविपकटका किञ्चिदपि न कुर्वन्ति इत्याचष्टे शूरि—

आडदधिदिददोवाणहस्म उवओगदिट्टिजुत्तस्स । १५६९६.

ण करिंति किंचि दुक्ख कमायविमकंटया मुणियो ॥१३९७॥

'आडदधिदिददोवाणहस्स' आडदघृतिदुदोषान्त्वस्य ज्ञानोपयोगसहितदृष्टेभूने स्वल्पमपि दुःख न
कुर्वन्ति कपायविपकटका ॥१३९७॥

गा०—इन्द्रियां वाणके समान पुष्टरूपी हिग्गको वीधती है । वाणमे पुख होने हैं । भोगे
हुए भोगोका स्मरण इनका पुख है । भोगोकी चिन्ता इनका वेग है । रति इनको धारणाति है जो
विषयरूपी विपसे लिप्त है । ये इन्द्रियरूप वाण मनरूपी घनुपके द्वारा छोडे जाते हैं ॥१३९४॥

आगे कहते हैं कि पुष्टरूप मृगोका घात करनेमे तत्पर उन वाणोंको समयीजन ही निवारण
करते हैं—

गा०—ध्यानरूपी श्रेष्ठ गन्तिसे युक्त श्रमण योद्धा मम्यग्नानरूप दृष्टिमे देखकर घेर्यरूप
फलकके द्वारा इन्द्रियरूप वाणोका वारण करते हैं ॥१३९५॥

गा०—परिग्रहरूपी घोर वनमे कपायरूपी विपैले कांटे फंले हैं । प्रमाद उनका मुक्त है
और विषयोकी चाहमे वे तीक्ष्ण हैं । घेर्यरूपी दृढ जूतेको धारण किये बिना जो उस वनमे विचरण
करता है, उसे वे कांटे वीध देते हैं ॥१३९६॥

आगे कहते हैं इस प्रकारके घेर्यरूपी जूता धारण करनेवाले समयीका वे कपायरूप विपैले
काटे कुछ भी नहीं करते—

गा०—जिम मुनिने घेर्यरूपी दृढ जूता धारण किया है और जो मम्यग्नानोपयोग दृष्टिसे
सम्पन्न है उसको वे कपायरूपी विपैले कांटे कुछ भी दुःख नहीं देने ॥१३९७॥

उड्डहणा अदिचवला अणिग्गहिदकसायमक्कडा पावा ।
गंधफल्लोलहिदया णासति हु सजमाराम ॥१३९८॥

‘उड्डहणा’ अमयता अतिचपला अनिगृहीता कपायमकंटा , परिग्रहपलासकहृदया नाशयन्ति सयम-
राम ॥१३९८॥

णिच्च पि अमज्झत्थे तिकालदोसाणुसरणपरिहत्थे ।
सजमरज्जूहिं जदी वधति कसायमक्कडए ॥१३९९॥

णिच्च पि’ नित्यमपि अमाध्यस्थान् त्रिकालविषयदोषानुसरणपटा, कपायमकटीन्यतय सयमरज्जू-
भिवघ्नन्ति ॥१३९९॥

धिदिवम्मिण्हि उवसमसरेहि साधूहिं णाणसत्थेहिं ।
इदियकसायसत्तू सक्का जुत्ते हि जेटु जे ॥१४००॥

धिदिवम्मिण्हि’ धृतिमन्त्रं , उपशमसारं साधुभिर्जानशस्त्रैरुपयुर्नरिन्द्रियरूपायत्रयो जेतु
शक्या ॥१४००॥

इदियकसायचोरा सुभावणासंकलाहि वज्झति ।
ता ते ण विकुव्वति चोरा जह मकलावद्धा ॥१४०१॥

‘इदियकसायचोरा’ इन्द्रियकपायचोरा गुभघ्नानभावश्रुतलानिवघ्नन्ते । वन्धस्थास्ते न विचार
कुर्वन्ति शृङ्खलावद्धचोरा इव ॥१४०१॥

इदियकसायवग्धा सजमणरघादणे अदिपसत्ता ।
वेरग्गलोहदढपजरेहि सक्का हु णियमेदु ॥१४०२॥

‘इदियकसायवग्धा’ इन्द्रियरूपायव्याघ्रा सयमनरमधणे अत्यासक्ता वैराग्यलोहदढपञ्जरं नियन्तु
शक्या ॥१४०२॥

गा०—ये कपायरूपी बन्दर अमयत हैं अतिचपल हैं, पापी हैं, इनका हृदय परिग्रहरूपी
फलमे धामक है । इनका यदि निग्रह नहीं किया तो ये सयमरूपी उद्यानका विनाश कर देते
हैं ॥१३९८॥

गा०—ये कपायरूपी बन्दर, निरन्तर चपल हैं, त्रिकालवर्ती दोषोंका अनुसरण करनेमें
चतुर हैं । इन्हें सयमी सयमरूपी रस्तीसे बाँधता है ॥१३९९॥

गा०—सन्तोषरूपी कवच, उपशमरूपी वाण और ज्ञानरूपी शस्त्रोंसे सहित साधुओंके
द्वारा वे इन्द्रिय और कपायरूप शत्रु जीते जा सकते हैं ॥१४००॥

गा०—इन्द्रिय और कपायरूपी चोर गुभघ्नानरूप भावोंकी साकलसे बाधे जाते हैं । बांधे
जानेपर वे साकलसे बाँधे चोरोंकी तरह विकार नहीं करते ॥१४०१॥

गा०—इन्द्रिय और कपायरूपी व्याघ्र सयमरूपी मनुष्यको खानेके बड़े प्रेमी होते हैं । इन्हें
वैराग्यरूपी लोहके भजदूत पीजरेमें रोका जा सकता है ॥१४०२॥

इन्द्रियकसायहृत्थी वयवारिमर्हीणिदा उवायेण ।

विणयवरत्तावद्धा सक्का अवसा वसे कादु ॥१४०३॥

'इन्द्रियकसायहृत्थी' इन्द्रियकपायहृत्स्तिन उपायेन व्रतवारीमुपनीता विनयवरत्तावद्धा अवसा अपि वसे वसे नेनु ॥१४०३॥

इन्द्रियकसायहृत्थी बोलेदु सीलफलियमिच्छता ।

धीरेहि रुभिदव्वा विदिजमलारुप्पहारेहिं ॥१४०४॥

इन्द्रियकसायहृत्स्तिन शीलपरिचालधर्मिणिना गेद्वव्या धीरेयुं तिरुगतोऽप्रहरं ॥१४०४॥

इन्द्रियकसायहृत्थी दुस्मीलवण जदा अहिलसेज्ज ।

णाणंकुमेण तडया सक्का अवसा वम कादुं ॥१४०५॥

'इन्द्रियकसायहृत्थी' इन्द्रियकपायहृत्स्तिन दुःशीलवन प्रवेष्टुं यदाभिलषन्ति तदा अवसा अपि वसे वसे वसे ज्ञानाकुसोने ॥१४०५॥

जदि विमयगघहृत्थी अद्रिणिज्जदि गगदोसमयमभा ।

विण्णाणज्जाणजोहस्स वमे णाणकुमेण विणा ॥१४०६॥

'जदि विमयगघहृत्थी' यद्यपि विषयगन्धहृत्स्तिन स्वय गन्धाटवी प्रविशन्ति गगदोऽपमत्ता न तिच्छेयुवि-
ज्ञानयानयोऽस्य वसे ज्ञानाकुसोने विना ॥१४०६॥

विमयवणरमणलोला बाला इन्द्रियकसायहृत्थी ते ।

पममे गमेदव्वा तो ते दोमं ण काहिंति ॥१४०७॥

'विमयवणरमणलोला' विषयवन्धुगणलोला बाला इन्द्रियकपायहृत्स्तिन ते रतिमुपनेया प्रथमेन ततस्ते दोय न कुर्वन्ति ॥१४०७॥

गा०—इन्द्रिय कपायरूपी हाथी यद्यपि स्वच्छन्द है तथापि व्रतरूपी वाडेमे ले जाकर विनयरूपी रम्मीमे उपायपूर्वक बाँधे जानेपर वगमे लाये जा सकते हैं ॥१४०३॥

गा०—इन्द्रिय और कपायरूप हाथी शीलरूपी अर्गलाको लाधना पसन्द करते हैं । अतः धीर पुरुषोको उनके दोनों कानोंके पाम घेरकर प्रहार करके रोक्ना चाहिए ॥१४०४॥

गा०—इन्द्रिय और कपायरूप हाथी जब दुःशीलरूपी वनमे प्रवेश करना चाहे तो उसे ज्ञानरूपी अकुसुमे वगमे करना शक्य है ॥१४०५॥

गा०—यदि गगदोऽपमत्ता मत्त विषयरूपी गन्धहृत्ती ज्ञानाकुसुमे विना विज्ञान ध्यानरूपी घोषाके वगमे नहीं रहता और परिग्रहरूपी वनमे प्रवेश करता है ॥१४०६॥

गा०—तो इन्द्रिय और कपायरूप बालरम्मी विषयरूपी वनमे क्रीडा करनेके प्रेमी होते हैं । उन्हें प्रणयरूपी वनमे अर्थात् आत्मा और शरीरके भेदज्ञानमे प्रकट हुए स्वाभाविक वैराग्यमे रमण करना चाहिए तब वे दोष नहीं करेंगे ॥१४०७॥

सहे रूवे गधे रसे य फासे सुमे य असुमे य ।

तम्हा रागदोस परिहर त इ दिंयजएण ॥१४०८॥

'सहे रूवे गधे रसे य' शुभाशुभेषु शब्दादिषु रागद्वेष च निराकुछ त्व इन्द्रियजयेत्युत्तरमूत्र-
स्याय ॥१४०८॥

जह णीरस पि कडुय ओसह जीविदत्थिओ पिचदि ।

कडुय पि इ दिंयजय णिव्वुइहेदु तह 'पिविज्ज ॥१४०९॥

'जह णीरस पि' यथा स्वादुरहित कटुनमपीपथ जीवितार्थं विवति । तथा इन्द्रियजय भजते बहुक-
मपि निर्वृतिहेतुम् ॥१४०९॥

इन्द्रियजये क उपाय इत्याशङ्क्याया इन्द्रियवपायविषयाणां शुभाशुभत्वं अन्वयिते । ये शुभास्त एव-
दानी अशुभा, अशुभा ये ते एव शुभा । ये तु अनुभूतया दोषा इदानी हरि ? से शुभा इति गृहीता न त्वशुभा
जातान्त एवामी इति नथ नानुरागन्तत्र ये वाऽशुभास्तेषु कथ द्वेष शुभता प्रतिपत्स्यमानेषु इति निवेदयति—

जे आसि सुभा एण्ह असुभा ते चेव पुग्गला जादा ।

जे आसि तदा असुभा ते चेव सुभा इमा इण्ह ॥१४१०॥

'जे आसि सुभा एण्ह' ये पुद्गला शुभा आसन्नदानी त एवाशुभा जाता । ये चामन्तदा अशुभा
ते चेव शुभा इदानी इति तौ न युक्तौ रागद्वेषौ इति शिक्षयति ॥१४१०॥

सव्वे वि य ते शुचा चत्ता वि य तह अणतखुत्तो मे ।

सव्वेसु एत्थ को मज्झ विंभओ भुत्तविजडेसु ॥१४११॥

शा०—इसलिए हे क्षपक ! इन्द्रियको जीतकर तू शुभ और अशुभ शब्द, रूप, गन्ध, रस
और स्पर्शमें रागद्वेष मत कर ॥१४०८॥

शा०—जैसे जीवनका इच्छुक रोगी स्वादरहित कड़ुवी औषधी पीता है वैसे ही तू मोक्षके
लिए कटुक भी इन्द्रियजयका सेवन कर ॥१४०९॥

इन्द्रिय जयका क्या उपाय है ऐसी शका करनेपर कहते हैं—

शा०—टी०—इन्द्रिय और वपायके विषयोंमें अच्छा और बुरापना स्थिर नहीं है । जो
विषय आज अच्छे लगते हैं कल वे ही बुरे लगते हैं । जो आज बुरे लगते हैं कल वे ही अच्छे
लगते हैं । जिन्हे अच्छा मानकर स्वीकार किया वे ही बुरा लगनेपर द्वेषके पात्र होते हैं तो उनमें
अनुराग कैसा ? और जो बुरे लगते हैं कल वे ही अच्छे लगनेवाले है अतः उनमें द्वेष कैसा ?
जो पुद्गल इन ममय अच्छे प्रतीत होते हैं वे ही बुरे लगने लगते हैं । जो पहले बुरे प्रतीत होते थे
वे ही अब अच्छे प्रतीत होते हैं इसलिए उनमें रागद्वेष करना उचित नहीं है ॥१४१०॥

शा०—वे अच्छे बुरे सभी पुद्गल में अनन्तवार भोगे हैं और अनन्तवार त्यागे हैं । उन
भोगे और त्यागे हुए सब पुद्गलोंमें मुझे अचरज कैसा ? इस प्रकार हे क्षपक ! तुम्हें विचारना
चाहिए ॥१४११॥

'सर्वे वि ते मुता' सर्वेऽपि च ते पुद्गला शुभाशुभरूपा अनुभूतास्त्यक्ता अनन्तवार मया । तेषु ब्रह्मेषु भुक्त्यकार्येषु को विस्मयो ममेति त्वया चिन्ता कार्या ॥१४११॥

मुखसाधनतया यदि तबानुरागो, दुःखसाधनतया च रोप सर्वं मुखदुःखसाधनता शुभाशुभादीना रूपाणा नैवास्ति सङ्कल्पमन्तरेणात्मन इति वदति—

रूढ सुभ च अमुभं किंचि वि दुःख सुह च ण य कुणदि ।

मकल्पविसेसेण ह सुह च दुःख च होइ जए ॥१४१२॥

'रूढ सुभ च अमुभ' रूपं शुभमगुण वा किञ्चिद्दुःखं मुखं च नैव करोति । सङ्कल्पवशेनैव सुखं वा दुःखं भवति जगति ॥१४१२॥

इह य परत्त य लोए दोमे बहुगे य आवहइ चक्खू ।

इदि अप्पणो गणित्ता णिज्जेदब्बो हवदि चक्खू ॥१४१३॥

'इह य परत्त य' जन्मद्वयेऽपि बहून्दोषानावहति चञ्चुरित्यात्मनावगणय्य निर्जैतव्यं चक्षुः ॥१४१३॥

एव सम्म सद्वरसगंधफासे विचारयित्ताण ।

मेमाणि इदियाणि वि णिज्जेदब्बाणि बुद्धिमदा ॥१४१४॥

'एव सम्म' उभयजन्मगोचरानेकदोषावहत्वं विचार्य स्वबुद्ध्या दोषाभ्यपीन्द्रियाणि शब्दरसगन्धस्पर्शं विषयाणि निर्जैतव्यानि बुद्धिमता । 'सद्वरसगंधफासे' इति वैषयिकी सप्तमी ॥१४१४॥

क्रोधजयोपायमाचष्टे—

जदिदा मवदि असतेण परो त णत्थि मेत्ति खमिदब्ब ।

अणुकंपा वा कुज्जा पावइ पाव वरावोत्ति ॥१४१५॥

'जदिदा सर्वादि असतेण' यदि तावदसना दोषेण शपति परं स दोषो न ममास्तीति क्षमा कार्या । अमहोपख्यापनेनात्म्यं मम किं नष्टं इति । अथवानुकम्पया आक्रोशके नुर्याद्वराकोऽनभिधानेन ममार्जयति पाप-

यागे कहते हैं यदि मुखका साधन होनेमें इनमें तैरा अनुगम है और दुःखका साधन होनेमें द्वेष है तो अच्छे बुरे पुद्गलोंमें वही मुख-दुःख साधनता तैरे सकल्पके सिवाय ययार्यमें नहीं है—

गा०—कोई अच्छा या बुरा रूप मुख या दुःख नहीं करता । जगत्में मकल्पवश ही मुख-दुःख होता है ॥१४१२॥

गा०—इस लोक और परलोकमें ये आँखें बहुत बुराई उत्पन्न करती हैं ऐसा जानकर चक्षुः इन्द्रियको जीतना चाहिए ॥१४१३॥

गा०—इस प्रकार दोनों लोकोंमें अनेक दोष उत्पन्न करने वाली जान अपनी बुद्धिसे विचारकर शब्द रस गन्ध और स्पर्शको विषय करने वाली दोष इन्द्रियोंको भी बुद्धिमान् पुरुषको जीतना चाहिए ॥१४१४॥

क्रोधको जीतनेका उपाय कहते हैं—

गा०—टी०—यदि दूसरा व्यक्ति मेरेमें अबिद्यमान दोषको कहता है तो वह दोष मुझमें नहीं है अतः उसे क्षमा करना चाहिए, क्योंकि असन् दोषको कहनेसे मेरी क्या हानि हुई ? अथवा

भार अनेक दुःखावह । मन्त्रोर्वदोपरस्य किञ्चिन्नयायाति दोषजात । गुणैर्वा किमस्मि किञ्चिच्चरुवति ? प्राणिना
परिनियता गुणदोषास्तत्तमेव प्रति मुखदुःखयोऽनास्ततो पुरस्तो (?) मुषानेन कर्मवन्ध सम्पादते
इति ॥१४१५॥

चिन्ता कर्णात्मिका रोप परपम्पसारयति—

जदि वा सवेज्ज संतेण परो तह वि पुरिसेण खमिदच्च ।

सो अत्थि मज्झ दोमो ण अलीयं तेण भणिदत्ति ॥१४१६॥

'जदि वा सवेज्ज' यदि वा सपेच्च सता दोषेण तथापि क्षमा कार्या । मोक्षेन कथ्यमानो दोषो
ममास्ति न व्यलीक तेनोक्तमिति ^१मङ्गल्यतया न हि ^२सन्तो दोषा परे चेद् न द्रुवन्ति इति विनश्यन्ति ॥१४१६॥

यो यस्य सम्पकार महान्त चेतसि करोति स तस्यापराध अप्य सहते इति प्रसिद्धमेव लोके इति
वचयति—

सचो वि ण चेव हदो हदो वि ण य मारिदो च्चि य खमेज्ज ।

मारिज्जतो ष्वि सहेज्ज चेव धम्मो ण णट्ठोत्ति ॥१४१७॥

'सन्तो वि चेव' शक्त एवास्मि न हत इत्यहनन गुण पुषु चेतसि सस्याप्य विमनेन शपनेन मे
नष्टमिति शक्तव्य । एवमितरत्रापि योग्य । हत एव न मृत्यु पापित । मार्यमाणोऽपि सहते विपत्तिमूर्त्त-
क्षमोऽभिर्लपितमुखसम्पादनोद्यतो धर्मो न विनाशित इति ॥१४१७॥

उपायान्तरमपि रोपविजये निरूपयति—

निन्दा करने वाले पर दया करना चाहिए—बेचारा झूठ बोलकर अनेक दुःख देने वाला पाप भार
एकत्र करता है । मेरे दोषोंसे उसमे दोष उत्पन्न नहीं होते और न मेरे गुणोंसे ही उसका कोई
लाभ होता है । प्राणियोंके अपने-अपने गुण दोष नियत हैं । उनसे होने वाला सुख-दुःख भी उन्हे
ही होता है । अतः यह व्यर्थ ही कर्मवन्ध करता है ॥१४१५॥

आगे कहते हैं दया रूप चिन्तनसे कठोर क्रोध दूर होता है—

गा०—यदि दूसरा मेरेमें विद्यमान दोषको कहता है तब भी क्षमा करना चाहिए
क्योंकि वह जिस दोषको कहता है वह मेरेमें है । वह झूठ नहीं कहता । विद्यमान दोषको दूसरे
यदि न बड़े तो वे नष्ट हो जाते हैं, ऐसी बात भी नहीं है ऐसा विचार करना चाहिए ॥१४१६॥

आगे कहते हैं कि जो जिसका महान् उपकार करता है वह उसके छोटेसे अपराधको सहता
है यह बात लोकमें प्रसिद्ध ही है—

गा०—इसने मुझे अपशब्द ही कहे हैं मारा तो नहीं है, इस प्रकार उसके न मारनेके गुण-
को चित्तमें स्थापित करके 'अपशब्द कहनेसे मेरा क्या नष्ट हुआ' अतः क्षमा करना चाहिए । मारे
तो भी सहन करना चाहिए कि इसने विपत्तिको जडसे दूर करनेमें समर्थ और इष्ट सुखको देने
वाले मेरे धर्मका नाश नहीं किया ॥१४१७॥

क्रोधको जीतनेका अन्य उपाय कहते हैं—

१ ना पर नृतो-अ० । ना पुर सूता-आ० । ना परो सूतो-ज० । २ सकल्पतयता-मु० ।

३ मनो दोषान्-आ० । ४ वि खमेज्ज-अ० आ० ।

रोसेण महाधम्मो णामिज्ज तणं च अग्गिणा सव्वो ।

पाव च करिज्ज महं बह्हुगपि णरेण खमिदव्व ॥१४१८॥

'रोसेण महाधम्मो' दुर्लभो दुर्लभो दुन्दुरा धर्मोऽनुयायी रोसेण भदीयो नश्यति । अग्निना तृणमिव ।
तथा चाभ्यधावि—

अज्ञानकाष्ठजनितस्त्ववमानघातैः सधुक्षित परपवाग्गुहविस्फुलिग ।

हिंसाशिक्षोर्गपि भृशमुत्थितवैरधूम क्रोधाग्निवद्दहति धर्मवन नराणाम् ॥ इति । [] ॥१४१८॥

उपायान्तरमपि वदति—

पुव्वकदमज्झपाव पत्त परदुःखकरणजाद मे ।

रिणमोक्खो मे जादो अज्जत्ति य होदि खमिदव्व ॥१४१९॥

'पुव्वकदमज्झपाव' पापागमद्वारमज्ञानता अनेनापि प्रमादिना पूव कृत यत्कर्म पाप परेपा दु खकारण
तदद्य निवर्तित । ऋणमोक्षोऽय मम जात इति चिन्तयताऽभिसारमित्यथो रोप ॥१४१९॥

पुव्व सयमुवभुत्त काले णाएण तेत्थिय दव्व ।

को धारणीओ धणियस्म दिंतओ दुक्खिओ होज्ज ॥१४२०॥

'पुव्व सयमुवभुत्त' पूर्वं स्वयमेव भुक्त, अवधिकाले प्राप्ते । 'णायेण' नीत्या । इय्य अधमर्ण उत्तमर्णयि
प्रयच्छन् को दु ख करोति ॥१४२०॥

गा०—टी०—आगसे तृणको तग्ह क्रोधमे दु खसे उपाजनं क्रिया गया दुर्लभ और दुश्चर
मेरा धर्म नष्ट होता है । कहा भो है—यह क्रौरूपी आग मनुष्योंके धर्मवनको जलाती ह । यह
क्रोधरूपी आग अज्ञानरूपी काष्ठसे उत्पन्न होती है, अपमानरूपी वायु उसे भडवाती है । कठोर
वचनरूपी उसके वडे स्फुलिग है । हिंसा उसकी शिक्षा है और अत्यन्त उठा वैर उसका धूम है ।

तथा यह क्रोध मुझे पापका बन्ध कराता है जो अनेक भवोमे दु खका बीज है । इसलिये
चित्तमे क्षमा धारण करना चाहिए ॥१४१८॥

अन्य उपाय कहते हैं—

गा०—पापके आश्रयके द्वारको न जानते हुए मैंने प्रमादवश जो पूर्वमे पापकर्म किया था,
जो दूरसेके दु खका कारण था, वह आज चला गया । आज मैं उस ऋणमे मुक्त हो गया । ऐसा
विचारकर क्रोधको दूर करना चाहिए ॥१४१९॥

गा०—टी०—पूर्वं जन्ममे मैंने जिसका अपराध किया था उसके द्वारा इस जन्ममे उम अप-
राधमे उमाजित पापकर्मको उदीरणा किये जाने पर उमको भोगते हुए मुझे दु ख कंसा ? माह्वार
से पहले कर्ज लेकर जिस धनको मैंने स्वय भोगा है, उतना ही धन उम ऋणका अवधिकाल आने
पर देते हुए वीन कर्जदार दु खी होता है ॥१४२०॥

इह य परत्त य लोए दोसे बहुए य आवहदि कोषो ।

इदि अप्पणो गणित्ता परिहरिदच्चो हवइ कोषो ॥१४२१॥

स्पष्टा उत्तरगाथा ॥१४२१॥

क्रोधजयोपायभूतान्परिणामानुपदस्य मानप्रतिपक्षपरिणाम नित्पपत्ति—

को इत्थ मज्झ माणो बहुसो णीचत्तणं पि पत्तस्म ।

उच्चत्ते य अणिच्चे उवट्ठिदे चावि णीचत्ते ॥१४२२॥

'को इत्थ मज्झ माणो' कोऽज्ञातकृत्याप्तै 'ज्ञानादिकैरन्नतत्त्वे गर्वो मम बहुसो ज्ञानकुलरूपतपोऽद्विग-
प्रभुत्वैरुन्नतता प्राप्तस्य प्राप्तेऽप्युन्नतत्वे अनवस्थायिनि सति उपस्थिते चोत्तरकालौचत्वे ॥१४२२॥

अधिगेसु बहुसु सतेसु ममादो एत्थ को महं माणो ।

को विम्भओ वि बहुसो पत्ते पुव्वम्मि उच्चत्ते ॥१४२३॥

स्पष्टा ॥१४२३॥

उत्तरगाथा—

जो अवमाणणकरण दोस परिहरइ णिच्चमाउत्तो ।

सो णाम होदि माणी ण दु गुणवत्तेण माणेण ॥१४२४॥

'जो अवमाणणकरण' योऽवमानकरण दोष परिहरति नित्यभूपयुक्तः स मानी भवति । न तु भवति
मानी गुणरिक्तेन मानेन ॥१४२४॥

इह य परत्तय लोए दोसे बहुगे य आवहदि माणो ।

इदि अप्पणो गणित्ता माणस्स विणिग्गह कुज्जा ॥१४२५॥

गा०—क्रोध इस लोक और परलोकमें बहुत दोषकारक है ऐसा जानकर क्रोधका त्याग करना चाहिए ॥१४२१॥

क्रोधको जीतनेके उपायभूत परिणामोको बतलाकर मानके प्रतिपक्षी परिणामोको कहते हैं—

गा०—दो०—ज्ञान, कुल, रूप, तप, धन, प्रभुत्व आदिमें मैं ऊँचा भी होऊँ, तो उमका गर्व कंसा, क्योंकि अनेक बार मैं इनमें नीचा भी हो चुका हूँ । उच्चता और नीचता ये दोनों अनित्य हैं ॥१४२२॥

गा०—इस लोकमें बहुतमें मुझमें भी ज्ञानादिमें अधिक है इनका भुझे अभिमान कैसा ? तथा पूर्व जन्मोंमें मैं यह उच्चता अनेक बार प्राप्त कर चुका हूँ तब इनके प्राप्त होने पर आश्चर्य कंसा ? ॥१४२३॥

जो सदा मन लगाकर अपमान करने रूप दोषका त्याग करता है जघान् किस्तीका अपमान नहीं करता वह मानी होता है । गुण रहित मानमें मानी नहीं होता ॥१४२४॥

इह य परतय जन्मद्वये दोषान् बहूनावहति मानमिति विगणय्य माननिग्रहं कुर्यात्साधुजन ॥१४२५॥

मायाप्रतिपक्षपरिणामस्वरूप निगदति—

अदिगूहिदा वि दोसा जणेण कालतरेण णज्जति ।

मायाए पउत्ताए की इत्थ गुणो हवदि लद्धो ॥१४२६॥

‘अदिगूहिदा वि दोसा’ अतीव सवृता अपि दोषा जनेन जायन्ते कालान्तरे मायया प्रयुक्तया की गुणो लब्ध इति चिन्त्या निहन्ति ॥१४२६॥

‘परिभागम्मि असते णियडिसहस्सेहिं गूहमाणस्स ।

चदग्गहोव्व दोसो खणेण सो पायडो होइ ॥१४२७॥

जणपायडो वि दोमो दोसोत्ति ण घेप्पए सभागस्स ।

जह ममलत्ति ण धिप्पदि समल पि जए तलायजल ॥१४२८॥

‘जडपायडो वि दोमो’ लोकप्रकटोऽपि दोषो दोष इति न गृह्यते भाग्यवत् । यथा समलमिति न गृह्यते लोके तटाङ्गजल समलमिति सदृश । एतदुक्तं भवति पुण्यवतोऽपि मायया न किञ्चित्माय्य । प्रकटोऽपि दापे मनोऽप्यो जगति मान्य । दोषनिग्रहं हि मान्यताविनाशभयादिति भावः ॥१४२८॥

अथ माया करोन्ययाय तथापि सानयिकेति वदति—

डंभमएहिं बहुगोहिं सुपउत्तेहिं अपडिभोगस्स ।

हत्थ ण एदि अत्थो अण्णादो मपडिभोगादो ॥१४२९॥

गा०—इस लोक और परलोकमें मान बहुत दोषकारी है । ऐसा जानकर अपने मानका निग्रह करना चाहिए ॥१४२५॥

अथ मायाके विरोधी परिणामोका स्वरूप कहते हैं—

गा०—अत्यन्त छिपाकर भी की गई घुराई कालान्तरमें मनुष्यको ज्ञात हो जाती है । तब मायाचार करनेमें क्या लाभ है । इस प्रकारके चिन्तनमें मायाको दूर करना चाहिए ॥१४२६॥

गा०—भाग्य प्रतिकूल हो तो हजार छलसे छिपाया हुआ भी काम चन्द्रमाके ग्रहणको तरह क्षणमात्रमें प्रकट हो जाता है ॥१४२७॥

गा०—टी०—और भाग्यशालीका लोकमें प्रकट भी दोष दोष नहीं माना जाता । जैसे तालाबका जल मिला ही तब भी लोग उसे मिला नहीं मानते । आशय यह है कि पुण्यशालीको मायासे कोई लाभ नहीं है क्योंकि दोष प्रकट होनेपर भी वह जगत्में मान्य रहता है । मान्यताके विनाशके भयमें ही मनुष्य दोषको छिपाता है ॥१४२८॥

भाग्य कहते हैं कि मनुष्य धनके लिए मायाचार करता है किन्तु वह व्यर्थ है—

गा०—अच्छी तरह मैकड़ों छलकपट करनेपर भी पुण्यहीनके हाथमें पुण्यशालीका धन नहीं आता ॥१४२९॥

'दभतदेहि बहुगेहं' दम्भरातैर्बहुभि सुप्रयुक्तरपि अपुण्यस्य हृत नायात्ययं । अन्धस्मात्स-
पुण्यात् ॥१४२९॥

इह य परत्तय लोए दोसे बहुए य आवहड माया ।

इदि अप्पणो गणित्ता परिहरिदब्बा हवइ माया ॥१४३०॥

इह य परत्त य' इहपरलोकयोर्वहन्दीपानावहति माया । इति आत्मनि निरूप्य परिहृतव्या भवति
माया ॥१४३०॥

लोभे कए वि अत्थो ण होइ पुरिसस्म अपडिभोगस्स ।

अरुएवि हवदि लोभे अत्थो पडिभोगवत्तस्स ॥१४३१॥

'लोभे कडे' लोभे कृतैः प्रयत्नैः न भवति पुरपम्य अपुण्यस्य । अकृतैःपि लोभेऽर्थो भवति पुण्यवत् । तत
अर्थासक्तिरर्थलोभे मम न निमित्तमपि तु पुण्यमित्यनया चिन्तया लोभो निराकार्यं ॥१४३१॥

अपि च 'अर्थश्रमत्पदे जन प्रयतते अर्था' पुनरसहृत्प्राप्तास्त्यक्ताश्च तेषु को विस्मय इति मन प्रपि-
धान कुह लोभविजयायेति वदति—

सब्बे वि जए अत्था परिगहिदा ते अणंतखुत्तो मे ।

अत्थेसु इत्थ को मज्झ विंभओ गहिदविजडेसु ॥१४३२॥

'सब्बे वि जये अथा' सर्वेऽपि जगत्यर्था परिगृहीता मयानन्तवार ममाद्येष्वमीषु को विस्मयो गृहीत-
त्यक्तेषु ॥१४३२॥

इह य परत्तय लोए दोसे बहुए य आवहइ लोभो ।

इदि अप्पणो गणित्ता णिज्जेदब्बो हवदि लोभो ॥१४३३॥

इदियक्सायत्तिगद ॥१४३३॥

गा०—माया इम लोक और परलोकमे बहुतसे दोष लाती है ऐसा जानकर भायाका त्याग
करना चाहिए ॥१४३०॥

गा०—लोभ करनेपर भी पुण्यहीन पुरुषके पाम धन नहीं होता, और लोभ नहीं करनेपर
भी पुण्यशालीके पाम धन होता है । अत धनका लोभ धनलाभमे निमित्त नहीं है किन्तु पुण्य
निमित्त है ऐसा विचारकर लोभको त्यागना चाहिए ॥१४३१॥

अर्थको प्राप्तिके लिए मनुष्य प्रयत्न करता है । किन्तु अर्थ अनेक बार प्राप्त हुआ और
छोटा है । उसमे आश्चर्य कैसा ? इम तरह लोभको जीतनेके लिए मनमे चिन्तन करो, यह
कहते हैं—

गा०—जगत्मे जितने पदार्थ हैं वे सब मेरे अनन्तवार प्राप्त किये । उन ग्रहण किये और
त्यागे हुए पदार्थोमे आश्चर्य कैसा ? ॥१४३२॥

गा०—लोभ इस भव और परभवमे बहुतसे दोष पैदा करता है ऐसा जानकर लोभको
त्यागना चाहिए ॥१४३३॥

इस प्रकार इन्द्रिय और कर्मायोका कथन किया ।

एवमिन्द्रियकषायपरिणामनिरोधोपायभूतान्परिणामानुपदिश्य निद्राजयश्च निरुपयति सूत्रि—

णिद्दं जिणाहि णिच्च णिद्दा ङ्ग णर अचेयण कुण्ड ।

वट्टिज्ज ह् पासुत्तो खवओ मव्वेसु दोसेसु ॥१४३४॥

‘णिद्दं जिणाहि’ निद्रा जय नित्य । अजिना ना निमपकार करोति इत्यासाङ्गम आह ‘णिद्दा ङ्ग णर अचेयण कुण्ड’ निद्रा नर अचेयन कराति । चैतन्यरहितावस्थाभावात्किमुच्यते करोतीति । अज्ञाने—विवेकज्ञानरहितत्वमेवान्नाचेतनमवदेगोच्यते । यत एव योग्यावाप्यविवेकज्ञानरहित अत एव । ‘वट्टिज्ज ह्’ वतते एव । ‘पासुत्तो’ प्रक्षेपेण सुप्त ‘खवओ’ क्षपक । ‘सव्वेसु दोसेसु’ हिसामैयुनपरिग्रहादिवेपु ॥१४३४॥

निद्रा कर्मोत्पन्नताद्भवति कथं मयापाकर्तव्या इत्यत्राह—

जदि अधिवाधिज्ज तुम णिद्दा तो त करेहि सज्जाय ।

सुहुमत्थे वा चित्तेहि सुणसु सवेगणिव्वेगं ॥१४३५॥

‘जदि अधिवाधिज्ज तुम’ यथाधिवाचेत भवन्न निद्रा । तनस्त्व कुं स्वाध्याय । ‘सुहुमत्थे वा चित्तेहि’ सूक्ष्मान्वाध्यान् चिन्तय । ‘सुणसु सवेगणिव्वेगं’ शृणुष्व सर्वजनी निर्वेजनी वा कथा ॥१४३५॥

प्रकारान्तर निद्राविजयहेतु निगदति—

पोदी भए य सोगे य तथा णिद्दा ण होइ मणुयाण ।

एदाणि तुमं तिण्णिवि जागरणत्थं णिसेवेहिं ॥१४३६॥

‘पोदी भए य सोगे’ प्रीत्या भये शोके च सति निद्रा मनुष्याणा न भवति । तेन प्रीत्यादिमेवा बुरु ख निद्राविजिनये ॥१४३६॥

इम प्रकार इन्द्रिय और कषायरूप परिणामोको रोकनेके उपायरूप परिणामोको कहकर निद्राको जीतनेका क्रम कहते हैं—

गा०—टी०—सदा निद्रापर विजय प्राप्त करो । नही जीनेपर वह क्या बुराई करती है यह कहते हैं—निद्रा मनुष्यको अचेतन करती है ।

शका—चेतन मनुष्यकी चैतन्यरहित अवस्था नहीं होती । तब कैसे कहते हैं कि निद्रा अचेतन करती है ?

समाधान—यहाँ अचेतन शब्दमे विवेकज्ञानमे रहित होना ही कहा है ।

इमलिए जो गहरी नीदमे सोया है वह क्षपक योग्य अयोग्यके विवेकज्ञानसे रहित होनेसे हिमा मैयुन पग्रिह आदि सब दोषोमे प्रवृत्ति करता है ॥१४३४॥

निद्रा कर्मके उदयसे होनी है । उमे में कैसे दूर करूँ ? इसका उत्तर आचार्य देते हैं—

गा०—यदि तुम्हे निद्रा सताती है तो स्वाध्याय करो । या सूक्ष्म अर्थोका विचार करो । अथवा सवेग और निर्वेदको करनेवाली कथा सुनो ॥१४३५॥

निद्राको जीतनेका अन्य उपाय कहते हैं—

गा०—प्रीति, भय अथवा शोक होनेपर मनुष्योको निद्रा नहीं आती । अत तुम निद्राको जीतनेके लिए प्रीति आदिका सेवन करो ॥१४३६॥

प्रीतिभयगोक्षाना अशुभपरिणामत्वात्कर्मावनिमित्तता । निद्राया वा अविशिष्टत्वान् वयं सवराधिने निरूप्यते प्रीत्यादिक इत्याद्यङ्गाया सवरहेतुमूततया तद्व्यपदेश प्रति नियतविषयमुपदर्शयति—

भयमागच्छसु ससारादो पीदि च उत्तमदृग्मि ।

सोग च पुरादुच्चरिदादो णिद्दाविजयहेदुं ॥१४३७॥

'भयमागच्छसु' भय प्रतिपद्यस्व । 'ससारादो' ससारात् पञ्चविधपरावर्तनरूपात् । प्रीति रत्नत्रयाराधनाया । शोक उपैहि पूर्ववृत्ताददुश्चरितात् निद्रा विजेतु । नरकादिपतिष्वनदृशरिवर्तमानेन शारीरमागन्तुक, मानस, स्वाभाविक च दुःख विचित्रमनुभूत तत्पुनरप्यायास्यति इति मन प्राणिधेहि । सकलामापत्नहृत्-मुन्मूलयितु, अभ्युदयनिधेयसमुत्पत्ति च प्रापयितु, असारशरीरभारमपनेतु, अनन्तावबोधदर्शनसाम्राज्यश्रिय-भाक्त्वं, कमविपवितपानुत्पाटयितु क्षमामिमां, अनन्तेषु भवेषु अनवाप्तपूर्वा रत्नत्रयाराधना वत्तुं उद्यतोऽस्मीति प्रीतिर्भावनीया । हिमान्तस्तौयाद्रह्यपरिग्रहेषु मिथ्यात्वकषायेष्वशुभमनोदावकाययोगेषु विचित्रकर्माज्जनमूलेषु चतुर्विधवन्पर्यायनिमित्तेषु अनारत मन्दभाग्य प्रवृत्तोऽस्मि हितअहितविचाराणाविमुग्गद्विदितया मन्मार्ग-स्योपदेष्टृदृष्टामनुपलम्भान्प्रवरजाना 'वरणोदयात्तदुदीरितार्यतत्त्वानवबोधात् । अवगमे सत्यप्यश्रद्धाया, चारित्र-मोहोदयान्मन्मार्गोऽप्रवृत्तेश्च दुःखान्भोगो निमग्नोऽस्मीत्युद्दिग्मचित्ततया च निद्रा प्रयाति ॥१४३७॥

यहाँ शका होती है कि प्रीति भय और शोक तो अशुभ परिणामरूप होनेमें कर्मके बाह्यवर्गमें निमित्त होते हैं । अतः उनमें और निद्रामें कोई अन्तर नहीं है । तब जो सवरका इच्छुक है उसके लिए प्रीति आदि करनेको क्यों कहते हैं ? इसके उत्तरमें सवरके हेतु जो प्रीति आदि हैं उनके प्रतिनियत विषयको बतलाते हैं—

गा०-टी०—निद्राको जीतनेके लिये पाँच प्रकारके परावर्तन रूप ससारसे भय करो । रत्न-त्रयकी आराधनामें प्रीति करो और पूर्वमें किये दुराचरणके लिये शोक करो । नरकादि गतियोंमें बार-बार आने जानेसे मैंने शारीरिक, आगन्तुक, मानसिक और स्वाभाविक अनेक प्रकारका दुःख भोगा । वही दुःख आगे भी भोगनेमें आवेंगे, ऐसा मनमें विचार करो । समस्त आपत्तियोंके समूहका विनाश करनेके लिये, स्वर्ग और मोक्षके सुखोंको प्राप्त करनेके लिये, असार शरीरका भार उतारनेके लिये, अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन रूप साम्राज्य लक्ष्मीको आर्कषित करनेके लिये, स्वर्ग और मोक्षके सुखोंको प्राप्त करनेके लिये और कर्मरूपी विषय वृक्षको उखाड़नेमें समर्थ इम रत्नत्रय आराधनाको, जिसे पहले अनन्तभवामें कभी प्राप्त नहीं किया, करनेके लिये मैं तत्पर हूँ । इस प्रकार प्रीतिकी भावना करो । हिमा झूठ चोरी अवह्य परिग्रह, मिथ्यात्व कषाय और अशुभ मनोयोग अशुभ वचन योग अशुभ काययोगमें, जो नाना प्रकारके कर्मोंके मचयके मूल हैं और चार प्रकारके बन्धमें निमित्त हैं, मैं अभाग्य निरन्तर लगा रहा, क्योंकि हित अहितके विचार में मूढ़ बुद्धि होनेमें तथा मन्मार्गका उपदेश देने वालोंकी प्राप्ति न होनेमें अथवा प्रपल ज्ञानावरणका उदय होनेसे उनके द्वारा कहे गये अर्थ तत्त्वको न जान सकनेसे, या जान लेने पर भी थदा न करनेमें और चारित्र्य मोहके उदयसे मन्मार्गमें प्रवृत्ति न करनेसे मैं दुःखके समुद्रमें डूबा हूँ । इस प्रकार चित्तके उद्दिग्म होनेसे निद्रा चली जाती है ॥१४३७॥

जागरणार्थं इच्छेवमादिकं कुण कर्म सदा उच्यते ।

झाणेण विणा वज्झो कालो हु तुमे ण कायव्वो ॥१४३८॥

जागरणार्थं निद्रानिरासार्थं एवमादिकं कुण कर्म मदीपयुक्तं । ध्यानेन विना वच्च्य कालो न कर्तव्य-
स्त्वया ॥१४३८॥

संसाराडविणित्थरणमिच्छदो अणपणीय दोसाहि ।

सोदु ण खमो अहिमणपणीय सोदु व सघरम्मि ॥१४३९॥

संसाराडविणित्थरणमिच्छदो' संसाराटविनिस्तरणमिच्छन्नपाकृत्य दोयान् न हि स्वप्नु क्षम । अहि
अनपणीय स्वप्नुमिव गृहे ॥१४३९॥

को णाम गिरुव्वेगो लोणे मरणादिअग्गिपज्जलिदे ।

पज्जलिदम्मि व णाणीं धरम्मि सोदु अभिलसिज्ज ॥१४४०॥

'को णाम गिरुव्वेगो लोणे मरणादि अग्गिपज्जलिदे' जातिजरामरणन्याय्य, शोका भयानि, प्रार्थिता-
'लाभो, अभिमनविषय इत्यादिनामिना प्रज्वलिते । 'णाणीं सोदुमभिलसेज्ज' ज्ञानी स्वप्नुमभिलषेत । 'पज्ज-
लिदम्मि धरम्मि व' प्रज्वलिते गृह इव ॥१४४०॥

को णाम गिरुव्वेगो सुविज्ज दोसेसु अणुवसतेपु ।

गहिदाउहाण बहुयाण मज्झयारेव सत्तूणं ॥१४४१॥

'को णाम गिरुव्वेगो' को नाम निरुद्वेग स्वप्नेद्रागादिषु संसारप्रवर्द्धनेषु दोषेषु अनुपशान्तेषु गृहीतायु-
धाना दश्रूणा बहूना मध्ये इव ॥१४४१॥

णिद्दा तमस्म सरिसो अण्णो णत्थि हु तमो मणुस्साण ।

इदि णच्चा जिणमु तुमं णिद्दा ज्ञाणस्स विग्घयरी ॥१४४२॥

गा०—निद्राको दूर करनेके लिये इस प्रकारके चिन्तनमे सदा लगे रहो । ध्यानके विना
तुम्हे एक क्षण भी नहीं गंवाना चाहिए ॥१४३८॥

गा०—जैसे घरमे यदि सर्प घुसा हो तो उसे निकाले विना मोना शक्य नहीं है । उसी
प्रकार जो ममार रूपी महावनमे निकलना चाहता है वह दोषोको दूर किये विना मोनेम समर्थ
नहीं होता ॥१४३९॥

गा०—जलते हुए घरकी तरह लोकके जन्म, जरा, मरण, व्याधि, शोक, भय, प्रार्थितकी
अप्राप्ति और इष्ट वियोग इत्यादि आगमे जलते रहने पर कौन ज्ञानी निर्भय होकर मोना
चाहेगा ॥१४४०॥

गा०—जैसे शस्त्रयारी वधुतमे शत्रुओंके मध्यमे कोई निर्भय होकर नहीं मो सकता, उसी
प्रकार ममारको बढानेवाले रागादि दोषोके उपशान्त हुए विना कौन निर्भय होकर मो सकता
है ॥१४४१॥

'निद्रा तमस्त सरिक्षो' तमस्तदृगमन्यतमो नास्ति मनुजाना इति ज्ञात्वा निद्रा ध्यानस्य विघ्नकारिणी जयेति ॥१४४२॥

कुण वा निद्रामोक्षं निद्रामोक्षस्म भणिद्वेलाए ।

जह वा होइ समाही खवणकिलितस्म तह कुणह ॥१४४३॥

'कुण वा निद्रामोक्ष' कुह वा निद्रामोक्ष । निद्रामोक्षस्य कथिताया वेलाया रात्रेस्तृतीये यामे इति यावत् । यथा वा समाधिभवति भवत उपवासपरिधान्तस्य तथा वा निद्रामोक्ष कुः ॥१४४३॥ निद्रासिद्धे ।

उत्तार्योपनहार वक्ष्यमाण वाधिकार दर्शयत्युत्तरगाथा—

एस उवावो कम्मासवदारणिरोहणो हवे सव्वो ।

पोराणयस्म कम्मस्स पुणो तवसा खओ होइ ॥१४४४॥

'एस उवावो' कर्मणामाखवदारनिरोधे उपायोऽय सर्वोऽभिहित । पोराणस्य कर्मणस्तपसा क्षयो भवति । सवरपूर्विका निर्जरा मुक्तये भवति न मवरहोनेति पूर्वं मवरुपन्यास ॥१४४४॥

अब्भतरवाहिरगे तवम्मि सत्ति सगं अगूहंतो ।

उज्जमसु सुहे देहे अप्पडिबद्धो अणल्लसो स ॥१४४५॥

'अब्भतरवाहिरगे' अन्यन्तरे बाह्ये च तपस्युद्योग कुह स्वा शक्तिमगूहमान । मुखे शरीरे चानामक्ति आलस्य । न हि शरीरे सुखे वा आदरवास्तत्प्रतिपक्षभूते तपसि प्रयत्ने । नै शालस्य प्रवर्तते तपसि । तपस' प्रत्युद्भावेन स्थित सुखे शरीरे च प्रतिवदरवमलस्त्वमावेदितमनेन ॥१४४५॥

गा०—निद्रा रूपी अन्धकारके समान मनुष्याका कोई दूसरा अन्धकार नहीं है । ऐसा जानकर हे क्षपक ! तुम ध्यानमे विघ्न करने वाली निद्राको जीतो ॥१४४२॥

गा०—अथवा यदि निद्राको नहीं जीत सक्ते हो तो आगममे निद्रा त्यागनेका उो समय रात्रिका तीसरा पहर कहा है उस समय निद्रा त्यागो । अथवा उपवाससे यके हुए आपकी समाधि जिस प्रकार हो उस प्रकार करो ॥१४४३॥

आगे उक्त कथनका उपनहार और आगेका अधिकार कहते हैं—

गा०—नवीन कर्मके आनेके द्वारको रोकनेका यह सब उपाय कहा है । पूर्व सचित्त कर्मोंका क्षय तपने होता है । मवर पूर्वक निर्जरा मोक्षका कारण होती है, मवरके बिना निर्जरा मोक्षका कारण नहीं है । इसलिये पहले सवरका कथन किया है ॥१४४४॥

गा०—टी०—हे क्षपक ! अपनी शक्तिको न छिपाकर अभ्यन्तर और बाह्य तपमे उद्योग करो । मुखमे और शरीरमे आसक्त मत होजो और न आलस्य करो । जो शरीर और सुखमे आदरभाव रखता है वह उनके विरोधी तपमे प्रयत्न नहीं करता । तथा आलस्य भी तपमे प्रवृत्ति नहीं करता । इसने मुख और शरीरमे आनक्ति तथा आलस्यको तपके लिये विघ्नकारी कहा है ॥१४४५॥

सुहसीलदाए अलसत्तणेण देहपडिबद्धदाए य ।

जो सची मतीए ण करिज्ज तव स सत्तिसम ॥१४४६॥

‘सुहसोन्दाए’ सुखासक्ततया, बलसतया, देहप्रतिबद्धतया वा य शक्ती सत्यामपि तपो न करोति शक्तिमम् ॥१४४६॥

तस्स ण भावो सुद्धो तेण पउचा तदो हवदि माया ।

ण य होइ धम्मसद्धा तिक्वा सुहदेहपिक्खाए ॥१४४७॥

‘तस्स ण भावो’ तस्य परिणामो न शुद्धस्तस्मात्तेन शक्तिममे तपस्यवतमानेन माया प्रयुक्ता भवति । यतस्ततो न भाव शुद्ध, धर्मोत्था च श्रद्धा न भवति । केन ? ‘सुहदेहपिक्खाए’ सुखे देहे च प्रेक्षया तत्र आसक्त्या बुद्धया हेतुभूतया ॥१४४७॥

अप्पा य वचिओ तेण होइ विरिय च गूहिय भवदि ।

सुहसीलदाए जीवो वघदि हु असादवेदणिय ॥१४४८॥

‘अप्पा य वचिओ’ जाभा वचित्तस्तेन । शक्यन्तुम्पे तपस्यनशुच्यतेन शक्तिश्च प्रच्छादिता भवति । सुखासक्ततया जीवो वचनान्यमानवेदनीय ज्ञानेकभवेपु दु खावह ॥१४४८॥

आलस्यदोषमाचष्टे—

विरियतरायमलसत्तणेण वघदि चरित्तमोह च ।

देहपडिबद्धदाए साधु सपरिग्रहो होइ ॥१४४९॥

विरियतराय वीर्यान्तरायमलसतया वघ्नाति चारित्तमोहनीय च । शरीरासक्त्या साधु सपरग्रहा भवति ॥१४४९॥

मायादोसा मायाए ह्ति मज्जे वि पुव्वणिदिदद्धा ।

धम्मम्मि णिप्पिवासस्स होइ सो दुल्लहो धम्मो ॥१४५०॥

गा०—सुखमे आसक्त होनेसे, आलस्यसे और शरीरमे प्रतिबद्ध होनेसे जो शक्ति होने हुए भी शक्तिके अनुसार तप नहीं करता ॥१४४६॥ उसका परिणाम सुद्ध नहीं है । अत शक्तिके अनुसार तपमे प्रवृत्ति न करने वाला मायाचारी है । तथा सुख और शरीरमे आसक्ति होनेसे उसको धर्ममे तीव्र श्रद्धा नहीं है ॥१४४७॥

गा०—जो शक्तिके अनुसार तपमे तत्पर नहीं है वह आत्माको ठगना है और अपनी शक्तिको छिपाता है । तथा सुखमे आसक्त होनेसे असात्वेदनीयको बांधता है जो अनेक भवोंमे दु खदायी है ॥१४४८॥

आलस्यके दोष कहते हैं—

गा०—आलसी होनेमे वह वीर्यान्तराय और चारित्र मोहनीय कर्मका वन्ध करता है । तथा शरीरमे आसक्ति रखनेमे वह साधु परिग्रही होता है ॥१४४९॥

'मायादोसा' मायादोषा सर्वत्रपि पूर्वनिदिष्टा । मायाया तपसि स्वशक्तिनिगूहनलक्षणाया भवन्ति
वि च धम्मन्मि धर्मे तपोलक्षणे । निष्पिवासस्त अनारस्य जन्मान्तरे दुर्लभो भवति धर्म ॥१४५०॥

दोषान्तरमपि निगदति—

पुञ्जत्तवगुणाण चुक्को ज तेण वचिओ होइ ।

विरियणिगूही वधदि माय विरियतराय च ॥१४५१॥

पुञ्जत्तवगुणाण पूर्वोक्तमवरनिर्जरा चेत्येवमादिभिस्तप माध्यैरपकारैः । 'वुक्को' व्युत् । 'ज'
यस्मान् । 'तेण तेन तप साध्यापकारप्रच्युतत्वेन । 'वचिओ होइ' वञ्चितो भवति । विरियणिगूही वधदि
माय' वीर्यमवरणपरा वध्नाति मायाकर्म 'विरियतराय च' वीर्यान्तराय च ॥१४५१॥

तवमकरितस्मेटे दोसा अण्णे य होति सतस्स ।

होति य गुणा अणेया सत्तीए तव कुणतस्म ॥१४५२॥

'तवमकरितस्स' तपस्यनुद्यतस्येमे दोषा अन्ये च भवन्तीति ज्ञातव्या । नवन्ति चानेकगुणा सक्या
तपसि वनमानस्य ॥१४५२॥

तपोगुणप्रख्यापनार्थोत्प्रवन्ध —

इह य परत्त य लोए अदिमयपूयाओ लहइ मुतवेण ।

आवज्जिज्जति तहा देवा वि मइदिया तवमा ॥१४५३॥

इह जन्मनि परत च तपसा सम्यक् कृतेन अतिसयपूजा लभ्यते । आवर्ज्यन्ते च तपसा देवा
सन्धवा ॥१४५३॥

अप्पो वि तवो बहुग कल्लाण फलइ सुप्पओगकदो ।

जह अप्प वडवीअं फलइ चडमणैयपागेह ॥१४५४॥

गा०—तपसे अपनी शक्तिको छिपाने रूप मायाचारमे वे मय दोष होने हैं जो पूर्वमे माया-
के दोष कहे हैं । जो धर्ममे अनादर भाव रखता है उसको हमरे जन्ममे धर्मको प्राप्ति दुर्लभ होती
है ॥१४५०॥

अन्य दोष भी कहते हैं—

गा०—पूर्वमे जो तपके द्वारा साध्य सबर निर्जरा इत्यादि उपकार कहे हैं उनमे च्युत होने
मे वह उनमे वचिन होता है । और अपनी शक्तिको छिपानेसे मायाकर्म और वीर्यान्तराय कर्मका
बन्ध करता है ॥१४५१॥

गा०—जो तपमे तत्पर नहीं होता उसको ये दोष तथा अन्य दोष होते हैं और जो शक्तिके
अनुसार तप करता है उसमे अनेक गुण होते हैं ॥१४५२॥

आगे तपके गुण कहते हैं—

गा०—सम्यक् तप करनेमे इस जन्ममे और परजन्ममे भान्तिगय पूजा प्राप्त होती
है । तथा तपमे इन्द्रमहित मय देव भी वितय करते हैं ॥१४५३॥

'अप्पोवि तभो अल्पमपि तप मृत्कल्याण फलति सुसयमनिष्पन्न । मुष्टु प्रमुज्यते प्रवत्यतेऽनेनेति च विग्रहे सयम सुप्रयोगशब्देनोच्यते । यथा अल्पमपि बटबीज फलति बटमनेत्रप्ररोह अल्पमपि पृथुल फल-
दायित्व इत्येतदाख्यातमनया ॥१४५४॥

मुट्ठु कदाण वि मस्सादीण विग्घा हवति अदिवहुगा ।

मुट्ठु कदस्स तवस्स पुण णत्थि कोड वि जए विग्घो ॥१४५५॥

'मुट्ठु क्वाण वि' सम्यक् कृतानामपि क्षयादीना अतीव विघ्ना भवन्ति । तपस पुा सम्यक् कृतस्य जगति न कश्चिद् विघ्न फलदाने । निविघ्नफलदायित्व तपसो महात्म्य वधितम् अनया ॥१४५५॥

जणमरणादिरोगादुरस्म सुतवो वरोसथ होटि ।

रोगादुरस्म अदिविरियमोसथं मुप्पउत्त वा ॥१४५६॥

'जणमरणादिरोगादुरस्स' जन्ममरणआघापीडितस्य सुतपो वरोपध भवति । रोगपीडितस्य सुप्रयुक्त-
मतिवीर्यमौषधमिव । जननमरणादीना विनाशकत्व तत्कारणकर्मविनाशादनेनाख्यायने ॥१४५६॥

ससारमहाडाहेण डज्झमाणस्म होड सीयधरं ।

सुतवोदाहेण जहा सीयधर डज्झमाणस्म ॥१४५७॥

'ससारमहाडाहेण' ससारमहादाशनेन दह्यमानस्य तपो भवति जलग्न । यथा दह्यमानस्य सूर्याशु-
भिर्धारुहम् । सामारिकदु खनिमू लनकारिता तपसोऽनेन सूच्यते ॥१४५७॥

णीयल्लओ व मुत्तवेण होड लोगस्म सुप्पिओ पुरिसो ।

मायाव होड विस्समणिज्जो सुत्तवेण लोगस्स ॥१४५८॥

गा०—टो०—सम्यक् सयमपूर्वक किया गया थोडा भी तप बहुत करवाणकारी होता है ।
गाथामे सुप्रयोग शब्दमे 'जिसके द्वारा मुष्टुरूप प्रवर्तित होता है' इस विग्रहके अनुसार सयम
लिया गया है । जैसे छोटान्ना भी बटबीज अनेक शाखा प्रशाखासि पूर्ण बटवृक्षरूपसे फलता है
उसी प्रकार थोडा भी तप बहुत फल देता है । यह इस गाथाके द्वारा कहा है ॥१४५४॥

गा०—घान्य आदिकी सेती बहुत सावधानतासे परिश्रमपूर्वक करनेपर भी उममें बहुत
विघ्न आते हैं । किन्तु सम्यक् रूपसे किये गये तपके फल देनेमे कोई विघ्न नहीं आता । निविघ्न
फल देना तपका महात्म्य है यह इस गाथाके द्वारा कहा है ॥१४५५॥

गा०—टो०—जैसे रोगमे पीडित पुरुषके लिए यत्नपूर्वक दी गई अति शक्तिशाली औषध
होती है । उसी प्रकार जन्ममरण आदि रोगमे पीडितकी श्रेष्ठ औषध तप है । तप करनेसे
जन्ममरणके कारण कर्मोका विनाश होता है । इसमे तपको जन्ममरण आदिका विनाशक बहा
है ॥१४५६॥

गा०—समारूपी महादाहमे जलने हुए प्राणीके लिए तप जलधर है, जैसे सूर्यकी किरणोमे
जलते हुए मनुष्यके लिए धाराधर होना है । तप सामारिक दु ग्योंको निमूल करता है, यह इससे
सूचित किया है ॥१४५७॥

‘णीयत्त्वो व’ दन्धुरिव लोकेत्य नितरा प्रियो भवति पुरुष । शोभनेन तपसा सर्वजगत्प्रियता करोति तप इत्यनेन आख्यायाम् । ‘मादाव होइ विस्सतणिज्जो’ मातेव विश्वसनीयो भवति लोरस्य । सर्वजगद्विद्वान् स्यत्व तप सम्पादमनेन कथ्यते ॥१४५८॥

कल्लाणिड्डिसुहाइ जावदियाइं हवे सुरणराणं ।

ज परमणिव्वुदिसुह व ताणि सुतवेण लब्धति ॥१४५९॥

‘कल्लाणिड्डिसुहाइ’ कल्याणति स्वर्गावतरणादीनि ऋद्धयो विभूतयश्चब्रह्मलक्षणाना अर्द्धचक्रवर्तिना सुखानि च यानि देवाना मनुष्याणा च, यच्च परमनिर्वृत्तिसुप्त तानि गोभनेन तपसा लभ्यन्ते ॥१४५९॥

कामदुहा वरधेणू णरस्म चिन्तामणिव्व होइ तओ ।

तिलओव्व णरस्म तओ माणम्स विहूसणं सुतओ ॥१४६०॥

‘कामदुहा’ कामदुघा वरधेणु, चिन्तामणिश्च तप यदभिलषित तस्य दानान् । तिलनाल्यालङ्कारो नरस्य गोभन तप, मानस्य विभूषण च । तपसा हि सर्वेण जगता मान्यस्य मान गोभते इति ॥१४६०॥

होइ सुतवो य दीओ अण्णाणतमधयागचारिस्म ।

सव्वावत्थासु तओ वट्ठदि य पिदा व पुरिमस्म ॥१४६१॥

होइ सुतओ य दीओ’ सम्यक्तप प्रदीपो भवति अज्ञाननममि महति सचरत । एतेन जगतोज्ञानाख्य तमो विनाशयति तप इति सूचित । सर्वावस्थाम् हिते तपो वतते पितेव पुत्र ॥१४६१॥

विसयमहापकाउलगड्डाए सकमो तवो होइ ।

होइ य णावा तरिदु तवो कसायातिचवलणदि ॥१४६२॥

गा०—सम्यक् तप करनेमें पुरुष दन्धुकी तरह लोगोंको प्रिय होता है । इससे यह बहा है कि सम्यक् तपसे मनुष्य सब जगत्का प्रिय होता है । तथा सम्यक् तपमें मनुष्य माताकी तरह लोकवा विश्वासभाजन होता है । इसमें तपमें सर्वजगत्का विश्वासपात्र होना कहा है ॥१४५८॥

गा०—स्वर्गस अवतरित होना आदि पाच कल्याणक, चक्रवर्ती और अर्धचक्रियोंकी विभूतियां तथा देवों और मनुष्योंके जितने सुख हैं, तथा जो मोक्षवा परम सुख है वह सब सम्यक् तपमें प्राप्त होने हैं ॥१४५९॥

गा०—टी०—जो चाहो वह तपसे मिलता है इसलिए सम्यक् तप मनुष्यके लिए कामधेनु और चिन्तामणि रत्नके समान है । तथा मनुष्यके मन्तकपर शोभित होनेवाले तिलक नामक अलंकारके समान है और मानका विशिष्ट भूषण है अर्थात् तपमें सर्वजगत्के द्वारा मान्य पुरुषका मान शोभित होता है ॥१४६०॥

गा०—अज्ञानरूपी घोर अन्धकारमें विचरण करनेवालेके लिए सम्यक् तप दीपकके समान है । इसमें सूचित किया है कि तप जगत्के अज्ञानरूपी अन्धकारको नष्ट करता है । तथा सम्यक् तप सब अवस्थाओंमें पितृकी तरह पुरुषको हितमें लगाता है ॥१४६१॥

गा०—यह विषय महान् कोचहमें भरे गर्तेके समान हैं क्योंकि उसमें निकलना बहुत कठिन

‘विसयमहापकाडलग्नाए’ विषयो महापकाडुलगर्त इव दुस्तरत्वान् । तस्मिन् मन्मो भवति । तदुत्तरणहेतुर्भवति तप । तपो नीरुलघयितु कपायानिचपलनदो ॥१४६२॥

फलिहो व दुग्गदीण अपोयदुक्खावहाण होइ तवो ।

आभिसतण्हाछेटणममत्थमुट्ठकं व होइ तवो ॥१४६३॥

‘फलिहो व दुग्गदीण’ दुर्गतीना परिष इव । कीदृगा दुर्गतीना ? अनेकदु खावहाना । किं च विषय-तृष्णाच्छेदनमर्थं च तप उदरुमिद तृष्णाच्छेदने ॥१४६३॥

मणदेहदुक्खवित्तामिदाण सरणं गदी य होइ तवो ।

होइ य तवो सुतित्थ सच्चासुहटोसमलहरण ॥१४६४॥

‘मणदेहदुक्खवित्तामिदाण’ मानमाना शरीराणा दुग्गाना ये विनस्तान्तेषा शरण गतिश्च तप । भवति च तपस्तीर्थं सर्वानुभदोषमलनिरामकारि ॥१४६४॥

मसारविममदुग्गे तवो पणट्ठस्स देमओ होदि ।

होइ तवो पच्छयणं भन्नत्ताग्ग्मि दिग्घग्ग्मि ॥१४६५॥

‘ससारविसमदुग्गे’ ससारो विषमदुर्ग इव दुष्प्रवृत्तयिन्वान् । तस्मिन्प्रणष्टस्य दिद्भूटस्य । ‘तवो देसगो होदि’ तप उपदेष्टा भवति । मसारविममदुर्गमुत्तारयतीति । ‘होदि तवो पच्छयणं’ भवति तप पथ्यदन ‘भव-कातारग्ग्मि’ भवाटव्या । ‘दिग्घग्ग्मि’ दीर्घे ॥१४६५॥

रक्खा भएमु सुतवो अब्भुदयानं च आगरो सुतवो ।

णिस्सेणी होइ तवो अक्खयमोक्खस्स मोक्खस्स ॥१४६६॥

‘रक्खा भएमु सुतवो’ भयेषु रक्षा सुतप । अभ्युदयाना वाक्कर सुतप मोक्षस्य अशयसुखस्य निय-यणी भवति तप ॥१४६६॥

है । तप उसमें निकलनेमें कारण है । तथा तप कपायरूप अति चपल नदीको पार करनेके लिए नौका है ॥१४६२॥

गा०—अनेक दु खदायी दुर्गंतियोंके लिए तप अर्गलके समान है । तथा विषयोकी तृष्णाको नष्ट करनेके लिए जलके समान है । जैसे जलमें प्यास बुझ जाती है वैसे ही तपमें विषयोकी प्यास बुझ जाती है ॥१४६३॥

गा०—जो मानसिक और शारीरिक दु खोंमें पीड़ित हैं उनके लिए तप शरण और गति है । तप सर्व अशुभ दोषरूप मलको दूर करनेवाला तीर्थ है ॥१४६४॥

गा०—यह मनार विषम दुर्गके समान है क्योंकि उससे निवृत्तना कठिन है । उस मनार-रूपी दुर्गमें जो दिशा भूल गये हैं उनके लिए तप उपदेशक है अर्थात् मसाररूपी विषम दुर्गसे निवृत्तनेका मार्ग बतलाकर उसमें निकालता है । तथा मुदीर्घं भवरूपी भयानक वनमें कलेवाके समान सहायक है ॥१४६५॥

गा०—अभ्युत्-तप भयमें रक्षा करता है, अभ्युदयोकी ध्यान है और अविनाशी सुख-स्वरूप मोक्षमें जानेके लिए नौका है ॥१४६६॥

त णत्थि ज ण लब्भइ तवमा मम्म कएण पुरिसस्स ।
अग्गीव त्ठणं जल्लिओ कम्मतणं डहदि य तवग्गी ॥१४६७॥

‘तण्णत्थि’ तन्नास्ति यन्न लब्धते तपना सम्यक्कृतेन । तपोग्निं कर्मतृणं दहति तृणमिवानि प्रज्वलित ॥१४६७॥

सम्म ऋद्धम्म अपरिस्मवस्स ण फलं तवस्स वण्णेदु ।
कोई अत्थि समत्थो जस्स वि जिब्भासयमहस्स ॥१४६८॥

‘सम्म कवस्स सम्यक् कृतस्य निराश्रयस्य तपनं फलं वर्णयितुं न कश्चित्त्वमर्थास्ति जिह्वाशतसहस्रं यदप्यस्ति ॥१४६८॥

एव णादूण तव महागुणं सजमम्मि ठिच्चाणं ।
तवसा भावेदव्वा अप्पा णिच्च पि जुत्ते ण ॥१४६९॥

‘एव णादूण एव ज्ञात्वा तपो महापचारि सयमे स्थित्वा तपना भावयितव्य आत्मा नित्यमपि उपयुक्तेन ॥१४६९॥

जह गहिदवेयणो वि य अदयाकज्जे णिउज्जदे भिच्चो ।
तह चैव दमेयव्वो देहो मुणिणा तवगुणेसु ॥१४७०॥

‘जह गहिदवेयणो वि य’ यथा गृहीतवेतनोऽपि न दयाकायं नियुज्यते भूतक । तथैव दमितव्यो देहो मुनिना तपोगुणेषु । उत्तरगुण ॥१४७०॥

इच्चेव सामणघम्मो कहिदो मे दसविहो मगुणदोसो ।
एत्थ तुममप्पमत्तो होहि ममण्णागदमन्धीओ ॥१४७१॥

गा०—ससारमे ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो सम्यक्त्वासे किये गये तपके द्वारा न प्राप्त होता हो । जैसे प्रज्वलित आग तृणको जलाती है वैसे ही तपत्पपी आग कर्मत्पपी तृणोंको जलाती है ॥१४६७॥

गा०—सम्यक्कृत्तमे किये गये और कर्मान्वयसे रहित तपके फलका वर्णन करनेमे जिसके एक हजार जिह्वा हो वह भी समर्थ नहीं है ॥१४६८॥

गा०—इस प्रकार तपको महान् उपकायी जानकर समयमे स्थित सयमीजनोको नित्य ही उपयोग लगाकर आत्मामे तपकी भावना करनी चाहिए ॥१४६९॥

गा०—जैसे वेतन लेनेवाले सेवकको कार्यमे नियुक्त करते समय उसपर दया नहीं की जाती । उन्ही प्रकार मुनिको अपने शरीरको तपरूप गुणमें लगाना चाहिए । अर्थात् जब शरीर को भोजनरूपी वेतन दिया जाना है उसपर दया न करके उसको तपकी माधनामें लगाना चाहिए ॥१४७०॥

‘इच्छेव समणधम्मो’ इत्येव श्रमणधर्मं दशविधं मणुगदोषं कथितो मया । ‘एत्थं तुममपमत्तो होहि’
अत्र दशविधे धर्मे त्वमप्रमत्तो भव, ममागतस्मृतिक इति गणिना स्वशिक्षापरिममत्तिरादशिता ॥१४७१॥

तो खवगवयणकमलं गणिरविणो तेहि वयणरस्सीहि ।

चित्तप्पमायविमलं पफुल्लिद पीदिमयरदं ॥१४७२॥

‘तो खवगवयणकमलं’ तत्र शिक्षानन्तरं तस्य क्षपकस्य वदनकमलं प्रफुल्लितं मृषिधर्मरश्मेस्त्वैवं-
चनररिमभि चित्तप्रमादविमलं प्रीतिमकरद ॥१४७२॥

वयणकमलेहिं गणिअभिमुहेहिं सा विंभियच्छिपत्ते हिं ।

सोभइ इहं सूरुदयम्मि फुल्लं व णलिणिवणं ॥१४७३॥

‘वयणकमलेहिं’ वदनकमलं यतीनां गणिनोऽभिमुखे विस्मिताश्रियं सा सभा शोभा बहति स्म ।
मूर्योदये पुष्पितनलिनवनमिद ॥१४७३॥

गणिउवएमामयपाणएण पण्हादिटम्मि चित्तम्मि ।

जाओ य णिव्वुदो सो पादूणय पाणय तिसिओ ॥१४७४॥

गणिउवएमामयपाणएण’ गणिन उपदेशामृतपानकेन प्रह्लादिते चित्ते जातोऽनो क्षपकं मुद्युत् निवृत्त
तृपितं पानकं पीत्वेव ॥१४७४॥

तो सो खवओ त अणुसद्धिं मोऊण जादसवेगो ॥

उट्टित्ता आयरियं वदइ विणएण पणदमो ॥१४७५॥

गा०—इस प्रकार है क्षपक । मैंने गुणदोषोंके विवेचनपूर्वकं दस प्रकारके श्रमण धर्मका
कथन किया । उसको स्मरण करके तुम दस प्रकारके धर्ममें अप्रमादी होओ । इस प्रकार निर्या-
पकाचार्यने अपनी शिक्षाकी ममाप्ति सूचित की है ॥१४७१॥

गा०—इस शिक्षाके अनन्तर उस क्षपकका मुखरूपी कमल आचार्यरूपी मूर्धके वचनरूपी
किरणोंसे प्रफुल्लित हो जाता है, चित्तके प्रसन्न होनेसे उस मुख कमलकी विरूपना चली जाती
है और उसमेंसे प्रीतिरूपी पुष्परस झरने लगता है ॥१४७२॥

गा०—जैसे सूर्यके उदय होनेपर खिल हुआ कमलका वन शोभित होता है उसी प्रकार
आचार्यके अभिमुख हुए मन्त्रियोंके मुख कमलोंसे, जो आश्चर्ययुक्त नेत्ररूपी पत्रोंमें मयुक्त होते हैं,
वह मुनिमभा शोभित होती है ॥१४७३॥

गा०—आचार्यके उपदेशरूपी अमृतका पान करके चित्तके आह्लादयुक्त होनेपर क्षपक
वैसा ही सुखी होता है जैसा प्यासा अमृतमय पानक पीकर होता है ॥१४७४॥

गा०—उनके पदचान् वह क्षपक आचार्यका उपदेश सुनकर बँरायमे भर जाना है और
उठकर अगोको नम्र करके विनयपूर्वक आचार्यको बन्दना करता है ॥१४७५॥

१ हि विंभि-आ० । दावन्दिदत्तपत्तेहिं-मु० । २ सोमदि ममभा म-मु० । ३ विस्नु-
माप्ति-मु० ।

‘तो सो ह्रवगो’ ततोऽगो शपव तदनुदासन श्रुत्वा जातमवेग उत्थाय आचार्यं वदते विनयेन
प्रणवाङ्ग ॥१४७५॥

भते सम्म णाण सिरसा य पडिच्छिदं मए एदं ।

ज जह उच्च त तह^१ करेमि विणओ तदो भणइ ॥१४७६॥

‘भत्ते सम्म णाण’ भगवन् सम्यग्ज्ञान पतच्छिरसा मया परिगृहीत । यद्यथोक्तं भवद्भिस्तथा
करिष्यामि इति वदति ॥१४७६॥

अप्पा णिच्छरदि जहा परमा तुट्ठी य हवदि जह तुज्झ ।

जह तुज्झ य सघस्स य मफलो य परिस्समो होइ ॥१४७७॥

‘अप्पा णिच्छरदि जहा’ अह यथा निस्तीर्णो भवामि समागत । यथा सुप्मान् परमा तुष्टिर्भवेति ।
भवता सघस्य चास्मदनुग्रहे प्रवृत्तानां थमस्य फलं भवति ॥१४७७॥

जह अप्पणो गणस्य य सघस्स य विस्सुदा हवदि किन्ती ।

मघस्स पसायेण य तहह आराहइस्सामि ॥१४७८॥

‘जह अप्पणो गणस्स य’ यथा मम गणस्य सघस्य च बोधिविश्रुता भवति तथाहमागधयिष्यामि सघस्य
प्रसादेन ॥१४७८॥

धीरपुरिसेहिं ज आयरियं ज च ण तरति कापुरिसा ।

मणसा वि विचिंतेदु तमह आराहण काह ॥१४७९॥

धीरपुरिसेहिं धीरं पुरपंथी आचरिता, या च न शक्नुवन्ति क्षापुण्या मनसापि विगतयितुं तादृ-
शीमाराधनामहं करिष्यामि ॥१४७९॥

गा०—और कहता है—भगवन् । मैंने आपके द्वारा दिया सम्यग्ज्ञान सिर नवाकर स्वीकार
किया । आपने जो-जो जिस प्रकार कहा है मैं वैसा ही करूँगा ॥१४७६॥

गा०—जिस प्रकारसे मैं ससारमें पाए उनहूँ, जिस प्रकारसे आपको परम सन्तोष हो,
मेरे कल्याणमें मलग्न आपका और सघका परिश्रम जिस प्रकारसे मफल हो ॥१४७७॥

गा०—जिस प्रकार मेरी धीर सघकी कीर्ति फैले, मैं सघकी कृपामें उम प्रकार रत्नत्रयकी
आराधना करूँगा ॥१४७८॥

गा०—धीर पुरपाने जिसका आचरण किया है, कायर परप जिसकी मनमें कल्पना भी
नहीं कर सकते, मैं ऐसी आराधना करूँगा ॥१४७९॥

एव तुज्ज उवएमाभिदमामाडदत्तु को णाम ।

वीहेज्ज छुहादीणं मरणम्स वि ञायगे वि णरो ॥१४८०॥

‘एव तुज्ज’ एव भवतामुपदेशामृतमास्वाद्य को नाम विभेति कातररेऽपि नर क्षुधादीना मृत्यो-
र्वा ॥१४८०॥

किं जंपिएण ब्रह्मणा देवा वि सडदिया मह विग्घ ।

तुम्हं पादोवग्गहगुणेण काटु ण अग्गिंहति ॥१४८१॥

‘किं जंपिएण ब्रह्मणा’ किं ब्रह्मणा जल्पितेन देवा जपि शतमखप्रमुखा मम विघ्न क्तु असमर्था भव-
त्पादोपग्रहणगुणेन ॥१४८१॥

किं पुण छुहा व तण्हा परिस्समो वादियादि रोगो वा ।

काहिंति ज्ञाणाविग्घ टदियविसया कसाया वा ॥१४८२॥

‘किं पुण किं पुन कुवन्ति ध्यानम्य विघ्न क्षुधा, तृषा वा, परिश्रमो वा, वातिकादिरोगा वा
इन्द्रियाणा विषया, कषाय वा ॥१४८२॥

ठाणा चलेज्ज मेरू भूमि ओमच्छिया भविस्सिहिदि ।

ण य ह गच्छमि विग्गदि तुज्ज पायप्पमाएण ॥१४८३॥

‘ठाणा चलिज्ज’ स्वम्मात्स्थानाच्चलि’यति मेरु । भूमि परावृतमस्तका भविष्यति । नाह विवृति
गमिष्यामि भवता पादप्रमादेन ॥१४८३॥

‘एव खवओ मथारगओ खवइ विरिय अगूहत्तो ।

देदि गणी वि सदा से तह अणुसट्ठि अपरिदत्तो ॥१४८४॥

समाप्तमनुशासनम् ॥१४८४॥

गा०—आपके इस प्रकारके उपदेशामृतको पीकर कौन कायर भी मनुष्य भूम प्यास और
मृत्युसे डरेगा ॥१४८०॥

गा०—अधिक मैं क्या कहूँ, आपके चरणोंके अनुग्रहमे इन्द्रादि प्रमुख देव भी मेरी
आगधनामे विघ्न नहीं कर सकते ॥१४८१॥

गा०—तब भूख, प्यास, वातादि अन्य रोग, अथवा इन्द्रियोंके विषय और
कषाय ध्यानमे विघ्न कैसे कर सकते हैं ॥१४८२॥

गा०—सुमेरु अपने म्यानमे विचलित हो जाये और पृथ्वी उलट जाये किन्तु आपके
अनुग्रहमे मैं विकारमे विचलित नहीं होऊँगा ॥१४८३॥

गा०—इस प्रकार क्षपक मन्तर पर आरूढ होकर अपनी शक्तिको न टिपाकर पूर्वोपाजित
अनुम कर्म को निर्जरा करता है और आचार्य भी बिना विरक्त हुए उसे मदा सन् शिक्षा देना
है ॥१४८४॥

सारणेत्येतत्सूत्रपदव्याख्यानमुत्तरम्—

अकडुगमतिचयमणविलच अकसायमलवणममधुरं ।

अविरस मदुरभिगघ अच्छमणुणह अणदिसीद ॥१४८५॥

'अकडुग' अकटुव, अतिक्त, अनग्ल, अकपाय, अलवण, अमधुर, अविरस, अदुरभिगघ, स्वच्छ-
मनुष्णमणीत ॥१४८५॥

पाणगमसिभल परिपूय शीणस्स तस्स दादच्चं ।

जह वा पच्छ खवयस्म तस्म तह होड दायच्च ॥१४८६॥

'पाणगमसिभल' पानकमश्लेष्मकारि परिपूत शीणाय क्षपकाय दातव्य । यथाभूत वा क्षपकस्य तस्य
पथ्य तथाभूत दातव्यम् ॥१४८६॥

सधारत्थो खवओ जडया खीणो हवेज्ज तो तइया ।

वोसरिदच्चो पुव्वविधिणेव सोपाणगाहारो ॥१४८७॥

'सधारत्थो' सस्तरस्य क्षपको यदा शीणो भवेत्तदा व्युत्सृष्टव्योऽसौ पानकविकल्प पूर्वविधि-
नेव ॥१४८७॥

एव सधारगदस्स तस्म कम्मोदएण खवयस्स ।

अभे कत्थइ उट्ठिज्ज वेयणा ज्झाणविग्घयरी ॥१४८८॥

'एव सधारगदस्स' एव सस्तरगतस्य क्षपकस्य कर्मोदयेन क्वचिदुद्देदोपजायते ध्यानविघ्न-
कारिणी ॥१४८८॥

अब पूर्व गाथामे आगत 'सारण' पदका व्याख्यान करते हैं—

गा०—टी०—क्षपको दिया जानेवाला पानक कटुक, चरपरा, खट्टा, कसैला, नमकवाला, मीठा, स्वादयुक्त और दुर्गन्ध युक्त नहीं होना चाहिये अर्थात् वह न कटुक हो, न चरपरा हो, न खट्टा हो, न कसैला हो, न नमकसे युक्त हो, न मीठा हो, तथा स्वादहीन और दुर्गन्धयुक्त भी न हो । स्वच्छ हो, न गर्म हो और न ठंडा हो ॥१४८५॥

गा०—कफ पैदा करने वाला न हो । कपडे से छान लिया गया हो । इस प्रकार कमजोर क्षपको ऐसा पेय देना चाहिये जो उसके लिये पथ्य हो, अर्थात् समाधिमें विघ्न डालने वाला न हो ॥१४८६॥

गा०—जय मस्तरारूढ क्षपक अतिशीण हो जाये तब पूर्वविधिमें पानकका त्याग करा देना चाहिये ॥१४८७॥

गा०—इस प्रकार सस्तरारूढ क्षपकके कर्मके उदयसे किसी अगमे ध्यानमें विघ्न डालने वाली वेदना यदि उत्पन्न हो जाये ॥१४८८॥

बहुगुणसहस्रभरिया जदि णावा जम्मगायरे भीमे ।

भिज्जदि हु रयणभरियाणावा व समुदमज्झमि ॥१४८९॥

‘बहुगुणसहस्रभरिदा’ बहुभिर्गुणसहस्रं, सम्पूर्णा यतिनीर्जन्मसागरे भीमे यदि भेदमुपेयान रत्नपूर्णा नीरिव समुद्रमध्ये ॥१४८९॥

गुणभरिद जदिणाव दट्टूण भवोदधिम्मि भिज्जत ।

कुणमाणो हु उवेक्ख को अण्णो हुज्ज णिद्धम्मो ॥१४९०॥

‘गुणभरिद जदि णाव’ गुणं पूर्णा यतिनाव भवसमुद्रमध्ये भिद्यमाना दृष्ट्वा य करात्पुपक्षा तस्मात्कोज्यो भवेद्धर्मनि क्रान्त ॥१४९०॥

विज्जावच्चस्स गुणा जे पुव्व वित्थरेण अक्खादा ।

तेमिं फिडिओ सो होड जो उक्खिखज्ज त खवय ॥१४९१॥

वेदनावच्चस्स गुणा’ वंपावृत्तस्य गुणा ये पूव विस्तरेण व्याख्यानास्तैस्य प्रच्युतो भवति य उपेक्षेण क्षयक ॥१४९१॥

तो तस्स तिग्गिछाज्जाणएण खवयस्स सव्वमत्तीए ।

विज्जदेसेण व से पडिक्कम्म होड कायव्व ॥१४९२॥

‘तो तस्स’ ततस्तस्य क्षयकस्य चिकित्सा जानता सर्वशक्त्या प्रनिर्गमं कर्तव्यं वैद्यस्य बोधे-
सेन ॥१४९२॥

णाऊण विकार वेदणाए तिमसे करेज्ज पडियार ।

फासुगद्वेहिं करेज्ज वायकफपित्तपडिघाद ॥१४९३॥

‘णाऊण विकार’ ज्ञात्वा विकार तस्या वेदनाया तत प्रतिकार कुर्यात् । योष्यद्रव्यैर्वातिकरपित्त-
प्रनिघान ॥१४९३॥

गा०—समुद्रके मध्यमे रत्नांमे भरी नावकी तरह हजारो गुणोंसे भरी यतिरूपी नौका यदि भयकर समारम्भागरे डूबने लगे ॥१४८९॥

गा०—गुणोंसे भरी नावको समार-समुद्रमे डूबते हुए देखकर यदि कोई उपेक्षा करता है तो उसमे बडा अधार्मिक दूसर कौन होगा ॥१४९०॥

गा०—जो क्षयककी उपेक्षा करता है वह पूर्वमे जो वंपावृत्तके गुण विस्तारमे कहे हैं उनमे च्युत होता है ॥१४९१॥

गा०—अत उम क्षयकके रोगकी चिकित्सा जाननेवाले नियोगकाचार्यको स्वयं अथवा वैद्यके पद्ममार्गमे सर्वगन्तिके साथ इलाज करना चाहिये ॥१४९२॥

गा०—उम क्षयककी वेदनामे त्रिवारकी जानकर प्रासुक द्रव्योंसे वान, पित्त और कफको रोकनेवाला प्रतिकार करना चाहिये ॥१४९३॥

वच्छीहिं अवद्वणतावणोहिं आलेवमीदकिरियाहि ।

अभमगणपरिमदण आदीहिं तिगिंछे खवयं ॥१४९४॥

‘वच्छीहिं’ वस्तिवर्मभिः अवद्वणतावणोहिं ऊपकरणतापने, आलेपनेन, शीतत्रियसा, जम्बूज-परिमर्दनादिभिश्च चिकित्सते क्षपक ॥१४९४॥

एव पि कीरमाणो परियम्मे वेदणा उवममो सो ।

खवयस्स पावकम्पोदएण तिच्चेण हु ण होज्ज ॥१४९५॥

एव पि कीरमाणे ण्ठीकारे क्षपकस्य वेदनोपरान्तं तीव्रेण पापकर्मोदयेन^१ नापि भवेदपि, नहि बहिर्द्रव्य-माहात्म्येनैव कर्मणि स्वफलं न प्रपच्छन्ति । तदेव हि बहिर्द्रव्य एकस्य वेदना प्रगमयति नापरम्येति प्रतीत-तरमेतद् ॥१४९५॥

अहवा तण्हादिपरीमहेहि खवओ हविज्ज अभिभूदो ।

उवमग्गोहिं व खवओ अचेदणो होज्ज अभिभूदो ॥१४९६॥

अहवा तण्हादिपरीमहेहिं अथवा तृडादिभिः परीपहेरभिभूतो भवेत्क्षपक, उपमर्गोभिभूतो निश्चेतन स्यात् ॥१४९६॥

तो वेदणावसड्ढो वाउल्लिदो वा परीमहादीहिं ।

खवओ अणप्पवमिओ सो विप्पलवेज्ज ज किं पि ॥१४९७॥

तो वेदणावसड्ढो^१ ततो वेदनावशात् व्याकुलित परीपहेरसर्गे क्षपकोज्जावनात्मवसो विप्रलयेदिति चिञ्चन ॥१४९७॥

गा०—वस्तिवर्म (एनिमा) गर्भं लोहेमे दामना, पनीना लाना, लेप लगाना, प्रासुक जलका सेवन कराना, माञ्जि, अगमर्दन आदिके द्वारा क्षपककी वेदना दूर करना चाहिये ॥१४९४॥

गा०—इस प्रकार प्रतीकार करने पर भी तीव्र पाप कर्मके उदयेमे यदि क्षपककी वेदना शान्त न हो । क्योंकि केवल ‘बाह्य’ द्रव्यके प्रभावमे ही कर्म अपना फल न दे, ऐसी बात नहीं है । वही बाह्य द्रव्य एककी वेदना शान्त करता है दूसरेकी नहीं करता । यह तो अनुभवसिद्ध है ॥१४९५॥

गा०—अथवा क्षपक प्यास आदिकी वेदनासे अभिभूत हो जाय या उपसर्गोसे पीड़ित होकर मूर्च्छित हो जाय ॥१४९६॥

गा०—या वेदनासे पीड़ित और परीपह् उपसर्गोसे व्याकुल होकर क्षपक अपने चगमे न रहे और जो कुछ भी बचने लगे ॥१४९७॥

उन्भासेज्ज व गुणसेदीदो उदरणवुद्धिओ खवओ ।

छट्ट दोच्च पडम व सिया कुटिलिदपदमिच्छतो ॥१४९८॥

'उन्भासेज्ज' वदेनायोग्य, मयमगुणश्रेणिन इतावतरणवुद्धि 'छट्ट' रात्रिभोजन, 'दोच्च' पाण, दिवमे 'पडम व' अशन वा । 'सिया' कदाचिन् । 'कुटिलिदपदमिच्छतो' स्वलापद इच्छन् ॥१४९८॥

तह मुज्जतो खवगो सारेदब्बो य सो तओ गणिणा ।

जह मो विसुद्धलेस्सो पच्चागदचेदणो होज्ज ॥१४९९॥

'तह मुज्जतो खवगो' मोहमपगच्छन् क्षपवस्तथा सारयितव्योऽप्यो तेन गणिना । कथ ? यथा विसुद्ध-
लेश्यो भवति प्रत्यागतचेतनश्च ॥१४९९॥

सारणोपाय कथयति—

कोसि तुम किं णामो कथं वससि को व सपही कालो ।

किं कुणसि तुम कह वा अत्थसि किं णामगो वाहं ॥१५००॥

'कोसि तुम' कस्य ? किनामधेय ? 'कथं वससि' स्व वससि ? 'को व सपही कालो' को वेदानी
काल ? किमय दिवा रात्रिर्वा ? 'किं कुणसि तुम' किं करोपि भवान् ? 'कथं वा अत्थसि' कथं वा तिष्ठसि ?
'किं णामगो वाहं' अहं वा किनामधेय ? ॥१५००॥

एव आउच्छित्ता परिकखहेदु गणी तय खवय ।

सारइ वच्छलयाए तस्स य कवय करिस्संति ॥१५०१॥

'एव आउच्छित्ता' एवमनुपगत सारयति गणी त क्षपक । किं सचेतनो निश्चेतन इति परीक्षितुकाम
वत्फलनया । यद्यस्ति चेतना क्वच करिष्यामीति मत्वा ॥१५०१॥

गा०—अयोग्य वचन कहे, या समयगुणकी सीढीसे नीचे उतरना चाहे, या निचले स्थानको
चाहते हुए रात्रि भोजन या रात्रिमे पानक लेना चाहे या दिनमे असमयमे भोजन करना
चाहे ॥१४९८॥

गा०—इस प्रकार जब क्षपक मोहमे पड जाये तो आचार्यको उमे सब पिछली बातोंका
स्मरण कराना चाहिये । जिसमे उसके परिणाम विसुद्ध हो और उसका यथार्थ ज्ञान लौट
आवे ॥१४९९॥

उसके उपाय कहते हैं—

गा०—तुम कौन हो ? तुम्हारा क्या नाम है ? कहाँ रहते हो ? इस समय दिन है या रात
है ? तुम क्या करते हो ? कहाँ बैठे हो ? मेरा क्या नाम है ॥१५००॥

गा०—इस प्रकार आचार्य उसकी परीक्षाके लिये कि यह मचेत अवस्थामे है या अचेत
अवस्थामे है, वास्तव्य भावसे बार-बार उमे स्मरण कराते हैं । उनकी यह भावना रहनी है कि
यदि यह सचेत है तो उसके मयमकी रक्षा की जाये ॥१५०१॥

जो पुण एवं ण करिज्ज मारण तस्म विविलचक्खुस्स ।
सो तेण होड णिद्धघसेण ख्वओ पग्गित्तो ॥१५०२॥

'जो पुण एव ण करिज्ज' य पुनरेव न कुर्यात् मारण । स्वल्पितचित्तवृत्ते म क्षपकम्बेन परित्यक्तो भवति मूरिणा ॥१५०२॥

एव मारिज्जतो कोई कम्भुवसमेण लभदि सदि ।
तह य ण लब्धिज्ज मदि कोई कम्मे उदिण्णम्मि ॥१५०३॥

'एव मारिज्जतो' एव सार्यमाण' कश्चित् चारित्रमोहोपशमनेन असद्वेदोपशमनेन वा स्मृति योग्या-
योग्यविषया लभते । अपुत्रनेत्र इच्छा सम अकाले भोक्तु पातु वा प्रत्याख्यात कथ कालेऽपि प्रार्थयामीति
मायमाणोऽपि । लभते स्मृति कश्चित्कर्मण्युदीर्णं नो इन्द्रियमतिज्ञानावरणे । सारणा ॥१५०३॥

सदिमलभतस्स वि कादच्च पडिकम्मभङ्गिय गणिणा ।
उवदेसो वि मया से अणुलोभो होदि कायव्वो ॥१५०४॥

'सदिमलभतस्स वि' स्मृतिमलभमानस्यापि गणिनाऽरिचयत कर्तव्य । प्रतिवार, उपदेशोऽपि अनुकूल
मदा तस्य वतन्व्य ॥१५०४॥

चेयतो पि य कम्मोदयेण कोई परीसहपरद्धो ।
उब्भासेज्ज व उक्कावेज्ज व भिदेज्ज आउरो पदिण्ण ॥१५०५॥

'चेदतो पि' चेतयमानोऽपि कर्मोदयेन कश्चित्परीपहपरजितो यत्किञ्चिद्वेत् आरुते, भिदाद्वा स्वा
प्रत्याख्यानप्रतिज्ञा ॥१५०५॥

गा०—यदि आचार्य उम चलायमान चित्तवाले क्षपकको इस प्रकारसे स्मरण नहीं करावे
तो समझना चाहिये उस निर्दयीने उस क्षपकको त्याग दिया है ॥१५०२॥

गा०—इस प्रकार स्मरण दिलाने पर कोई-कोई क्षपक चारित्र मोह अथवा अमातावेदनीय
का उपशम होनेसे योग्य अयोग्यके विचारविषयक स्मृतिको प्राप्त होते हैं कि अकालमे खाने
पीनेकी इच्छा करना मेरे लिये योग्य नहीं है । जो मैं त्याग कर चुका उसे कालमे भी कैसे ग्रहण
करूँ ? आदि । किन्तु कोई नोइन्द्रिय मतिज्ञानावरण कर्मकी उदीरणा होनेपर स्मृति प्राप्त
नहीं करते ॥१५०३॥

गा०—स्मृतिको जो प्राप्त नहीं होता, उसके प्रति भी आचार्यको निरन्तर प्रतिकार
करते रहना चाहिये । तथा उसके अनुकूल उपदेश भी करते रहना चाहिये ॥१५०४॥

गा०—कोई क्षपक चेतनाको प्राप्त करके भी कर्मके उदयमे परीपशेमे हाकर यदि अयोग्य
वचन बोले, या रदन करे या अपनी व्रत प्रतिज्ञाको भंग करे तो भी उसके प्रति कटुक वचन

ण ह्र सो कडुव फरुसं व भणिद्वो ण खीसिद्वो य ।

ण य विचासेद्वो ण य वट्टदि हीलणं कादु ॥१५०६॥

'ण ह्र सो कडुव' स एक कुर्वन्दापक न कर्तव्य कटुक पर्य वा, न भर्त्सनीय, न च त्रास नेतव्य, न च युक्त परिभव वक्तुं तस्य ॥१५०६॥

पर्यवचनादिभि को दोषो जायते इत्यत्रोच्यते—

फरुसवयणादिगेहिं दु माणी 'विष्फुरिओ तओ सतो ।

उद्धाणमवक्कमण कुज्जा असमाधिकरणं वा ॥१५०७॥

'पर्यवचनादिगेहिं' पर्यवचनादिभिर्मानी विराधित सन् ॥१५०७॥

तस्स पदिण्णामेग भित्तुं इच्छतयस्स णिज्जवओ ।

सव्वायरेण कव्वय परीसहणिवारण कुज्जा ॥१५०८॥

'तस्स पदिण्णामेग' तस्य स्वप्रतिज्ञान्यवस्था भेत्तु वाञ्छतो नियमित् सूरि कवच कुयन्ति परीसहनि-
वारणसम ॥१५०८॥

णिद्ध मधुरं पण्हादणिज्ज हिदयंगम अतुरिद वा ।

तो सीहावेद्वो सो खवओ पणवतेण ॥१५०९॥

'णिद्ध' स्नेहसहित, 'मधुर' श्रोत्रप्रिय, हृदयसुखाविधायि, हृदयप्रवेणि, अस्वरित अतो शिसमित्य
क्षपक प्रज्ञापयता ॥१५०९॥

रोगादंके सुविहिद विउल वा वेदण धिदियलेण ।

तमदीणमममूटो जिण पच्चूहे चरिचस्स ॥१५१०॥

बोलना उचित नहीं है, न उसका तिरस्कार करना चाहिये, न उसका हास्य करना चाहिये, न उसे त्रास देना चाहिये और न उसका अनादर करना चाहिये ॥१५०५-१५०६॥

उसके प्रति कठोर वचन बोलने आदिसे क्या हानि होती है यह कहते हैं—

गा०—कठोर वचन आदिसे भडककर वह अभिमानी क्षपक मयमसे च्युत हो सकता है या दुर्ध्यानमे लग सकता है अथवा सम्यक्त्वको त्याग सकता है ॥१५०७॥

गा०—यदि वह अपनी प्रतिज्ञारूपी मर्यादाको तोडना चाहे तो नियमिकाचार्य उसको रक्षाके लिये ऐसा कवच आदरपूर्वक करे जो परीषद्दीका निवारण कर सके ॥१५०८॥

गा०—आचार्यको स्नेहसहित, कानोको प्रिय, हृदयमे सुख देनेवाले तथा हृदयमे प्रवेश करने वाले वचनोंसे क्षपकको धीरे-धीरे सम्बोधना चाहिये ॥१५०९॥

गा०—हे सुन्दर आचार धाले ! तूम दोनता और मूटताको त्यागकर चारिजमे वाधा डालनेवाली छोटी या बडी व्याधियोंको, महती वेदनाको धर्मरूपो बलमे जीतो । राग और कोपका

रोगातङ्कु महतोऽन्याश्च व्याधीन् । विपुला वा वेदना धृतिवलेन जय त्वमदीनोऽमूढश्च प्रत्यूहान्
चारित्रस्य । बीतरागकोपतादि चारित्र । तद्व्याधिप्रतीकारार्थं वस्तुषु आदरवतो व्याधिषु वेदनासु च
द्वेषवतो नश्यति । तत्रचारित्रविघ्नास्त्वया जेतव्या इति भाव ॥१५१०॥

सर्वे वि य उवसगो परिमहे य तिविहेण णिज्जिणहि तुम ।

णिज्जिणिय सम्ममेदे होहिसु आराहओ मरणे ॥१५११॥

'सर्वे वि य उवसगो' सर्वैश्चापसर्गान् परीपहाश्च मनोवाक्कार्यैर्जय । उपसर्गपरीपहजयदु हा-
भीष्णा मनसा जय । भोतोऽयमिति दयया न दु खानि हरन्ति । सन्निहितद्रव्यादिसहकारिकारणमसद्वैद्यमुदया-
ग्न अनिवार्यवीर्यं बल प्रयच्छत्येवेति धृतिवलेन भावना मनसा जय । श्रान्तोऽस्मि वेदनादु महात्मता पश्यत
मदीयामिमा अतिकष्टामवस्था । दग्धोऽस्मि ताडितोऽस्मि इत्येवमादिदीनवचनानुच्चारण । असद्वदनुभूतार्था
परीपहा दुदाय, उपसर्गाश्च पूर्व । पूर्वकृन्तनमपि नामी मुञ्चन्ति । केवल धृतिरहितोऽय वराको रारदोति
निन्द्यते । न सन्मार्गात्प्रव्यावयितु इमे क्षमा इति उदारवचनता वचनेन जय । अदीनेक्षणमुखरागवत्ता
अचलता च कायेन जय । 'णिज्जिणिय सम्ममेदे' निजित्वैव सम्पद्येतानुपसर्गपरीपहान्मरण मृतिकाले ।
आराधओ होहिसि' रत्नत्रयपरिणतो भविष्यामि । उपसर्गपरीपहव्याकुलितचेतसो नैवाराधयता ॥१५११॥

मभर सुविहिय ज ते मज्झम्मि चटुन्विघस्स सघस्स ।

वूढा महापदिण्णा अहय आराहडस्सामि ॥१५१२॥

'सभर' स्मृति विधेहि । 'सुविहद' सुचारित्र । किं स्मरामि इति चेत् 'त' ता प्रतिज्ञा या वृत्तवानसि ।

त्याग ही चरित्र है । व्याधिको दूर करनेके उपायोमें आदर करनेवाले तथा व्याधि और वेदनासे
द्वेष करनेवालेका चारित्र नष्ट होता है । अत तुम्हें चारित्रके विघ्नोको जीतना चाहिये ॥१५१०॥

गा०-दी०—हे क्षपक । तुम सब उपसर्गों और परीपहोंको मन वचन कायमे जीतो । उपसर्ग
और परीपहोंके जीतनेमें जो दु ख होता है उससे न डरना मनसे जीतना है । यह डरपोक है अत
दया करके उपसर्ग परीपह उसे दु ख नहीं दंगे ऐसी बात नहीं है । द्रव्यादि सहकारी कारणोंके
रहने पर असातावेदनीय कर्म उदयमे आता है और उसकी शक्तिको रोकना शक्य नहीं होता
सब यह कष्ट देता ही है । धैर्यरूपी बलपूर्वक ऐसी भावना होना मनसे जीतना है । मैं थक गया
हूँ, मेरी इस अतिकष्टकर और दु सह वेदना रूप अवस्थाको देखो, मैं दु खमें जल रहा हूँ, कष्ट
ने मुझे मार डाला इत्यादि दीन वचनोंका उच्चारण न करना । मैंने पूर्वमें अनेक वार भूख आदि
परीपहों और उपसर्गोंको महा है । चित्तलाने पर भी ये छोड़ते नहीं हैं । केवल यह वेचारा धैर्य
सौकर रोता है ऐसी निन्दा करते हैं । ये मुझे सन्मार्गसे डिगानेमें समर्थ नहीं हैं । इस प्रकारके
उदार वचन बोधना वचनमे जीतना है । आत्मोंमें और मुखपर दीनताका भाव न होना, मुखपर
प्रमन्नताका रहना, विचलित न होना कायमे जीतना है । इस प्रकार इन परीपहों और उपसर्गोंको
सम्यक् रूपमे जीतनेपर मग्ते समय तुम रत्नत्रयरूपसे परिणत हो सकोगे । जिमका चित्त उपसर्ग
और परीपहमें व्याकुल रहता है वह आगधक नहीं हो सकता ॥१५११॥

गा०—हे सुचारित्रमे सम्पन्न क्षपक । तुमने चतुर्विध सपके मध्यमे जो भहती प्रतिज्ञा की
थी कि मैं आराधना करूँगा उसे स्मरण करो ॥१५१२॥

मग्दाग्मि' मध्ये । कस्य ? 'चतुर्विधस्त' चतुर्विधस्य मघस्य । 'बुद्धा' घृता । 'महापदिष्णा' महती प्रतिज्ञा । 'अहय' अह 'आराधइस्सामि' आराधयिष्यामि इति ॥१५१२॥

को णाम भडो कुलजो माणो थोलाड्ढूण जणमज्जे ।

जुज्जे पलाइ आवडिदमेत्तओ चैव अरिभीदो ॥१५१३॥

'को णाम भडो' क पलायते युद्धे भट दूर । 'कुलजो' मानी । 'थोलाड्ढूण' भुजास्फालन कृत्वा । जनमघ्ये । एव युद्धे शत्रुपराजय करिष्यामीति उद्घुष्य 'आवडिमेत्तओ' अभिमुखायातशत्रुं च अरिभीत । क पलायन करोति ॥१५१३॥

दाष्टान्तिके योजयति—

थोलाड्ढूण पुव्व माणी सतो परीमहादीहिं ।

आवडिदमित्तओ चैव को विसण्णो हवे साहू ॥१५१४॥

'थोलाड्ढूण पुव्व' भुजास्फालन कृत्वा पूव । 'परीमहादीहिं आवडिदमेत्तओ चैव' परीपहारातिभिर-भिमुखायात एव । 'को विसण्णो हवे साहू माणो सतो' का विपण्णो भवेत्सावुवर्गो मानी सन् ॥१५१४॥

आवडिया पडिकूला पुरओ चैव कमति रणभूमिं ।

अवि य मरिज्ज रणे ते ण य पसरमरीण वड्ढन्ति ॥१५१५॥

'आवडिया पडिकूला' अभिमुखायाना शत्रव । पुरओ चैव कमति रणभूमिं पुरस्तादेवोपसर्पन्ति रणभूमिं । 'अवि य मरिज्ज रणे' यद्यपि रणे भ्रियन्ते । 'ण य पसरमरीण वड्ढन्ति' नैव प्रसरमरीणा वर्धयन्ति ॥१५१५॥

तह आवइपडिकूलदाए साहवो माणिणो सुग ।

अडतिव्ववेयणाओ सहंति ण य विगडिमुवयति ॥१५१६॥

'तह आवइपडिकूलदाए' तथा आपत्यतिकूलतया । 'साहवो' मानिन दूरा । 'अडतिव्ववेयणाओ' अनीव तीव्रवेदना 'सहंति' सहन्ते । 'ण य विगडिमुवयति' नैव विकृतिमुपयाति ॥१५१६॥

गा०—कौन कुलीन स्वाभिमानी शूरवीर मनुष्योंके बीचमें अपनी भुजाओंको ठोककर 'मैं युद्धमें इस प्रकार शत्रुओंको हराऊंगा' ऐसी घोषणा करके सामने धाये शत्रुमें ही डरकर भागना पसन्द करेगा ॥१५१३॥

गा०—उसी प्रकार पूर्वमें भुजाओंको ठोककर कौन स्वाभिमानी साधु परीपह आदिके सन्मुख आते ही खेदखिन्न होगा ॥१५१४॥

गा०—जिन सुभटोंके शत्रु उनके सन्मुख आते हैं वे सुभट शत्रुओंके आनेसे पूव ही युद्ध भूमिमें पहुँच जाते हैं । वे युद्धमें मर जायें भले ही किन्तु शत्रुओंका उत्साह नहीं बटने देते ॥१५१५॥

गा०—उसी प्रकार म्वाभिमानी शूरवीर साधु आपत्तियोंकी प्रतिकूलतामें अति तीव्र कष्ट भोगते हैं किन्तु विकारको प्राप्त नहीं होते । अर्थात् दुर्भाग्यवश उपमर्ग परीपहोंके उपस्थित होनेपर रत्नत्रयकी विराधना नहीं करते ॥१५१६॥

'धोलाइयस्स कुलजस्स माणिणो रणमुहे वर मरणं ।

ण य लज्जणय काउ जावज्जीवं सुजणमज्झे ॥१५१७॥

'धोलाइयस्स' वृत्तभुजाम्फालनस्य । 'माणिणो' मानिनः । 'रणमुहे वर मरण' युद्धमुत्ते मरण शोभन । 'ण य वर' नैव शोभन । 'लज्जणय काउ जावज्जीवं च सुजणमज्झे' मुजतमध्ये यावज्जीव निदा-
वरण ॥१५१७॥

समणस्स माणिणो मंजदस्स णिहणममणं पि होइ वर ।

ण य लज्जणय काटु कायरदादीणकिविणत्त ॥१५१८॥

'समणस्स' समानस्य श्रवणस्य वा । 'माणिणो' मानिनः, 'सजदस्स' संयतस्य । 'णिघणममणं पि होइ वर' निघनममनमपि भवति वर । 'ण य लज्जणय काटु' नैव लज्जनीयकरण शोभन । कात्तरता न वर । 'दीणकिविणत्त' दीनत्व वृषणत्व च न वर ॥१५१८॥

एयस्स अप्पणो को जीविदहेट्टु कग्गिज्ज जपणय ।

पुत्तपउत्तादीण रणे पलादो सुजणलछ ॥१५१९॥

'एयस्स अप्पणो' एवस्यात्मनः । 'जीविदहेट्टु' जीवितनिमित्त । 'को कग्गिज्ज जपणय' कं कुर्यात्प-
वाद । पुत्तपउत्तादीण' पुत्रपौत्रादीना । 'रणे पलादो' रणात्पलायमान । सुजणलछ स्वजनलाछन ॥१५१९॥

तह अप्पणो कुलस्स य सघस्स य मा हु जीवदरथी त ।

कुणमु जणे जपणय किविण कुब्ब सुगणलछ ॥१५२०॥

'तह तथा । 'अप्पणो जीविदत्थ' भवतो जीवितार्थं । 'कुलस्स सघस्स य मा हु' कुणमु जणे दूतणय' कुलस्य सघस्य च दूषण जने मा कार्षी । 'किविण कुब्ब' वृषणत्व बुद्धन् । 'सुगणलछ' स्वगण-
लाछन ॥१५२०॥

गा०—भुजा स्फालन करनेवाले कुलीन अभिमानिके लिये युद्धमें मनुष्य मरना श्रेष्ठ है किन्तु मुजनोंके मध्यमें जीवनपर्यन्त लज्जा उठाना श्रेष्ठ नहीं है ॥१५१७॥

गा०—उसी प्रकार स्वाभिमानो समयो धमसका मर जाना श्रेष्ठ है किन्तु लज्जाजनक कार्य करना श्रेष्ठ नहीं है, कात्तरता-विपत्तियोंसे घबराना, दीनता वृषणता—कि में कुछ भी नहीं कर सकना आदि श्रेष्ठ नहीं है ॥१५१८॥

गा०—एक अपने जीवनके लिये युद्धभूमिसे भागकर कौन अपने पुत्र पौत्र आदिके लिये अपवादका कारण बनेगा और अपने परिवारको लाछन लगावेगा ॥१५१९॥

गा०—उसी प्रकार हे क्षपक ! अपने जीवनके लिये परीयहू आदि आनेपर अपनी निर्बलता का परिचय देते हुए अपने कुल और सघको लोकापवादका पात्र मत बनाओ और अपने गणपर लाछन मन लाओ ॥१५२०॥

गाढप्पहाग्स्ताविदा वि घृरा रणे अरिसमक्खं ।

ण मुह भजति सय मरति भिउडीमुहा चेव ॥१५२१॥

‘गाढप्पहारस्ताविदा वि’ गाढप्रहारमतापिता अपि घृरा ‘रणे’ युद्धे । ‘सग मुह अरिसमक्ख ण भजति’ स्वमुन्मङ्ग अरोगा पुरतो न कुर्वन्ति । ‘मरति’ म्रियते । भिगुडीए सह चेव’ अकुटया सह चेव ॥१५२१॥

सुट्ठु वि आवडपत्ता ण कायरत्त करिति सप्पुरिसा ।

कत्तो पुण दीणत्त किविणत्त वा वि काहिति ॥१५२२॥

‘सुट्ठु वि आवडपत्ता’ निरन्तरमापद प्राप्ता अपि । ‘सप्पुरिसा ण कायरत्त करिति’ सत्पुरुषा न कातरता कुर्वन्ति । ‘कत्तो पुण काहिति’ कुत पुन करिष्यन्ति । ‘दीणत्त किविणत्त चावि’ दीनता कृपणता च ॥१५२२॥

केई अग्गिमदिग्दा समतओ अग्गिणा वि उज्झता ।

जलमज्झग्दा व णग अत्यति अचेटणा चेव ॥१५२३॥

केई अत्यति अचेटणा चेव’ केचिदामने अचेतना इव । ‘अग्गिमदिग्दा’ अग्नि प्रविष्टा ‘समतओ अग्गिणा वि उज्झता’ समन्तात् अनिना दह्यमाना अपि । ‘जलमज्झग्दा व णरा’ जलमध्यगता नरा इव ॥१५२३॥

तत्थ वि साहुक्कार मगअगुलिचालणेण कुब्बति ।

केई करति धीग उक्किट्ठि अग्गिमज्झम्मि ॥१५२४॥

‘तत्थ वि’ तत्राप्यग्निमये । ‘साहुक्कार मगअगुलिचालणेण कुब्बति’ सायुक्कार स्वाग्नुलिचालनया कुर्वते । ‘केई अग्गिमज्झग्दा घोर’ केचिदग्निमध्यगता धीग । ‘उक्किट्ठि करति’ उत्कृष्टि उत्क्रोदानं कुर्वन्ति ॥१५२४॥

गा०—युद्धमे शूरवीर पुरुष जोरदार प्रहारमे पीडित होनेपर भी शत्रुके सामनेसे अपना मुख नहीं मोड़ते और मुखपर भी टेढ़ी क्रिये हुए ही मरते हैं ॥१५२१॥

गा०—उसी प्रकार सत्पुरुष अत्यन्त आशक्ति आनेपर भी कातर नहीं होते । तब वे दीनता या कायरता क्यों दिखायेंगे ? ॥१५२२॥

गा०—कितने ही सत्पुरुष आगमे प्रवेश करके सब ओरसे आगसे जलनेपर भी जलके मध्यमे प्रविष्ट हुए मनुष्यकी तरह अथवा अचेतनकी तरह रहते हैं ॥१५२३॥

गा०—तथा आगके मध्यमे भी रहते हुए अपने अगुलि मचालनके द्वारा सायुक्कार करते हैं कि कितना अच्छा हुआ कि मेरे अज्ञान कर्म क्षय हुए । कितने ही धीर वीर पुरुष आगके मध्यमे रहकर अपना आनन्द प्रकट करते हैं ॥१५२४॥

जदिदा तह अण्णाणी संसारपवड्डणाए लेस्ताए ।

तिव्वाए वेदणाए सुहसाउलया करिंति धिदिं ॥१५२५॥

‘जदिदा’ यदि तावत् । ‘तह’ तथा । ‘अण्णाणी धिदिं करिंति’ तथा अज्ञानिनो घृति कुर्वन्ति ‘संसार-पवड्डणाए लेस्ताए’ संसारप्रवर्द्धनकारिण्या लेख्यया । ‘तिव्वाए वेदणाए’ तीव्राया वेदनया सत्यम् । ‘सुहसाउलया’ सुखास्वादनलम्पटा ॥१५२५॥

किं पुण जदिणा संसारसव्वदुक्खक्खयं करेतेण ।

बहुतिव्वदुक्खरसजाणएण ण धिदी हवदि कुज्जा ॥१५२६॥

किं पुण जदिणा ण करिज्जा हवदि ‘धिदि’ किं पुनरं कार्या भवति घृति यतिना । कीदृशा ? संसारसव्वदुक्खरसजाण संसारसर्वदुःखदाय कुर्वता । ‘बहुतिव्वदुक्खरसजाणएण’ बहूना चतुर्गतिगताना तीव्राणा दुःखाना रस जानता ॥१५२६॥

असिखे दुग्भिक्खे वा कंतारे भएव आगाढे ।

रोगेहिं व अभिभूदा कुलजा माणं ण विजहति ॥१५२७॥

‘असिखे मायां । ‘दुग्भिक्खे वा’ दुग्भिजे वा । ‘कंतारे’ अटव्या वा । गाढे भये च । उपर्युपरि निपतित-भये वा । ‘रोगेहिं व अभिभूदा’ व्याधिभिर्वा अभिभूता । ‘ण विजहति कुलजा माणं’ न जहति कुलप्रमूता मान ॥१५२७॥

ण पियति सुर ण य सति गोमयं ण य पलड्डुमादीय ।

ण य कुव्वति विकम्म तहेव अण्णवि लज्जणय ॥१५२८॥

‘ण पियति सुर’ न पियन्ति सुरा । ‘ण सति’ न च भक्षयन्ति गोमास । ‘ण य पलड्डुमादीय’ न पलाण्डु प्रमृतिरु भक्षयन्ति । ‘ण य कुव्वति विकम्म’ नैव कुत्सित कर्म परोन्दिष्टभोजनादिक कुर्वन्ति । ‘तहेव अण्णवि लज्जणय’ तथैव नान्यदपि लज्जनीय कुर्वन्ति ॥१५२८॥

गा०—यदि समारको बढानेवाली अशुभ लेश्यासे युक्त अज्ञानी पुरुष सासारिक सुखकी लालसासे तीव्र वेदना होते हुए भी धैर्य धारण करते हैं ॥१५२५॥

विशेषार्थ—आगमे जलकर मरनेका कथन उन धर्मवालोंके लिये किया है जो आगमे जलकर मरनेमे धर्म मानते हैं ।

गा०—तो जो क्षपक साथु संसारके सब दुःखोका क्षय करना चाहता है और चारो गतियोंके तीव्र दुःखोका स्वाद जानता है वह धैर्य धारण क्यों न करेगा ॥१५२६॥

गा०—भारी रोगमे, दुग्भिधमे, भयानक वनमे अत्यन्त प्रगाढ भयमे तथा रोगोसे ग्रस्त भी बुलीन पुरुष स्वानिमानको नहीं छोडते ॥१५२७॥

गा०—वे मदिरा पान नहीं करते । गोमास नहीं खाते । लहसुन प्याज आदि नहीं खाते । दूसरेका जूठा खाना आदि बुरे काम नहीं करते । इसी प्रकार अन्य भी लज्जास्पद काम नहीं करते ॥१५२८॥

किं पुण कुलगणसघस्त जसमाणिणो लोयपूजिदा माधू ।
माण पि जहिय काहति विकम्म सुजणलज्जणय ॥१५२९॥

‘किं पुण साहू वि कम्म काहिति’ किं पुन माघव कुत्तित कर्म करिष्यन्ति । ‘कुलगणसघस्त जसमा-
णिणो’ ‘कुलस्य गणस्य मघस्य च यद्य मपादनाद्कारवन्त्वा । ‘लोयपूजिदा साधू’ लोके वृत्तपूजा । ‘माण
विजहिय’ मान त्यक्त्वा ‘सुजणलज्जणय’ साधुजनैः विलम्बनीय कर्म ॥१५२९॥

जो गच्छिज्ज विसाद महल्लमप्प व आवदिं पत्तो ।
त पुरिसकादरं विति धीरपुरिसा हू सटुत्ति ॥१५३०॥

‘जो गच्छिज्ज विसाद’ यो गच्छेद्विपाद । ‘महल्ल अप्प व आवडि पत्तो’ महती अल्पा वा आपद
प्राप्त । ‘तं पुरिसकातर’ पुरयेषु कातर । ‘धीरपुरिसा सटुत्ति विति’ धीरा सुपुरुषा पण्ड इति
ब्रुवन्ति ॥१५३०॥

मेरुव्व पिप्पकपा अक्खोमा सागरुव्व गभीरा ।
विदिन्तो सप्पुरिमा हू ति महल्लावईए वि ॥१५३१॥

‘मेरुव्व पिप्पकपा’ मेहरिव निरवला । ‘अक्खोमा’ अकम्पा । ‘सागरुव्व’ सागर इव ‘विदिन्तो
सप्पुरिमा’ धृतिमन्त सतोपवन सत्पुरुषा । ‘महल्लावईए वि’ महत्यामापदि ॥१५३१॥

कई विमुत्तसंगा आदारोविदमरा अपडिकम्मा ।
गिरिपन्नारमभिगदा बहुसावदसंकड भीम ॥१५३२॥

‘कई उत्तमदु सायेति’ इति वक्ष्यमाणैः संबन्ध । केचिदुत्तम वस्तु रत्नत्रय साधयन्ति । कीदृमूता ?
‘विमुत्तसंगा’ निष्परिग्रहा । ‘आदारोविदमरा’ आन्धारोपितमरा । ‘अपडिकम्मा’ निष्प्रतीकारा । ‘गिरि-
पन्नारमभिगदा’ गिरिप्राग्भारमभिगता । कीदृग ? ‘बहुसावदसंकड’ बहुव्याल्मृगाकुल । ‘भीम’
मपावह ॥१५३२॥

विदिधणियवद्धकच्छा अणुत्तरविहारिणो सुदमहाया ।
साहिति उत्तमद्व मावददाढंतरगदा वि ॥१५३३॥

गा०—नत्र कुल गण धीर मघके यद्य सम्पादनका बहुकार करनेवाले लोकपूजित साधु
म्वाभिमान त्यागकर साधुजनके लिये लज्जाके योग्य बुरा कर्म करेंगे क्या ? कभी नहीं
करेंगे ॥१५२९॥

गा०—जो छोटी या बड़ी विपत्ति आने पर खिन्न होता है उस कायर पुण्यको धीर
पुरुष नपुंसक कहते हैं ॥१५३०॥

गा०—मज्जन पुरुष महती विपत्तिमें भी सुमेहरी तरह अकम्प, मातरकी तरह गम्भीर
और धैर्यशील रहते हैं ॥१५३१॥

गा०—कितने ही साधु समस्त परिग्रहको त्यागकर, अपने आत्माने आत्माको आरोपित
कण्ठके, प्रतीकार रहित होकर, बहुतेमें व्याघ्र आदि हिंस्र जन्तुओंमें भरे भयकर पर्वतके शिखरपर

'विद्यिगियबद्धकच्छा' धृत्या नितरा बद्धकक्ष्या । 'अणुत्तरविहारिणो प्रकृष्टचारिणा । 'मुवसहाया'
श्रुतज्ञानसहाया । 'साधिति उत्तमदठ' साधयन्त्युत्तमार्थं रत्नत्रय । 'सावददाडतरगदा वि' श्वापददष्ट्रामध्वगता
वपि ॥१५३३॥

भल्लक्किए तिरत्तं सज्जतो घोरेदण्डो वि ।

आराधणं पवण्णो ज्जाणेणावतिसुकुमालो ॥१५३४॥

'भल्लक्किए तिरत्तं सज्जतो' श्रृगालेन तिसुपु रात्रिषु भक्ष्यमाण । 'घोरवेदण्डो वि' घोरवेदना-
वाधितोऽपि । 'आराधणं पवण्णो ज्जाणेण' गुभध्यानेनाराधना प्रपन्न । व ? 'अवतिसुकुमालो' अवति-
सुकुमार ॥१५३४॥

पोगिलगिरिम्मि य सुकोसलो वि सिद्धत्थदइय भयवतो ।

वग्धीए वि सज्जतो पडिक्कणो उत्तम अट्ट ॥१५३५॥

^३पुद्गलगिरो सुकोशलोऽपि सिद्धार्थस्य पुत्रो भगवान् व्याख्या जननीचर्षा भक्ति सन् प्रतिपन्न
उत्तमार्थम् ॥१५३५॥

भूमीए सम कीलाकोडिददेहो वि अल्लचम्म व ।

भयव पि गयकुमारो पडिक्कणो उत्तम अट्ट ॥१५३६॥

'भूमीए सम भूमी सम । 'कीलाकोडिददेहो' कीलोत्कृतदेह । 'अल्लचम्म व' आर्द्रचर्मवत् । 'भयव
वि' भगवान् गजकुमारोऽपि । उत्तमार्थं प्रतिपन्न ॥१५३६॥

कच्छुजरखाससोसो भत्तेच्छअच्छिक्खिदुक्खाणि ।

अधियासथाणि सम्म सणक्कुमारेण वाससय ॥१५३७॥

जाकर दृढ धैर्यको अपनाकर, उत्कृष्ट चारित्रपूर्वक श्रुतज्ञानकी सहायतामे मिहादिके मुंहमे जाकर
भी उत्तमार्थं रत्नत्रयकी साधना करते हैं ॥१५३२-३३॥

गा०—अवन्ती अर्थात् उज्जैनी नगरीमे सुकुमार मुनि तीन रात तक श्रृगालीके द्वारा
खाये जानेपर घोर वेदनासे पीडित होते हुए भी शुभध्यानके द्वारा रत्नत्रयकी आराधनाको प्राप्त
हुए ॥१५३४॥

गा०—पुद्गल या मुद्गल नामक पर्वतपर सिद्धार्थ राजाके प्रिय पुत्र भगवान् सुकोशल
मुनि अपनी पूर्ण जन्मकी माता व्याघ्रीके द्वारा खाये जानेपर उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५३५॥

गा०—पृथ्वीके साथ गीले चमडेकी तरह शरीरमे कीलें ठोककर एकमेक कर देनेपर भी
भगवान् गजकुमार मुनि उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५३६॥

गा०—सनत्कुमार मुनि ने सौ वर्षों तक खाज, ज्वर, खासी, सूखापन, तीव्र उदररग्नि,
नेत्रपीडा, उदरपीडा आदिके दुःख विना सकलेशके धैर्यपूर्वक सहन किये ॥१५३७॥

‘कच्छजरत्नासतोसो’ कच्छज्वरकामशोषा । ‘भस्तेच्छप्रच्छिद्रुच्छिद्रुस्वाणि’ तीव्रो जठराग्नि अधि-
दुश्च । बुध्निदुश्च च । ‘अधियासपाणि’ असक्लेशीन घृतानि ‘सणकुसारेण’ सनत्कृमारेण । ‘वाप्तसद’
वर्षात ॥१५३७॥

णावाए णिव्णुडाए गगामज्जे अमुज्जमाणमदी ।

आराधणं पवण्णो कालगओ एणियापुत्तो ॥१५३८॥

‘णावाए णिव्णुडाए’ नावि निमग्नाया च । ‘गगामज्जे’ गगाया मध्ये । ‘अमुज्जमाणमदी’ अमुह्य-
मानमति । ‘आराधण पवण्णो आराधना प्रतिपन्न सन् । ‘कालगओ’ काल गत् । ‘एणियापुत्तो’ एणिकपुत्र-
नामधेयो यति ॥१५३८॥

ओमोदरिए घोराए भद्दवाहू असक्लिद्धमदी ।

घोराए विगिच्छाए पडिवण्णो उत्तम ठाण ॥१५३९॥

‘ओमोदरिए घोराए’ घोरैणावमोदर्येण तपसा समन्वित । भद्दवाहू असक्लिद्धमदी भद्रवाहुरस-
क्लिष्टचित्त । ‘घोराए विगिच्छाए’ घोरया दुष्ठा बाधितोऽपि । ‘पडिवण्णो उत्तम ठाण’ प्रतिपन्न
उत्तमार्थ ॥१५३९॥

कोसंवीललियघडा वूढा णइपूरएण जलमज्जे ।

आराधण पवण्णा पावोवगदा अमूढमदी ॥१५४०॥

चपाए मामखमणं करित्तु गंगातडम्मि तण्हाए ।

घोराए धम्मघोमो पडिवण्णो उत्तम ठाण ॥१५४१॥

‘चपाए’ चम्पानगर्या । ‘मासखण करित्तु’ मासोपवास कृत्वा । ‘गंगातडम्मि’ गगायास्तटे । ‘तण्हाए’
घोराए’ तृणया तीव्रया बाधितोऽपि । ‘धम्मघोमो धर्मघोप । उत्तमार्थ प्रतिपन्न ॥१५४०-१५४१॥

गा०—गगाके मध्यमे नाव डूवनेपर एणिक पुत्र नामके मुनि मोहरहित होकर मरणको
प्राप्त हुए और आराधनाके धारक हुए ॥१५३८॥

गा०—घोर अवमोदर्य तपके धारी भद्रवाहू मुनि घोर भूलसे पीडित होनेपर भी सक्लेग
रूप परिणाम न करके उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५३९॥

गा०—कौशाम्बी नगरीमे सुखपूर्वक पाले गये इन्द्रदत्त आदि वत्तीम श्रेष्ठि पुत्र जलके
मध्यमे यमुना नदीके प्रवाहके द्वारा प्रायोपगमन मन्वात् पूर्वक मरणको प्राप्त हुए । उन्होंने मोह
रहित होकर आराधनाको प्राप्त किया ॥१५४०॥

गा०—चम्पा नगरीमे एक मामका उपवास करते हुए धर्मघोप नामक मुनि गगाके तटपर
तीव्र प्यासमे पीडित होकर उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४१॥

सीदेण पुव्ववइरियदेवेण विकुव्विएण घोरेण ।

सतत्तो सिरिदत्तो पडिवण्णो उत्तम अट्ठं ॥१५४२॥

'सीदेण' शीतेन । 'सतत्तो' सतप्त । 'पुव्ववइरियदेवेण विकुव्विएण' पूर्वजन्मशत्रुणा देवेनोत्पादितेन 'सिरिदत्त' धीदत्त । उत्तमार्थमुपगत ॥१५४२॥

उण्हं वाद उण्ह सिलादल आदव च अदिउण्ह ।

सहिदूण उसहसेणो पडिवण्णो उत्तम अट्ठं ॥१५४३॥

'उण्ह वाद' उष्ण वात, 'उण्ह सिलादल' उष्ण शिलातल । 'आदव च अदिउण्ह' आताप चात्पुष्ण 'सहिदूण' प्रसह्य वृषभसेन उत्तमार्थं प्रतिपन्न ॥१५४३॥

रोहेडयम्मि सत्तीए हओ कोंचेण अग्गिदइदो वि ।

त वेयणमधियासिय पडिवण्णो उत्तम अट्ठं ॥१५४४॥

'रोहेडयम्मि' रोहेडगे नगरे । 'सत्तीए हओ' राक्त्या हत । 'कोंचेण' क्रोचनामधेयेन । 'अग्गिदइदो वि' अग्निराजमुतोऽपि । 'त वेयणमधियासिय' ता वेदना प्रसह्य । उत्तमार्थं प्रतिपन्न ॥१५४४॥

काइदि अभयघोसो वि चडवेगेण छिण्णसव्वगो ।

त वेयणमधियासिय पडिवण्णो उत्तम अट्ठं ॥१५४५॥

'काइदि अभयघोसो वि' काकन्दा नगर्या अभयघोषोऽपि । 'चडवेगेण छिण्णसव्वगो' चडवेगेन छिन्नसर्वांग ॥१५४५॥

दसेहिं य मसएहिं य खज्जतो वेदण पर घोर ।

विज्जुच्चरोगधियासिय पडिवण्णो उत्तम अट्ठं ॥१५४६॥

'दसेहिं य' दशमसर्वस्व भक्ष्यमाण विद्युच्चरस्ता वेदना अवगणय्य आराधना प्रपन्न ॥ १५४६॥

गा०—पूर्वभवके वैरी देवके द्वारा विक्रिया पूर्वक किये गये शीत से पीडित होकर श्रीदत्त मुनि उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४२॥

गा०—गर्म वायु, गर्म शिलातल और अत्यन्त गर्म आतापको सहन करके वृषभसेन उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४३॥

गा०—रोहतक नगरमें क्रोच नामक राजाके द्वारा शक्ति नामक शस्त्र विशेषसे मारा गया अग्नि राजाका पुत्र उसकी वेदनाको सहकर उत्तमार्थको प्राप्त हुआ ॥१५४४॥

गा०—काकन्दी नगरीमें चण्डवेगके द्वारा सब अगोके छेद डालनेपर अभयघोष मुनि उसकी वेदनाको सहकर उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४५॥

गा०—डाम मच्छरोंके द्वारा खाये जानेपर विद्युच्चर मुनि अत्यन्त घोर वेदनाको सहन करके उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४६॥

हृत्थिणपुरगुरुदत्तो सबलियाली व द्रोणिमतम्मि

उज्झतो अधियामिय पडिवण्णो उत्तम अट्ट ॥१५४७॥

‘हृत्थिणपुरगुरुदत्तो’ हास्तिनापुरवास्तव्यो गुरुदत्त । ‘सबलियालीव’ हरितगकोस निरामाख (?) पूर्णभाजन अक्षपत्रपिट्ठिमिद मुख अबोमुख मस्याप्य उपरिभाजनम्य अग्निप्रक्षेप सबलीत्युच्यते । तद्वच्चिरसि निक्षिप्ताग्नि । ‘द्रोणिमतम्मि’ द्रोणोमत्सर्वते दह्यमान प्रपन्न उत्तमाय ॥१५४७॥

गाढप्पहारविद्धो पूडंगलियाहिं चालणीव कदो ।

तथ वि य चिलादपुत्तो पडिवण्णो उत्तम अट्ट ॥१५४८॥

‘गाढप्पहारविद्धो’ नितरामायुर्ध्विद्ध । ‘पूडंगलियाहिं’ कृष्णं स्यूलोत्तमाङ्गं पिपीलिकाभि । ‘चालणीव कदो’ चालनीव कृतश्चिलातपुत्रस्तथाप्युत्तमाथमुपगत ॥१५४८॥

दडो जउणावकेण तिक्खकडेहिं पूरिदगो वि ।

तं वेयणमघियासिय पडिवण्णो उत्तम अट्ट ॥१५४९॥

‘दडो’ दडनामको यति । ‘जमुणावकेण’ यमुनावक्रमज्ञितेन । ‘तिक्खकडेहिं’ तीक्ष्णं शरं ‘पूरिता-गोऽपि’ रत्नत्रय समाराधयति स्म ॥१५४९॥

अभिणदणादिया पचसया णयरम्मि कुम्भकारकडे ।

आराधण पवण्णा पीलिज्जता वि यंतेण ॥१५५०॥

‘अभिणदणादिगा’ अभिनन्दनप्रभृतय पञ्चशतमस्या, कुम्भकारकटे नगरं यत्रेण पीडयमाना अप्या-राधना प्राप्ता ॥१५५०॥

गा०—हृस्तिनापुर नगरके वासी गुरुदत्त मुनि द्रोणगिरि पर्वतपर सबलियालीकी तरह जलते हुए उसकी वेदनाको सहकर उत्तमार्यको प्राप्त हुए ॥१५४७॥

विशेषार्थ—एक पात्रमे उटदकी फलिया भरकर उमे आकके पत्रोमे ढाककर, उस पात्रका मुख नीचेको करके चारो ओर आगमे घेर देनेपर सबलियाली कहते हैं । द्रोणगिरि पर्वतपर गुरुदत्त मुनिके गिरपर आग जला दी गई थी । वृ० क० कोपमे १३२ नम्बर पर इनकी कथा विस्तारसे दी है ।

गा०—चिलातपुत्र नामक मुनिका शरीर काली चीटियोके तीव्र डक प्रहारमे चलनीकी तरह वीध दिया गया था । फिर भी उन्होने उत्तमार्यको प्राप्त किया ॥१५४८॥

गा०—दण्ड नामक मुनिके शरीरको यमुनावक्र नामके राजाने तीक्ष्ण वाणोमे छेदकर भर दिया था । फिर भी वे उसकी वेदनाको सहन करके उत्तमार्यको प्राप्त हुए ॥१५४९॥

विशेषार्थ—द० क० कोपमे मुनिका नाम धान्यकुमार दिया है उनकी कथाका क्रमांक १४१ है ।

गा०—कुम्भकारकट नामक नगरमे अभिनन्दन आदि पाँच सौ मुनि कोलूमे पेल दिये जानेपर भी आराधनाको प्राप्त हुए ॥१५५०॥

‘गोद्वे पाओवगदो सुवंश्रुणा गोच्चरे पलिवदम्मि ।
 उज्झंतो चाणको पडिवण्णो उत्तमं अट्ट ॥१५७१॥
 वसदीए पलविदाए रिद्धामच्चेण उसहसेणो वि ।
 अराघण पवण्णो सह परिसाए कुणालम्मि ॥१५७२॥

‘घसदीए पलविदाए’ वसतो दग्धाया । रिद्धामच्चनामघेयेन वृषभमेन सह मुनिपरिपदा प्रतिपन्न
 आराधनाम् ॥१५५१-१५५२॥

जदिदा एव एदे अणगारा तिच्चवेदणट्ठा वि ।
 एयागी अपडियम्मा पडिवण्णा उत्तम अट्ट ॥१५७३॥

‘जदिदा’ एव यदि एदे तावदेवमेते ‘अणगारा’ यतयस्तीब्रवेदनापीडिता अपि एवाविनोऽप्रतीकारा
 उत्तमार्थं प्रतिपन्ना ॥१५५३॥

किं पुण अणयारमहायगेण कीरयंत पडिकम्मो ।
 सघे ओलग्गते आराघेदु ण मक्केज्ज ॥१५७४॥

‘किं पुण अणयारसहायगेण’ किं पुनर्न शक्यते आराधयितु अणयारमहायेन भवता क्रियमाणे प्रतिकारे
 सघे चोपासना कुर्वति सति ॥१५५४॥

जिणवयणममिदभूद मधुर कण्णाहुटिं सुणतेण ।
 सका हु सघमज्जे साहेदु उत्तम अट्ट ॥१५७५॥

‘जिणवयण’ जिज्ञाना वचन । अमृतभूत, मधुर कर्णाहुतिं शृण्वता न्वया मघमध्ये शक्यमाणाध-
 यितु ॥१५५५॥

गा०—चाणवय मुनि शोकुलमे प्रायोपगमन मन्यासमे स्थित थे । मुग्धु नामक मन्त्रीने
 कण्डोके टेरेमे आग लगा दी । उसमे जलकर चाणवय मुनि उत्तम अर्थको प्राप्त हुए ॥१५५१॥

गा०—कुणालपुरीमे रिष्ट नामक मन्त्रीके द्वारा वनतिकामे आग लगानेपर वृषभमेन मुनि
 अपने जिण्य परिवारके साथ आराधनाको प्राप्त हुए ॥१५५२॥

गा०—इस प्रकार यदि ये मुनि अकेले प्रतीकार किये बिना तीव्र वेदनामे पीडित होकर
 उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५५३॥

गा०—तो तुम्हारी महायनाके लिये तो मुनि समुदाय है वह तुम्हारे कष्टका इलाज
 करता है, तुम्हारे साथ उपामना करता है तब तुम आराधना क्यों नहीं कर सकते ॥१५५४॥

गा०—अमृतके समान मधुर जिन-वचन तुम्हारे कानोमे जाता है । उसे सुनते हुए मघके
 मध्यमे तुम्हारे लिये आराधना करना सरल है ॥१५५५॥

गिरपतिरिक्खगदीसु य माणुसदेवत्तणे य सतेण ।

ज पत्त इह दुक्ख त अणुचितेहि तच्चित्तो ॥१५५६॥

‘गिरपतिरिक्खगदीसु य’ नरकतिर्यग्मितियु च । ‘माणुसदेवत्तणे य सतेण’ मानुपत्वदेवत्वयोश्च सता यत्प्राप्त इह सुखानन्तर दुःख ‘त अणुचितेहि’ तद्गतचित्तस्तदनुचिन्तय ॥१५५६॥

गिरएसु वेदणाओ अणोवमाओ असादवह्ललाओ ।

कायणिमित्त पत्तो अणंतखुत्तो व बहुविधाओ ॥१५५७॥

‘गिरएसु’ नरकेषु । ‘वेदणाओ’ वेदना । ‘अणोवमाओ’ अनुपमा । तादृश्या वेदनाया जगत्यन्यस्या अभावान् । ‘असादवह्ललाओ’ अमद्रेद्यकर्मवह्लला । कारणबहुलत्वेन कार्यानुपारतिराख्याता । ‘कायणिमित्त पत्तो’ शरीरनिमित्तमयमाजितकर्मनिमित्तत्वान्मूलकारण निर्दिष्ट कायनिमित्तमित्ति । ‘अणतसो’ अणतवार । ‘त’ भवान् ‘बहुविधाओ’ बहुविधा ॥१५५७॥

उष्णनरकेषु उष्णमहत्तामूचनार्थोत्तरा गाथा—

जदि कोड मेरुमत्त लोह्णुण्डं पक्खिविज्ज गिरयम्मि ।

उण्हे भूमिमपत्तो णिमिसेण विलिज्ज मो तत्थ ॥१५५८॥

‘गिरयम्मि उण्हे’ लोह्णुण्ड मेरुमत्त जदि कोड पक्खिविज्ज’ उष्णनरके लोह्णुपिण्ड मेरुसमान यदि कश्चिद्देवो दानवो वा प्रशिषेत् । ‘सो तत्थ भूमिमपत्तो चैव विलिज्ज’^१ लोह्णुपिण्डा भूमिमप्राप्त एव द्रवतामुपयाति । ‘उण्हेण’ उष्णेन नरकविलाना ॥१५५८॥

गा०—नरकगति, नियञ्जगतिमे और मनुष्य पर्याय तथा देवपर्यायमे रहते हुए तुमने जो दुःख मुख भोगा, उसमे मन लगाकर उसका विचार करो ॥१५५६॥

गा०—टी०—इस शरीरके निमित्त किये गये असयममे उपाजित कर्मके निमित्तमे तुमने नरकोमे अनन्तवार नाना प्रकारकी तीव्र वेदना जमानावेदनीय कर्मके तीव्र उदयमे भोगी है । इस प्रकारकी वेदना जगन्मे दूसरी नहीं है । उसका मूल कारण यह शरीर है । उसीके निमित्तमे होनेवाले अमयमके कारण असातावेदनीयका तीव्रबन्ध होकर वह नरकमे प्रचुरतामे उदयमे आता रहना है । अतः कारणकी बहुलता होनेसे वेदना रूप कार्य निरन्तर हुआ करता है ॥१५५७॥

आगेकी गाथामे उष्ण नरकोमे उष्णताकी महत्ता बतलाते हैं—

गा०—यदि कोई देव या दानव मेहके समान लोह्णुके पिण्डको उष्ण नरकमे फेंके तो वह लोह्णुपिण्ड वहाँकी भूमिको प्राप्त होनेमे ही पहले मार्गमे ही नरकविलोकी उष्णतामे पिघल जाये ॥१५५८॥

तह चेव 'य तद्देहो पञ्जलिदो सीयणिरयपक्खित्तो ।

सीदे भूमिमपत्तो णिमिसेण सट्ठिज्ज लोहण्डं ॥१५५९॥

'तह चेव' तथैव । 'तद्देहो' मेरमात्रदेह । 'लोहण्डो' लोहपिण्ड । 'पञ्जलिदो' प्रज्वलित । 'सीयणिरयम्मि' शीतनरके । 'पक्खित्तो' प्रक्षिप्तो भूमिमप्राप्त एव । 'सीदेण सट्ठिज्ज शीतेन विधीयते ॥१५५९॥

शीतोष्णजनितवेदनातिशयमुद्दिश्य शारीरवेदनामाचष्टे—

होदि य णरये तिच्चा सभावदो चेव वेदणा देहे ।

सुण्णीकदस्स वा मुच्छिदस्स खारेण सित्तस्स ॥१५६०॥

'होदि य णरये तिच्चा' भवति च नरके तीव्रं वेदना । 'देहे' शरीरे । 'सभावदो चेव' स्वभावन एव । 'सुण्णीकदस्सेव' चूर्णीकृतस्येव । 'खारेण सित्तात्स' क्षारेण मिक्तस्य । 'अमुच्छिदस्स' अमूच्छितस्य । यादृशी वेदना तादृश्येव शरीरे वेदनेति यावत् ॥१५६०॥

णिरयकडयम्मि पत्तो ज दुक्ख लोहकटएहिं तुम ।

णेरइहिं यं तत्तो पडिओ ज पाविओ दुक्ख ॥१५६१॥

'णिरयकडयम्मि' नरकविलसमूहे-नरकस्वन्धावारे इति केचिद्वदन्ति । अन्ये तु निरयगतं इति । 'पत्तो ज दुक्खा' यददुःखं प्राप्त । 'लोहकटएहिं' निक्षिप्ततरलोहकण्टकं तुद्यमानस्त्व ॥१५६१॥

ज कूडसामलीए दुक्ख पत्तोसि ज च सूलम्मि ।

असिपत्तवणम्मि य ज ज च कय गिद्धककेहि ॥१५६२॥

'ज कूडसामलीए य' यददुःखं प्राप्तोऽसि विक्रियाजनितनिगातपाल्मलीभिः । उर्ध्वमुखैरधोमुखैश्च-
तीक्ष्णकण्टकैराकीर्णैः कूटशाल्मलीरारोहन् नारकभयात् । 'ज च सूलम्मि' यच्च दुःखमवाप्नोमि मूलाग्रप्रोत् ।

गा०—उसी प्रकार उस पिघले हुए मेरु प्रमाण लोहपिण्डको यदि शीत नरकमें फेंका जाये तो भूमिको प्राप्त होनेमें पहले ही वह वहाँके शीतमें जमकर खण्ड-खण्ड हो जाय ॥१५५९॥

शीत और उष्णसे होनेवाली वेदनाकी महत्ता बतलाकर शारीरिक वेदना कहते हैं—

गा०—जैसे किसी मूर्धारहित मनुष्यके शरीरको बुचलकर उसे खारे तप्त तेलसे सींचनेपर जैसे वेदना होती है वैसे ही तीव्र वेदना नरकमें नारकीके शरीरमें स्वभावसे ही होती है ॥१५६०॥

गा०—नरकरूपी स्वन्धावारमें अथवा गठमें नारकियोंके द्वारा लोहेके अत्यन्त नुकीले काटोपर घसीटे जानेसे तुमने जो दुःख भोगा उसका विचार करो ॥१५६१॥

गा०—टी०—विक्रियामें रचे गये तीक्ष्ण शाट्मली वृक्षोपर, जो ऐसे काटोसे घिरे होते हैं जिनमेंसे कुछ काटोका मुख ऊपरकी ओर और कुछका नीचेकी ओर होता है, नारकियोंके भयमें डरकर चढ़ते हुए तुमने जो दुःख भोगा । सूलीके अग्र भागपर चढ़ाये जानेपर तुमने जो दुःख

१ यदा तद्देहो च्चिय प-ज० । २ य सतो पहिदो तिक्खेहि तुदतो'—इति अन्येषा पाठ ।

'असिपत्रवर्णमि य ज असय एव पत्राणि यस्मिन्वने तदमिपत्रवन । उष्णार्द्रिताना पूतकुर्वता नारकाणा असिपत्रवनेऽनेकामुरविक्रियाविविर्मितविचित्रामुधपत्राणि वनानि । 'ज च कय' यच्च कृत । 'गिद्धककेहि' गृद्धं कङ्कुरेच वञ्जमयैस्तुण्डै^१ ते लुञ्चनैस्तुदन्ति । तीक्ष्णीकृत्तक्रकचमदुर्गै पक्षे प्रहरन्ति^२ नितान्तस्तरपर्यंश्च- रणाङ्कुरैस्ताडयन्ति ॥१५६२॥

सामसत्रलेहिं दोस वडतरणीए य पाविओ ज सि ।

पत्तो कयववालयुमडगम्मममायमतितिव्व ॥१५६३॥

'सामसत्रलेहिं' श्यामशबलसजितैरसुरै । 'दोस' दोष दण्डाना । 'वडतरणीए य पाविओ ज सि' वैतरण्या नद्या प्रापितो यदसि । तृडभिभूताना जल मृगयता दिक्षु विन्यस्तदीनलोचनाना मुष्कतालुगलाना वैतरणीनदीमुपदर्शयन्ति । रङ्गतरङ्गाकुला, अगाधनीलनीरभरितन्ददा, विषयसुखमेवैव दुरन्ततृष्णानुबधनो- घता, समुतिरिव दुरुनरा, आशेव विशाला, कर्मपुद्गलस्कयसहेतिरिव विचित्रविपद्भिर्धाषिनी, तद्दर्शनाद्दूरादेवो- पजातोन्वया लभ्यजीवितासवृत्ता स्म इति मन्यमाना द्रुततरणतयस्तामवगाहन्ते । तदवगाहनानन्तरमेव कृता- जलय पिबन्ति ताम्रश्वमन्निभ तदम्भ । परपवचनमिव हृदयदाहविधाषि, हा विप्रलब्धा स्मति करुण रसता शिरासि परपतमसमीरणप्रेरणोरिवततरङ्गासिधारा निकृन्तन्ति करचरणानि च । तेनातिक्षारेणोष्णेन, कालकूट- विषायमानेन जलेन, व्रणान्तरप्रवेशिना बह्यमाना झटिति घटितकरचरणास्तदमेव रटन्त समारोहन्ति । तेषा च

भोगा । जिस वनमें तलवारकी धारके समान पत्ते होते हैं उसे असिपत्र वन कहते हैं । गर्मसि पीड़ित नारकी अमिपत्र वनमें जाते हैं जो अनेक अमुर कुमार देवोंकी विक्रियाके द्वारा निर्मित विचित्र आयुध रूप पत्रोंसे युक्त होते हैं और उन आयुध रूप पत्तोंके गिरनेपर उनका सर्वांग छिद जाता है । तथा गृद्ध और कङ्क पक्षि अपनी वञ्जमय चोंचमें उन्हे नोचते हैं तीक्ष्ण आरेके समान पक्षोंसे प्रहार करते हैं । अत्यन्त तीक्ष्ण कठोर चरणरूपी अकुशोमें मारते हैं । इन सत्रका जो दु ख तुमने भोगा ॥१५६२॥

गा०-टी०—श्याम शबल नामक असुर कुमारोंके द्वारा वैतरणी नदीमें तुमने जो दण्ड भोगा । जब नारकी प्याससे व्याकुल होकर जलकी खोजमें होते हैं और उनकी आँखें दीन तथा कण्ठ भीर तालु सूख जाता है तो उन्हें वैतरणी नदी दिखलाई जाती है । वह रगीन तरंगोंसे व्याप्त और अगाध नीले जलसे भरी होती है, विषय सुख भेवनकी तरह तृष्णाकी परम्पराको बढ़ाने वाली होती है, समारको तरह उसे पार करना कठिन होता है, आशाकी तरह विशाल होती है, कर्मपुद्गलोंके स्कन्वोंके समूहकी तरह अनेक विपत्तियाँ लानेवाली होती है । उसको देखकर दूरसे ही उनकी उत्कण्ठा बढ़ जाती है । अब हम जी गये, ऐसा मानते हुए दौडकर नदीमें प्रवेश करते हैं । प्रवेश करते ही हाथोंकी अजलि वनाकर पिघरो हुए ताम्रके समान उसके जलको पीते हैं । वह जल बठोर वचनकी तरह हृदयको जलानेवाला होता है । 'अरे हम ठगाये गये' ऐसी करुण चीतकार करते हुए उनके सिर और हाथ पैरोंको अत्यन्त बठोर वायुमें प्रेरित लहरें, जो तलवारकी धारके समान होती हैं, काट देती हैं । तब कालकूट विषके समान अत्यन्त खारा गर्म जल उनके पावोंम जाता है । उनसे जलते हुए वे तत्काल तटकी ओर जाते हैं । उनके कटे हाथ

१ तुण्डे तरललोचने—आ० मु० । ने हि वञ्जमयैस्तुण्डैर्नवाणि मुदन्ति । २ रन्ति नित्य नमर

श्रीवासु श्यामशबला महती शिलावचशृङ्खलाप्रोता वधन्ति दुविमांघा । वद्ध्वा च तस्यामेव पातयन्ति ।
पातिनास्तत्र कृतोन्मज्जननिमज्जनानामुत्तमाङ्गानि अमुरविक्रियानिमित्तमहामकरकरप्रहारेण जर्जरीभूय
निपतन्ति । पुनश्च तटमात्तदा'न्गच्छतस्तास्तभूय निश्चल वधन्ति । तानपरिस्पन्दमवस्थितान्क्षीडत्य
विध्यन्तीति निद्रातसारशतसहस्रं । 'पत्तो कथववालुगमदिगम्भ' प्राप्त कदवप्रसूनाकारा'वालिवा चित्तदु -
प्रवेशा, दलाल्लवृत्तखदिराङ्गारकणप्रकरोपमाना परिप्राप्य तत्र बलात्मचार्यमाण यत्प्राप्तवानसि दु ख तच्चित्तै^३
वञ्चकु ॥१५६३॥

ज पीलमडवे तत्तलोहपडिमाउले तुमे पत्त ।

ज पाइओसि सार कडुय तत्त कलयल च ॥१५६४॥

'ज पत्त त चित्तेहि' यत्प्राप्तु दु ख तच्चित्तय । क्व ? 'पीलमडवे' काललोहघटिते मण्डपे । 'तत्तलोह-
पडिमाउले' तत्तलोहप्रतिमानुले । बलात्काररतपाद्यमानस्तत्तलोहप्रतिमानुव्यत्यालिगितो यद्दु ख प्राप्तवानसि
तन्मनाम निवेदि । 'ज पाइओसि सार' यत्प्राप्तोसि धार । 'कडुय' कटुक । 'तत्त' तत्त ॥१५६४॥

ज साविओमि अवसो लोहगारे य पज्जलते त ।

कडुसु ज सि रट्ठो ज सि कवल्लीए तलिओ सि ॥१५६५॥

'ज साविओसि' यत्खादितोसि । 'अवसो' अवस । बलाचन्द्रविदारितानन । 'लोहगारे य पज्जलते'
त लोहाङ्गारान्प्रज्वलत त्व । 'कडुसु ज सि रट्ठो' कडुकासु यन्मण्डका इव पक्व ॥१५६५॥

पैर तत्काल जुड जाते है । उनकी गर्दनीमे भारी शिलाएँ वज्रमयी साकलसे बाँध देते हैं जिनको
खोलना अति कठिन होता है और उन्हें पुन उसी वैतरणीमे डाल देते है । उसमे गिराये जानेपर
वे डूबते उतराते हैं । अमुर कुमागेकी विक्रियासे बनाये गये महामच्छोके प्रहारसे उनके मस्तक
छिन्न-भिन्न होकर गिर जाते हैं । पुन वे तट पर जाते हैं और उन्हें पुन निश्चल बाध देते हैं ।
तब उन निश्चल स्थित नारकियोको लक्ष करके लाखो तीक्ष्ण वाणोसे बाँध देते हैं । पुन कदम्यके
फूलोके आकार वाली बालूमे, जिसमे बालिकाके चित्तकी तरह प्रवेश करना कठिन है और जो
वज्रमयदण्डसे शोभित है तथा खैरकी लकडोके अगारोके कण समूहकी तरह गर्म है, उसमे बल-
पूर्वक चलाये जानेपर तुमने जो दु ख पाया है उसका विचार करो ॥१५६३॥

गा०—काललोहमे निर्मित मण्डपमे तपाये हुए लोहेसे बनी प्रतिमाहूपी युवतियोसे बल-
पूर्वक आलिगन कराये जानेपर तुमने जो दु ख पाया उसका विचार करो । तथा खारा कडुआ
तपा हुआ कलकल पिलाये जानेपर जो दु ख पाया उसका चिन्तन करो ॥१५६४॥

विशेषार्थं—ताम्या, मीसा, मज्जी, गूगल आदिको पकाकर जो काढा तैयार होता है उसे
कलकल कहते हैं ।

गा०—बलपूर्वक यत्रके द्वारा तुम्हारा मुह फाडकर जो तुम्हे जलते हुए लोहेके अगार
खिलाये गये और भट्टीमे माडकी तरह पकाया गया तथा कडाहीमे तला गया ॥१५६५॥

१ दानुगच्छत तस्त्र भय-अ० । दानात नकुभय-ज० । २ धारावलिवावलिवावि-ज० । ग
तेपा ता शिला पुनर्नि-मूलाश० । ३ तच्चित्तय-मु० ।

कुडाकुट्टिं चुण्णाचुण्णिं मुग्गरमुसुडिहत्थेहि ।

ज वि सखडारण्डि कओ तुम जणसमूहेण ॥१५६६॥

‘कुट्टाकुट्टिं बहुसो’ यत्कुट्टितश्चूर्णित मुद्गरमुसुडिहस्तं, यच्च जनसमूहेन भवान् असहृत्वडित्त-
स्तदन्त करणे कुर ॥१५६६॥

अनुवृत्तिक्रिया भाषा सन्नति सुखशीलता ।

त्रया कृपा दमो दानं प्रसादो मार्दवं क्षमा ॥१॥

इत्येवमाद्या सुगुणा प्रशस्ता ये शरीरिणा ।

तेषु ते दुर्लभा नित्य कान्तारेष्विव मानुषा ॥२॥

शत्रुमित्रमुदासीन इत्यन्यत्र त्रिधा जनः ।

शत्रुरेव हि सर्वोऽत्र जन सर्वस्य नारक ॥३॥

कल्पने कण्येश्चक्रेनाराचे प्रश्चैनेत्रे ।

गदाभिर्मुशले शूले प्राज्ञे पापाणपट्टिन्ने ॥४॥

मृष्टिभिर्यष्टिभिर्लोष्टे शङ्खुभि शक्तिभि शरैः ।

अस्तिभि क्षुरिकाभिश्च कुतैर्दण्डैः सतोमरैः ॥५॥

तथा प्रकारैरन्येश्च निशितैर्नकसस्थितैः ।

भूस्वभावात्स्वय जातैर्वैक्रियैरपि चायुधैः ॥६॥

नारकास्तत्र तेऽन्योन्य रोपवेगेन पूरिताः ।

पूर्वैवैराण्यनुत्सृत्य वैभगजानसभवात् ॥७॥

घ्नति छिदति भिदति खादति च तुदति च ।

विध्यति चापैर्मन्त्रि प्रहरन्ति हरन्ति च ॥८॥

श्वश्रुगालवृकम्पाघ्नगुद्वृक्षरूपाणि चापरे ।

विकृत्य विदय पापा नाघतेऽत्र परस्पर ॥९॥

गा०-टी०—अनेक बार हाथमें मुद्गर लेकर तुम्हें कूटा गया, मूसलोंसे जनसमूहने तुम्हें
चूर्ण कर डाला । उसका मनमें विचार करो ।

अनुकूल क्रिया, भाषा, सज्जनता, नम्रता, सुखशीलता, लज्जा, दया, इन्द्रिय दमन, दान, प्रसन्नता, मार्दव, क्षमा आदि जो प्रशस्त सुगुण प्राणियोंमें होते हैं वे गुण नरकमें वैसे ही दुर्लभ हैं जैसे घोर वनमें मनुष्यका मिलना दुर्लभ है । अन्यत्र शत्रु, मित्र और उदासीन तीन प्रकारके लोग होते हैं । किन्तु नारकी सब सत्रके शत्रु ही होते हैं । नरकमें नारकी अपने विभगजानमें पूर्व जन्मके वैरोको स्मरण करके और क्रोधमें भगकर वक्र, दाण, करोन, नख, गदा, भूमल, शूल, भाला, पापाणमें निर्मित अन्त्र विशेष, मुट्ठी, लण्डी, लोष्ट, शङ्ख, शक्ति, सलवार, छुरी भाला, दण्डा, गुर्ज तथा इनो प्रकारके अन्य तोक्षण अन्त्र शस्त्रोंसे जो वहाँकी पृथिवीके स्वभावमें स्वय उत्पन्न हो जाते हैं तथा विक्रियासे निर्मित आयुधमें परस्परमें मारते हैं, छेदने भेदने हैं, खाते हैं कोचते हैं, प्रहार करते हैं, बीधते हैं । अन्य नारकी बुत्ता, मियार, भडिया, व्याघ्र, गुद

काष्ठशैलशिलारूपेनिपतति च केयुचित् ।
 पततस्ताग्रतीच्छति ते च मूलाग्रसस्थिता ॥१०॥
 मज्जयति जलीभूय वायुभूय नुदति च ।
 दहति दहनोभूय न दयति परस्पर ॥११॥
 तिष्ठ दासेव हन्ति त्वा त्व कुतस्त्य पलायसे ।
 निगूहसे महामोहाभृत्युस्त्वा समुपस्थित ॥१२॥
 छिद्धि भिद्धि तुवाकर्म रू द्वि इधि वधान त ।
 बधानेन मूदानाम्नु दह च्छादय मारय ॥१३॥
 प्रबधे पातयाप्येन तुव पिंडी प्रदीपय ।
 विशसेति च सरम्य त मु चति गिरोऽग्निभा ॥१४॥

जनेनेदृशा नारकेण प्रापितवेदना बुद्धि निरूपयति—

ज 'अवद्धदो उप्पाडिदाणि अच्छीणि निरयवासम्मि ।

अवमस्स उक्खया ज सत्तूलमूलाय ते जिब्भा ॥१५६७॥

'ज अवद्धदो उप्पाडिदाणि' निर पृष्ठदेशादुत्पाटिते । 'अच्छीणि' लोचने । 'निरयवासे य' नरकवासे च । 'अवमस्स' अवसाम्य । 'उत्खाता' उत्पाटिता । 'ज' मत् । 'सत्तूलमूलाय ते जिब्भा' निरवदोपा ते जिह्वा ॥१५६७॥

कुभीपाएसु तुम उक्कडिओ ज चिर पि^२ व सोल्ल ।

ज सुट्ठिउव्व निरयम्मि पउल्लिदो पावकम्महि ॥१५६८॥

'कुभीपाएसु तुम' कुभीपाकेषु त्व । 'उक्कडिओ' उत्त्रवधित । 'ज सुट्ठिउव्व' शूलप्रोतमागवत् । 'निरयम्मि' नरके । 'पोडिओ' अगारप्रकरे पवव । 'पावकम्महि' पापकर्मभि ॥१५६८॥

आदिका रूप अपनी विक्रियासे वनाकर विस्तारपूर्वक परस्परमे कष्ट देते हैं । कुछ काष्ठ, पर्वत और शिलारूप वनकर उनपर बरसते हैं । उनको अपने ऊपर गिरते देखकर दूमरे नारकी जो सूलीके अप्र भागपर टंगे होते हैं उन्हें ग्रहण करते हैं । वे नारकी जल वनकर दूसरे नारकियोंको डुवाते हैं, वायु वनकर उड़ते हैं । आग वनकर जलाते हैं । परस्परमे दया नहीं करते । अरे दासीपुत्र ! ठहर, वहाँ भागा जाता है । मैं तुझे मारूँगा । तेरी मृत्यु आ गई है । इसका छेदन करो, भेदन करो, पकड लो, खींच लो, मार डालो, जला डालो, चीर दो इत्यादि अशुभ वचन बोलते हैं ॥१५६६॥

नारको जीवने इस प्रकार जो वेदना भोगी उसे कहते हैं—

गा०—नरकमे सिग्गे पिच्छले भागसे तेरी आँखें निकाली गई । और पराधीनतावश तेरी पूरी जिह्वा जडमूलमे उग्राडी गई ॥१५६७॥

गा०—पापी नारकियोंके द्वारा नरकमे तुम चिरकाल तक कुम्भीपाकमे औटाये गये । तय मूलमे पिग्गेये मामकी तग्ह अगारोपर पकाये गये ॥१५६८॥

१ जावट्टा मु० । अवद्धदो मूलार० । २ पि गोह्गो ज० ज० । मोग्ल घृतमिश्रित तैल वञ्चलेंप इत्यय -मूलार० ।

ज भज्जिदोमि भज्जिदगपि व ज गालिओमि रमय व ।

ज कप्पिओमि वल्लूरय व चुण्णं व चुण्णकदो ॥१५६९॥

‘ज भज्जिदोसि’ यद्भृष्टोऽग्निं ‘भज्जिदवपि’ भज्जिदगनापधेयताञ्चन । ‘ज गालिओसि रसगोच’ यद्गालितोऽग्निं रमयत । ‘ज कप्पिदोसि’ यद्वृत्तित । ‘ज टिन्नो सि’ यन् टिन्न । ‘वल्लूरय पि व’ वल्लूरवन् । ‘चुण्णव’ चूर्णवन् ‘चुण्णकदो’ चूर्णोक्त ॥१५६९॥

चक्केहिं करकचेहि य ज सि णिकत्तो विकत्तिओ ज च ।

परसूहिं फाडिओ ताडिओ य ज त मुसुंढीहि ॥१५७०॥

‘चक्केहिं करकचेहि’ चर्त्रं ककचैश्च । ज सि णिकत्तो’ यदसि निवृत्त । विकत्तिदो’ विविध कृत । ‘परसूहिं फाडिओ’ परगुभि पाटित । ‘ताडिओ’ ताडित । ‘ज’ यन् स्व ‘मुसुंढीहि’ मुसुंढीभि ॥१५७०॥

पासेहिं ज च गाढ बद्धो भिण्णो य ज सि दुघणेहि ।

ज खारकदमे खुप्पिओ मि ओमच्छिओ अवसो ॥१५७१॥

‘पासेहिं’ पासां । ‘ज’ यन् । ‘गाढ बद्धो’ दृढ बद्ध । ‘भिण्णो य भिन्नश्च । ज सि’ यदसि । ‘दुघणेहिं’ घनं । ‘ज’ यन् । ‘खारकदमे’ शारकदमे । ‘खुप्पिदोसि निवृत्तातोऽग्निं । ‘ओमच्छिओ’ अधोमन्तक । ‘अवसो’ परवसा ॥१५७१॥

ज छोडिओमि ज मोडिओमि ज फाडिओसि मलिदो स ।

जं लोडिदोसि सिंघाडणसु तिकखेसु वेण्ण ॥१५७२॥

यद्भ्रम, पानित, मदिन, लोडितश्च तीक्ष्णेषु शृगाटकेषु वेगेन ॥१५७२॥

विच्छिण्णगोवगो खार सिच्चित्तु बीजिदो ज मि ।

सचीहि विभुक्कीहि य अदयाए सुंचिओ ज मि ॥१५७३॥

‘विच्छिण्णगोवगो’ विच्छिन्नागोपाग । ‘खार सिच्चित्तु’ शार भिन्त्वा । ‘बीजिदो ज सि यद्रीजित ।

गा०—तुम भाजीकी तरह भेंजे गये हो । गुडके रसकी तरह छाने गये हो । मामके टुकड़ोंकी तरह काटे गये हो और चूर्णकी तरह चूर्ण किये गये हो ॥१५६९॥

गा०—चक्रके द्वारा छेदे गये हो । आरेके द्वारा चीरे गये हो । परमुके द्वारा फाडे गये हो । और मुसुंढी अस्त्र विदोपसे पीटे गये हो ॥१५७०॥

गा०—पागके द्वारा मजबूतीमे बाधे गये हो । घनोके द्वारा छिन्न-भिन्न किये गये हो । पराधीन होकर ग्यारी कीचडमे नीचेको मस्तक करके गाडे गये हो ॥१५७१॥

गा०—जो बिदारे गये हो । मोडे गये हो, फाडे गये हो, पैरोंमे मले गये हो, तथा वेगमे तीक्ष्ण लोहमयी सिंघाडोंपर घनीटे गये हो ॥१५७२॥

गा०—अग उपागके विच्छिन्न होनेपर खारे जल बादिसे भीचे गये । फिर पखाने

'सत्तोहि' शक्तिभि । 'विमुक्तीहि य' अयोमयकण्ठकाग्रंदण्डं । 'अदयाए' दयामन्तरेण । 'खुचिदो' परा-
वन्ति ॥१५७३॥

पगलतरुधिरधारो पलवचम्भो पभिन्नपोट्टिसरो ।

पउल्लिदहिदओ ज फुडिदच्छो पडिचूरियगो य ॥१५७४॥

'पगलतरुधिरधारो' प्रगलद्रुधिरधार । 'पलवचम्भो' प्रलम्बत्वम् । 'पभिन्नपोट्टिसरो' प्रभिन्नोदर
शिखा । 'पउल्लिदहिदओ' प्रनप्तहृदय । 'ज' यत् । 'फुडिदच्छो' स्फुटितलोचन । 'पडिचूरियगो य' परिचूर्ण-
ताङ्ग ॥१५७४॥

जं 'चडवडित्तऋचरणंगो पत्तो मि वेदणं तिच्चं ।

णिरए अणंतसुत्तो त अणुचितेहि णिस्सेस ॥१५७५॥

'ज' यत् । 'चडवडित्तऋचरणंगो' वेपमानकरचरणान्ग । 'पत्तो मि वेदणं तिच्चं' प्राप्नोसि वेदना
तीव्रा । 'णिरए' नरके । 'अणतसुत्तो' अनतवार तत् अणुचितेहि' अनुक्रमेण चिन्तय । 'णिस्सेस' निग्वसोप ॥
नरकगतिदु ख वणितम् ॥१५७५॥

तिरियगदि अणुपत्तो भीममहावेदणाउल्लमपार ।

जम्मणमरणरहट्ट अणतसुत्तो परिगदो जं ॥१५७६॥

'तिरियगदि अणुपत्तो' तिर्यग्गतिसुप्राप्त । 'भीममहावेदणाउल्लमपार' । भीममहावेदनातुल्लरूपार
'जम्मणमरणरहट्ट' जन्ममरणघटीयत्र । 'अणतसुत्तो' अनतवार । 'परिगदो' परिप्राप्तासि । यत् चित्तेहि त
इति वक्ष्यमाणेन संबन्ध । निर्यंचो हि नानाविधा पृथिव्यन्तेजोवायुवनस्पतिव्रमभेदेन ॥१५७६॥

ह्वा की गई जिमने वेदना बडे । फिर शक्ति नामक अम्त्रने और लोहेके दण्डसे जिमने आगे काटे
ग्यो हो, निर्दयतापूर्वक खोचे गये ॥१५७३॥

गा०—रघिंकी धार बह रही है, चमडा लटक रहा है, उदर और मिर फट गया है,
हृदय दु खमे मतप्ल है, अंग्वें फूट गई हैं । समस्त शरीर छिन्न-भिन्न है ॥१५७४॥

गा०—हाथ पैर कापते हैं । ऐसी दशामे तुमने नरकमे जो अनन्त चार नौब्र कष्ट भोगा
उम सबका क्रमसे चिन्तन करो ॥१५७५॥

नरकगतिके दु खका वर्णन समाप्त हुआ ।

गा०—डी०—नरकमे निकलकर तुम निर्यंचगतिसे आवे । यह जन्म मरणरूपी घटीयत्र
(रहट्ट) भयानक महावेदनाश्रामे भगा है, इसका पार नहीं है । इने तुमने अनन्तवार प्राप्त किया है ।
निर्यंच पृथिवी, जल, तेज, वायु, वनस्पति और अग्ने भेदेमे अनेक प्रकारके हैं ॥१५७६॥

आत्मानुभूतान्पि न स्मरन्ति दुःखानि वैचिद्रि नरा प्रमत्ता ।
दृष्टधृतान्प्यसमुद्भूतानि ते विस्मरन्तीति न विस्मयोऽत्र ॥१॥
प्रमादलोपार्थमतो नरेभ्यो ज्ञानोर्पि सोऽर्थं परिक्वय एव ।
सस्माद्यमाणे प्रभवन्ति यस्मिन्गुणा न दोषाश्च समुद्भवन्ति ॥२॥
शोते निदात सलिलादि चोष्णे क्षेम भये सश्रयितु समर्था ।
ये जंगमास्ते न तु सास्ति शक्तिरेकेन्द्रियाणा बत जीवकानरा ॥३॥
सर्वोपसर्गानिह मोक्षकामा यथा विरागा मूनयः सहन्ते ।
सर्वोपसर्गनिवशा बराका एकेन्द्रिया ये च सदा सहस्ते ॥४॥
जात्यन्वमूका बधिराश्च बाला रप्यासु रक्षाशरणप्रहीणा ।
प्रमद्यमाना गजवान्जियानैर्यथा भ्रमेरन् विवशा बराका ॥५॥
तथा प्रकरो विकलेन्द्रियाणा प्रवर्तते नारकसुखतुल्यः ।
मृत्यु समतात् सतत सुषोरो प्रामेत्वरप्येषु च नि शरप्यः ॥६॥
गोऽजाविकाशो परिपद्यमाना यानादिवक्त्रेः परिपिष्यमाणाः ।
अपोन्ववत्रे परिमुष्यमाणा दुःख च मृत्यु च हि ते लभन्ते ॥७॥
छिन्ने शिरोनिश्चरणैश्च भर्त्सयन्नादितैश्चावपवैस्तनूना ।
चिर स्फुरन्त प्रतिकारहीनाः कृच्छ्रेण केचिज्जहति स्वमायु ॥८॥
निमज्ज्यमाना उदबिन्दुनापि निश्वासात्तैरपि चोद्यमाना ।
प्रचोद्यमाना लघुनोष्णानपि नश्यन्ति ये तेषु कथा भवेत् क्वा ॥९॥

कितने ही प्रमादी मनुष्य अपने द्वारा अनुभूत दुःखोको भी भूल जाते हैं। तब देखे हुए, मुने हुए और दूसरोंके भोगे हुए दुःखोको भूल जायें तो इसमें क्या आश्चर्य है। अत मनुष्योंके द्वारा जाना हुआ भी यथार्थ प्रमाद दूर करनेके लिये कहा जाता है। जिमका स्मरण होनेपर गुण प्रकट होने हैं और दोष प्रकट नहीं होने। जो जगम प्राणी होते हैं वे शीतमें वायु रहित स्थानमें, गर्मीमें जलादिमें, भय उपस्थित होनेपर निरापद स्थानमें आश्रय ले सकते हैं। किन्तु खेद है कि एकेन्द्रिय जीवोंम ऐसी शक्ति नहीं होती। जैसे मोक्षके इच्छुक विरागी मुनि सब उपसर्गोंको सहते हैं। पराधीन बेचारे एकेन्द्रिय भी सब उपसर्गोंको सदा सहते हैं। जैसे जन्मसे बन्धे गूंगे बहरे वालक रक्षा और शरणमें विहीन हुए बेचारे विदग होकर मार्गमें हाथी घोड़े सवारी आदिमें कुचलकर मर जाते हैं। विकलेन्द्रिय जीवोंको भी ऐसी ही दशा है। उनका दुःख भी नारविद्योकि समान है। प्रायो और वनोमें भी उनको शरण नहीं है। उनकी घोर मृत्यु सदा होनी रहती है। गाध वैल, बकरा भेडा आदिके द्वारा वे कुचले जाते हैं। गाडी आदिके चकोके नीचे पिन जाते हैं। परम्परमें एक दूसरेके मुसोंके द्वारा पीडित होकर वे दुःख और मृत्युको प्राप्त होने हैं। निरोंके भग्न हो जानेपर, पैरोंके टूट जानेपर तथा शरीरके अवयवोंके रोगमें ग्रस्त होनेपर वे चिरकाल तक तडफडाते रहते हैं, उनका कोई इलाज नहीं करना। बड़े कप्टसे वे आयु पूरी करते हैं। जो जलकी एक बूदमें भी डूब जाते हैं, प्राणियोंके श्वासकी वायुसे भी पीडित होते हैं। जरा सी भी गर्मीसे पीडित होनेपर मर जाते हैं उनकी क्या क्या कही जाये ?

सत् प्रविश्येह यथा नरः सन्नुन्मज्जनं चैव निमज्जनं च ।
 क्रीडाप्रसक्तो बहुशोऽपि कुर्यादनन्यकार्यं स्ववशो वयस्य ॥१०॥
 प्रविश्य जन्मोदधिमध्येव शरीरिणस्ते बहु जन्ममृत्युन् ।
 अन्तर्मुहूर्तेऽपि समाप्नुवन्ति पेपीयमानाः कटुदुःखतोयम् ॥११॥
 सूक्ष्मे शरीरंरपि ते महान्ति दुःखानि नित्यं सममाप्नुवन्ति ।
 स्थूलेषु देहेषु समीहितेषु दुःखोदयो देहिगुणैश्च दृष्ट ॥१२॥
 येषां न माता न पिता न बन्धुर्न चापि मित्रं न गुरुं नपि ।
 न भेषजं नाभिजनो न भक्ष्यं न ज्ञानमस्त्येव कुत सुखं स्यात् ? ॥१३॥
 मात्रा वियोगेऽपि सतीह तावत् दुःखान्यु तत्तुं न जनो लभेत ।
 मात्रा वियोगस्तु भवेन्न येषां स्थानं कथं ते न हि दुःखराशे ॥१४॥
 मा भंष्ट मा भूत्सव दुःखजालं मा विष्ट मा वेति वराककाणां ।
 आश्वत्थको वाप्यनुकम्पिता वा तेषां जन कोऽस्ति यथा नराणां ॥१५॥
 तैस्ते प्रकारं सततं समन्ताच्छब्ददृश्यानां अपि मृत्युमग्नं ।
 करोति वा को ग्रहणं निरोक्ष्य विमुच्य सर्वधिवदो मनुष्यान् ॥१६॥
 अन्योन्यतो मर्त्यजनाच्च पापात् क्षुधादितश्चापि महाभयानि ।
 पञ्चेन्द्रिया यानि समाप्नुवन्ति दुःखानि तेषामिह कोपमा स्यात् ॥१७॥
 स्तनध्यान्त्वानपि भक्षयन्त ३धृतास्तित्दशोऽपि न निष्कृपाकाः ।
 निहत्य खावत्सु परान्वरेषु तिर्यग्भुं किं विस्मयनीयमस्ति ॥१८॥

जन्मे कोई स्वाधीन वयस्क पुरुष क्रीडासक्त हो, सरोवरमें प्रवेश करके बहुत वार जलमें डूबता और उतराता है। वैसे ही शरीरधारी प्राणी जन्मरूपी समुद्रके मध्यमें प्रवेश करके कटुक दुःखरूपी जलको पीते हुए एक अन्तर्मुहूर्तमें भी बहुत वार जन्म लेंते और मरते हैं। यद्यपि उनके शरीर सूक्ष्म होते हैं फिर भी वे महान् दुःख भोगते हैं। स्थूल शरीर मिलने पर उनका दुःख अन्य प्राणी भी देख सकते हैं। जिनका न पिता है, न माता है, न बन्धु है, न मित्र है, न गुरु है, न स्वामी है, न शीपघ है, न वश है, न भोजन है और न ज्ञान है उन्हें सुख कैसे हो सकता है। माताका वियोग भी होनेपर इतना दुःख होता है जिसे मनुष्य सह नहीं पाता। जिनके माता ही नहीं है उनकी दुःख राशिका तो कहना ही क्या है। नुम मत डरो, तुम्हें दुःख न हो, इस प्रकार उन बेचारोंको मनुष्योंकी तरह न कोई सान्त्वना देनेवाला है और न कोई उनपर दया करनेवाला है। विभिन्न प्रकारोंमें निरन्तर सदा चहुँ ओरसे उग्र मृत्युको प्राप्त उन प्राणियोंको देखकर उनके सम्बन्धमें जानने वाले मनुष्योंके सिवाय अन्य कौन उनकी सुध लेता है। पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च परस्परमें एक दूसरेसे, पापी मनुष्योंमें भूख प्यास आदिसे जिन महाभयकारी दुःखोंको प्राप्त होते हैं उनकी कोई उपमा नहीं है। वे अपने बच्चोंको भी रग जाते हैं। तिर्यञ्च भी दयाहीन नहीं मुने गये हैं। किन्तु जो अपने ही बच्चोंको खाते हैं वे यदि द्रमरीकी खा जावें तो इसमें आश्चर्य ही क्या। वे परस्परमें एक दूसरेका घात करनेके लिये प्रहार करते हैं। उनको मारनेके लिये

१ स्थूलानुदेहेषु समीहितेषु सुसोदयो देहिगुणैश्च दृष्ट ।—अ० । २ दुःखं च स्यादविष्ट—अ० ।

अन्योन्यघातार्थमनुप्रयाति हन्तु तमन्ये कृपणोऽनुयाति ।
 त कश्चिदन्य सहसा निहता ही धिक्वततो भीमतर किमन्यत् ॥१९॥
 अन्योन्यरःश्रेणननःप्रनिद्रा अन्योन्यमाहृत्य जिजीविषन्त ।
 स्वस्या न येऽन्योन्यभयात्स्वपन्ति कि ते भवेयु सुशान कदाचित् ॥२०॥
 वने मृगास्तोयतृणप्रपुष्टा मृगोसहाया रतिमाप्नुवन्ति ।
 व्याघादिभिर्भयंभूयमाप्नुवन्ति निरेनस कारणमत्र कर्म ॥२१॥
 विपोजिता आत्ममुतेश्च बालैर्मृग्यो मृगश्चात्ममनोऽनुकूलै ।
 दिशस्तु दीनाक्षिभिरीक्ष्यमाण। सुदरुण मारणमाप्नुवन्ति ॥२२॥
 स्वभावपापा कुक्कीरिताभि प्रोत्साहिता कुश्रुतिभि पुनश्च ।
 अब्रिन्पतो दुर्गतितो यथेष्ट धनन्तोऽभ्यवतश्च हितानुमन्यते ? ॥२३॥
 वने मृगेभ्य पिशिताशनेभ्यो ग्रामेयु नृभ्यश्च तयाविधेभ्य ।
 ते बिभ्यते न क्वचिदाश्वसगतो यदृच्छया विश्रति जीवितानि ॥२४॥
 यदङ्कुशादिप्रहर्तंगजाश्च कशादिघातेश्च ह्या हताशा ।
 गावश्च तोत्रादिवधै परेषा कुवन्ति कर्माभरणवादकामा ॥२५॥
 भत्यायुतानामलमेतदेव विरागभावप्रभवे निमित्तम् ।
 तादृग्विधाना बहवो हि कोटश्च क्य प्रकुर्वन्त्यमितेतरस्य ॥२६॥
 ददह्यमानाश्च दवाग्निवेवैर्महाजलौघैश्च समूह्यमाना ।
 मृगा खगा सर्पसरोसृपाश्च सार्धं छ्रियन्ते बहवो बतान्ये ॥२७॥

दूसरा पशु उमके पीछे लगे जाता है। उसको भी कोई तीसरा मार देता है। धिक्कार है इसे, इससे भयानक और क्या हो सकता है। परस्परमे एक दूसरेके छिद्रोको देखनेसे जिनकी नींद भाग जाती है, जो एक दूसरेको मारकर जीना चाहते हैं, जो परस्परमे एक दूसरेके भयसे स्वस्थ होकर सो नहीं सकते वे कभी सुखी कैसे हो सकते हैं? वनमें मृग जल और तृण खाकर पुष्ट होते हैं। हिंणी उनकी सहचरी होती है। परस्परमे प्रेमसे रहते हैं। बिना किसी अपराधके भी व्याघ आदिसे उन्हें भय रहता है। इसमें कारण उनका पूर्व कर्म है। उन्हें अपने वच्चोसि वियोगका दुःख उठाना पड़ता है। अपने मनके अनुकूल मृगांकी खोजमें दीन दृष्टिसे दिशाओको देखा करते हैं और इस तरह भयकर मृत्युको प्राप्त होते हैं। जो स्वभावसे ही पापी है, और कुक्कीरिका द्वारा कही गई न सुनने योग्य कविताओंमें उत्साहित होकर, दुर्गतिसे भी नहीं डरते वे उन पशुओको यथेच्छ मारते हैं और इमें हित मानते हैं। वनमें मासाहारी पशुओंसे, ग्रामोमें मासाहारी मनुष्योंसे डरते हैं। वे कही भी अपनी इच्छानुसार निर्भय जीवन नहीं बिताते। हाथी अनुश आदिके प्रहारोसे, घोडे कांडे आदिकी मारसे और बेल पैनी आदिके घातसे मरणपर्यन्त दूसरोका काम करते हैं। जो बुद्धिमान् हैं उनके वैराग्य उत्पन्न होनेमें यह सब ही निमित्त है। उनकी बहूतसी कोठियां हैं वे एक दूसरेको कष्ट कैसे दे सकते हैं। जगलकी आगके वेगमें जलते हुए महाजलसमूहके प्रवाहमें बहाये जाते हुए मृग, पक्षी, सर्प, सरोसृप तथा अन्य भी बहूतसे जीव एक साथ मर जाते हैं ॥१५७६॥

१ ही धिक्क लोभान्तरा किमन्यत् -आ० । २ मर्यायुनामाल-आ० । ३ न्यमिते नारम्य

ताडणतासणव्रंधणवाहणलंछणविहेडणं' दमणं ।

कण्णच्छेदणणामावेहणंणिल्लच्छणं चैव ॥१५७७॥

'ताडणतासण' ताडनत्रामनवन्धनलाच्छनवाहनविहेडनकण्णछेदननासिकावेधनवीजविनाशानानि ॥१५७७॥

छेदणभेदणइहण णिपीलण गालण छुहातण्हा ।

भक्खणमइणमलणं विकत्तण सीटउण्हं च ॥१५७८॥

छेदनमेदनदहननिपोडनगालनानि क्षुत्तुड्वाधाभक्षणमर्दनमलनविकर्ननानि । शीतमुष्ण च ॥१५७८॥

ज अत्ताणो णिप्पडियम्मो बहुवेदणुदिओ पडिओ ।

बहुएहि मदो दिवसेहिं चडयडतो अणाहो त ॥१५७९॥

'ज अत्ताणो' यदत्राणा । 'णिप्पडियम्मो' निम्प्रतीवार । 'बहुवेदणुदिओ' बहुवेदनादित । 'पडिओ' पतित । 'बहुएहिं मदो दिवसेहिं' बहुभिम्पूतो दिवसे । 'चडयडतो' स्फुरदेह । 'अणाहो' अनाय । 'त' त्व ॥१५७९॥

रोगा विविहा वाधाओ तह य णिच्च भय च सच्चत्तो ।

तिव्वाओ वेदणाओ धाडणपादाभिघादाओ १५८०॥

'रोगा विविहा' व्याधयो नानाप्रकारा । 'वाधाओ' बाधाश्च । 'तया निच्च भय च सच्चत्तो' नित्यं भय च भयं । 'तिव्वाओ वेदणाओ' तीव्रा वेदना घाटनपादाभिघाताश्च ॥१५८०॥

सुविहिय अदीदकाले अणंतकाय तुमे अदिगदेण ।

जम्मणमरणमणंतं अणतसुत्तो ममणुभूद ॥१५८१॥

'सुविहिय' मुचारित । 'अदीदकाले' अतीतकाले । 'अणतकाय तुमे अदिगदेण' अनतकाय स्वया प्रविष्टेन । 'जम्मणमरणमणंतं' जन्ममरण नानन्त । 'अणतसुत्तो' अनन्तवार क्षिप्त । 'ममणुभूद' सम्पन्नमुत् ॥१५८१॥

गा०—लाठी आदिते मारना, डराना, रस्मी आदिमे वाचना, बीसा लादकर देशान्तरमे लं जाना, गर्म लोहसे दागना, पीडा देना, दमन करना, अण्डकोषको दवा देना । अयोको छेदना, भेदना, जलाना, दमाना, रोग आदि होनेपर रक्त निकालना, भूम्य प्यासकी वाधा, भक्षण, मर्दन, मलना, कान आदिको काटना, शीत उष्ण इत्यादि दु ख तिर्यञ्च गतिमे तुमने महे हैं ॥१५७७-७८॥

गा०—जहाँ कोई रक्षक नहीं, कोई प्रतीकार नहीं, बहुत कष्टमे पीड़ित होकर गिरे और अनाय दरामे तडफडाते हुए तुम बहुत दिनोमे मरे ॥१५७९॥

गा०—तिर्यञ्चगतिमे नाना प्रकारके रोग, नाना प्रकारकी वाधाएँ, मदा मव ओरमे भय, तीव्र वेदनाएँ, घेरमे मारना आदि कष्ट है ॥१५८०॥

गा०—हे चारित्रसे सम्पन्न शपक ! अतीतकालमे तुमने अनन्तकायमे जन्म लेकर अनन्त बार अनन्त जन्म मरणोंको भोगा ॥१५८१॥

इच्छेवमादिदुक्ख अणंतखुत्तो तिरिक्खजोणीए ।

जं पत्तोसि अदीदे काले चित्तेहि त मव्व ॥१५८२॥

‘इच्छेवमादिदुक्खा’ इत्येवमादिदुःख । ‘अणतखुत्तो’ अनन्तवार । ‘तिरिक्खजोणीए’ तिर्यग्योनी । ‘जं’ यन् । ‘पत्तोसि’ प्राप्तोऽसि । ‘अदीदेकाले’ अतीतकाले । ‘चित्तेहि त मव्व’ तत्सर्वं चिन्तय । तिरियवदी ॥१५८२॥

देवत्तमाणुमचे जं ते जाएण सकयकम्मवसा ।

दुक्खाणि किलेसा वि य अणतखुत्तो समणुभूदं ॥१५८३॥

‘देवत्तमाणुसत्ते’ देवत्वमानुपत्वयो । ‘जावेण’ जातेन । ‘सकयकम्मवसा’ म्वृत्तवर्भवशात् । ‘दुक्खाणि किलेसा वि य’ दुःखानि क्लेशाश्च । ‘अणतखुत्तो’ अनन्तवार समनुभूता ॥१५८३॥

पियविप्पओगदुक्ख अप्पियसवासजाददुक्ख च ।

‘ज वेमणस्सदुक्खं जं दुक्ख पच्छदालाभे ॥१५८४॥

‘पियविप्पओगदुक्ख’ प्रियविप्रयोगजात दुःख । ‘अप्पियसवासजाददुक्ख च’ अप्रियं महवामेन जात च दुःख । येया नामश्रवणेऽपि शिर शूलो जायते, येया दर्शनाद्गर्भे घूमायेते । ‘ज वेमणस्सदुक्खं’ यद्दमनस्यदुःखं ‘पच्छदालाभे जं दुःखं यद्दुःखं प्राथितालाभे ॥१५८४॥

परमिच्चदाए जंते अमव्वभवयणेहि कडुगफरुसेहि ।

गिण्भत्थणावमाणणतज्जणदुक्खाइ पत्ताइ ॥१५८५॥

‘परमिच्चदाए’ परमृच्यताया सत्या ‘ते’ तव ‘जं’ यज्जात । ‘अमव्वभवयणेहि’ अशिष्टवचने । ‘कडुगफरुसेहि’ कटुकं पर्यंदच । ‘गिण्भत्थणावमाणणतज्जणदुक्खाइ पत्ताइ’ निर्भर्त्सनावमानतर्जनदुःखानि प्राप्तानि ॥१५८५॥

दीणत्तगैमच्चितामोगामरिमग्गिपउल्लिडमणो ज ।

पत्तो घोर दुक्ख माणुसजोणीए मतेण ॥१५८६॥

गा०—तिर्यञ्चयोनिमे तुमने अतीतकालमे अनन्तवार जो इम प्रकारके दुःख भोगे है उन मवका विचार करो ॥१५८२॥

गा०—अपने किये हुए कर्मके वशीभूत होकर तुमने देवपर्याय और मनुष्य पर्यायमे जन्म लिया और वहाँ भी अनन्तवार दुःख और क्लेशोको भोगा ॥१५८३॥

गा०—टी०—प्रिय जनके वियोगका दुःख, अप्रियजनोके मायमे रहनेका दुःख, जिनका नाम मूनकर भी मिरमे दर्द होता है, जिनके देखने मात्रसे आँखें लाल हो जाती हैं उन्हें अप्रिय कहते हैं । उनके मायमे रहनेका दुःख, वंमनस्यका दुःख और इच्छित वस्तुके न मिलनेका दुःख, राजा आदिकी नौकरी करनेपर अशिष्ट और कटुक वचनोका दुःख, निक्कार, तिरस्कार, अपमान और डाटनेका दुःख तुमने महा है ॥१५८४-८५॥

'दीनस्तरोत्तचित्तो गामरित्तगिण्णुत्तिदमणो ज' दीनत्वरोपचित्तो कामर्पाग्निभि मतप्तमना यन् ।
'पत्तो धोर द्रुक्का' प्राप्त घोर दु ख । 'माणुसज्जोणए सत्तेण' मनुष्ययोनी सत्या भवता ॥१५८६॥

दडणमुंडणताडणघरिसणपरिमोससकिलेसा य ।

घणहरणदारधरिसणघरदाहजलाद्विघणणाम ॥१५८७॥

दडणमुंडण—दण्डनमुंडनताडणद्रूपणपरिमोषणसकलेशा घनापहरणदाग्द्रूपणानि गृहदाहजलादिभिर्द-
निगनासात ॥१५८७॥

दडकसालद्विसदाणि डंगुराकटमद्दण घोर ।

कुंभीपाको मच्छयपलीवणं भत्तवुच्छेदो ॥१५८८॥

'दण्डकसालद्विसदाणि' दण्डकशायप्टिदातेस्ताडनानि दण्डादिकार्यत्वाद्दण्टादिसाब्देनोच्यन्ते । डंगुरा मुष्टि-
प्रहारा । 'कटमदण' कण्टकानामुपरि प्रथिष्य मर्द्दं घोर । कुंभीपाक' । 'मच्छयपलीवण' मन्तवे अग्नि-
प्रज्वलन । 'भत्तवुच्छेदो' आहारनिरोध ॥१५८८॥

दमणं च हत्थिपादस्स णिगलअद्वरत्तरज्जूहिं ।

वघणमाकोडणय ओलवणणिहणण चैव ॥१५८९॥

'दमणं च हत्थिपादस्स' हस्तिपादेनोन्मर्द्दं । 'णिगलअद्वरत्तरज्जूहिं' निगलेन, अन्दुकाभि, वरत्राभि, रज्जुभिश्च बन्धन । 'आकोडणय' हस्तौ पुण्यतो नीत्वा बन्धन । 'ओलवण' श्रीवावद्धपासास्य तस्साखांमु लम्बन । 'णिहणण' चैव गते निक्षिप्य पूरण ॥१५८९॥

कण्णोद्वसीसणासाछेदणदंताण भजण चैव ।

उप्पाडणं च अच्चीण तथा जिन्मायणीहरणं ॥१५९०॥

'कण्णोद्वसीसणासाछेदण' कर्णयोरुदयो, शिरसो, नामिकायाश्च छेद । 'दंताण भजण चैव' दंताना भञ्जन । 'उप्पाडणं च अच्चीण' अक्षणोरुत्पाटन, तथा 'जिन्मायणीहरणं' जिह्वानिर्हरण ॥१५९०॥

गा०—दीनता, रोष, चिन्ता, शोक और क्रोधरूप आगने मनके मतप्त होनेपर तुमने मनुष्ययोनिमें रहते हुए घोर दु ख पाया है ॥१५८६॥

गा०—राजा आदिसे दण्डित होना, सिर मुण्डा करा देना, पीटा जाना, तिरस्कारपूर्वक दोष लगाया जाना, चोरी होना, राजा आदिके द्वारा धनका हरण, स्त्रियोंको दोष लगाना, घरमें आग लगाना, बाढ़ बरगर्हसे सपतिका नष्ट होना, डण्डे कोड़े लाठी आदिमें पीटा जाना, मुट्टीका प्रहार होना, काटोके ऊपर लिटाकर घोर मर्द्दं करना, कडाहीमें डालकर पकाना, मस्तकपर आग जलाना, आहारका रोक देना इत्यादि दु ख तुमने मनुष्यगतिमें सहे हैं ॥१५८७-८८॥

गा०—हाथीके पंरसे दबाया जाना, साकल, चमडेकी रस्मी या माधारण रस्मीमें बाधा जाना, दोनो हाथ पीछे करके बाधना, गर्दनमें रस्मी डालकर वृक्षमें लटकाना, गड्डेमें डालकर उमें पूर देना । कान, ओष्ठ और नाक काटना, दात तोडना, आँसे निकाल लेना, जीभ उखाड लेना, इत्यादि दु ख तुमने भोगे हैं ॥१५८९-९०॥

अग्निविससत्तुत्पादिबालसन्धाभिघादघादेहिं ।

सीदुण्हरोगदसमसर्हिं तण्हाछुहादीहिं ॥१५९१॥

‘अग्निविससत्तुत्पादिबालसन्धाभिघादघादेहिं’ अग्नेर्विपश्य, शत्रूणा, मर्पादेव्यालमुगणा, शस्त्रप्रहारस्य च घातं । ‘सीदुण्हरोगदसमसर्हिं’ शीतोष्णं, दशमशर्त्तं, ‘तण्हाछुहादीहिं’ तृच्छुधादिभि ॥१५९१॥

जं दुक्ख सपत्तो अणंतस्वुत्तो मणे सरीरे य ।

माणुमभवे वि तं सव्वमेव चित्तेहि त धीर । ॥१५९२॥

‘जं दुक्ख सपत्तो’ यद्दु ख सप्राप्त । ‘अणतस्वुत्तो’ अनन्तवार । ‘मणे सरीरे य’ मांसि शरीरे च । मानस शरीरं च दु ख प्राप्त । ‘माणुसभव वि’ मनुष्यभवऽपि । ‘त सव्वमेव चित्तेहि’ तत्सर्वमेव चिन्तय । ‘त धीर’ त्व धीर । ॥१५९२॥

सारीरादो दुक्खादु होड देवेमु माणस तिच्च ।

दुक्ख दुस्सहभवसस्स परेण अभिजुज्जमाणसस ॥१५९३॥

‘सारीरादो दुक्खादु’ शारीराददु खान् । ‘होडि’ भवति । ‘देवेसु देवेसु’ ‘माणस तिच्च’ मानस तीव्र दु ख । ‘दु स्सह’ सोहमशान्य । ‘अवसस्स’ अवशस्य । ‘परेण’ अन्येन ‘अभिजुज्जमाणसस’ अभियुज्यमानस्य वाहनता नीयमानस्य ॥१५९३॥

देवो माणी सतो पासिय देवे महद्धिए अण्णे ।

ज दुक्ख सपत्तो घोरं भग्गेण माणेण ॥१५९४॥

‘देवो माणी सतो’ देवो मानी मन् । ‘पासिय देवे’ देवान् दृष्ट्वा । ‘महद्धिए’ महर्द्धिकान् । ‘अण्णे’ अन्यान् । ‘ज दुक्ख सपत्तो घोरं’ यद्घोरं दु ख प्राप्त । ‘भग्गेण माणेण’ भग्नेन मानेन ॥१५९४॥

दिव्हे भोगे अच्छरमाओ अवसस्स सग्गवास च ।

पजहतगम्म ज ते दुक्ख जाद चयणकाले ॥१५९५॥

गा०—आग, विप, शत्रु, मर्प आदि तथा सिंह, शस्त्रके प्रहारेसे घात, शीत, उष्ण, डास मच्छर, भूख प्यास, इनसे तुमने मनुष्यभवसे जो शारीरिक और मानसिक दु ख पाया है, हे धीर । उम सबका विचार करो ॥१५९१-१५९२॥

गा०—जत्र देवगतिसे अभियोग्य जातिवा देव होकर वह परवग होकर इन्द्रादिके द्वारा वाहन बनाया जाता है तब उमें शारीरिक दु खसे तीव्र मानसिक दु ख होता है जो असह्य होता है ॥१५९३॥

गा०—अभिमानी देव हुआ तो अन्य महर्द्धिक देवानो देखकर मानस भग होनेसे जो घोर दु ख हुआ उसका विचार करो ॥१५९४॥

गा०—परवग होकर दिव्य भोग, देवांगनाएँ और स्वर्गवाम त्यागनेपर स्वर्गमें च्युत होते समय जो दु ख हुआ उसको स्मरण करो ॥१५९५॥

'दिव्ये भोगे' दिव्यान्भोगान् । 'अच्छरसाओ' देवकन्यया । 'सगवाम च' स्वगवाम च । 'पजहत-
मस्त' परित्यजत । 'अवसस्त' परवस्यत । 'ज ते दुःख जाद' यतव दुःख जात । चयणकाले'
व्यवनकाले ॥१५९५॥

ज गन्धवासकुणिम कुणिमाहार छुहादिदुःख च ।

चित्ततगस्त य मुचिसुहिदस्त दुःख चयणकाले ॥१६९६॥

'ज गन्धवासकुणिम' पद्गन्धवासकुणित । 'कुणिमाहार' कुणित्तहार । 'छुहादिदु' य च । 'चित्ततगस्त'
चिन्तयत । 'मुचिसुहिदस्त' मुचे मुखित्तस्य । 'ज दुःख चयणकाले' स्वर्गाच्च्यवनकाले ॥१६९६॥

एव एद सव्व दुःख चदुगदिगदं च जं पत्तो ।

तत्तो अणतभागो होज्ज ण वा दुःखमिमग ते ॥१६९७॥

'एव एद सव्व' एवमेतत्सर्वं । 'दुःख चदुगदिगद' दुःख चतुर्गतिगत । 'ज पत्तो' यत्प्राप्तवान् ।
'तत्तो' तत । 'अणतभागो' अतन्तभाग । 'होज्ज ण वा' भवेद्वा न वा । 'दुःखमिमग ते' दुःखमिदं तव
मनुजजन्मनि ॥१६९७॥

सखेज्जमसंखेज्ज काल ताड अविस्समंतेण ।

दुःखाइ सोटाइ किं पुण अदिअपकालमिम ॥१६९८॥

'सखिज्जमसखिज्ज काल' सख्यातमसख्यात वा काल । 'ताड दुःखाइ सोटाइ' तानि दुःखानि
सोडानि । 'अविस्समंतेण' विश्रामरहितेन । 'किं पुणे' किं पुन सहते । 'अदिअपकालमिम' अल्पकालमिदं
दुःख ॥१६९८॥

जदि तारिमाओ तुम्हे सोटाओ वेदणाओ अवसेण ।

धम्मोत्ति इमा मवसेण कह सोटुं ण तीरेज्ज ॥१६९९॥

'जदि तारिमाओ' यदि तादृश्य । 'तुम्हे सोटाओ वेदणाओ' त्वया सोटा वेदना । 'परवसेण'

शा०—पवित्र और सुखी देव स्वर्गसे च्युत होते समय विचारता है कि मुझे अब दुर्गन्धयुक्त
गर्भमें जाना होगा । वहाँ दुर्गन्धित भोजन होगा । भूख प्यासकी बाधा होगी । ऐसा विचार करते
समय जो दुःख होता है उसका चिन्तन करो ॥१६९६॥

शा०—इस प्रकार चारों गतिधोमें तुमने जो यह मव दुःख भोगा है उसके अनन्तवें भाग
दुःख इस मनुष्य जन्ममें ही न भी हो ॥१६९७॥

शा०—तुमने सम्यात वा असम्यात काल पर्यन्त बिना विश्राम लिये ये दुःख सहते हैं ।
तब अति अल्पकालके लिये यह थोडासा दुःख बयो नहीं सहते ही ॥१६९८॥

शा०—टी०—यदि तुमने परवस्य होकर उक्त प्रकारकी वेदनाएँ सही हैं तो इस समय इस
वेदनाको धर्म मानकर स्वयं अपनी इच्छामें बयो नहीं सहते ।

शका—वेदना धर्म कैमें है ?

परवेदान । 'धम्मोत्ति' धम इति । 'इमा' दय वेदना । 'सवसेण' स्ववसेन सता । 'सोढु ण तीरेज्ज' सोढु न शक्यते ? । नय वेदना धर्म ? उत्तमक्षमामार्जवार्दवादिभि वशप्रकारो धर्म उच्यते । वेदनासहन धर्म इति कृत्वा कय न शक्यते सोढु सवन्धोञ्ज ॥१५९९॥

'तण्हा अणतखुत्तो ससारे तारिमी तुम आसी ।
ज पममेदु मच्चोदधीणमुदगं ण तीरेज्ज ॥१६००॥
आमी अणतखुत्तो ससारे ते छुधावि तारिसिया ।
ज पसमेदुं सच्चो पुगगलकाओ ण तीरेज्ज ॥१६०१॥
जदि तारिमया तण्हा छुधा य अवसेण ते तदा सोढा ।
धम्मोत्ति इमा सवसेण कय सोढुं ण तीरेज्ज ॥१६०२॥
सुडपाणएण अणुसद्धिभोयणेण य ऋणोवगाहिएण ।
ज्झाणोमहेण तिच्चा वि वेदणा तीरदे सहिदु ॥१६०३॥

'सुडपाणएण' त्रिविधप्रमक्याधुनिपानेन । 'अणुसद्धिभोयणेण य' अनुगामनभोजनेन । 'उवगाहिदेण' उपगृहीतेन । 'ज्झाणोमहेण' शुभध्यानोपधेन च । 'तिच्चा वि वेदणा तीरापि वेदना । 'तीरदे सहिदु' शक्यते सोढु ॥१६००॥१६०१॥१६०२॥१६०३॥

भीदो व अभीदो वा णिप्पडियम्मो व मपडियम्मो वा ।
मुच्चड ण वेदणाए जीवो कम्मे उदिण्णम्मि ॥१६०४॥

'भीदो व अभीदो वा' भीतोऽभीतो वा । 'णिप्पडियम्मो सप्पडियम्मो वा' निप्रतिकार सप्रतिकारो वा । 'मुच्चदि ण वेदणाए जीवो' न मुच्यते वेदनाया जीव । 'कम्मे उदिण्णम्मि' कर्मण्यसद्वेद्ये उदीर्णे ॥१६०४॥

समाधान—उत्तम क्षमा मार्दव आर्जव आदिके भेदसे दस प्रकारका धर्म कहा है अत वेदनाको सहना भी धर्म है ॥१५९९॥

गा०—हे क्षपक । ससारमे तुम्हें ऐसी प्यासकी वेदना अनन्त बार हुई है जिसको शान्त करनेके लिये सत्र समुद्रोका जल भी समर्थ नहीं है ॥१६००॥

गा०—मसारमे तुम्हें ऐसी भूखकी वेदना अनन्त बार हुई है जिसको शान्त करनेके लिये समस्त पुद्गल काय भी समर्थ नहीं है ॥१६०१॥

गा०—यदि तुमने परवश होकर बंसी भूख प्यासकी घोर वेदनाको सहा है तो अब धर्म मानकर इन वेदनाको स्वेच्छापूर्वक क्यो नहीं सहते ॥१६०२॥

गा०—तोन प्रकारकी धर्मकयाको कानोके द्वारा पीकर, तथा गुम्की गिधारूपी भोजन करके और शुभध्यानरूपी औपत्रको ग्रहण करके तोत्र भी वेदनाको महा जा सकता है ॥१६०३॥

गा०—अमातावेदनीय कर्मकी उदीरणा होनेपर डरो या न डरो, प्रतीवार करो या न करो, जीव वेदनामे छुटकारा नहीं पाता ॥१६०४॥

पुरिमस्म पावकम्मोदएण ण करति वेदणोवममं ।

सुट्ठु पउत्ताणि वि ओसघाणि अदिवीरियाणी वि ॥१६०५॥

पुरिमस्त पावकम्मोदयम्मि' पुरपस्य पापकर्मोदये 'न करोति' न कुवन्ति । 'वेदणोवमम' वेदनो-
पमम । सुट्ठु पउत्ताणि वि' सुट्ठु प्रयुक्तग्रन्थपि । 'ओसघाणि वि' ओसघाणि अदिवीरियाणि' अति-
वीर्याण्यपि ॥१६०५॥

रायादिकुडुवीणं अदयाए असंजम करताण ।

घण्णतरी वि काटु ण समत्थो वेदणोवसम ॥१६०६॥

'रायादिकुडुवीण' राजादीना कुटुम्बीना अनेक द्रव्यसपत्त्यरिचारकमपत्प्रख्याताना । अदयाए असंजम
करेताण' दयामन्तरपालम कुवता । घण्णतरी वि काटु' धन्वतरिरपि वतु धनमर्थ । 'वेदणोवसम'
वेदनाया उपमम । वेदसपत्ता धन्वन्तरैग्रहणेन सूचिता ॥१६०६॥

किं पुण जीवणिकाये दयतया जादणेण लद्धेहि ।

फासुगदब्बेहि रुंति माहुणो वेदणोवसम ॥१६०७॥

'किं पुण' किं पुन । 'जीवणिकाए जीवणिकायान् । दयतया' दयमाना । जादणेण लद्धेहि
याचनया लब्धे । फासुगदब्बेहि' प्रासुकद्रव्यं । करेज्ज कुर्यान् । 'साहुणो वेदणोवसम' साधोवेदणोपमम ।
परिचारकसपदभावो दश्यते 'जीवणिकाए दयतया' इत्यनेन । यदा व्याघरेपसमी भवति तथा कुर्वति परि-
चारका । अग्रे पुनयतय पदजीवणिकायबाधापरिहारोद्यता स्वसमविनाशभीरवो । 'आपणेण लद्धेहि'
इत्यनेन द्रव्यसपदभाव आख्यायते ॥१६०७॥

मोक्खाभिलासिणो सजदस्स णिधणगमण पि होदि वर ।

ण य वेदणामित्त अप्पासुगसेवण काटु ॥१६०८॥

गा०—जव पुरपके पापकर्मका उदय होता है तो अच्छी तरहसे प्रयुक्त और अतिशक्ति-
शाली भी औपधियां वेदनाको शान्त नहीं करनी ॥१६०५॥

गा०—टी०—राजा आदि कुटुम्बी जिनके पास अनेक प्रकारकी धन-सम्पदा और सेवा
करनेवाले दास दासियोकी प्रचुरता होती है, किन्तु जो दयाहीन होकर असमयी जीवन बिताते
हैं, उनकी वेदनाको शान्त करनेके लिये धन्वन्तरि भी समर्थ नहीं है । धन्वन्तरिपदसे वैद्यरूपी
सम्पदाको सूचित किया है । अर्थात् धन्वन्तरि जैसा वैद्य भी उनकी वेदनाको दूर नहीं कर
सकता ॥१६०६॥

गा०—टी०—तब जीवमात्रपर दया करनेवाले याचनासे प्राप्त प्रासुक द्रव्योने साधुकी
वेदनाका उपशम कहीं तक कर सकते हैं ? अर्थात् परिचारक साधु जहाँ तक शक्य होता है
व्याधिको शान्त करनेका प्रयत्न करते हैं क्योंकि उनके पास परिचारक रूप सम्पदा—दासदासी
तो हैं नहीं और यतिगण छह कायके जीवोंको बाधा न पहुँचे इसके लिये सदा तत्पर रहते हैं
तथा अपने मयमके विनाशने भी भयभीत रहते हैं । साथ 'याचनाने प्राप्त' कहनेसे उनके पास
धनसम्पदाका भी अभाव कहा है ॥१६०७॥

'मोक्षप्रभिलासिणो' निरवशेषकर्मपायाभिलाषिण । 'सजदस्त' प्राणसमयवत । 'गिघणगमण नि होदि वर' मरणमपि वर । 'ग य' नैव वर मुक्त । 'वदणाणिमित' वेदनीयगामार्थं । 'अप्पामुपतेवण काडु' अयोग्यद्रव्यसेवन कर्तुम ॥१६०८॥

गिघणगमण एयमवे णामो पुणो पुग्गिल्लज्जम्मेसु ।

णास असज्जमो पुण कुण्ड भवमएसु ब्रहुगेषु ॥१६०९॥

'गिघणगमणे एयमवे' निपनगमनमेकमवे । 'णासो' नाश । 'ण पुणो' न पुनर्नाश । 'पुग्गिल्लज्जम्मेसु' भाविषु जन्मसु । 'असज्जमो पुण' असयम पुन । 'भवमएसु' जन्मगत्येषु । 'ब्रहुगेषु' ब्रह्मेषु । 'णास कुण्ड' नाश कर्णेन । वेदना हि न मयनमतुगानि रत्नत्रयभावनोद्यत । सा हि अनात मन्द करोति । अमयम पुन अनद्वेष प्रकष्टानुभव करोति । उक्त च— दु स्तोत्रतापात्रान्धनवधपरिवेचनात्या मपरोभयस्याभ्यसद्वैद्य-स्थेति [त० सू० ६।११] ॥१६०९॥

ण करेति णिवुइ इच्छया वि देवा मडदिया मव्वे ।

पुरिसम्म पावकम्मो अणक्कमग्गे उदिण्णम्मि ॥१६१०॥

'ण करेति णिवुइ' न कुर्वन्ति निवृत्ति । 'पुरिसम्म' पुरुरस्य । सइ दिया देवा सव्वे इच्छया वि' सेंद्रका सर्वे देवा इच्छन्तीषि । 'पावकम्मो' पावकर्मणि । 'अणक्कमग्गे अनुक्रमके । 'उदिण्णम्मि' उदय-मुपगते ॥१६१०॥

किह पुण अण्णो काहिदि उदिण्णकम्मस्स णिवुदिं पुरिसो ।

हन्थीहि अतीरंत भंतु भजिहिदि किह मसओ ॥१६११॥

'किह पुण' कथ पुन । अण्णो काहिदि पुरिसो' अन्य कथिष्यति पुरप । 'उदिण्णकम्मस्स' उदया-

गा०—ममस्त कर्मग्रन्थनके विनागरुण मोक्षके अभिलाषी मयमीका मरण होना भी श्रेष्ठ है । किन्तु वेदनाकी शान्तिके लिये अप्राप्तुक अपोग्य द्रव्यका मेवन करना श्रेष्ठ नहीं है ॥१६०८॥

गा०—टी०—मरण होना तो एक भवका ही विनाश है भावि जन्मोका नाश नहीं है किन्तु अमयम तो नैव ढों जन्मोको नष्ट कर देता है । जो मयमी रत्नत्रयकी भावनामें तत्पर रहते हैं वेदना उनका पीडा नहीं करती । क्योंकि रत्नत्रयकी भावना असाताके उदयको मन्द करती है । और अमयम असातावेदनीयके अनुभागको घटाता है । कहा भी है दुःख, शोक, पश्चात्ताप, रुदन, वय और हृदयको व्याकुल करनेवाला रुदन स्वय करनेने, दूसरोम करनेने या दोनोमें करनेमें अमानावदनीयका आस्रव होता है ॥१६०९॥

गा०—पुरुषके पापकर्मके अनुक्रममें उदय आनेपर इन्द्रसहित सप्त देव इच्छा करनेपर भी मुझी नहीं कर सकते ॥१६१०॥

गा०—तब असातावेदनीय कर्मका उदय आनेपर अन्य साधारण पुरुष क्या कर सकते हैं ? जिसे महाबलशाली हाथी भी तोड़नेमें असमर्थ है क्या उने वैचारा बमजोर मरणोम तोड सकता है ॥१६११॥

गतामद्वेद्यकर्मण । 'शिबुर्दिवि' निर्वृति । 'हृत्पीहि अतीरत भंतु' हस्तिभिर्महाबले कर्तुमशक्य यद्भुञ्जत । 'किं सप्तमो भजीहि' कथं स्वल्पप्राणो भङ्गयति शशक ॥१६११॥

ते अप्पणो वि देवा कम्मोदयपच्चयं मरणदुक्खं ।

वारेदु ण समत्था घणिद पि विकुच्चमाणा वि ॥१६१२॥

'ते देवा अप्पणो वि कम्मोदयपच्चयं मरणदुक्खं' ते देवा सन्द्रका आत्मनोऽपि कर्मोदयहेतुव मरणदु ख 'वारेदु' ण समत्था' निवारयितु न समर्था । 'घणिद वि विकुच्चमाणा' नितरा विक्रिया कुर्वन्तोऽपि ॥१६१२॥

'उज्झति जत्थ हत्थी महाबलपरक्कमा महाकाया ।

सुत्ते तम्मि बढते ससया उट्टेल्लया चेव ॥१६१३॥

'उज्झति' मस्मिन् सोतमि हस्तिन ऊह्यते महाबलपराक्रमा महाकाया । तस्मिन् सोतसि बहन्ति शशका गता एव ॥१६१३॥

किह पुण अप्पणो मुच्चहिदि सगेण उदयागदेण कम्मेण ।

तेलोककेण वि कम्म अवारणिज्ज खु समुवेद ॥१६१४॥

'किह पुण अप्पणो मुच्चहिदि' कथं पुनरन्यो मोक्षयते, स्वेन कर्मणा उदयागतेन । त्रैलोक्येनापि कर्मा-निवार्यमेव समुपगत ॥१६१४॥

कह ठाड सुक्कपत्त वाएण पडतयम्मि मेरुम्मि ।

देवे वि य विहेडयदो कम्मस्स तुमम्मि का मण्णा ॥१६१५॥

'कह ठाड सुक्कपत्त' कथं तिष्ठेत् शुष्कपथ । वातेन पतति मेगे । अणिमाद्यष्टगुणमपत्ता-देवानपि कुत्तोर्कुर्वत कर्मणा भवत्यल्पबले का सजा ॥१६१५॥

गा०—वे देव कर्मके उदयके कारण होनेवाले अपने भी मरणके दु खको दूर करनेमें समर्थ नहीं है यद्यपि वे दिव्यशक्तिसे सम्पन्न होनेसे अनेक प्रकारकी विम्रिया करनेमें समर्थ होते हैं ॥१६१२॥

गा०—जिस प्रवाहमें महाबली, महापराक्रमी और विशाल शरीरवाले हाथी बह जाते हैं उम प्रवाहमें बेचारे खरगोश स्वयं ही बह जाते हैं ॥१६१३॥

गा०—जब देव भी अपने उदयागत कर्मको ढालनेमें असमर्थ है तब अन्य साधारण प्राणी अपने उदयागत कर्ममें कैसे छूट सकता है ? उदयागत कर्मको तीनों लोक भी नहीं टाल सकते ॥१६१४॥

गा०—जिम वायुसे मेरुपर्वतका पतन हो सकता है उसके सामने सूखा पत्ता कैसे ठहर सकता है ? इसी प्रकार जो कर्म अणिमा आदि आठ गुणोंसे सम्पन्न देवोंकी भी दुर्गति कर देता है उसके सामने तुम्हारे जैसे मरणोन्मुख मनुष्यकी क्या गिनती है ॥१६१५॥

कम्माड वलियाड वलिओ कम्माडु पत्थि कोवि जगे ।

सच्चवल्लाडं कम्म भलेदि हत्थीव पालिणिवण ॥१६१६॥

‘कम्माड’ कर्मणि बलवति, कर्मभ्यो बलवान्नास्ति जगति । कम्मायम्मात्मर्वाणि वधुविद्याद्रव्य-
शरीरपरिवारबलानि कर्मं मद्दयति हन्तीव नलिनवन ॥१६१६॥

इच्चैव कम्मदओ अवारणिज्जोत्ति सुट्ठु पाऊण ।

मा दुक्खायसु मणमा कम्मम्मि सगे उदिण्णम्मि ॥१६१७॥

‘इच्चैव कम्मदओ’ इतिशब्द प्रप्रानपरिमर्माणि सूचयति । एव इत्युक्तपरामर्श । ‘कम्मदओ’
कर्मोदय । ‘अवारणिज्जोत्ति’ अनिवार्य इति । ‘सुट्ठु पाऊण’ सम्पन्नात्वा । ‘मा दुक्खायसु मणसा’ मा
कार्पादुं च मनसा । ‘कम्मम्मि सगे उदिण्णम्मि’ कर्मणि स्वके उदीर्णं ॥१६१७॥

पडिक्खिदे विमण्णे रडिडे दुक्खाडदे किलिद्धे वा ।

ण य वेदपोवमामदि णेव विसेमो हवदि तिस्से ॥१६१८॥

‘पडिक्खिदे’ परिदेवने कृते शोके । विपादे रटने, दुःखे, मक्केशे वा न वेदपोवमाम्यति । नापि
करिचदत्तियायो भवति वेदनाया ॥१६१८॥

अण्णो वि को वि ण गुणोत्थ सक्किलेसेण होइ खवयस्म ।

अट्ट सुमक्किलेमो ज्ञाण तिरियाउगणिमित्त ॥१६१९॥

‘अण्णो वि को वि ण गुणोत्थ’ अन्योप्यत्र गुणो न कश्चिच्छाकादिना सक्किलेसेण । प्रेक्षापूर्वकारिणो हि
तत्कर्तुं प्रारभते यस्य साध्यं फलं अस्ति । सक्किलेसेण न किञ्चित् अपि मुमुक्षो फलं अस्ति तु मक्केशपरिणामो
ह्यात ध्यानममनोज्ञविप्रयोगाभ्य तच्च निर्यगायुषो निमित्त । ततोऽन्यदुत्सर्गो भवत त्वदीय मक्केशो
दुस्तरं निर्यगावर्ते निपातयतीति भयोपद्रवं कृत ॥१६१९॥

गा०—कर्म बड़े बलवान हैं । जगत्में कर्म बलवान कोई नहीं है । जैसे हाथी कमलोक
वनको रौंद डालता है । वैसे ही कर्म बन्धु, ज्ञान, द्रव्य, शरीर और परिवार आदि सब बलोंको
नष्ट कर देता है । कर्मके सामने ये सब बल क्षीण हो जाते हैं ॥१६१९॥

गा०—इस प्रकार कर्मका उदय अनिवार्य है उसे रोकना नहीं जा सकता इस बातको अच्छी
तरहसे जानकर अपने कर्मका उदय आनेपर मनमें दुःख मन करो ॥१६१७॥

गा०—रौनेपर, विपाद करनेपर, चिन्तनेपर अथवा दुःख और मक्केश करनेपर वेदना
शान्त नहीं होनी और उममें कोई विशेषता भी नहीं आती ॥१६१८॥

गा०-टी०—शोक आदि मक्केश करनेमें क्षयवका कोई अन्य लाभ भी नहीं है । बुद्धिमान
पुरय उमो कार्यको करना प्रारम्भ करते हैं जिममें कोई लाभ होता है । मक्केशमें मुमुक्षुका जरा
भी लाभ नहीं है । बल्कि इष्ट नियोग नामक आर्नध्यान मक्केश परिणामपर होनेमें निर्यथायुके
दन्वका कारण है अतः योउमें दुःखमें डरनेवाले आपको तुम्हारा मक्केश एमो निर्यन्वगतिभ्यो
भँवरमें डाल देगा जिममें निरालना बहुत कठिन है ॥१६१९॥

सकलेशम्य निरर्थक्यप्रवृत्तार्थोत्तरगाथा—

हृदमाकासं मुट्टीहिं होइ तह कडिया तुसा होति ।

मिगदाओ पीलिदाओ धुमिलिदमुदय च होइ जहा ॥१६२०॥

‘हृदमाकासं’ हृत् मुष्टिभिराकास ताडितु । तुपकडन सडुलायं । सिन्नापीडन तिलयत्रे तैलायं । जन्मयन च धृताथ यथापार्थक्य तयानर्थक्य सकलेशो वेदनाकुलम्य । वेदनाया अनिराकरणत्वान्निरर्थक्य-
भाम्यादभेदोपन्यासो दृष्टान्तदाष्टान्तिकयो ॥१६२०॥

पुव्व सयमुवभुत्त काले णाएण तेत्तिय ढव्व ।

को धारणिओ धणिदस्स देतओ दुक्खिओ होज्ज ॥१६२१॥

‘पुव्व सयमुवभुत्त’ पूर्वं स्वयमुपभुक्तः । काले ‘णायेण’ न्यायेन । तेत्तिय ढव्व’ तावद्द्रव्य । ‘को दुक्खिओ होज्ज धारणिओ’ को दु खितो भवेदधर्मण । ‘धणिदस्मि’ उत्तमणो । ‘हरते’ स्व द्रव्य हरति ॥१६२१॥

तह चेव मय पुव्व कदस्स कम्मस्स पाक्कालम्मि ।

णायामयम्मि को णाम दुक्खिओ होज्ज जाणंतो ॥१६२२॥

‘तह चेव’ तथा चैव । ‘सय पुव्व कदस्स कम्मस्स’ आत्मना पूव कृतस्य कर्मण । ‘पाक्कालम्मि’ फलदानकाले न्यायेनागते । ‘को णाम दुक्खिओ होज्ज जाणंतो’ को नाम दु खितो भवेज्जानो ॥१६२२॥

इय पुव्वकद इणमज्ज मह कम्माणुगत्ति णाऊण ।

रिणमुक्खण च दुक्ख पेच्छसु मा दुक्खिओ होहि ॥१६२३॥

‘इय पुव्वकद’ ‘इय’ एवभूत । ‘दुक्ख पुव्वकद’ पूर्वकर्मणा कृत । ‘इण’ इदं दु ख । ‘अज्ज’ अत्त । ‘मह कम्माणुगत्ति’ मम कर्मणामिति । ‘णाऊण’ ज्ञात्वा । ‘रिणमुक्खण वा’ ऋणमोक्षण इव । ‘दुक्ख पेच्छसु’ दु ख प्रेक्षस्व । ‘मा दुक्खिओ होहि’ दु खितो मा भू ॥१६२३॥

आगे सकलेशकी निरर्थकता बतलाते हैं—

गा०—जैसे मुट्टीयोंमें आकाशको मारना, चावलके लिये उसको छिलकोंको कूटना, तेलके लिये फोल्डूमें रेत पेलना, और घीके लिये जलको मचाना निरर्थक है उसी प्रकार वेदनासे पीड़ित व्यक्तिका संश्लेष करना निरर्थक है । सकलेश करनेसे वेदना दूर नहीं होती है अतः निरर्थक होनेसे दृष्टान्त और दाष्टान्तिमें ममानता है ॥१६२०॥

गा०—जैसे कोई कर्जदार साहूकारसे ऋण लेकर स्वयं उसका उपभोग करता है । और ऋण चुकानेका समय आनेपर उतना ही द्रव्य देने हुए उसे दु ख नहीं होता । उसी प्रकार पूर्वमें स्वयं वाधे हुए पापकर्मका फल भोगनेवाले ज्ञानीको दु ख कैसा ? अतः पूर्वमें वाधे गये कर्मका उदयकाल आनेपर कौन ज्ञानी दु खी होता है ॥१६२१-२२॥

गा०—यह दु ख मेरे पूर्वमें किये गये कर्मोंका ही फल है ऐसा जानकर दु खको ऋण भुक्तिके समान देखो । दु खी मत होओ ॥१६२३॥

पुत्रकदमज्ज कम्मं फलिद दोसो ण इत्थ अण्णस्स ।

इदि अप्पणो पओग णच्चा मा दुक्खिदो होहि ॥१६२४॥

‘पुत्रकदमज्ज कम्मं’ पूर्ववृत्त मदीय कर्म, ‘फलिद’ फलित । ‘दोसो ण एत्थ अण्णस्स’ दोषो नैवान्यस्य इति । ‘अप्पणो पओग णच्चा’ ज्ञात्वा । ‘मा दुक्खिदो होहि’ मा हृया दु ख ॥१६२४॥

जदिदा अमद्पुत्र अण्णेसिं दुक्खमप्पणो चेव ।

जाद ह्विज्ज तो णाय होज्ज दुक्खाइदु जुत्त ॥१६२५॥

‘जदिदा’ यदि तावत् । दु खमन्येषा अभूत्पुत्र । ‘अप्पणो चेव’ आत्मन एव ‘जाद ह्विज्ज’ ‘जात भवेत्’ ‘तो णाय होज्ज दुक्खाइदु जुत्त’ । ततो नाम दु ख वन्तु युक्त ॥१६२५॥

सव्वेसिं मामण्ण अवस्सदायन्वय कर काले ।

णाएण य को दाऊण णगे दुक्खादि विलवदि वा ॥१६२६॥

‘सव्वेसिं सामण्ण’ सर्वेषा भव्यानां ध्यामण्य । ‘काले कर्मविनाशनकाले । ‘अवस्स दायन्वय’ अवश्य दातव्य । यन्मात्तम्मान । ‘कर’ करशब्दवाच्य ‘दाऊण’ दत्त्वा । ‘णाएण य’ न्यायेन च ‘को णरो दुक्खदि विलवदि वा’ को नरो दु ख करोति विलपति वा ॥१६२६॥

मव्वेसिं सामण्ण करभूदमवस्सभाविकम्मफल ।

इण मज्ज मेत्ति णच्चा लभमु सदिं त षिदिं कुणसु ॥१६२७॥

‘सव्वेसिं’ सर्वेषा विनियाना । ‘सामण्ण करभूद’ ध्यामण्य करभूत् । ‘अवस्सभाविकम्मफल’ अवश्य-भाविकमफल । ‘इणमज्जमेत्ति’ इदं ध्यामण्य अथ करभूत् भमेति । ‘णच्चा’ ज्ञात्वा । ‘लभमु सदिं’ स्मृति प्रतिपद्यस्व । ‘त’ त्व ‘षिदिं कुणसु’ घृति कुर ॥१६२७॥

अरहंतसिद्धकेवलि अविउत्ता सन्वमघसक्खिरस्म ।

पच्चक्खराणस्स कदस्स भजणादो वर मरण ॥१६२८॥

गा०—यह मेरे पूर्ववृत्त कर्मों का फल है । इसमें किसी दूसरेका दोष नहीं है । अत इमे अपना ही प्रयोग जानकर दु खी मन होवो ॥१६२४॥

गा०—हे क्षपक । यदि यह दु ख दूसरोको पहिले कभी नहीं हुआ और तुमको ही हुआ होना तो दु ख करना युक्त था ॥१६२५॥

गा०—कर्मों के विनाशवा समय आनेपर सभी भव्य जीवोको मुनिपद अवश्य धारण करना होता है । इसलिये इमे ‘कर’ कहा है । इस करको न्यायपूर्वक देकर वीन मनुष्य दु खी होता है या विलाप करता है ॥१६२६॥

गा०—सभी मोक्षमार्गियोके लिये यह ध्यामण्य अवश्य भाविकर्मफल होनेसे करने समान देय है अर्थात् सभीको मुनिपद धारण करना होना है । आज यह ध्यामण्य मेरे लिये करके समान देय है ऐसा जानकर अपने स्वरूपका स्मरण करो और धैर्य धारण करो ॥१६२७॥

‘अरहत सिद्धबेवलि अविज्जा सव्वसपसव्विस्स’ । अरहत, सिद्धान्, वेदन्ति, नभस्या देवता सर्वं च मय साक्षित्वेनोपादाय कृतम्य । ‘पञ्चवक्त्राणस्स भजपादो’ प्रत्याख्यानस्य विनाशानाम् । ‘वर दोन्न भरण’ प्राणपरित्याग ॥१६२८॥

यद्य मरणादगोभनता । प्रत्याख्यानभगवत्येत्यादाकायामाचष्टे प्रथमुत्तर प्रत्याख्यानभजने दुष्टता निवेदयितुम्—

आमादिदा तओ हांति तेण ते अप्पमाणकरणेण ।

राया विव सक्खिखदो विमवदतेण कज्जम्मि ॥१६२९॥

‘आमादिदा’ परिभूता । ‘तओ’ तत पश्चात् । प्रत्याख्यानग्रहणोत्तरकाल । तेन प्रत्याख्यानभगव-
कारिणा । ते अहदादय । ‘अप्पमाणकरणेण’ अप्रमाणकरणेन । तस्माच्चिक कर्म प्रतिज्ञान विनाशयता ते
अप्रमाणोद्भूता भवन्ति । अप्रमाणकरणेन च ते परिभूता भवन्ति । ‘राजा विव सक्खिखदो’ राजेव साक्षीकृत ।
‘कज्जम्मि विमवदतेण’ कार्ये विमवदता । एतदुक्त भवति राजसाक्षिव प्रतिज्ञान कर्म चाग्नया कुर्वती राजा
यया परिभूतो भवति एवमहदादय इति ॥१६२९॥

जइ दे कदा पमाण अरहतादी हवेज्ज खवएण ।

तस्मक्खिखद कय मो पच्चक्खाण ण भजिज्ज ॥१६३०॥

‘जइ दे कदा पमाण’ यदि ते कृता प्रमाण । ‘अरहतादो’ अहदादय । ‘नवेज्ज’ भवेयु । ‘खवएण’
क्षयणे । ‘तस्मक्खिखद कय पच्चक्खाण’ तस्माच्चिक कृत प्रत्याख्यान । सो ष भजिज्ज’ क्षयना न
नामयेत् ॥१६३०॥

सक्खिखरुदरायहीलणभावहड णरस्स जइ महादोम ।

तह जिणवरादिआसादणा वि दोस मह कुणटि ॥१६३१॥

गा०—अरहन्त, सिद्ध केवली, उस स्थानके वासी देवता और सर्व मयको माझी बनाकर
ग्रहण किये त्यागको तोडनेसे मरण श्रेष्ठ है ॥१६२८॥

त्यागका भग करना मरनेमे भी बुरा कैसे है ऐसी शका होनेपर त्यागके भावों वृग्ई
कहते हैं—

गा०—जैसे राजाको माझी बनाकर किये गये कार्यमे विमवाद करनेवाला पुरय राजाकी
अवज्ञा करनेका दोषी होता है । वैसे ही अरहन्त आदि पञ्चपरमेष्ठीनी साक्षीपूर्वक स्वीकार किये
गये त्यागको तोडनेवाला मुनि अरहन्त आदिको भी प्रमाण न माननेसे उनकी अवज्ञा करनेका
दोषी होता है ॥१६२९॥

गा०—यदि हे क्षयक । तुम अरहत आदिको प्रमाण मानते हो सो तुम्हें उनकी नाशपूर्वक
किये गये त्यागको भग नही करना चाहिये ॥ ६३०॥

गा०—जैसे राजाको माझी बनाकर उनकी अवज्ञा करना मनुष्यको महादोषका भागी
बनाता है वैसे ही अरहन्त आदिको आनादना भी महादोषको करनेवाली है ॥१६३१॥

‘सविष्वक्दराप्यहोलण’ माःशीवृत्तराजपरिव्व । ‘आवहृदि णरस्स जह् महादोस’ जानयति यया नग्ग्य महान्त दोष । ‘नह् जिणवरदि आसादणा’ तथा अहंदायामादनापि । ‘दोस महं कुणदि’ दोष महान्त करोति ॥१६३१॥

त महान्तं दोषं कथयति—

तित्थयरपवपणमुदे आडरिए गणहरे महड्डीए ।

एदे आमादतो पावड पारचियं ठाणं ॥१६३२॥

‘तित्थयरपवपणमुदे’ तीर्थरुग्गन्, रत्तत्रय, आगम । ‘आपरिए’ आचार्यान् । ‘गणहरे’ गणधरान् । ‘महड्डीए’ महद्विकान् । ‘एदे’ एतान् । ‘आमादतो’ अमादयन् । ‘पावडि’ प्राप्नोति । ‘पारचियं ठाणं’ पारचिय-नामनेयं प्रायश्चित्तम्यान् ॥१६३२॥

सक्खीरुयरायामादणे हु दोस करे हु एवभवे ।

भवसोडीम् य दोम जिणादि आसादण कुणड ॥१६३३॥

मान्नीवृत्तराजावमानजानाहोपादडवायवमानजनितत्रापो महानिति दर्शयति । स्पष्टार्या गाथा ॥१६३३॥

भौक्खाभिलासिणो सजटम्म णिघणगमण पि होड वर ।

पच्चक्खाणं भजतम्म ण वरमग्गहादिसक्खिउदा ॥१६३४॥

णिघणगमणमेयभवे णामो ण पुणो पुरिल्लज्जमेसु ।

णाम वयभंगो पुण कुणड भवमएसु त्रहुएसु ॥१६३५॥

ण तदा दोस पावड पच्चक्खाणमकरित्तु कालगदो ।

जह भजणा हु पावदि पच्चक्खाण महादोसं ॥१६३६॥

उम महान दोषको कहते हैं—

गा०—तीर्थरुग्ग, रत्तत्रय, आगम, आचार्य और महान् ऋद्धिचारियोंको आमादना करने वाला पारचिक नामक प्रायश्चित्तका भागो होता है ॥१६३२॥

गा०—माशी बनाये गये राजाकी आसादना करनेपर तो एक ही भवमे दोषका भागो होता है । किन्तु अरहन्त आदिकी आमादना करनेपर करोडो भवोमे दोषका भागो होता है । अतः साधो बनाये गये राजाकी अवज्ञाके दोषमे अरहन्त आदिकी अवज्ञाने होनेवाला दोष महान होता है ॥१६३३॥

मोक्षके अभिलाषी मयमीका मरना भी श्रेष्ठ होता है किन्तु अरहन्त आदिको माशी करके किये गये त्यागका भ्रम करना श्रेष्ठ नहीं है । मरणको प्राप्त होनेपर तो एक भवका ही विनाश होता है, आगेके भवोका विनाश नहीं होता । किन्तु इतका भग बहूनेमे भवोमे विनाशकारी होता है ॥१६३४-३५॥

१ एते द्वे गये टोकाकारो नेच्छति ।

'ण तहा दोस पावदि' न तथा दोष प्राप्नोति । 'पञ्चवराणामररित्तु' प्रत्याख्यानमहृत्वा । बाल-
गदो मृत् । 'जह भजतो पावदि' यथा प्रत्याख्यानमगान्महादोष प्राप्नोति ॥१६३४॥१६३५॥१६३६॥

प्रत्याख्याताहारमेवा हि प्रत्याख्यानमग स चाहार प्रार्थ्यमानो हिमादिदोषानखिलानानयतीति
निगदति—

आहारस्य हिंसइ भणइ असञ्च करेइ तेणेक्क ।

रूसइ लुम्भइ माय करेइ परिगिण्हदि य मगे ॥१६३७॥

'आहारस्य हिंसइ' आहारार्थं पञ्जीवनिकापान्तिनास्ति । असत्य भषति, स्तैन्य करोति । रण्यत्य-
लामे, लुम्बति लामे, माया करोति, परिगृह्णाति मगान् ॥१६३७॥

होइ णरो णिल्लज्जो पयहइ तवणाणदसणचरित्तं ।

आमिमकलिणा ठडओ छाय मडलेइ य कुलस्म ॥१६३८॥

'होइ णरो णिल्लज्जो' निर्लज्जो भवति नर आहारस्य परगाञ्चाकरणस्य । प्रजहाति च तपो, ज्ञान
दर्शन चारित्र्य च । आमिपास्येन कलिनावष्टम्भ छाया कुलस्य मलिनयति पर्णेच्छटभोजनादिना ॥१६३८॥

णासदि बुद्धी जिम्भावमस्स मदा वि होदि तिक्खा वि ।

जो णिगामिलेमलगो व होइ पुग्गिओ अणप्पवमो ॥१६३९॥

'णासदि बुद्धी' बुद्धिनस्यति आहारलम्पटतया युक्तायुक्तविवेकाकरणान् । वस्य ? जिह्वावशास्य
तीक्ष्णा पि सती पूव बुद्धि कुठ भवति । रमरागमलोपप्युता अमयाथास्य न पश्यतीति पारमोक्तेदालगर्गलिग
द्व भवति पुरपोजात्मकस्य ॥१६३९॥

ग०—बिना त्याग ग्रहण किये मरनेपर इतना दोष नहीं होना जितना महादोष त्याग
लेकर उमका भग करनेपर होता है ॥१६३६॥

त्यागे हुए आहारको ग्रहण करना व्रतभग है । वह आहार हिमा आदि सब दोषोको
लानेवाला है यह वृत्त है—

ग०—आहारके लिये मनुष्य छहकायके जीवोंका घात करता है । असत्य बोलता है,
चोरी करता है । आहार न मिलनेपर क्रोध करता है । मिलनेपर उमका लोभ करता है । माया-
चार करता है । घर पत्नी आदि परिग्रह स्वीकार करता है ॥१६३७॥

ग०—आहारके लिये मनुष्य निर्लज्ज होता है क्योंकि दूसरोंसे मांगता है । अपना तप,
ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य तक त्याग देता है । आहाररूपी बलिके द्वारा ग्रस्त होकर अपने कुल
को छायावोके मलिन करता है दुमगेवा झूठा भोजन खाता है ॥१६३८॥

ग०—जो जिह्वाके वशीभूत है उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है क्योंकि भोजनका लम्पटी
होनेसे वह भक्ष्य अभक्ष्यका विचार नहीं करता । यदि उसकी बुद्धि तीक्ष्ण होती है तो वह मन्द
हो जाती है क्योंकि रमामे रागरूपी मलसे लिप्त होनेसे बुद्धि भक्ष्य वस्तुके यथार्थ स्वरूपकी नहीं

धीरत्तणमाहृप्प कदण्णद विणयधम्ममद्दाओ ।

पयहड कुणड अणत्थ गल्लग्गो मच्छओ चेव ॥१६४०॥

'धीरत्त' धीरत्व, माहात्म्य, कृतज्ञता, विनय, धर्मश्रद्धा च प्रजहानि । करोत्यनर्थश्रद्धा च । प्रजहाति करोत्यनर्थमात्मन । गलावल्लग्नमत्स्य इव ॥१६४०॥

आहारत्थ पुग्गिओ माणी कुलजादि पहियक्कित्ति वि ।

भुंजति अभोज्जाए कुणड कम्म अक्किच्च खु ॥१६४१॥

'आहारत्थ'—आहारण, भुजने अभोज्यानि पुरो माणी कुलीन, प्रथितकीतिरपि लक्षणीय करोति ॥१६४१॥

आहारत्थं भज्जारिसुसुमारी अही मणुस्सी वि ।

दुब्भिक्षादिसु खायति पुत्तभडाणि दडयाणि ॥१६४२॥

इहपरलोडयदुक्खाणि आवहते णरम्म जे दोमा ।

ते दोसे कुणड णरो सन्वे आहागिद्धीए ॥१६४३॥

स्पष्टम् उत्तरगाथात्रयम् ॥१६४२॥१६४३॥

आहारलोष्टपतया स्वयभूरमणसमुद्रे तिमितिमिगल्लदपो मात्स्य महाकाया योजनमहस्यायामा पण्णास विवृणचदना स्वपन्ति । निद्राविमोक्षणन्तर पिहितानना स्वजठरप्रविष्टमत्स्यादीनाहारीकृत्य अवघिण्टानना-मधेय नरक प्रविशति । तत्कण्ठावल्लग्नमन्त्राहारा शालिसिन्धुमात्रतनुत्वाच्च शालिमित्रयसज्ञका यदीदृशमम्माक् शरीर भवेन् किं नि सनुं एकोऽपि जन्तुर्लभते ? सन्नन्मिक्षयामीति वृत्तमन प्रणिधानान्ते तमेवावधिस्थान प्रविशति । इति कथयति गायया—

देख पाती । तथा आहारका लम्पटी मनुष्य विषय सेवन करते हुए मनुष्यकी तरह अपने वामे नही रहता ॥१६३९॥

गा०—वह धीरना, माहात्म्य, कृतज्ञता, विनय और धर्मश्रद्धाको भी आहारके पीछे छोड देता है और गलेमें फँसी मडलीकी तरह अनर्थ करता है ॥१६४०॥

गा०—मानो, कुलीन और प्रख्यातकीर्ति वाला भी आहारके लिये अभयका भक्षण करता है और न करने योग्य कर्म करता है ॥१६४१॥

गा०—भूखसे पीडित होनेपर विल्ली, मच्छ, सर्पिणि और दुभिक्ष आदिमें मनुष्य भी अपने प्रिय पुत्रोको खा जाने है ॥१६४२॥

गा०—मनुष्यके जो दोष इन लोक और परलोकमें दुःखदायी हैं वे सब दोष मनुष्य आहारकी लम्पटताके कारण ही करता है ॥१६४३॥

आगे कहते हैं—स्वयभूरमण ममुद्रमे तिमितिमिगल आदि महाकाय वाले महामच्छ जो एक हजार योजन लम्बे होने हैं, छह मान तक मुह खोले सोते रहते हैं । जागने पर अपने मुखमें घुमे मच्छो आदिको खाकर मरकर मातर्वे नरकमें जाते हैं । उनके वानमें एक शालिमित्र नामक मत्स्य रहता है जो उनके वानका मेल खाता है । उसका शरीर चाबूके बगबर होना

अवधिद्वेषणं पितृयं मच्छा आहारहेतुं गच्छति ।
तथेवाहारभिलासेण गदो सालिसिच्छो वि ॥१६४४॥

अवधिद्वेषणमित्यादिका गाथा ॥१६४४॥

चक्रवर्गो वि सुभूमो फलरमगिद्वीए वचिओ सतो ।
ण्डो ममुद्मज्जे सपरिजणो तो गओ णिग्य ॥१६४५॥

‘चक्रवर्गो वि सुभूमो’ नाम चक्रलाह्वन फलरममृद्वया वचित गमुद्मस्यै विनष्ट सपरिजन ।
परचाच्च नरक गत ॥१६४५॥

आहारस्य कारुण पावकम्माणि त परिगओ सि ।
समारमणादीय दुक्खमहस्साणि पावतो ॥१६४६॥

आहारस्य पावानि कर्माणि कृत्वा समारमनादिक प्रविष्टो भवान्तु खमहस्साणि वेदयमान ॥१६४६॥

पुणरिव तहेव समार कि भमिदूणमिच्छमि अणत ।
ज णाम ण वोच्छिज्जड अज्जवि आहारमण्णा ते ॥१६४७॥

‘पुणरिव’ पुनरपि । तथैव समारमतमदित्तु किमिच्छमि ? यन्मादद्याप्याहारे तृष्णा न
नश्यति ॥१६४७॥

जीवस्म णत्थि तिच्ची चिगपि भुंजतस्य आहारं ।
तिच्चीए विणा चित्त उव्वूर उद्धुद होड ॥१६४८॥

‘जीवस्म णत्थि तिच्ची’ जीवस्य नान्ति तृप्ति चिरमप्याहार भुञ्जानम्य । तृप्त्या च विना चित्त
नितरामुच्चल भवति ॥१६४८॥

है इमलिये उमे सालिसिक्थ कहते हैं । वह कानमे वैठा हुआ मनमे, मोचा करता है कि यदि मेरा
शरीर ऐसा होता तो क्या एक भी जन्तु बचकर जा सकता मैं सत्रको खा जाता । इसी मकल्पसे
वह भी मरकर सातवें नरक जाता है—

गा०—महामत्स्य आहारके ही कारण सातवें नरकमे मरकर जाता है और उसी महामत्स्य-
के कानमे रहनेवाला सालिमिक्थ मत्स्य भी आहारके मकल्पमे मरकर सातवें नरक जाता
है ॥१६४८॥

गा०—सुभीभ नामक चक्रवर्ती भी एक देवके द्वारा लाये गये फलके रमकी लम्पटताके
कारण ठगा जाकर परिवारके साथ समुद्रमे डूब गया और मरकर नरकमे गया ॥१६४५॥

गा०—हे क्षपक ! पूर्वजन्ममे आहारके ही लिये पाप कर्म करके तुम हजारो दुःख भोगते
हुए अनादि मसारमे प्रविष्ट हुए ॥१६४६॥

अब क्या पुन अनन्त मसारमे भ्रमण करनेकी इच्छा है जो अभी भी तुम्हारी आहार
मज्ञा नष्ट नहीं होती ॥१६४७॥

गा०—चिरकाल तक आहार खाकर भी जीवकी तृप्ति नहीं होती । और तृप्तिके विना
चित्त अत्यन्त व्याकुल रहता है ॥१६४८॥

जह इधणेहिं अग्गी जह य समुदो पदीसहस्सेहिं ।

आहारेण ण मक्को तह तिप्पेदु इमो जीवो ॥१६४९॥

'जह इधणेहिं अग्गी' यथेत्थनरनिर्नदीसहस्रंरुद्रधित्तर्पयितुमशक्त्यस्तयाहारेण जीव ॥१६४९॥

देविदचक्कवड्डी य आसुदेवा य भोगभूमा य ।

आहारेण ण तित्ता तिप्पदी कह भोयण अण्णो ॥१६५०॥

'देविदचक्कवट्टो य' देवेन्द्रा लाभान्तरायक्षयोपशमप्रकर्षान् आत्मीयतनुतेजोनिमित्तेन आहारेण, चक्रवर्तिनोऽपि पष्टचक्रवर्तिनासतमूषकारैर्वर्षमात्रेणैकदिनाहारं सस्करणोद्यते लोकितेन तथाद्धचक्रवर्तिनोऽपि । भोगभूमिजा भोजनाङ्गकल्पतरुप्रभवेन न तृप्ता । कथमन्यो जनस्तृप्यति ॥१६५०॥

उद्धुदमणस्स ण रदी विणा रदीए कुदो हवदि पीदी ।

पीदीए विणा ण सुह उद्धुदचित्तस्स घण्णास्स ॥१६५१॥

'उद्धुदमणस्स' इतो भद्रयता भद्रमस्मान्चेदमिति परिल्लवमानचेतमो न रति, क्व च तथा विणा प्रीति । प्रीत्या च विना न सुख चलचित्तस्य ततदाहारलम्पटस्य ॥१६५१॥

सव्वाहारविघाणेहिं तुमे ते मव्वपुग्गला बहुसो ।

आहारिदा अदीदे काले तित्तिं च मि ण पत्तो ॥१६५२॥

'सव्वाहारणविघाणेहिं' अशनपानखाद्यलेह्याविकल्पैस्त्वया सर्वे पुद्गला बहुश आहारिता अतीते काले तृप्तिं च न च प्राप्तो भवान् ॥१६५२॥

गा०—जैसे इधनसे आगकी और हजागे नदियोंसे समुद्रकी तृप्ति नहीं होती वैसे ही यह जीव आहारसे तृप्त नहीं हो सकता ॥१६४९॥

गा०—टी०—देवेन्द्रोंके लाभान्तरायके क्षयोपशमका प्रकर्ष होनेसे अपने शरीरके तेजके निमित्तमे आहार प्राप्त होना है । भोजनकी इच्छा होते ही कण्ठमे अमृत झरता है । चक्रवर्तीके भी तीन सौ साठ रमोड्या होते हैं और वे सब मिलकर एक वर्षका आहार एक दिनमें बनाते हैं । अर्धचक्रवर्तीकी भी ऐसी स्थिति है । भोगभूमिके जीवोंको भोजनाग जातिके कल्पवृक्षोंसे यथेच्छ आहार प्राप्त होता है । फिर भी इन सबकी तृप्ति नहीं होती । तब साधारण मनुष्य भोजन से कैसे तृप्त हो सकता है ॥१६५०॥

गा०—टी०—यह आहार उत्तम है । इससे भी यह आहार उत्तम है इस प्रकारमे जिमका चित्त चंचल रहता है उमके चित्तमे अनुराग नहीं होता । अनुरागके बिना प्रीति नहीं होती । और प्रीतिके बिना सुख नहीं होता । इस प्रकार विभिन्न आहारोंके लम्पटो चंचलचित्त मनुष्यको आहारमे सुख नहीं होना ॥१६५१॥

गा०—हे क्षपक ! अतीतिकालमे तुमने अन्न, पान, मद्य और लेह्यावे भेदमे चार प्रकारका आहार करके सब पुद्गलोंको बहुत बार खाया है फिर भी तुम्हारी तृप्ति नहीं हुई ॥१६५२॥

किं पुण कठप्पाणो आहारेदुण अज्जमाहारं ।
लभिहिसि तित्ति पाऊणुदधिं हिमलेहणेणैव ॥१६५३॥

'किं पुण' किं पुन कठप्पाणोऽप्याहारं गृहीत्वा प्रीतिं लप्स्यसे । पीत्वोदधिं न तृप्तो हि यथा हिमलेहनेन ॥१६५३॥

को एत्थ विभओ दे बहुमो आहारभुत्तपुच्चम्मि ।
जुंजेज्ज हु अभिलासो अभुत्तपुच्चम्मि आहारे ॥१६५४॥

'को एत्थ विभओ' कोऽयं विस्मय । आहारे बहुशो भक्तपूर्वं । युज्यते आहारार्थं अभिलाषोऽभुक्तपूर्वं ॥१६५४॥

आवादमेत्तसोक्खो आहारणो हु सुखमत्थ बहु अत्थि ।
दुःखं चैवत्थं बहु आहट्टतस्स गिद्धीए ॥१६५५॥

'आवादमेत्तसोक्खो' जिह्वाप्रपातमात्रसुख आहार । न सुखमत्र बह्वस्ति । दुःखमेवात्र बहु 'अभि-
लषिताहारगृह्या' ॥१६५५॥

सुखस्याल्पताया कारणमाचष्टे—

जिंभाभूल घोलेइ वेगदो वरहओच्च आहारो ।
तत्थेव रस जाणइ ण य परदो ण वि य से परदो ॥१६५६॥

जिह्वाया मूला वेगेनातिक्रामत्याहारं जात्यस्व इव । जिह्वामात्र एव रसं वेत्ति जीवो न आहारानुपरि, न च पुरतोऽग्रतः । अल्पा च जिह्वा ॥१६५६॥

गा०—अब तो तुम्हारे प्राण कण्ठगत हैं अर्थात् तुम्हारी मृत्यु निकट है । जैसे समुद्रको पीकर जो तृप्त नहीं हुआ वह ओसको चाटनेमें तृप्त नहीं हो सकता । उसी प्रकार जब तुम समस्त पुद्गलोको खाकर भी तृप्त नहीं हुए तब मरते समय आज भोजनमें कैसे तृप्त हो सकते हो ॥१६५३॥

गा०—जो आहार तुमने पहले अनेक बार खाया है उसमें तुम्हारी उत्सुकता कौमी ? जो आहार पहले कभी नहीं खाया है उसमें अभिलाषा होना तो उचित है । जिसे तुम अनेक बार भोग चुके हो उसमें अभिलाषा होना ही आश्चर्यकारो है ॥१६५४॥

गा०—आहारमें बहुत सुख नहीं है केवल जिह्वाके अग्रभागमें रखनेमात्र ही सुख है । विन्तु इच्छितआहारको लिप्सासे जो दुःख होता है वह दुःख ही बहूत है ॥१६५५॥

आहारमें स्वल्पसुख होनेका कारण कहते हैं—

गा०-टी०—जैसे उत्तम घोडा बडा तेज दौडता है वैसे ही आहार भी जिह्वाके मूलको बडे वेगसे पार करना है अर्थात् जिह्वापर ग्राम आते ही वह झट पेटमें चला जाना है । बस जिह्वापर रहते हुए ही जीवको आन्नारके स्वादकी प्रतीति होती है, न पहले होती है और न

अच्छिपिमिसेणमेत्तो आहारसुहस्स मो ह्वइ कालो ।

गिद्धीए गिलड वेगं गिद्धीए विणा ण होइ सुह ॥१६५७॥

‘अच्छिपिमिसेणमेत्तो’ अक्षिपिमिसेणमात्र काल । आहारससेवाजनितमुषस्य । गृह्या वेगेन निगिरति । यतो गृह्या च विना नास्तीन्द्रियसुख ॥१६५७॥

दुस्स गिद्धीघत्थस्माहट्टंतस्म होइ बहुग च ।

चिरमाहट्टियदुग्गयचेडस्स व अण्णगिद्धीए ॥१६५८॥

‘दुस्स गिद्धीघत्थस्स’ दुस्स महद्भवति लम्पटतया इतस्याभिलषत । चिरमाहट्टियदुग्गयचेडस्स व अण्णगिद्धीए’ अन्नगृह्या चिर व्याकुलस्य दरिद्रसर्वाधनो दामरस्येव ॥१६५८॥

को णाम अप्पसुक्खस्स कारणं बहुसुहस्सं सुक्केज्ज ।

सुक्कइ ह्नु मकिलिसेण सुणीं मग्गापवग्गाणं ॥१६५९॥

‘को णाम अप्पसुक्खस्स कारणं’ को नामान्यसुखनिमित्त महतो निर्दिनिमुखात्पच्यवने च मुनि सकलेणेन स्वर्गावर्गमुक्ताम्भान् ॥१६५९॥

प्रहूलित्तं अमिघारं लेहडं भुंजडं यं मो सविसमण्ण ।

जो मरणदेवमयाले पच्छेज्ज अकप्पियाहार ॥१६६०॥

‘महूलित्तं’ मधुना लिप्तामतिवारा आत्वादयति । सविपमशनं बुद्ध्को यो मरणदेवकाले अयोग्या-
हारप्रार्थना करोति ॥१६६०॥

वादमे । अर्थात् जब आहार जीभपर नहीं आया और जब आकर गलेमें उतरा तब स्वादकी अनुभूति नहीं होती ॥१६५६॥

शा०—इस प्रकार आहारमें होनेवाले सुखका काल एक बार पलकें बन्द करके खोलनेमें जितना समय लगना है उतना ही है अर्थात् क्षणमात्र है । आहारकी गृद्धि होनेमें आहार वेगमें निगला जाता है और गृद्धिके बिना सुख नहीं होता ॥१६५७॥

शा०—जो आहारविषयक लम्पटताके साथ आहारकी आकांक्षा करता है उसे बहुत दुःख उठाना पड़ना है । जैसे अन्नकी गृद्धिमें चिरकालमें व्याकुल दरिद्र दामको कष्ट होता है वैसे ही कष्ट आहारकी लम्पटतावालेको होता है ॥१६५८॥

शा०—टी०—कौन बुद्धिमान पुरुष थोड़ेसे सुखके लिये बहुत सुखसे वंचित होना चाहेगा । अर्थात् इस अन्निम अवस्थामें आहारमें आनन्द होनेसे तुम बहुत सुखमें वंचित हो जाओगे । मुनि सक्केण परिणाम करनेने स्वर्ग और मोक्षके सुखमें वंचित हो जाता है—उमें स्वर्ग या मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती ॥१६५९॥

शा०—टी०—जो क्षयक मरते समय अयोग्य आहारकी प्रार्थना करता है वह मधुमें लिप्त तलवारकी धारकी चाटना है और विप महिन अन्नको खाता है । अर्थात् जैसे मधुमें लिप्त तलवारकी धारकी चाटनेसे तलवार मुक्त होना है किन्तु जीभ कट जाती है वैसे ही मरते समय

असिधार व विस वा दोसं पुरिमस्स कुण्ड एयभवे ।

कुण्ड दु मुणिणो दोस अकप्पसेवा भवसएसु ॥१६६१॥

'असिधार व' असिधारा वा विप वा पुरपस्य दोषमेकस्मिन्नेव भवे करोति । अयोग्यसेवा भवउत्तेषु मुनेदोष करोति ॥१६६१॥

जावंतं किंचिदुक्खं शरीरं भाणम च ससारे ।

पत्तो अणतखुत्त कायस्स ममत्तिदोसेण ॥१६६२॥

'जावंतं किंचिदुक्खं' यावत्किंचिद्दुःखं शरीरं मानसं वा मसारे त्वमनतवारं प्राप्तवान् । तत्सर्वं शरीरममतादोषेणैव ॥१६६२॥

इण्हि पि जट्टि ममत्तिं कुणासिं सरीरे तहैव ताणि तुम ।

दुक्खाणि मसरतो पाविहसिं अणतयं कालं ॥१६६३॥

'इण्हि' पि इदानीमपि यदि शरीरे करोमि ममता तथैव तानि दुःखानि चतुर्गतिषु परावर्तमानो जन्म-कालं प्राप्स्यसि ॥१६६३॥

णत्थि भयं मरणसमं जम्मणसमयं ण विज्जदे दुःखं ।

जम्मणमरणादकं छिण्णं ममत्तिं सरीरादो ॥१६६४॥

'णत्थि भयं मरणसमं' मरणमदृशं भयं नास्ति । कुयोतिषु जन्मममानं दुःखं न विद्यते । जन्ममर-णात्कं छिन्ना शरीरममता ॥१६६४॥

अण्णं इमं मरीरं अण्णो जीवोत्तिं पिच्छिदमदीओ ।

दुक्खं भयं किलेसयारी मां हं ममत्तिं कुणं सरीरे ॥१६६५॥

यदि अहन्त आदिको साक्षीपूर्वकं त्यागे हुए आहारको अभिलाषा करता है और उसे खाता है तो तत्काल उसे अपनी इच्छापूर्ति होनेसे सुख प्रतीत होगा । किन्तु उसकी सब आराधना गल जायेगी ॥१६६०॥

गा०—सहृदसे लिप्त तलवार और विषमिश्रित अन्न तो पुरपका एक भवमे ही अनर्थ करते हैं । किन्तु मुनिका अयोग्य आहारका सेवन सैकड़ो भवोमे अनर्थकारी होता है ॥१६६१॥

गा०—हे दापक ! इस समारमे तुमने जो कुछ भी शारीरिक और मानसिक दुःख अनन्त वार भोगा है वह सब शरीरमे ममत्तारूप दोषके कारण ही भोगा है । ॥१६६२॥

गा०—इमं समय भो यदि तुम शरीरमे ममता करते हो तो उसी प्रकार चारो गतिवोम भ्रमण करते हुए अनन्त कालतक दुःख भोगोगे ॥१६६३॥

भा०—मरणके समान भय नहीं है और जन्मके समान दुःख नहीं है । तथा जन्म मरण बड़े वेगसे पार कशरीरमे ममत्व है उसको तुम दूर करो ॥१६६४॥

जिह्वापर रहते हुए

—आ० मु० ।

१ लपिनमाहा—

‘अण्ण इम शरीर’ अन्यदिद शरीर । अन्यो जन्तुरिति निश्चितमतिदुःखसकलेशसपादनोद्यता मा कृया शरीरे ममताम् ॥१६६५॥

सव्व अधियासतो उवमग्गविधिं परीसहविधिं च ।

णिम्सगदाए मल्लिह असकिलेसेण त मोह ॥१६६६॥

‘सव्व उवमग्गविधिं’ सर्वं उपसर्गविकल्प परीपहविकल्प च सहमानो मोह भवास्तनूकु० ।
‘णिस्सगताया’ असकलेशेण च ॥१६६६॥

ण वि कारण तणादोसथारो ण वि य सघसमवाओ ।

साधुस्स सकिलेसतस्स य मरणावसाणम्मि ॥१६६७॥

‘ण वि कारण तणादो’ नैव कारण तृणादिमस्तर सल्लेखनाया, नानि सघसमुदाय मरणावसाने सकिलश्यत साधो ॥१६६७॥

जह वाणिग्गना मागरजलम्मि णावाहिं रयणपुण्णाहिं ।

पट्टणमासण्णा वि हु पमादमूढा वि वज्जति ॥१६६८॥

‘जह वाणिग्गना’ यथा वणिजा रत्नसपूर्णाभिर्नोभि सह विनश्यन्ति । ममुद्रजलमध्ये प्रमादेन मूढा पत्तनाम्निकमायता अपि ॥१६६८॥

सल्लेहणा विसुद्धा वेई तह चेव विवहमगेहि ।

सथारे विहरता वि सकिलिट्ठा विवज्जति ॥१६६९॥

‘सल्लेहणा विसुद्धा वि’ शरीरसल्लेखनाभावान् । सल्लेखनया विसुद्धा अपि सत । पूर्वं केचिन् विविध

पा०—यह शरीर भिन्न है और जीव भिन्न है ऐसा निश्चय करके दुःख भय और क्लेशको करनेवाली ममता शरीरमे मत कर अर्थात् शरीरसे ममत्वको त्याग, वही सत्र दुःखाका मूल है ॥१६६५॥

पा०—सब उपसर्गोंके प्रकारोंको और सब परीपहके प्रकारोंको महन करने हुए तुम निःसगत्वभावनासे सकलेश परिणामोंके बिना मोहको कृश करो ॥१६६६॥

पा०—श्री०—यदि मरते समय माधुके परिणाम सकलेशरूप होते हैं तो तृण आदिका सथरा या वैयावृत्य करनेवाले माधुका जमघट सल्लेखनाका कारण नहीं हो सकता । अर्थात् तृणादिके सथरा और वैयावृत्य करनेवाले साधु तो सल्लेखनाके बाह्य कारण है अन्तरंग कारण तो क्षयकका आर्त रोद रहित परिणाम ही है । उनके अभावमे केवल बाह्य कारणोंमे सल्लेखना नहीं हो सकती ॥१६६७॥

पा०—जमे वणिक् रत्नोंमे भरी नावोंके साथ नगरके समीप तक आकर भी प्रमादवश मूढ होकर मागरके जलमे डूब जाते हैं ॥१६६८॥

पा०—श्री०—उसी प्रकार पहले विसुद्ध भावमे शरीरकी सल्लेखना करनेवाले भी कुछ क्षयक गगद्वेषादि भावरूप विविध परिग्रहोंके नाश मथरेपर आरूढ होने हुए भी सकलेश परिणामों

मर्गेहं विचित्रं रागद्वेषादिभावपरिग्रहं सह । 'स्यारे बिहरता वि' सस्तरे प्रवर्तमाना अपि । 'सन्निदिष्टा विवज्जति' सविल्लपपरिणता विनश्यन्ति ॥१६६९॥

सल्लेहणापरिस्सममिदं कय दुक्कर च सामण्णं ।

मा अप्पसोक्खहेउ तिलोगसार वि णासेइ ॥१६७०॥

'सल्लेहणापरिस्सममिदं' शरीरसल्लेखनाया क्रियमाणया अनशानादितपमा त्रिविधाहारत्यागेन, यावज्जीव वा पानपरिहारेण जात परिश्रममिदं । 'दुक्कर च कद सामण्णं' दुक्कर कृतं च श्रामण्यं । चिरकाल त्रिलोकमार अतिरागितस्वर्गापवर्गमुखदानात् । 'अप्पसुक्खहेउ' अल्पाहारसेवाजनितमुखनिमित्तं । 'मा विणसेहि' नैव विनाशाय ॥१६७०॥

धीरपुरिसपण्णत्त सप्पुरिमणिसेविय उवणमित्ता ।

धण्णा गिरावयक्ख्वा सथारगया णिसज्जति ॥१६७१॥

'धीरपुरिसपण्णत्त' उपमर्शाना परिपहाणा चोपनिपातं अविचल्युत्तयो ये धीरास्तरपदिष्ट तस्सव । 'सप्पुरिसणिसेविय' सत्युत्पदनिषेवित माग 'उवणमित्ता' आश्रित्य । 'धण्णा' धन्या पुण्यवत । 'गिरावयक्ख्वा' निरपेक्षा परित्यक्तादाना । 'सथारगया' सस्तरारब्धा । 'णिसज्जति' शेरते ॥१६७१॥

तम्हा कलेवरकुडी पव्वोडव्वत्ति णिम्ममो दुक्ख ।

कम्मफलमुवेक्खंतो विसहसु णिच्चेदणो चेव ॥१६७२॥

'तम्हा' तस्मान् । 'कलेवरकुडी' शरीरकुटी । 'पव्वोडव्वत्ति' परित्याग्येति मत्वा । 'णिम्ममो' शरीरे ममतारहिता । 'दुक्ख विसहसु' दुःख विसहस्व । 'कम्मफलमुवेक्खंतो' कर्मफलमुपेक्षमाणो । 'णिच्चेदणो चेव' निर्वेदनमिव ॥१६७२॥

इय पण्णविज्जमाणो सो पुव्व जायसकिलेमादो ।

विणियत्ततो दुक्ख पस्मइ परदेहदुक्ख वा ॥१६७३॥

के कारण विनाशको प्राप्त होते हैं । अर्थात् प्रथम तो उनकी सल्लेखना ठीक रहती है । पीछे सबल्लेख परिणाम होनेसे सत्यरेपर रहते हुए भी सल्लेखनासे भ्रष्ट हो जाते हैं ॥१६६९॥

गा०—टी०—हे क्षपक ! अनशन आदि तपके द्वारा तथा तीन प्रकारके आहार और जीवन पर्यन्तके लिये पानका त्याग करके शरीरको वृक्ष करनेमें तुमने जो परिश्रम किया है और यह अत्यन्त कठिन मुनिपद धारण किया है और इन सबसे तुम्हें जो स्वर्ग और मोक्षका सातिशय मुख मिलनेवाला है, इन सबको आहार सेवनसे होनेवाले थोड़ेसे सुखके लिये नष्ट मत करो ॥१६७०॥

गा०—उपमर्श और परीपहोके आनेपर भी जो विचलित नहीं होते उन धीर पुरुषोंके द्वाग बहे गये और श्रेष्ठ पुरुषोंके द्वारा सेवित इस मार्गको अपनाकर पुण्यशाली क्षपक, त्याग और ग्रहणसे निरपेक्षा होकर सस्तरपर आरुद्ध होकर विशुद्ध होते हैं ॥१६७१॥

गा०—अतः यह शरीररूपी मुटिया त्यागने योग्य है ऐसा मानकर शरीरमें ममत्त्व मत करो । तथा कर्मफलको उपेक्षा करते हुए दुःखका इस प्रकार महो मानो दुःख है ही नहीं ॥१६७२॥

‘इयं’ एव । ‘पणविज्जमाणो’ प्रज्ञाप्यमान । ‘सो पुच्च जावसक्विलेसादो’ पूर्व जातसक्वलेशान् । ‘विणियत्तो’ विनिवर्त्यमान । ‘दुक्ख पस्सदि’ दुक्ख पश्यति । किमिदं ? ‘परवेहुदुक्ख वा’ पररागीरगतमिव दुक्ख ॥१६७३॥

रायादिमहद्धीयागमणपओणेण चा वि माणिस्स ।

माणजणणेण कवय कायव्व तस्स खवयस्स ॥१६७४॥

‘रायादिमहद्धीयागमणपओणेण’ राजादिमहद्धिकागमनप्रयोगेण ‘चावि माणिस्स’ मानिनोऽपि । ‘माणजणणेण’ मानजननेन । ‘कवय कापव्व’ कवच वर्तव्य । ‘तस्स खवयस्स’ तस्य क्षपकस्य । मम धीरता द्रष्टुं अभी महद्धिका समायाता । अभीया पुरस्ताद्यद्यपि प्राणा यान्ति यान्तु काम तथापि स्वा मनस्विता ताह त्यजामीति मानयनो दुक्ख महने न कुस्से व्रतभङ्गम् ॥१६७४॥

इच्चेवमाडकवच खणिदं उस्सगिय जिणमदम्मि ।

अववादिण च कवय आगाढे होइ कादव्व ॥१६७५॥

‘इच्चेवमाडकवच भणिदं’ इत्येवमादिक कवच कथितो जिनमते । उस्सगिणो’ औत्सगिक सामान्यभूत । ‘अववादिण च कवच कादव्व’ विशेषरूपेण कवच कर्तव्यो भवत्यवगाडे मरणे ॥१६७५॥

जह कवचेण अभिज्जेण कवचिओ रणमुहम्मि मत्तूणं ।

जायइ अलघणिज्जो कम्मममत्थो य जिणदि य ते ॥१६७६॥

‘जह कवचेण’ यथा कवचेन । ‘अभिज्जेण’ अभेदेन । ‘कवचिओ’ सन्नद्ध । ‘रणमुहे सत्तूणमलघिज्जो

गा०—इम प्रकार उपदेश द्वारा समझानेपर वह क्षपक पूर्वमे हुए सकलेशरूप परिणामोसे अपनेको हटाकर अपने दु ख इस प्रकार देखता है, मानो वह दु ख उसके शरीरमे नही है किन्तु किमी दूसरेके शरीरमे है ॥१६७३॥

गा०—सी०—महान् ऐश्वर्यशाली राजा जादिको उम क्षपकके पाम लाकर भी उम अभिमानोको मानदान देकर उसका कवच (रक्षाका उपाय) करना चाहिये । उन्हे देम वह विचारता है कि मेरी महनशीलताको देखनेके लिये ये बडे-बडे ऐश्वर्यशाली आये हुए हैं । इनके सामने भजे ही मेरे प्राण जायें तो चले जायें । तथापि मैं अपनी मनस्विताको नही छोडूंगा । इस प्रकार वह मानप्रेमी दु ख महता है किन्तु व्रतभग नही करता ॥१६७४॥

गा०—इम प्रकार जिनमतमे कवचका औत्सगिक अर्थात् सामान्य स्वरूप बहा है । मृत्यु निकट होनेपर आपवादिक अर्थान् विशेषरूप भी कवच करना चाहिये ॥१६७५॥

विशेषार्थ—जिसका मरण अभी दूर है उसके लिये सामान्यरूपसे ऊपर कवचना कथन किया है । यहाँ निकट मरण वालेके लिये अपवादरूप विशेष कवचका कथन किया है । जिनका अभिप्राय यह है कि तत्काल उत्पन्न हुए ध्यानमे विघ्न डालने वाले भूख आदिके दु खको दूर करनेके लिये यथायोग्य प्रयोग करना चाहिये ।

गा०—जिने अभेद्य कवचके द्वारा मुरझित योद्धा युद्धभूमिमे शत्रुओके वशमे नही थाता । तथा शत्रुपर प्रहार करनेमे समर्थ होता है और इस प्रकार शत्रुओकी जीत लेता है ॥१६७६॥

होवि' रणमुखे गत्रुणामलघ्यो भवति । 'रुम्भतमत्यो य' प्रहरणादित्रियाममर्थ । 'जिणदि य ते' जयति च तानरीन् ॥१६७६॥

एव खवओ कवचेण कवचिओ तह परीमहरिऊणं ।

जायड अलघणिज्जो ज्झाणममत्यो य जिणदि य ते ॥१६७७॥

एव खवओ' एव क्षपक कवचनोपगृहीत परीपहागिभिर्न दृष्यते, ध्यानसमर्थो जयति च तान्परीप-
हारीन् ॥कवचुति ॥१६७७॥

एव अधियामेतो सम्म खवओ परीसहे एदे ।

मन्वत्थ अपडिबद्धो उवेदि सन्वत्थ समभावं ॥१६७८॥

'एव अधियात्ततो' एव मह्यान सम्यक्परीपहानेतान् । सर्वत्राप्रतिबद्ध शरीरे, वसती, मणे,
परित्चारकेषु च सर्वत्रोपति समचितताम् ॥१६७८॥

सन्वेसु दब्बपज्जयविधीसु णिच्च समत्तिओ विजडो ।

णिप्पणयदोममोहो उवेदि सन्वत्थ समभावं ॥१६७९॥

'सन्वेसु' नवेषु द्रव्यपर्यायविकल्पेषु नित्य परित्यक्तममतादोष ममेद मुखसाधन मदीय इति वा ।
'णिप्पणयदोसमोहो' निम्नोहो, निर्दोषो, निर्मोह सर्वत्र ममतामुपैति ॥१६७९॥

सजोगविप्पओगेसु जहदि इट्ठेसु वा अणिट्ठेसु ।

रदि अरदि उस्सुगतं हरिम दीणत्तणं च तहा ॥१६८०॥

मयोगे रति, विप्रयोगे अरति, इष्ट वस्तुन्मुक्तष्ठा, इष्टयोगे 'रदि' रति, हर्ष, इष्टविप्रयोगे अरति
दीनता । 'उस्सुगत' उत्सुकता च तथा 'जहति' जहाति क्षपक कवचनोपगृहीत ॥१६८०॥

भा०—उसी प्रकार कवचसे सुरक्षित क्षपक परीपह वादिके वनमे नहीं जाता । तथा
ध्यान करनेमे समर्थ होता है और उन परीपह रूपी यत्रुओंको जीन लेता है ॥१६७७॥

भा०—इम प्रकार इन तत्काल उपस्थित हुई परीपहोंको सम्यक् रूपसे महन करता हुआ
क्षपक सर्वत्र शरीर, वसति, सद्य और परिचर्या करनेवालोंमे अप्रतिबद्ध होता है—ये मेरे हूं मैं
इनका हूं ऐसा सकल नहीं करता । तथा सर्वत्र जीवन मरण आदिमे समभावको—रागद्वेषने
रहितताको प्राप्त होता है ॥१६७८॥

भा०—द्रव्य और पर्यायके समस्त भेदोंमे नित्य ममता दोषको त्याग स्नेह रहित, दोष
रहित और मोहरहित होकर सर्वत्र समभावको प्राप्त होता है अर्थात् समस्त द्रव्यों और पर्यायोंमे
'ये मेरे मुखके साधन हैं' इम प्रकारका मपत्य भाव नहीं रखता । किन्तु सबमे समभाव रखता
है । न किमीसे प्रीति करता है और न किमीसे द्वेष करता है ॥१६७९॥

भा०—कवचमे उपट्टन हुआ क्षपक सयोगमे रति, वियोगमे अरति, इष्ट वस्तुमे उत्कण्ठा,
इष्ट वस्तुके मयोगमे रति तथा हर्ष और इष्ट वस्तुके वियोगमे अग्नि तथा दीनता नहीं
करता ॥१६८०॥

मित्ते सुयणादीसु य सिस्से साधम्मिए कुले चात्रि ।
राग वा दोस वा पुव्व जायपि मो जहड ॥१६८१॥

‘मित्ते सुयणादीसु य’ मित्तेषु वन्धुषु वा । शिष्येषु च सधर्मणि कुले वा पूर्वं जात रागद्वेष वासी जहाति ॥१६८१॥

भोगेसु देवमाणुस्मगेसु ण करेड पत्थण खवओ ।
मग्गो विराधणाए भणिओ विसयाभिलासोत्ति ॥१६८२॥

‘भोगेसु देवमाणुस्मगेसु’ देवमानवगोचरभोगप्रार्थना न करोति क्षपको व्यावृत्तिनकवचोपगृहीत । विषयाभिलाषो मुक्तिमार्गविराधनाया मूलमिति ज्ञात्वा ॥१६८२॥

इट्ठेसु अणिट्ठेसु य सदफरिसरसरुवगधेसु ।
इहपरलोए जीविदमरणे माणावमाणे च ॥१६८३॥
सव्वत्थ णिव्विसेसो होदि तदो रागरोसरहदप्पा ।
खवयस्म रागदोसा हू उत्तमद्द विणासति ॥१६८४॥

स्पष्ट उत्तरगाथाद्वया ॥१६८३॥१६८४॥

विशेषार्थ—इष्ट वस्तुके मिलनेपर या अनिष्ट वस्तुके विच्छेदनेपर चित्तमे प्रमत्नता होना, अनिष्टका सयोग अथवा इष्टका वियोग होनेपर अरति अर्थात् चित्तका दु खो होना, इष्ट वस्तुमे उत्पन्ना होना—यदि मुझे अमुक वस्तु मिल जाये तो अच्छा हो इस प्रकार हृदयमे उत्कण्ठा होना, हर्ष अर्थात् इष्टका सयोग होनेपर रोमाच, भुखकी प्रसन्नता आदिसे आनन्द व्यक्त होना, तथा इष्टका वियोग होनेपर मुखकी विरूपतासे विषाद व्यक्त होना, ये सब कवचमे उपगृहीत क्षपक छोड देता है ।

गा०—अथवा कवचसे उपगृहीत वह क्षपक मित्रोमे, वन्धुवान्ववोमे, शिष्योमे साधर्मी जनोमे और कुलमे, पूर्वमे उत्पन्न हुए रागद्वेषको छोड देता है अर्थात् समाधि स्वीकार करनेसे पूर्वमे या दीक्षा ग्रहण करनेसे पूर्वमे जो रागद्वेष उत्पन्न हुआ है उसे दूर करता है माय ही आगे भी रागद्वेष नहीं करता ॥१६८१॥

गा०—तथा ऊपर कहे गये कवचसे उपग्रहीत क्षपक यह जानकर कि विषयोंकी अभिलाषा मोक्षमार्गकी विराधनाका मूल है, देव और मनुष्य सम्बन्धी भोगोकी प्रार्थना नहीं करता ॥१६८२॥

गा०—टी०—कवचमे उपगृहीत होनेमे क्षपक इष्ट अनिष्ट नन्द, स्वर्ग, रम, रूप और गन्धमे, इम लोक और परलोकमे, जीवन और मरणमे, मान और अपमानमे सर्वत्र इष्ट अनिष्ट विकल्पमे मुक्त और रागद्वेषसे रहित होता है । क्योंकि क्षपकके रागद्वेष उत्तमार्थ अर्थात् रत्नत्रय, सम्यक् ध्यान और समाधिमरणको नष्ट कर देते हैं ॥१६८३-१६८४॥

१ विराधेति मु० ।

जदि वि य से चरिमंते समुदीरदि मारणतियमसायं ।

सो तह वि असंमूढो उवेदि सव्वत्थ समभावं ॥१६८५॥

‘जदि वि य से’ यद्यपि तस्य क्षपकस्य चरमकालान्ते मारणान्तिक दुःख भवेत् सो क्वचनोगृहीत क्षपक तयापि अतमूढ समभाव नर्बन्धोपति ॥१६८५॥

एव सुभाविदप्पा विहरड सो जाववीरियं काये ।

उट्टाणे मवेसणे सयणे वा अपरिदतो ॥१६८६॥

‘एव सुभाविदप्पा’ निर्यापवेन मृरिणा गदितोयं एवमिन्दुच्यते । तेन सम्यग्भावविधित्त सन्विहरदि प्रवर्तते अपरिधन्त । ‘जाववीरियं काये’ जावच्छरीरे बलमस्ति उत्थाने, शयने ध्यानने वा ॥१६८६॥

जाहे सरीरचेट्ठा विगदत्थामस्स से यदणुभूदा ।

देहादि वि ओसग्ग सव्वत्तो कुण्ड गिरिवेक्खो ॥१६८७॥

‘जाहे सरीरचेट्ठा’ यदा शरीरचेष्टा विगतबलस्य तस्य स्वल्पा जाता, तदा शरीरादुत्पन्नं करोति सर्वतो मनोवाक्कार्यनिरपेक्ष ॥१६८७॥

तदेव शरीरादिक त्याग्यमुत्तरगायया दर्शयति—

सेज्जा सधार पाणय च उवधिं तहा सरीर च ।

विज्जावच्चकरा वि य वोमरइ समत्तमारूढो ॥१६८८॥

‘सेज्जा’ वसति । सस्तर तृणादिक, पान पिच्छ, शरीर च वैयावृत्यकरादयश्च व्युत्सृजति । ‘समत्तमारूढो’ समाप्त संपूर्ण रत्नत्रयमारूढ ॥१६८८॥

गा०—यद्यपि उन क्षपकको अन्तिम समयमे मरण प्राप्त होनेतक दुःख होता है तथापि वह क्वचसे उपगृहीत क्षपक शरीरमे भी मोह न रखता हुआ नर्बन्ध समभाव धारण करता है ॥१६८५॥

गा०—इस प्रकार निर्यापकाचार्यके द्वारा कहे गये पदार्थ स्वरूपसे अपने चित्तको सम्यक् रूपसे भावित करके वह क्षपक जबतक शरीरमे शक्ति रहती है तबतक बिना थके उठने बैठने और सोनेमे स्वयं प्रवृत्ति करता है ॥१६८६॥

गा०—जब शक्तिहीन होनेपर उसको शारीरिक चेष्टा मन्द पड़ जाती है तब वह मन वचन कायसे निरपेक्ष होकर शरीरका भी त्याग करता है ॥१६८७॥

आगेकी गायसे शरीर आदिको त्याग्य बतलाते हैं—

गा०—सम्पूर्ण रत्नत्रयमे आरूढ हुआ वह क्षपक वसति, तृणादि रूप सस्तर, पानक, पिच्छी, शरीर तथा वैयावृत्य करनेवालोका भी त्याग कर देता है अर्थात् उन मवसे भी निरपेक्ष हो जाता है ॥१६८८॥

अवहृद् कायजोगे व विष्पओगे य तत्थ सो सव्वे ।

सुद्धे मणप्पओगे होइ गिरुद्धज्जवसियप्पा ॥१६८९॥

'अवहृद्कायजोगे' वाय्मोगान्काययोगाश्च सर्वान्निराकृत्य अमावत्र मनोयोगे शुद्धे स्थितो भवति ।
विषयान्तरसवाराग्निद्वन्द्व अद्यवदित च आत्मरूप ज्ञानस्य यस्य न ॥१६८९॥

एवं सव्वत्थेसु वि समभाव उवगओ विसुद्धप्पा ।

मिच्ची करुणं मुदिदमुवेक्खु खवओ पुण उवेदि ॥१६९०॥

'एव सव्वत्थेसु वि' एव सर्ववस्तुषु समतापरिणाममुपगतो विसुद्धचित्त , मैत्री, करुणा, मुदितामुपेक्षा च पश्चादुपैति क्षपक ॥१६९०॥

मैत्रीपभूनीना चिन्ताना विषयमुपदर्शयति—

जीवेसु मिच्चिन्ता मेच्ची करुणा य होइ अणुक्का ।

मुदिदा जदिगुणचिन्ता मुहदुक्खधियासणमुवेक्खा ॥१६९१॥

'जीवेसु मिच्चिन्ता' अनन्तकाल पतसृषु गतिषु परिणमतो घटीयन्वत्वत्सर्वे प्राणिभूतोर्षिषु बहूषा कृत-
महोपकारा इति तेषु मित्रताचिन्ता मैत्री । 'करुणा य होइ अणुक्का' शारीर, आगन्तुक मानस स्वाभाविक
च दु स्वमसह्यमाणुवनो दुष्ट्वा हा वराका मिथ्यादर्शनेनाविरत्या कषायेणाग्निभे योगेन च समुपजिताग्निभक्त-
परिषुद्गलस्कन्धनदुदयोद्भवा विषयी विवशा प्राप्नुवन्ति इति करुणा अनुक्कया । मुदिता नाम यतिगुणचिन्ता
यतयो हि विनीता, विरागा, विभया, विमाना, विरोधा, विलोभा इत्यादिका । मुखे अरागा दु खे वा अद्रेया
उपेक्षेव्युच्यन्ते ॥१६९१॥ ममता गता ।

गा०—वह सब काययोगी और वचनयोगीको दूरकर शुद्ध मनोयोगमें स्थिर होता है ।
क्योंकि वह अपने ज्ञानरूप आत्माको युक्ति और तर्क त्रितवसे निश्चित करके उसे अन्य विषयोंमें
जानेसे रोकता है ॥१६८९॥

गा०—इस प्रकार मत्र वस्तुओंमें समताभाव धारण करके वह क्षपक निर्मल चित्त हो
जाता है । फिर मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा भावनाको अपनाता है ॥१६९०॥

मैत्री आदि भावनाओंको कहते हैं—

गा०—सौ०—अनन्तकाल चारो गतियोंमें भ्रमण करते हुए घटीयत्रकी तरह सभी प्राणियोंने
मेरा बहुत उपकार किया है अतः उनमें मित्रताकी भावना होना मैत्री है । अमह्य शारीरिक,
आगन्तुक, मानसिक और स्वाभाविक दु खको भोगते हुए प्राणियोंको देखकर अरे वेचारे मिथ्या-
दर्शन, अविरति, कषाय और अग्नि योगमें उपाजित अग्निभक्त रूप पुद्गल स्कन्धोंके उदयमें
उत्पन्न हुई विषदाओंको विवदा होकर भोगते हैं । इस प्रकारके भावको करुणा या अनुक्का कहते
हैं । यतियोंके गुणोंके चिन्तनको मुदिता कहते हैं । यतिगण विनीत, रागरहित, भयरहित, मान-
रहित, रोपरहित और ओभरहित होते हैं इत्यादि चिन्तन मुदिता है । मुपमें राग और दु खमें
द्वेष न करना उपेक्षा है ॥१६९१॥

दसणणाणचरित्तं तत्र च विरियं समाधिजोगं च ।

तिविहेणुवत्तपज्जिय मच्चुवरित्तं कम कुणइ ॥१६९२॥

'दसणणाणचरित्तं तत्र विरियं समाधिजोगं च' तत्त्वश्रद्धान् तत्त्वावगम, वातरागता, असन्त्याग-
त्रिया स्वयन्त्यागनिगूहन चित्तकाप्रयोग । 'तिविहेणुवत्तपज्जिय' मनोदाक्याय प्रतिपद्य । 'सच्चुवरित्तं'
सर्वेभ्य पूर्वप्रवृत्तदर्शनादिपरिणामेभ्योऽतिशयित कम 'कुणदि' कम दर्शनादिपदन्त्याम करोति ॥१६९२॥

शुभध्यानमाहरथत परिक्करमाचष्टे—

जिदरागो जिददोसो जिदिदिओ जिदभओ जिदकमाओ ।

अरदिरदिमोहमहणो ज्झाणोवगओ सदा होहि ॥१६९३॥

'जिदरागो' स्वतो व्यतिरिक्तेषु जीवाजावद्भ्येषु तेषा पर्यायेषु स्वरमगधम्पशङ्गाद्व्येषु विचित्रभेदेषु
तत्संस्थानादिषु च यो राग म जितो येन सोऽभिधीयते । तथा मनोत्रेषु याऽप्राति स दोष उच्यते स च
जितो येन न जितदोष ।

"णेहूत्तुपिदगतस्स रेणुणो लग्गदे ज्हा अये ।

तह रागदोसणेहोत्तिल्लदस्स 'कम्मासवो होवि ॥" [मूलाचार २३६] इति ।

जिनवचनाधिगमाद्दु खभीरयंति सर्वदु खाना मूलकारणभूतो रागद्वेषाविति मनसा विनिश्चित्य

गा०—टी०—दर्शनं अर्थान् तत्त्वश्रद्धान्, तत्त्वज्ञान और चारित्र्य अर्थान् वीतरागता, तप
अर्थात् भोजनका त्याग, वीर्य अर्थान् अपनी शक्तिको न छिपाना, तथा समाधियोग अर्थात् चित्रको
एकाग्रता, इन सबको मत्त वचन कायसे प्राप्त करके क्षपक पूर्वके दर्शन आदिसे विशिष्ट दर्शन
आदिमे पग धरता है ॥१६९२॥

विशेषार्थ—मन्त्री आदि भावनाके चलसे व्यवहार मोक्षमार्गको प्राप्त करके क्षपक परमार्थ
मुक्तिमार्गपर चलनेका प्रयत्न करता है यह इस गाथाके द्वारा कहा है । यह शुभतम ध्यानके लिये
प्रयत्नका प्रारम्भ है ॥१६९२॥

आगे शुभध्यानकी सामग्री कहते हैं—

गा०—जो जितराग, जितद्वेष, जितेन्द्रिय, जितभय, जितकषाय और अरति रति तथा
मोहका मथन करता है वह सदा ध्यानमे लीन रहता है ।

टी०—अपनेमे भिन्न जीव अजीव द्रव्योमे, रूप रस गन्ध स्पर्श और शब्द रूप उनकी
पर्यायोमे तथा अनेक भेदवाले उनके वाचारादिमे जो रागको जीतता है उने जितराग कहते हैं ।
तथा अमनोह वस्तुओमे प्रीतिका अभाव दोष है । जिमने उसे जीत लिया वह जितदोष है ।
'जने जिमका शरीर तेलसे लिप्त होता है उसके शरीरमे धूल लगती है । उसी प्रकार जो राग
द्वेष और स्नेहमे लिप्त होता है उसके कर्मोका आसव होता है ।'

इस जिनागमको जानकर दु खसे भौध यति मत्र दु खोका मूल कारण रागद्वेष है ऐसा

यस्तयोर्न विपरिणमते सौमिधीयने जितरागद्वये इति । तस्योपायो जिनेन्द्रियते वाच्यते--अह जिदिदिओ इति वाक्यस्यैव कृत्वा मन्वन् । 'जिदिदिओ' इन्द्रियशब्देन रूपाद्यालम्बनोपयोग परिपृच्छते न जिनो येन स उच्यते जिनेन्द्रिय इति । कथमसौ मतिज्ञानापायोगो जेतु शक्यते इति चेत् श्रुतज्ञानोपयोग एव वृत्ता मन 'सत्या, मुगपदुपयोगद्रव्यस्यात्मन्येकदा विरोधादप्रवृत्तौ । न च बाह्यद्रव्यालम्बनमुपयोगमन्तरेणास्ति सभ्रवो रागद्वेषयो । सकल्पपुनरो हि ताविति । 'त्रिरक्षयौ' क्षमामार्दवाज्ज्वलसतोपपरिणामनिरस्तकपायपरिणामप्रमरो जितकपाय इत्युच्यते । अरते स्तेदच कर्मण उदये उपजातो रत्यरतिपरिणामो, मोहो, मिथ्याज्ञान च सम्यग्ज्ञानभावनया मय्नाति य स मण्यते 'अरतिरतिमोहमघणो' । एव निरस्तध्यानप्रतिपदापरिणाम । 'ज्ज्ञाणोचगदे होदि' ध्यानास्य परिणाममाश्रितो भवति । न हि रागादिनिर्व्याकुलोक्तस्य अर्थवायात्म्यग्राहि मवति विज्ञान अविचल च नावतिष्ठते । अविचलमेव वस्तुनिष्ठ ज्ञान ध्यानमिष्यते ॥१६९३॥

धम्म चदुप्पयारं सुक्क च चदुच्चिध किलेमहर ।

ममारदुक्खभीओ दुण्णि वि ज्झाणाणि सो ज्झादि ॥१६९४॥

'धम्म चदुप्पयार' धर्म-ध्यान चतुष्कार । धारयति वस्तुनो वस्तुतामिति धर्म । स्वभावातिशयादेव चतन्यादिकाज्जीवादिक् वस्तु भवति । स्वभावातिशयभावादेव वस्तु मण्यते न तरविपाणादि, तेन धर्मशब्दो

मनसे निश्चित करके राग दोषरूप परिणामन नहीं करता । उस यतिको जितराग द्वेप कहते हैं । उमका उपाय है जितेन्द्रिय होना । यहाँ इन्द्रिय शब्दसे रूपादिका आलम्बन लेकर जो उपयोग होता है उमका ग्रहण किया है । उमे जो जीत लेता है वह जितेन्द्रिय है ।

यह जो मतिज्ञानरूप उपयोग है इसको कैसे जीता जा सकता है ? श्रुतज्ञानरूप उपयोगमे ही मनकी प्रवृत्ति होनेपर मतिज्ञानरूप उपयोग जीता जा सकता है । क्योंकि एक साथ एक आत्मामे दो उपयोगोका विरोध होनेसे दो उपयोगोकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती । और जबतक उपयोगका आलम्बन बाह्य द्रव्य न हो तबतक रागद्वेप नहीं हो सकते । क्योंकि रागद्वेष सक्-पूर्वक होते हैं । तथा जो क्षमा, मार्दव, आर्जव और मन्तोप परिणाममे कपायरूप परिणामके प्रसारको निरस्त कर देता है उसे जितकपाय कहते हैं । अरति और रति कर्मका उदय होनेपर उत्पन्न हुए रति और अरतिरूप परिणामोको और मोह अर्थान् मिथ्याज्ञानको जो मम्यग्ज्ञानरूप भावनासे मयता है उसे 'अरतिरति मोहमघन' कहते हैं । इस प्रकार जो ध्यानमे विरोगी परिणामो को दूर करता है वह ध्यान नामक परिणामको करता है । जो रागादिमे व्याकुल रहता है उमका ज्ञान न तो अर्थके यथार्थस्वरूपको ही ग्रहण करना है और न निश्चल ही रहता है । और वस्तुनिष्ठ निश्चल ज्ञानको ही ध्यान कहते हैं ॥१६९३॥

गा०—धर्मध्यान चार प्रकारका है और शुक्ल ध्यान भी चार प्रकारका है । ये ही ध्यान कष्टको हरनेवाले हैं । चतुर्गति परावर्तनरूप ममारमे जो दुःख होते हैं उनमे भीत मुनि धर्म और शुक्लध्यानोको ध्याता है ॥१६९४॥

टी०—जो वस्तुकी वस्तुताको धारण करता है उमे धर्म वदते हैं । चतन्य आदिरूप स्वभावके अतिशयमे ही जीवादि वस्तु होती है । स्वभावरूप अतिशयके होनेमे ही वस्तु कहलानी

वस्तुत्वभाववाची। धर्मद्वैतस्तुत्वभावादनपेतमिति धर्म्यमित्युच्यते। यद्येवमातदिरपि धर्माननेतत्वमस्ति। सप्रयुक्तमनोजवन्नुविद्योग, विद्युक्तमनोजवन्नुयोग, रोगातङ्कादिप्रगमन, अभिन्तप्राप्ति च धर्मेनाश्रित्य प्रवर्तमानत्वादमर्मानपेतनेति। नैप दोष विवक्षितधर्मविरोधवृत्तिर्भेदशब्द। अत एव आज्ञापायविपाकनसंस्थान-मित्यादिकैर्धर्मध्वैरनपेतत्वाद्यद्वैतध्यानमाज्ञाविचयादिनज्ञाभिरुच्यते। ध्येय ज्ञेयवस्तुस्वरूप तददिनाभावि च ज्ञान ध्यानमिति सप्रताय व्याख्येय। अन्ये तु व्याचक्षते—क्षमामार्दवाजर्जवादिवाद्दमार्दनेपतत्वादम्यं इति। ननु च ध्यान ध्येयाविनाभावि न च क्षमादयो धर्मो ध्येया येन तदनपेतत्वमुच्यते। अथ क्षमादिभ्यो दशविधो धर्मो ध्येयस्तस्मादनपेतस्तत्स्थान्यत्राप्रवृत्ते 'आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यमिति सूत्र न युज्यते'। उत्तम-क्षमादिधर्मपरिणतत्वात्तन्मनोऽनपेतत्वान् धर्मानपेतनेति धर्म्यमित्युच्यत इति चेन्न शुक्लस्यापि धर्मानपेतत्वा-दम्यध्यानता स्यादत्रोच्यते—रुद्धिशब्देपु क्वचित्त्वभाविनी क्रियामाश्रित्य शब्दव्युत्पत्तिमात्र क्रियते। न सा क्रिया तत्र आशुगमनादश्व इति व्युत्पाद्यमान स्थिते शयिते च प्रवर्तते न चाशुयायिन्यपि बन्तरेयादौ प्रवर्तते। तद्विहायि शुक्ले न धर्मशब्दो वर्तते। धर्मादम्यत्राप्याज्ञादौ वर्तते। अथ किं ध्यान, 'उत्तममहत्तनस्येवाप्रचिन्त-

है। इमीसे गंधके नीग नामकी कोई वस्तु नहीं है। अत धर्म शब्द वस्तुत्वभावका वाचक है। धर्म अर्थान् वस्तु स्वभावसे जो सहित है उसे धर्म्य कहते हैं।

शका—यदि ऐसा है तो आर्तध्यान आदि भी धर्मने सहित है। क्योंकि प्राप्त अनिष्ट वस्तुके विद्योग, विद्युक्त इष्ट वस्तुके संयोग, रोग आदिकी शान्ति और इष्टकी प्राप्ति आदि धर्मको लेकर आर्तध्यान होता है अत वह भी धर्मने युक्त होनेसे धर्मध्यान कहा जाना चाहिये ?

समाधान—यह दोष ठीक नहीं है। यहाँ धर्म शब्द विवक्षित धर्मविशेषको कहता है। अत आज्ञा, अपाय, विपाक, संस्थान आदि धर्म जिसमें ध्येय होते हैं उन ध्यानको आज्ञाविचय आदि नामोंसे कहा जाता है। अन्य कुछ आचार्य क्षमा, मार्दव, अर्जव आदि धर्मों में युक्त होनेसे धर्म्य कहते हैं।

शका०—ध्यान ध्येयका अविनाभावी है। ध्येयके बिना ध्यान नहीं होता। किन्तु क्षमा आदि धर्म ध्येय नहीं है अत उनमें युक्त ध्यानको धर्म्य नहीं कह सकते। यदि क्षमा आदि दस प्रकारका धर्म ध्येय है और उनमें सहित ध्यान धर्म्य है तो वह ध्यान अन्यत्र प्रवृत्त नहीं हो सकता। तत्र तत्त्वार्थ सूत्रमें जो कहा है कि आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थानका चिन्तन धर्म्यध्यान है वह नहीं बनता, क्योंकि आत्मा तो उत्तम क्षमा आदि धर्मरूपमें परिणत होनेसे उनसे सहित ही है। वह उनमें हटकर अन्यमें प्रवृत्त होता नहीं। यदि कहोगे कि धर्मने युक्तताका नाम धर्म्य है तो शुक्लध्यान भी धर्मसे युक्त होनेसे धर्म्यध्यान कहलायेगा।

समाधान—रुद्धिशब्दोंमें कहींपर होनेवाली क्रियाको लेकर शब्दकी मात्र व्युत्पत्ति की जाती है किन्तु वह क्रिया मिथ्यास्वरूप नहीं होती। जैसे बानु-शीघ्र गमन करनेमें अश्व शब्द निष्पन्न होता है। किन्तु जब वह घोडा बंठा होता है या मीठा है तब भी उसे अश्व (घोडा) ही कहते हैं। तथा गरुड वगैरह तेज चलते हैं किन्तु उन्हें अश्व नहीं कहते। उसी तरह यहाँ भी धर्म शब्दमें शुक्लध्यान नहीं कहा जाता। तथा उत्तम क्षमा आदि धर्मोंसे भिन्न आज्ञाविचय आदिको धर्म्य कहा जाता है।

शका—ध्यान किमें कहते हैं ?

समाधान—तत्त्वार्थ सूत्रमें कहा है उत्तम महत्तन वालेके एवात्रचिन्ता निरोधको ध्यान

निरोधो ध्यानम् [त० सू० १।२७] इति चेत् पदम् सहननेष्वाच्च त्रितय सहनन च वज्रगिभनाराचसहनन, वज्रनाराचसहनन, नाराचमहननमिति । तेषु त्रिषु एक सहनन यस्य म उत्तममहननमनस्य एकस्य मुखमस्येत्ये-
काग्रं यश्चिन्तानिराध स ध्यानमित्युच्यते । ननु चिन्तानिरोध चिन्ताया अभावस्तस्य का एकमुखता, कथ वा कर्मणा भावे अभावे च निमित्तता । आर्त्तरीद्रयोश्चुमकमनिमित्ततेष्यते । इतरयोस्तु शुभकर्मणा निमित्तता निर्जराप्रायश् हेतुनेष्टा । अत्रोच्यते—न निरोधश्चोऽत्राभाववाचो किन्तु गेधवचनो यथा मूत्रनिरोध इति । ननु च परिस्पन्दवतो निरोधो भवति । चिन्तायास्तु को निरोध इत्यनोच्यते । 'कैचित्प्रवदन्ति' नानार्थावलम्बनेन चिन्ता परिस्पन्दवती तस्या एकस्मिन्त्र नियमश्चिन्तानिराध इति त इदं द्रष्टव्या । नानार्थाश्रया चिन्ता सा कथमेवैव प्रवर्तते ? एकत्रैव चेत् प्रवृत्ता नानार्थावलम्बन परिस्पन्द नामादयतीति निरोधवाचो युक्तिरसगता, 'तस्मादेवमत्र व्याख्यानं चिन्तागन्देन चैतन्यमुच्यते तच्च चैतन्यमन्यथय वाधमवगच्छता ज्ञानपर्यायरूपेण वर्तते' इति परिस्पन्दवत्तस्य निरोधो नाम एकत्रैव विषये प्रवृत्तिस्तथा हि य एकत्रैव वर्तते स तत्र निरुद्ध इति भण्यते । उत्तमसहननप्रयोगादेवार्त्तरीद्रयोरनुत्तममहननेषु तिर्यग्मानवषु प्रवृत्तिर्न स्यात् । तेन तद्व्यानावलम्बनो गतिविभागो न स्यात्तेषामनुभवविरोधश्चेदानीतनानामपि तयोर्वृत्ते सूत्रान्तरविरोधश्च "तद्विपरितेस-

कहते है । छह महननोंमेंसे आदिके तीन सहनन वज्रर्पभ नाराच महनन, वज्रनाराच महनन और नाराच महनन उत्तम है । इनमेंसे एक सहनन जिसके हो उसे उत्तम सहनन कहते है । उसके एक है अग्र अर्थान् मुख जिनका उस एकाग्रमे जो चिन्ताका निरोध है वह ध्यान है ।

शङ्का—चिन्ता निरोधका अर्थ होता है चिन्ताका अभाव । अभाव एक मुख कैसा ? तथा अभाव कर्मा के भाव या अभावमें निमित्त कैसे हो सकता है ? आगममें आर्त्तध्यान और रीद्रध्यानको अशुभ कर्मों के आस्रववन्धमे निमित्त कहा है । तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यानको शुभ कार्यों मे निमित्त कहा है तथा निर्जराका भी हेतु कहा है ।

समाधान—चिन्ता निरोधमें निरोध शब्दका अर्थ अभाव नहीं है किन्तु उसका अर्थ है रोकना । जैसे मूत्रनिरोध अर्थान् मूत्रको रोकना ।

शङ्का—जिममें हृदय चलन होता है उसका निरोध होता है चिन्ता का निरोध कैसा ?

समाधान—कुछ आचार्य कहते हैं, नाना अर्थों का अवलम्बन करनेमें चिन्ता हलन चलन रूप होनेो है । उसको एक विषयमें नियमित करना चिन्ता निरोध है । उनसे यह पूछना है कि जब चिन्ता नाना अर्थों का आश्रय लेनेवाली है तो वह एक ही स्थानमें कैसे रक सकती है ? यदि वह एक ही स्थानमें रक सकती है तो नाना अर्थों के अवलम्बन रूप परिस्पन्द वाली नहीं हो सकती । इसलिये उमका निरोध कहना अनगन है । इसलिये चिन्तानिरोधका अर्थ ऐसा करना चाहिये—चिन्ति धातुमें चिन्ता शब्द बना है उसीसे चैतन्य भी बना है । अत चिन्ता शब्दमें यहाँ चैतन्य कहा है । वह चैतन्य अन्य-अन्य पदार्थों को जानते हुए ज्ञानपर्याय रूपसे वर्तन करना है अत वह परिस्पन्द वाला है । उमका निरोध अर्थान् एक ही विषयमें प्रवृत्ति । क्योंकि जो एक ही विषयमें प्रवृत्ति करता है उसे वही निरुद्ध कहा जाना है ।

शङ्का—ध्यानमें लक्षणमें 'उत्तम महनन' विशेषणका प्रयोग करनेमें अनुत्तम सहननवाले तिर्यग्चो और मनुष्योंमें आर्त्तध्यान और रीद्रध्यान नहीं हो सकेंगे । ऐसा होनेमें उन ध्यानोको स्केर जो गतिवा विभाग किया है वह नहीं बनेगा । तथा ऐसा कहना अनुभवमें भी विरुद्ध है

विरतप्रमत्तसपताना" "हिंसानृतस्तेष्वसरोक्षेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयो"रिति [त० सू० ९।३५] गुणस्थान-
मात्राश्रयणेनैव स्वामिनिवेशकृतत्वात् ।

अत्र प्रतिविधायते—निर्जराहेतुतया विकल्पे ध्यानेषु तद्वस्तुते युक्त साक्षात् मुक्त्यङ्ग ध्यान निर्देष्टुमिति
मन्यमानेन उत्तममहानग्रहण कृत सूत्रकारेण । यद्येव आर्तैरौद्रधर्म्यशुक्लशनीति सूत्रमूत्र नोपपद्यते न निर्जरा-
हेतुतास्त्वार्तैरौद्रधारिति । अत्रोच्यते 'उत्तमसहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमितीदं सूत्र' मुख्य ध्यान
मुक्त्यङ्गमुद्दिश्य प्रवृत्तमुत्तर तु सूत्रमात्तैरौद्रधर्म्यशुक्लशनीत्येनदेकाग्रचिन्तानिरोधसामान्यान्तर्भूत अनभिमतमपि
ध्यान निरूपयति । प्रस्तुतस्यैव ध्यानस्य अनभिमतध्यानविकल्परूपमधिगमयितुमर्त प्रासंगिकयो आर्त्त-
रौद्रयोत्तरन्याम इति न दोष । अथकोत्तमसहननग्रहण धीर्यातिशयवत् आत्मन उपलक्षण, उत्तमसहननस्य
वीर्यातिशयवतो आत्मनो यदेकवस्तुनिष्ठ ध्यान तत् ध्यानमिति सूत्रार्थ ॥ 'शुक्ल च चतुर्विध' शुक्ल च ध्यान
चतुर्विध ध्यान बलेशहर ससारदुःखभोरु चतुर्गुणपरावतनेन यानि दुःखानि तेभ्यो भीत । 'बोधिणि वि'
द्वे 'क्षणाणि' ध्याने धर्म्यशुक्ले 'सो' क्षपक 'ज्ञावि' ध्यायति ॥१६९४॥

ण परीसहेहि मताविदो वि सो ज्ञाइ अट्टरुद्वाणि ।

सुट्टुवहाणे सुट्ट पि अट्टरुद्वा वि णामसि ॥१६९५॥

'ण परिरस्तहेहि' स क्षपक 'परिरस्तहेहि' परोपहं । 'सताविदो वि' वाधितोऽपि 'अट्टरुद्वाणि' णान

क्योंकि आजके मनुष्योंके भी आर्त और रौद्रध्यान होते हैं । तथा उक्त कथनका विरोध अन्य
सूत्रोंसे भी होता है । क्योंकि तत्त्वार्थसूत्रमें ही गुणस्थान मात्रका आश्रय लेकर आर्त और
रौद्रध्यानके स्वामियोंका कथन किया है । यथा—आर्तध्यान अविरत, देशविरत और प्रमत्तमयतो
के होता है । रौद्रध्यान अविरत और देशविरतके होता है ।

समाधान—तत्त्वार्थसूत्रकारने चौबे अध्यायमें निर्जराके कारणोंका विवेचन करते हुए
जब ध्यानका वर्णन किया तो 'साक्षात् मुक्तिकारण ध्यानका निर्देश करना उचित है' ऐसा
मानकर ध्यानके लक्षणमें उत्तम सहननपदका ग्रहण किया है ।

शका—यदि ऐसा है तो 'आर्त रौद्र धर्म और शुक्ल' ये चार ध्यान हैं ऐसा सूत्र नहीं कहना
चाहिये था क्योंकि आर्त रौद्र निर्जराके कारण नहीं है ।

समाधान—'उत्तम सहनन' इत्यादि सूत्र जो मुख्य ध्यान मुक्तिके कारण हैं उनको लक्ष्य
करके रचा गया है । आगेका सूत्र, जिसमें ध्यानके चार भेदोंके नाम गिनाये हैं, एकाग्र चिन्ता
निरोध सामान्यमें अन्तर्भूत सप्त ध्यानोको बतलाता है । अर्थात् आर्त रौद्रमें भी ध्यान सामान्यका
लक्षण घटित होता है इसलिये ध्यानके भेदोंमें उनको गिनाया है । यद्यपि वे मोक्षके कारण नहीं
हैं । अतः अनिष्ट ध्यानोसे भिन्न प्रस्तुत धर्म्य शुक्लध्यानोका ही स्वरूप बतलानेके लिये सूत्रकारने
आर्त और रौद्रध्यानोका कथन किया है । अथवा उत्तम सहनन पद अतिशय वीर्यशाली आत्माका
उपलक्षण है । उत्तममहनन अर्थात् अतिशय वीर्यसे विशिष्ट आत्माके जो एक वस्तुनिष्ठ ध्यान
होता है वही ध्यान है, ऐसा उक्त सूत्रका अर्थ होता है । समारसे भोज क्षपक धर्म्य और शुक्ल-
ध्यानोको ध्याता है ॥१६९४॥

गा०—बह क्षपक परोपहोसे पीडित होनेपर भी आर्त और रौद्रध्यान नहीं करता । क्योंकि

गौत्र च 'न शाड' ना ध्याति । 'सुदृष्टवहणे' सुष्टु उपधाने । शुद्धमपि 'अदृष्टाणि णासति' आन्तरीद्रध्याने नागयत ॥१६९५॥

अद्रे चउप्पयारे रुहे य चउव्विधे य जे भेदा ।

ते मच्चे परिजाणदि सथारगओ तओ खवओ ॥१६९६॥

'अद्रे चउप्पयारे' आर्त्तं चतु प्रकारे, 'जे भेदा रुहे य चउव्विधे' ये भेदा । 'ते सव्वे परिजाणदि' तान् सर्वाण् विजानाति । 'सथारगओ' सस्तरगत । 'तओ खवओ' अगो क्षपक । यो यत् परिहरेच्छुम्भ वथ तत्तत्त्वतोऽनवबुध्यमानो नियोगत् परिहरेदिच्छेद्' वार्ये आतरीद्र परिहर्न् तस्मान् नारव्ये ते इति दर्शयति ॥१६९६॥

अमणुण्णसपओगे इट्ठिविओए परिस्सहण्णिदाणे ।

अट्ट कसायसहिय ज्ञाण भणिय समासेण ॥१६९७॥

तेणिक्रमोसहिंमारक्खणेसु तह चेव छव्विहारभे ।

रुद्द कसायसहिय ज्ञाण भणिय समासेण ॥१६९८॥

अवहट्ट अट्टरुद्द महाभये सुग्गदीए पच्चूहे ।

धम्मं सुक्के य सदा होदि समण्णागदमदी सो ॥१६९९॥

'अवहट्ट' अपहृत्य । 'अट्टरुद्द' आन्तरीद्रे । महतो भयस्य हेतुत्वान्महाभये । 'सुग्गदीए पच्चूहे' सुगतेविघ्नभूते । 'धम्मं सुक्के वा' धर्म्यं शुक्ले वा ध्यानेऽगो क्षपक । 'समण्णागदमदी सो होदि' सम्यगनुपरत-मतिर्भवति ॥१६९७॥१६९८॥१६९९॥

आर्त्तं और रौद्र ध्यान सुष्टु उपधान अर्थात् सकलेशरहित परिणामोत्ते, विशुद्ध अर्थान् कर्मों को निर्जीर्ण करनेको शक्तिसहित भी समीचीन ध्यानको नष्ट कर देते हैं ॥१६९५॥

गा०—आर्त्तध्यानके जो चार भेद हैं और रौद्रध्यानके जो चार भेद हैं वे सब सस्तरपर आरुढ क्षपक जानता है । जो जिसको त्यागना चाहता है वह उसको यदि यथार्थरूपमें नहीं जानता तो कैसे उसका त्याग कर सकता है । अत क्षपकको आर्त्त और रौद्र ध्यानोका स्वल्प जानना चाहिये । इसलिये उनको भी बतलाते हैं ॥१६९६॥

गा०—अनिष्ट सयोग, इष्टवियोग, परीपह (वेदना) और निदान ये सशेषमें कपायसहित आर्त्तध्यानके चार भेद हैं ॥१६९७॥

गा०—चोरी, झठ, और हिंसाका रक्षण तथा छह प्रकारके आग्मिकको लेकर सशेषमें कपाय सहित रौद्रध्यानके चार भेद हैं ॥१६९८॥

गा०—सुमार्त्तमें विघ्न डालनेवाले और महान् भयके कारण होनेमें महामयरूप रौद्र और आर्त्तध्यानको त्यागकर वह मम्यक् बुद्धिसम्पन्न क्षपक धर्म्यध्यान और शुक्लध्यानको ध्याता है ॥१६९९॥

किमर्थमस्ती ध्यानयो शुभयोर्वर्तत इत्यादाङ्गाया ध्यानप्रवृत्तौ कारणमाचष्टे—

इदियकसायजोगणिरोधं इच्छ च णिज्जरं विउलं ।

चित्तस्स य वसियत्त मग्गादु अविप्पणास च ॥१७००॥

‘इदियकसायजोगणिरोधं’ म्यसांदिपूजान उपयोग इन्द्रियशब्देनोच्यते । कपाया क्रोधादयस्तौ योग सम्बन्धस्तस्य निरोध निवारणामिच्छन्निर्जरा च विपुलामिच्छन्, वस्तुयायात्स्यसमाहितचित्तस्य नैन्द्रियविषय-जन्योपयागमप्रभ, कपायाणा चोत्पत्ति ‘चित्तस्स य वसियत्त’ चित्तस्य स्वबलात् इच्छन् स्वप्ते विषये चित्तममकृत्यापयतोऽनिष्टान्च व्यावर्तयत स्ववश भवति चित्त । ‘मग्गादो अविप्पणास च’ मार्गाद्विलस्रया-विप्रणास च वांछन्, अशुभध्यानप्रवृत्तौ रत्नप्रपात्प्रच्युतो भवामीति ध्याने प्रयतते ॥१७००॥

ध्यानपरिकरप्रतिषादनापोत्तरणाया—

किंचिवि दिट्ठिमुपावत्तइत्तुं ज्ञाणे णिरुद्धदिट्ठीओ ।

अप्पाणहिं सदिं मघित्ता ससारमोक्खट्ट ॥१७०१॥

‘किंचिवि दिट्ठिमुपावत्तइत्तुं’ बाह्यद्रव्याशोकान् किंचिच्चतुर्ग्यावर्तयित्वा । ‘ज्ञाणे णिरुद्धदिट्ठीओ’ एकविषये परोक्षज्ञाने निष्ठश्चेतन्य । ‘दृष्टिनिमित्ते हि चेतन्ये दृष्टिशब्दोऽत्र युक्त । ‘अप्पाणहिं’ आत्मनि । ‘सदिं’ स्मृति । ‘सघित्ता’ सधाय । स्मृतिशब्देनात्र धृतज्ञानेनावगतम्यार्थस्य स्मरणमुच्यते, ‘ससारमोक्खट्ट’ ससारविमुक्तये ॥१७०१॥

वह क्षपक किसलिये शुभ ध्यान करता है ? इस शकाके उत्तरमे उसके कारण बहते हैं—

गा०—इन्द्रिय और कपायोसे सम्बन्धको रोकने, अत्यधिक निर्जराको चाहने, चित्तको वशमे करने और रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गको नष्ट न होने देनेके लिये क्षपक शुभ ध्यान ही करता है ॥१७००॥

टी०—यहाँ इन्द्रिय शब्दसे स्पर्श आदिसे उत्पन्न हुवा उपयोग कहा है । कपायसे क्रोधादि लिये हैं । जिसका चित्त वस्तुके मथार्थ स्वरूपसे ममाधान युक्त होता है उसकी प्रवृत्ति इन्द्रियोके विषयसे उत्पन्न हुए उपयोगकी ओर नही होती और न कपायोकी उत्पत्ति होती है । तथा जो अपने इष्ट विषयमे चित्तको बार-बार स्थापित करता है और अनिष्टसे चित्तको हटाता है उसका चित्त अपने वशमे रहता है । क्षपक जानता है कि यदि मैं अशुभ ध्यानमे लगा तो रत्नत्रयमे च्युत हो जाऊँगा । इन कारणोंमे यह शुभ ध्यान करता है ॥१७००॥

आगे ध्यानकी सामग्री कहते हैं—

गा०-टी०—बाह्य द्रव्यको देखनेकी ओरमे आँखोको किञ्चित् हटाकर अर्थात् नाकके अग्र भागपर दृष्टिको स्थिर करके, एक विषयक परोक्षज्ञानमे चेतन्यको रोककर शुद्ध चिद्रूप अपनी आत्मामे स्मृतिका अनुसन्धान करे । गायामे निग्गद दृष्टि’ पद है । यहाँ दृष्टिमे निमित्त चेतन्यमे दृष्टि शब्दका प्रयोग किया है । और स्मृति शब्दमे धृतज्ञानके द्वारा जाने गये अर्थका स्मरण लिया है । अर्थात् दृष्टिको नाकके अग्रभागमे स्थापित करके किमी एक परोक्ष वस्तु विषयक

१ चेतन्यदृष्टि निमित्त शब्दोऽत्र युक्त -अ० वा० । -चेतन्य दृष्टिनिमित्तं चेतन्ये दृष्टिशब्दो मूलार० ।

पच्चाहरित्तु विसयेहिं इंदियाइं मण च तेहितो ।

अप्पाणम्मि मण तं जोग पणिघाय घारेदि ॥१७०२॥

'पच्चाहरित्तु' प्रत्याहार्य । 'विसयेहिं' विषयेभ्य । 'इंदियाइं' इन्द्रियाणि 'मण च' मनश्च व्यावर्त्ये । 'तेहितो' विषयेभ्य । 'मण त घारेदि' तन्मनो धारयति । क्व ? 'अप्पाणहिं' आत्मनि । 'जोग' योग वीर्य-
न्तरायक्षयोपसामजवीर्यपरिणाम । 'पणिघाय' 'प्रणिघाय' स्थाप्य । एतदुक्तं भवति वीर्यपरिणामेन नोद्द्रियमति
धारयतीति ॥१७०२॥

इतमनोनिरोग किं करोतीत्याशङ्क्याह—

एयग्गेण मणं रुभिरुण धम्म चउव्विह झादि ।

अणापायविवाग विचय सठाणविचय च ॥१७०३॥

'एयग्गेण' एतद्ध्ययमुख्यतया । 'मण रुभिरुण' मना निरुह्य । 'धम्म' धर्म्य वस्तुस्वभाव । 'खडुव्विह'
चतुर्विध चतुर्विक्रम । 'झादि' ध्यायति । अभ्यन्तरपरिकरोऽयमुक्त सूत्रकारेण । बाह्य परिकर उच्यते ।
पर्वतगुहाया, गिरिकदरे, दर्या, तमकोटर, नदीपुल्लिने, पितृवने जीर्णोद्याने, शून्यागारं वा ब्यालमृगाणा
पशूना, पक्षिणा, मनुष्याणा वा ध्यानविपिनकारिणा मन्त्रिगानशून्ये, तत्रम्यैरामन्तुभिश्च जीवैर्बुद्धिने, उष्णशीत-
पवातादिविरहिते, निरस्तेन्द्रियमनोविसंभेदी, शुचायतुक्लृप्त्यने शूभागे मन्द-मन्द प्राणापानप्रधार नामेभ्यश्च
हृदि ललाटेऽप्यत्र वा मनोवृत्ति यथापरिचय प्रणिदधानीति बाह्यपरिकर । 'अणापायविवागविचये' आज्ञा-

ज्ञानमे मनको लगाकर श्रुतमे जाने हुए विषयोका स्मरण करते हुए आत्मामे लीन हो । यह
ध्यान सप्तरसे छूटनेके लिये किया जाता है ॥१७०१॥

गा०—विषयोसे इन्द्रियोंको और मनको हटाकर वीर्यान्तरायके क्षयोपसाममे उत्पन्न हुए
वीर्यं परिणामको स्थापित करके आत्मामे मनको लगाता है । अर्थात् वीर्यं परिणामसे अपनी
शुद्ध आत्मामे मनको धारण करता है ॥१७०२॥

मनको रोककर क्या करता है, यह कहते हैं—

गा०—एक विषयमे मनको रोककर अज्ञाविचय, अणायविचय, विपाकविचय और
सत्पानविचय इन चार प्रकारके धर्मध्यानको ध्याता है ॥१७०३॥—

टी०—प्रथकारने यह ध्यानकी अभ्यन्तर सामग्री कही है । टीकाकारने बाह्य सामग्री
इस प्रकार कही है—

पर्वतकी गुफामे, या पहाडकी कन्दरामे, या वृक्षके कोटरमे या नदीके किनारे या स्मशान
मे या उजडे हुए उद्यानमे या शून्य मकानमे, जहाँ ध्यानमे त्रिघ्न करनेवाले मर्ष मृग थादि पशु
पक्षी और मनुष्योंका वास न हो, तथा बर्षा रहनेवाले और इधर-उधरमे आनेवाले जीव जन्तु न
हो, गर्म या सर्द, धाम और वायु आदिसे रहित हो, जहाँ इन्द्रिय और मनको चंचल करनेके
साधन न हो । ऐसे स्थानमे जो जमीनका भाग साफ सुपरा हो, उमका स्वर्ग अनुबूल हो, उमपर
स्थित होकर धीरे-धीरे श्वास उच्छ्वास लेते हुए नाभिमं ऊपर हृदयमे या मस्तकपर अथवा अन्य
स्थानमे अपने मनोव्यापारको रोकता है । यह ध्यानकी बाह्य सामग्री है । ऐसा करके चार
प्रकारका धर्मध्यान करता है । उनमेंमे अज्ञाविचय नामव धर्मध्यानका स्वरूप बहते हैं—

विचयमपायविचय, विपाकविचय, 'संज्ञाविचय च' सस्यानविचय च । तन्नाज्ञाविचयो निरूप्यते—कर्माणि समूलोत्तरप्रकृतौनि तथा चतुर्विधो बन्धपर्याय उदयफलविकल्प जीवद्रव्य मुख्यवस्थेत्येवमाज्ञानामतान्द्रियत्वान् श्रुतज्ञानावरणस्योपसमप्रकर्षाभावान् बुद्धघातिराये असति दुरवबोध यदि नाम वस्तुतत्त्व तथापि सर्वज्ञान-प्रामाण्यान् आगमविषयतत्त्व तथैव नान्यथेति निश्चय सम्यग्दर्शनस्वभावत्वान्मोक्षहेतुगित्याज्ञाविचारनिश्चय-ज्ञान आज्ञाविचयाख्य धर्मध्यान । अन्ये तु वदति स्वयमधिगतपदार्थतत्त्वस्य पर प्रतिपादयितु सिद्धान्तनिरूपि-पिनार्यप्रतिपत्तिहेतुभूतयुक्तिगवेषणावहितचित्ता सर्वज्ञानप्रकाशनपरा अनया युक्त्या इय सर्वविदामाज्ञाव-बोधयितु शक्येति प्रवर्तमानत्वादाज्ञाविचय इत्युच्यत इति । अनादौ ससारे स्वैरमनोवाक्कायवृत्तैर्मम अगुम-मनोवाक्कायैभ्योऽप्याय क्य स्यारिति अपाये विचयौ मोक्षास्मिन्स्तोत्पपायविचय द्वितीय धर्मध्यान । जात्यन्धसस्यानीया मिथ्यादृष्टय समीचीनमुक्तिमार्गापरिज्ञानान् दूरमेवापयन्ति मार्गादिति सन्मार्गापाये प्राणिना विषयो विचारो यस्मिन्स्तपपायविचय इत्युच्यत इति । मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्र्येभ्य बधमिमे प्राणिनोऽप्येयुरिति स्मृनिस्मन्वाहारोऽप्यायविचय ॥ विपाकविचय उच्यते—समूलोत्तरप्रकृतौना कर्मणामष्टप्रकाराणा चतुर्विध-बन्धपर्यायाणा मधुरकटुकविपाकाना तीव्रमध्यमदपरिणामप्रपञ्चकृतानुभवविशेषाणा द्रव्यक्षेत्रकालभावपेक्षाणा एतासु गतिषु यामिषु वा इत्यभूत फलमिति विपाके कर्मफले विचयो विचारोऽस्मिन्निति विपाकविचय । वेत्नासन्नपल्लरीमृशगसस्यानो लोक इति लाङ्कत्रयसस्याने विचयो विचारोऽस्मिन्निति सस्यानविचयता ॥१७०३॥

मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृतियों महित कर्म, उनके चार प्रकारके बन्ध, उदय और फटके भेद, जीव द्रव्य, मुक्ति अवस्था ये सब और इसी प्रकारके अन्य पदार्थ अतीन्द्रिय हैं । तथा श्रुत-ज्ञानावरणके क्षयोपसमका प्रकर्ष न होनेसे विरोध बुद्धि भी नहीं है । ऐसी अवस्थामें यद्यपि वस्तु तत्त्व समझने नहीं आता तथापि सर्वज्ञके ज्ञानके प्रमाण होनेसे आगममें तो तत्त्व जैसा कहा है, वह वैसा ही है, अन्य रूप नहीं है इस प्रकारका निश्चय सम्यग्दर्शन रूप होनेसे मोक्षका कारण है । इस प्रकार सर्वज्ञकी आज्ञाके विचारका निश्चयरूप ज्ञान आज्ञाविचय नामक धर्मध्यान है । अन्य कुछ आचार्य ऐसा कहते हैं—बन्धको तो पदार्थों और तत्त्वोंका सम्यग्ज्ञान है । किन्तु दूसरोंको समझानेके लिये सिद्धान्तमें कहे गये अर्थोंका ज्ञान करानेमें हेतुभूत युक्तियोंकी खोजमें मनको लगाना कि इस युक्तिके द्वारा सर्वज्ञकी आज्ञाको समझाया जा सकता है, इस भी सर्वज्ञकी आज्ञाके प्रकाशनमें सलग्न होनेसे आज्ञाविचय धर्मध्यान कहते हैं । इस अनादि सत्तारमें स्वच्छन्द मन वचन कायकी प्रवृत्तिमेंसे मेरा अगुम मन वचन कायसे अपाय अर्थात् छुटकारा कैसे हो इस प्रकार अपायका विचय अर्थात् विचार जिसमें हो वह अपायविचय नामक दून्त धर्मध्यान है । जन्मसे अन्ये मनुष्योंके समान मिथ्यादृष्टि जीव समीचीन मोक्षमार्गको न जाननेमें मोक्षमार्गमें दूर ही रहते हैं । इस प्रकार सन्मार्गसे प्राणियोंके भटकनेका विचय अर्थात् विचार जिसमें हो उसे अपायविचय कहते हैं । अथवा समारके ये प्राणी मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र्यसे कैसे अलग हो, कैसे उमें छोड़ें इस प्रकार बार-बार चिन्तन करना अपायविचय है । विपाक-विचयका स्वरूप कहते हैं—मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृति सहित आठ प्रकारके कर्मोंका और उनके चार प्रकारके बन्धोंका तथा द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षामें तीव्र मध्य और मन्द परिणामों के विस्तारमें होनेवाले विपाकका तथा उनके मधुर और कटुक फलका कि इन गतियोंमें अथवा योनियोंमें इस प्रकारका फल होता है । इस तरह विपाक अर्थात् कर्मफलका विचय अर्थात् विचार जिसमें हो वह विपाकविचय धर्मध्यान है । अधोलोकका आकार वेद्यामनके ममान है, मध्यलोक-

धर्मध्यानस्य लक्षण निदिशति—

धम्मस्स लक्षणं से अज्जवलहुगत्तमद्भवुवदेसा ।

उपदेशणा य सुत्ते णिसग्गजाओ रुचीओ दे ॥१७०४॥

'धम्मस्स लक्षणं से' से तस्य । 'धम्मस्स' धर्मस्य ध्यानस्य । 'लक्षणं' लक्षण । लक्ष्यते धर्मं ध्यान येन तन्लक्षणं । 'अज्जवलहुगत्तमद्भवुवदेसा' आकृष्टान्तद्वयतन्तुवन् कुटिलताविरह आर्जव । 'लघुगत्त' लघुना निस्मगता जात्याद्यष्टविधाभिमानाभावो मार्दव । उपेत्य जिनमत देशन कथनमुपदेश हितोपदेश इति यावन् । आर्जवादिनि कार्योत्पत्त्ये धर्मध्यानमिति आर्जवादिक लक्षण । न ह्यार्तरीत्रे आर्जवादिक सपादयत् । यदार्जवादिक परिणाममात्मन करोति तद्धर्मध्यानमिति लक्षणभाव । अथवा आर्जवादिपरिणाम-मद्भावे एव धर्मध्यानं प्रवर्तते नामत्यार्जवादौ । नहि मानमायालोभकपायाविष्टो धर्मं प्रवर्तते, तेनार्जवादिक कारणेन लक्ष्यते धर्ममिति लक्षणतार्जवादीनाम् ॥१७०४॥

आलम्बणं च वायणं पुच्छणं परिवट्टणाणुपेहाओ ।

धम्मस्स तेण अविस्सुद्धाओ सव्वाणुपेहाओ ॥१७०५॥

आलम्बनप्रतिपादनायोत्तरगाथा । 'आलम्बणं च' आश्रयश्च । कस्स ? 'धम्मस्स' धर्मध्यानस्य, 'वायणं पुच्छणं परिवट्टणाणुपेहाओ' वाचना प्रश्न, परिवर्तनमनुप्रेक्षति स्वाध्यायविकल्पा । वाचनानिस्वाध्यायाभावे

का आकार झल्लरी गोल झाड़के समान बौर ऊर्ध्वलोकका आकार मृदगके समान है । इस प्रकार तीनों लोकके समस्थानका विचय अर्थान् विचार जिसमें ही वह सस्थानविचय धर्मध्यान है ॥१७०३॥

धर्मध्यानका लक्षण कहते हैं—

गा०—आर्जव, लघुता, मार्दव, उपदेश और जिनागममें स्वाभाविक रचि ये धर्मध्यानके लक्षण हैं ॥१७०४॥

टी०—जिसमें धर्मध्यानकी पहचान होती है वह उमका लक्षण है । एक धागेको दोनो ओरमें ताननेपर जैसे उसमें कुटिलता नहीं रहती, सरलता रहती है उमी प्रकारकी सरलताको आर्जव कहते हैं । लघुता अनामक्ति और निर्लोभताको कहते हैं । जाति आदि आठ बातोंका गर्व न करना मार्दव है । उप' अर्थान् किसीके पाम जाकर 'देग' अर्थान् जिनमतका कथन करना उपदेश है अर्थान् हितोपदेश है । आर्जव आदि कार्योंसे धर्मध्यान पहचाना जाता है इसलिये आर्जव आदि धर्मध्यानके लक्षण हैं । आर्त और रौद्रध्यान बालीको आर्जव आदि नहीं होते । जो आत्माके आर्जव आदिरूप परिणाम करता है वह धर्मध्यान है । इस प्रकार आर्जवादि धर्मध्यानके लक्षण हैं । अथवा आर्जव आदि परिणामके होनेपर ही धर्मध्यान होता है, आर्जव आदिके अभावमें नहीं होता । जो मान, माया और लोभने घिरा रहता है वह धर्ममें प्रवृत्ति नहीं करता । अत आर्जवादि धर्मध्यानके कारण हैं उनमें धर्मध्यानकी पहचान होती है । इसीलिये आर्जव आदि धर्मध्यानके लक्षण हैं ॥१७०४॥

आगेकी गाथासे धर्मध्यानके आलम्बन कहते हैं—

गा०—वाचना, पृच्छना, परिवर्तन और अनुप्रेक्षा ये धर्मध्यानके आलम्बन हैं । तथा सब अनुप्रेक्षा धर्मध्यानके अविस्सुद्धा हैं ॥१७०५॥

वस्तुयायात्म्यज्ञानमेव नास्तीति ध्यानाभाव । स तु स्वाध्यायो भवति ज्ञानमविचल ध्यानसंज्ञितमित्यालम्ब-
नता स्वाध्यायस्य । 'तेज' तेन धर्मेण ध्यानेनाविच्छिन्ना 'सध्यायुपेक्षा' सर्वानुपेक्षा एव देवत्राप्रये वृत्तेर-
विरोध । अनित्यतादिवस्तुस्वभावानुप्रेक्षणमनुप्रेक्षासावालम्बन ध्यानमिति । एतेनानुप्रेक्षाया ध्यानेऽन्त-
पातिस्वमाचक्षणानुप्रेक्षोपन्यासे बीजाधान कृतम् ॥१७०५॥

पूर्वावतान् धर्मस्य चतुरो भेदान् व्याचष्टे चतसृभिर्गायानि । तत्राज्ञाविचय निरूपयति—

पचेव अत्थिकाया छज्जीवणिकाए द्व्वमण्णे य ।

आणागेज्जे भवे आणाविचएण विचिणादि ॥१७०६॥

'पचेव अत्थिकाया' पञ्चास्तिकाया जीवा पुद्गलधर्मास्तिकाया धर्मास्तिकाया अधर्मास्तिकाया
आकाशमिति । तान् 'छज्जीवणिकायो' पद्जीवनिकायान् 'द्व्व' कालाख्य द्रव्य 'अण्णे य' अन्याश्च कर्म-
बन्धमोक्षादीन् । 'आणागेज्जे भावे' सबज्ञानयागम्यान्भावान् । 'आणाविचयेण' आज्ञाविचयार्थेन धर्मध्यानेन
'विचिणादि' विचारयति । सर्वविद्भिरुपास्तरागद्वेषे परमकारणिके यथाभी निरूपितास्ते तथैवेति चिन्ता-
प्रबन्ध आज्ञाविचय इति यावत् । 'आणापायविचागविचये' इत्यस्मिन्पाठे अपायविचयो नाम धर्मध्यानमिति
गाथापूर्वार्धेन व्याचष्टे ॥१७०६॥

कन्त्लाणपावगाणउपाये विचिणादि जिगमदमुवेच्च ।

विचिणादि वा अवाए जीवाण सुभे य असुभे य ॥१७०७॥

'कन्त्लाणपावगाण उपाये' तीर्थंकरपदसप्तकाना दशान्विसुद्ध्यादीनामुपायान् नि शङ्क्यादीन् विचिनोति

टी०—वाचना, प्रश्न करना, पाठ करना, अर्थका चिन्तन करना ये सब स्वाध्यायके भेद
हैं । यदि वाचना आदि स्वाध्याय न किया जाये तो उसके अभावमें वस्तुके यथार्थस्वरूपका ज्ञान
ही न होनेसे ध्यानका अभाव प्राप्त होता है । वह स्वाध्याय ज्ञान रूप है और निश्चल ज्ञानका
नाम ध्यान है । अतः स्वाध्याय ध्यानका आलम्बन है । तथा सब अनुप्रेक्षाएँ एक समयमें एक
आश्रयमें रह सकती हैं अतः वे भी धर्मध्यानके अनुकूल हैं । वस्तुके अनित्य आदि स्वभावका
चिन्तन अनुप्रेक्षा है अतः वे भी ध्यानकी आलम्बन हैं । इस प्रकार ग्रन्थकारने अनुप्रेक्षाओंको
ध्यानमें अन्तर्भूत कहकर आगे अनुप्रेक्षाओंके कथन करनेका बीज बो दिया है ॥१७०५॥

आगे चार गाथाओंसे धर्मध्यानके चार भेदोंको कहते हैं । सबसे प्रथम आज्ञाविचयको
कहते हैं—

गा०—टी०—पाँच अस्तिकाय हैं—जोव पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय
और आकाश । इन अस्तिकायोंको, तथा पाँच प्रकारके स्थावरकाय और त्रसकाय इन छट्
जीवनिकायोंको, कालद्रव्यको तथा अन्य कर्मबन्ध मोक्ष आदिको जो सर्वज्ञकी आज्ञासे ही गम्य
है, आज्ञाविचय नामक धर्मध्यानके द्वारा विचार करता है । परम दयालु और राग-द्वेषसे रहित
सर्वज्ञ देवने जिस रूपमें इन्हें कहा है वे उसी रूप हैं । इस प्रकारके चिन्तनको आज्ञाविचय धर्म-
ध्यान कहते हैं ॥१७०६॥

गा०—तीर्थंकर पदको देनेवाले दर्शनविशुद्धि आदिके उपाय नि शक्ति आदिका विचार

'जिनमत' जिनकथित उपदेश । 'विचिणादि वा अपाये जीवाण सुभे य अनुभे य' जीवाना शुभाशुभकर्म-
विषयानपयान् तान्विचारयति । एतदुक्तं भवति शुभाशुभकर्मणः कथमपायो भवति जीवस्य इति चिन्ता-
प्रवाहोऽप्याविचयो नाम । स्पष्टार्थोत्तरगाथा ॥१७०७॥

१एयाण्यभवगद जीवाण पुण्णपावकम्मफल ।

उदओदीरणसकमदंधे मोक्ख च विचिणादि ॥१७०८॥

अह तिरियउड्डलोए विचिणादि सपज्जए ससठाणे ।

एत्थे व अणुगदाओ अणुपेहाओ वि विचिणादि ॥१७०९॥

'अह तिरिय उड्डलोए' ऊर्ध्वादिस्तिर्यग्लोकान् । 'विचिणादि' विचारयात् । कीदृग्भूतान् । 'सपज्जए'
सपर्यायान् सस्थानसहितान् मपर्यायत्रिभुवनसंस्थानविचारपर संस्थानविचयाद्य धर्मध्यान । 'एत्थेव'
अत्रैव । 'अणुगदाओ' अनुगता । 'अणुपेहाओ वि' अनुप्रेक्षा अपि । 'विचिणादि' विचारयति । अनित्यत्वा-
दिस्वभावविचार करोति धर्मध्याने इति कथितं भवति ॥१७०८॥॥१७०९॥

कार्ता अनुप्रेक्षा इत्याशकायामध्रुवादीननुप्रेक्षान्तिरूपयत्युत्तरप्रबन्धेन—

१अध्रुवमसरणमेगत्तमण्णससारलोयमसुइत्त ।

आत्तवसवरणिज्जर धम्म बोधिं च चिंतिज्ज ॥१७१०॥

जिनभगवान्के द्वारा कथित उपदेशके अनुसार करता है । अथवा जीवोंके शुभ और अशुभ
कर्मविषयक अपायोका विचार करता है । इसका अभिप्राय यह है कि जीव शुभ और अशुभ
कर्मों से कैसे छूटे इस प्रकारका सतत चिन्तन अपायविचय है ॥१७०७॥

गा०—जीवोंके एक भव या अनेक भव सम्बन्धी पुण्यकर्म और पापकर्मके फलका तथा
उदय, उदीरणा, सक्रम, वन्ध और मोक्षका विचार करता है ॥१७०८॥

टी०—कर्मों के फल, उदय, उदीरणा, सक्रम, वन्ध तथा मोक्ष आदिका चिन्तन करना
विपाकविचय धर्मध्यान है । क्रमसे कर्मों का अनुभवन होना उदय है और अक्रमसे कर्मों का
फल देना उदीरणा है । अर्थात् जो कर्म उदयमें नहीं आ रहा है उसकी स्थितिको बलपूर्वक
घटाकर कर्मका उदयमें लाना उदीरणा है । और एक कर्म प्रकृतिका अपनी मजातीय अन्य
प्रकृतिरूप बदलना सक्रम है । इन सबका चिन्तन विपाकविचय धर्मध्यान है ॥१७०९॥

गा०—पर्याय अर्थात् भेद सहित तथा वेत्तासन, शल्लरी और मृदगके समान आकार
सहित ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोकका चिन्तन करना संस्थानविचय धर्मध्यान है । इसी
संस्थानविचयमें सम्बद्ध अनुप्रेक्षाओका भी विचार करता है अर्थात् धर्मध्यानमें समारके अनित्य-
त्वादि स्वभावका विचार करता है ॥१७०९॥

आगे अध्रुव आदि अनुप्रेक्षाओका कथन करते हैं—

गा०—अध्रुव, अगरण, एकत्व, अन्यत्व, ममार, लोक, अनाचित्त, आमभव, सवर, निर्जरा,
धर्म और बोधि इन बारह अनुप्रेक्षाओका चिन्तन करना चाहिये ॥१७१०॥

१ अ० प्रती गायेय नास्ति । २ एता श्रीविजयो नेच्छति ।

लोगो विलीयदि इमो फेणोव्व सदेवमाणुसतिरिक्खो ।
रिद्धीओ सच्चाओ सुविणयसदसणममाओ ॥१७११॥

‘लोगो विलीयदि इमो’ लोको विलयमुपयाति । किमिव ? ‘फेणोव्व’ फेनवत् । ‘सदेवमाणुसतिरिक्खो’ देवंमनुष्यैस्तियग्निश्च ममन्वित । इत्यनेन लोकत्रयस्यापि विनाशिताभिहिता । ‘रिद्धोओ सच्चाओ’ ऋद्धय सर्वा । ‘सुविणयसदसणममाओ’ स्वप्नज्ञानसमा । ननु ‘लोगो विलीयदि इमो’ इत्यनेन सर्वस्यानित्यता व्याख्याता, ऋद्धभादयोऽपि लोकान्तर्भूता इति किमर्थं भेदोपन्यास ? । अत्रोच्यते । समुदायस्यावयवगतमकस्यावयवानित्यतामन्तरेण तदनित्यता न सुखेनावगम्यत इति भिदोपन्यस्यते ॥१७१०॥१७११॥

द्रव्यगतो लोभो महान् प्राणभूता तन्मूलत्वादिन्द्रियसुखस्य । प्राणानप्यय त्यजति द्रव्यनिमित्तमतस्तद-
नित्यतामेव प्राणुपदर्शयति निस्तगतामात्मन सपादयितु—

विज्जूव चचलाइ दिट्ठपणट्ठाइ सव्वसोक्खाइ ।

जलबुब्बुदोव्व अधुवाणि हुति सच्चाणि ठाणाणि ॥१७१२॥

‘विज्जूव चचलाइ’ विद्युदिव चञ्चलानि, ‘दिट्ठपणट्ठाइ’ दृष्टप्रणष्टानि, ‘सव्वसोक्खाइ’ सर्वाणि सुखानि अभिमतरूपादिविषयपञ्चकस्य प्रपञ्चस्य सन्निधानादुपजातानि यानि च मन समुत्थानि सर्वेषां वा मानवानां तिरश्चा दिविजाना वा सुखानि सुखलम्पटवया जन क्लेशाशनिशतनिपातमपि सहते, तानि च नीरभरविन ‘तसभारगम्भीरघाराखनीलनो’ रदोदरपरिस्फुरत्तडिल्लतेव, एतेनानित्यतादोषोत्पन्नकटनेन सासारिक-
मुखपरामुखतोपायो निगदित । ‘जलबुब्बुदोव्व’ जलबुद्बुदवत् । ‘अधुवाणि’ अधुवाणि । ‘होति’ भवन्ति ।

गा०—टी०—देव, मनुष्य और तिर्यञ्चोके साथ यह लोक जलके फेनके समान विनाशको प्राप्त होता है । इससे तीनों लोकको विनाशशील कहा है । सब ऋद्धियाँ भी स्वप्नज्ञानके ममान विनाशिक हैं ।

शङ्का—‘लोक विनाशशील है’ इससे सबको अनित्य कह दिया है । ऋद्धि आदि भी लोकको अन्तर्भूत हैं । फिर अलगसे उनको विनाशी कहनेका क्या प्रयोजन है ?

समाधान—समुदाय अवयवात्मक है । अत अवयवोंकी अनित्यताके विना समुदायकी अनित्यताका ज्ञान सुखपूर्वक नहीं होता । इससे ऋद्धियोंको अलगसे अनित्य कहा है ॥१७११॥

प्राणियोंको द्रव्यका लोभ बहुत अधिक होता है, क्योंकि इन्द्रिय सुखका मूल द्रव्य है । इसीमे वह द्रव्यके लिये प्राणों तकको त्याग देता है । अत आत्माको नि सग बनानेके लिये प्रथम द्रव्यकी अनित्यता ही दशति है—

गा०—टी०—इष्ट रूप आदि पाँच विषयोंके समूहके सम्बन्धसे उत्पन्न तथा मनसे उत्पन्न सब मनुष्यों तिर्यञ्चो और देवोंका सब सुख विजलीके समान चपल है और देखते-देखते नष्ट होनेवाला है । आशय यह है कि मनुष्य सुखका लम्पटी होनेसे सैकड़ों वज्रपातोंके गिरनेसे होनेवाले बषट्को भी सहता है । किन्तु वे सब सुख जलके भारसे नष्ट हुए गम्भीर घोर शब्द करने वाले नीले यादलोके उदरमे चमकाने वाली विजुलीकी तरह हैं । इम अनित्यता दोषको प्रकट करनेसे सामा-
रिक मुषमे विमुख होनेका उपाय कहा है । तथा सब स्थान जलके बुलबुलेंकी तरह अध्रुव हैं ।

'ठाणाणि सन्धानि' सर्वाणि स्थानानि । तिष्ठन्त्येतेषु जीवा इति स्थानानि ग्रामनगरपत्तनादीनि । इव मदीयं स्थान अत्राह वभामोति मा कृषा मकल्प । तानि अनित्यानि नित्यबुद्धया परिगृहीतानि विनासे सङ्कल्पे शानानयन्तीनि कथिन । अथवा तिष्ठन्त्यस्मिन्बन्धुतुक्तिचित्रकर्मोदयात्प्राणिभूत इतीन्द्रत्व, चक्रवर्त्तनत्व, गणाधिपतिव्य वा एतानि स्थानान्यनित्यानि ॥१७१२॥

पात्रागटाव बहुगडपद्याविदा ह्युति सन्धमवधौ ।

सन्धमिआसया वि अणिच्चा जह अन्धमघाया ॥१७१३॥

'पात्रागटाव' जलमानपात्राहृदा इव 'बहुगविपद्याविदा ह्युति सन्धमवधौ विचित्रगुणागुमपरिणामोपात्तगतिर्मवशात्तदुपनीयमानदेवमानवनारकतिर्यञ्चाह्यगतिपमसिग्रहणाय कृतप्रयाणा बन्धव सर्वेऽपि । एतेन बन्धुताया अनित्यतोक्ता । उपात्तगत्यपरित्यागे बन्धुता स्थिरा भवति, उपात्ता चेन त्यक्तास्या च गृहीता पितृपुत्रादीना गत्यन्तरमुपगतमपि बन्धुत्वं स्वजनपरजनविवेक एव न स्यादिति मन्यते । 'सन्धमि आसया वि' सर्वेषामाश्रया अपि यानाश्रित्य प्राणिनो औचित्यमुत्सहन्ते तेषामश्रया स्वामी भूत्य पुत्रो भ्रातृत्वेवमाश्रयोऽनित्या यदा अन्धमघाया अन्धसघाता इव ॥१७१३॥

सवामो वि अणिच्चो पहियाण पिण्डण व छाहीए ।

पीदी वि अच्छिग्गोव्व अणिच्चा सन्धजीवाण ॥१७१४॥

'सवासो वि' महावस्थानमपि बन्धुभिर्मित्रं परिजनैर्वा, 'अणिच्चो' अनित्य । 'पहियाण पिण्डण व

जिनमे जीव ठहरते हैं उन्हें स्थान कहते हैं । वे स्थान है—गाँव, नगर आदि । यह मेरा स्थान है । मैं यहाँ रहता हूँ । ऐसा सकल्प तुम मत करो । वे स्थान अनित्य हैं । उन्हें नित्य समझकर ग्रहण करनेपर यदि वे नष्ट होते हैं तो मनमे बड़ा सकलेश होता है । अथवा अपने किये विचित्र कर्मके उदयमे प्राणी जिनमे रहते हैं वे स्थान हैं इन्द्रपद, चक्रवर्तीपद, गणधरपद । ये सब स्थान अनित्य हैं ॥१७१२॥

गा०-टी०—सत्र सम्बन्धी विचित्र शुभ या अशुभ परिणामोमे दाये गये गति नामकर्मके वशमे प्राप्त मनुष्यगति, देवगति, नारकगति और तिर्यञ्जगति रूप पर्यायको ग्रहण करनेके लिये जानेवाले हैं अत वे नावपर सवार यात्रियोंके समान हैं । जैसे नावपर सवार यात्री अपने-अपने स्थानपर चले जाते हैं उसी प्रकार हमारे सम्बन्धी अपने-अपने परिणामोके अनुसार गति नामकर्मका बन्ध करके मरकर अपनी-अपनी गतिमे चले जाते हैं । इसमे बन्धुताको अनित्य कहा है । जो जिन गतिमे है वह उसी गतिमे रहे, उसे छोड़े नहीं तो बन्धुपना स्थिर होता है । जिस गतिमे है उसे छोड़ अन्य गतिको ग्रहण करे तो नित्य बँसे हुई । जो पिता पुत्र आदि मरकर दूसरी गतिमे चले गये फिर भी यदि वे अपने बन्धु हैं तो अपने और परायेका भेद ही नहीं रहता । तथा जिन आश्रयोमे प्राणी जोवित्त रहते हैं वे आश्रय भी, जैसे स्वामी और सेवक, पत्र भ्राता आदि ये सब भेषपटलके समान अनित्य हैं ॥१७१३॥

गा०-टी०—जैसे नाना दिशाओ और नाना देशोमे धाये हुए और भिन्न-भिन्न स्थानोको

छाहोए' नानादिदेशगताना पथिकाना भिन्नस्थानयायिना मार्गोपवृष्टस्थितनिविडत^१रपलाशालकार-
विततशायाकरसतनिवारितधर्मरश्मिप्रसरतरवररशोतलाबिरलविपुलछायाया पान्थाना समाज इव । 'पोथीवि'
प्रीतिरपि । 'अच्छि रामोव' प्रणयकृतहृषासुधातद्रूपितप्रियतमालुठत्पाटीनोदग्धवल्लोचनान्तराग इव अनित्या
सर्वजीवाना । तथाह्यप्रियाचरणविषकणिकाप्रणयलोचनप्रलय सविदधातीति प्राणभूतामनुभवसिद्धमेव ॥१७१४॥

रत्ति एगम्मि दुमे सउणाण पिण्डणं व सजोगो ।

परिवेसोव अणिच्चो इस्सरियाणाधणारोगं ॥१७१५॥

'रत्ति' रात्रौ । 'एगम्मि दुमे' एकस्मिन् दुमे । 'सगुणाण' पक्षिणा । 'पिण्डण व' पिण्डितमिव 'सजोगो'
सजोगो^२यस्यामस्तद्रुमाभिमुख तत्र वय प्राप्तवानोन्धोन्धमित्यकृतसकल्पाना यथाकथंचिदन्योन्यप्राप्तिरल्पकाला
तथा प्राणभूतामपि समानकालकालमारतप्रेरितानामेकस्मि^३न् कुलविटपिनि कतिपयदिनभावीसप्रयोग ।
'परिवेसो व' परिवेष इव । 'अणिच्च' अनित्य । कि ? 'ईसरियाणाधणारोग' ऐश्वर्यं प्रभुता भाज्ञा धन आरोग्य
च ॥१७१५॥

इदियसामग्गी वि अणिच्चा सझाव होइ जीवाणं ।

मज्झण्ह व णराणं जोच्चणमणवट्ठिद लोए ॥१७१६॥

'इदियसामग्गीवि' इन्द्रियाणा सामान्यपि । 'अणिच्चा' अनित्य । अघता वधिरता च दृश्यत एव ।
'मज्झण्ह व' मध्याह्नवन्, 'णराण जोच्चणमणवट्ठिद लोए' नरणा यौवनमनवस्थित लोके यौवनोऽहमिति जन

जानेवाले पथिक मार्गके समीपमे स्थित अत्यन्त घने पलाश आदि वृक्षोंके फँले हुए शाखाभारसे
सूर्यके तेजको दूर करनेवाले वृक्षोंकी शीतल और घनी छायामे अपना समाज बनाकर बैठते हैं
और धूप ढलनेपर अपने-अपने स्थानोंको चले जाते हैं । उन्हींकी तरह भ्रत, बन्धु और परिजनोंके
साथ सहवास भी अनित्य है । वे भी प्रायः पूरी होनेपर अपने अपने स्थानोंको चले जाते हैं । तथा
सब जीवोंकी प्रीति भी अनित्य है । जैसे प्रेमकलहके कारण या धूल पड़ जानेसे प्रिय स्त्रीकी
क्रोडा करती हुई मछलियोंके उदर भागके समान श्वेत लोचनोंके कोनोमे ललामी अनित्य है ।
अप्रिय आचरणरूपी विषकी कनी प्रेमरूपी नेत्रोंको नष्ट कर देती है यह बात सब प्राणियोंके
अनुभवसे सिद्ध है अतः प्रीति भी अनित्य है ॥१७१४॥

गा०—जैसे पक्षी सूर्यके अस्त होनेपर हम अमुक वृक्षपर मिलेगे, ऐसा परस्परमे सकल्प
नहीं करते । फिर भी जिस किसी प्रकार कुछ समयके लिये परस्परमे मिल जाते हैं । उसी प्रकार
ससारके प्राणी भी समान कालरूप वायुसे प्रेरित होकर एक कुलरूपी वृक्षपर कुछ दिनोंके लिये
वा मिलते हैं । तथा ऐश्वर्य, प्रभुता, भाज्ञा, धन और आरोग्य भी सूर्यकी परिधिकी तरह अनित्य
है ॥१७१५॥

गा०—टी०—सन्ध्याकालकी तरह इन्द्रियोंकी सामग्री भी अनित्य है । क्योंकि लोकमे अन्धे
और बहरे मनुष्य देखे जाते हैं । तथा मध्याह्न कालकी तरह लोकमे मनुष्योंका यौवन भी अनव-

१ तरवदिरपलाशालकारविननगा—आ० मु० ।

२ योग सूर्यस्य अस्ते द्रुमा—आ० ।

श्लाघ्यते, यौवनदर्पविकारादेव बुध्यमानोऽपि धर्मं न प्रयतते तदनित्य मध्याह्नवत् । क्षिप्रतर व्यतिवृत्तिनि यौवने 'वा यौवनकृतोत्तीर्णमद स्याच्च मनस्विनाम् ॥१७१६॥

चदो हीणो व पुणो बड्ढदि एदि य उदू अदीदो वि ।

णदु जोव्वणं णियत्तइ णदीजलमदच्छिद चेव ॥१७१७॥

'चदो हीणोव पुणो बड्ढदि' नित्यराहुमुखकुहरप्रवेशाद्धानिमुपगतोऽपि निशानाय कृष्णपदो हीयते हीणो भवति । 'पुणो बड्ढदि' पुन मुखरूपसो बढते । प्रतिदिनोपचीयमानकाल । 'एदि य उदू अबीदोवि' हिमशिधिरवमन्तादयोर्जाता अपि ऋतव पुनरायान्ति 'न तु जोव्वण णियत्तेवि' नैव यौवन निवर्ततेऽतिक्रान्तम् तस्मिन्नेव भवे 'नदीजलमदच्छिद चेव' नदीजलमतिक्रान्तमिव न पुनरेति । तद्वदिद यौवनमित्यनेनानित्यतता- तिषयो यौवनस्य दर्शित ॥१७१७॥

घावदि गिरिणदिसोद व आउग सव्वजीवलोगम्मि ।

सुकुमालदा वि हायदि लोगे पुव्वणहछाही व ॥१७१८॥

घावदि गिरिणदिसोदव' घावति गिरिनदीप्रवाह इव । किं ? 'आउग' आयु । 'सव्वजीवलोगहि' सर्वस्मिन् जीवलोके । 'सुकुमालदा वि हीयदि' सुकुमारतापि हीयते । 'पुव्वणह छाही व' पूर्वाह्णछाया इव । यथा यथोद्गच्छति तामरमदनधुस्तथा तथापसहरति छाया शरीरादीना ॥१७१८॥

अवरणहरुकसछाही व अट्टिद वड्ढदे जरा लोगे ।

रूव पि णासइ लहु जलेव लिहिदन्लय रूव ॥१७१९॥

'अवरणहरुकसछाहीव' अवराल्लवृक्षच्छायेव । 'अट्टिद बड्ढदे' अस्तित्व बढते । क्रियाविशेषणत्वान्न- पु सन्नता । 'जरा लोगे' लोके । सोरूप्यपल्लवदवानलशिसा, सोभाग्यप्रभूतकरकावृष्टि, युवतिहरिणालीव्याघ्री,

स्थित है । मनुष्य 'मै युवा हूँ' इस प्रकारसे अपनी प्रशंसा करता है । यौवनके घमण्डसे ही जानते हुए भी धममे प्रयत्नशील नहीं होता । किन्तु वह यौवन मध्याह्नकालको तरह अनवस्थित है । इस प्रकार शीघ्र ही जानेवाले यौवनका मनस्वियोंको मद कैसा ? अर्थात् यौवनका मद करना उचित नहीं है ॥१७१९॥

गा०—टी०—प्रतिदिन राहुके मुखरूपी विलमे प्रवेश करनेसे चन्द्रमा कृष्णपक्षमे घटता है और पुन शुक्लपक्षमे प्रतिदिन बढता है । तथा हेमन्त, शिशिर, वसन्त आदि ऋतुएँ भी जाकर पुन लौटती हैं । किन्तु बीता हुआ यौवन उमो भवनमे नहीं लौटता । जैसे नदीमे गया जल फिर वापिस नहीं आता । उसी प्रकार यौवन भी जाकर वापिस नहीं आता । इससे यौवनकी अत्यन्त अनित्यता दिखलाई है ॥१७१७॥

गा०—सर्व जीवलोकमे आयु पहाड़ी नदीके प्रवाहरी तरह दौडती है । मुकुमारता भी पूर्वाह्णकी छायाके समान दौडती है । जैसे जैसे सूर्य ऊपर उठता है वैसे-वैसे शरीरादिकी छाया घटती जाती है । उसी तरह ज्यो-ज्यो आयु बढती है त्यो त्यो मुकुमारता कम होती है ॥१७१८॥

गा०—टी०—जैसे अवराल्ल कालमे वृक्षकी छाया बढती है वैसे ही लोकमे एक बार

ज्ञानलोचनपाशुवृष्टिस्तपस्तामरमन्वनस्य हिमानी, दीनताया जननी, परिभवस्य धारिणी, मूर्तदूर्ता, भीते प्रियमन्त्रो
या जरा मा बद्धते । 'स्वविणासवि लङ्' रूपमपि विलासिनीवटाशैलनगरमानपुनीरायभाष, चेतोचरभ्रमूत्रम-
वसनरञ्जने कौमुभरमायमान, प्रीतिलनिकाया मूल, मोभाग्यतरफल, कूल पूज्यताया यदूप तल्लघु विनस्पति ॥
त्रिनिव ? 'जलेव विहिते ललाप स्व' जले विनितरूपमिव ॥१७१९॥

तेजो वि इदधनुतेजसणिहो होड सन्वजीवाणं ।

दिदृपणट्टा बुद्धी वि होइ उक्काव जीवाण ॥१७२०॥

'तेजोवि इदधनुतेजसणिहो' शरीरस्य तेजोपि पीलं मोप्रियतमचापस्य तेज इव गन्धज्जननयनचेत-
प्रसोदादायि क्षणेन क्षयमुपवर्जति । 'दिदृपणट्टा' दृष्टप्रणष्टा बुद्धि वि' सबलवस्तुयाथात्म्यावकुण्ड' ज्ञानात्म-
पटलपाटनपटीयसी, विचित्रदु खराहृद दम्बवार्कान्तुगतिविद्यालनिम्नगाप्रवेशनिवारणोद्यगा, चारित्रिधियत्रट-
नक्षमादीपवर्ति, सकलमप्यदाकर्णविद्या शिवगतिनायिवात्सफली एवभूता बुद्धिरभ्युत्थेवानु नाशमुप-
दायि ॥१७२०॥

अदिवडड बल खिप्प रूव धूलीकदवरछाप ।

वीचीव अद्भुव वीरियपि लोगम्मि जीवाण ॥१७२१॥

'अदिवडड बल खिप्प' क्षिप्रमतिपनत्रि बल 'स्व धूलीकदवरछाप' रथ्याया पागुरचितरूपमिव ।

आनेपर बुटापा बढना जाता है । यह बुटापा सुन्दरतारूपी कोमल पत्तोंके लिये बनको आगकी
लपटके समान है । सौभाग्यरूपी पुष्पोंके लिये ओलोंकी वषट्के समान है । तारुण्यरूपी हरिणोंकी
पत्तिके लिये व्याघ्रके समान है । ज्ञानरूपी नेत्रके लिये घूलकी वर्षोंके समान है । तपरूपी कमलोंके
बनके लिये वर्ष गिरनेके समान है । अर्थात् वृद्धावस्थाके आनेपर सुन्दरता, मुग्धता, तारुण्य,
ज्ञान और तप सब क्षीण हो जाते हैं । यह वृद्धावस्था दीनभाकी माता है, तिस्कारकी धाय है,
मृत्युकी दूती है और भयकी प्रिय सखी है । तथा जलमे लिये हुए रूपके समान रूप भी शीघ्र नष्ट
हो जाता है । यह रूप सुन्दर स्त्रियोंके कटाक्षरूपी सैकड़ों बाणोंके लिये तूणीरके समान है अर्थात्
पुत्रके रूपको देखकर स्त्रियाँ जमपर बटाक्षवाण चलाती हैं । चित्तरूपी सूक्ष्मवस्त्रको रगनेके लिये
बुमुम्भके रगके समान है । प्रीतिरूपी लताका मूल है । सौभाग्यरूपी वृक्षका फल है । पूज्यताका
किनारा है । ऐसा रूप भी शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥१७१९॥

गा०—दो०—शरीरका तेज भी इन्द्र धनुषके तेजके समान है । जैसे इन्द्रधनुषकी कान्ति
मनुष्योंके नेत्रों और चित्तको आनन्दकारी होती है किन्तु क्षणभरमें नष्ट हो जाती है वही दगा
शरीरकी कान्तिकी भी है । जो बुद्धि समस्त वस्तुओंके यथायथस्वरूपको दाबनेवाले अज्ञानरूपी
अन्धकारके पटलको तट्ट करनेमें अतिशय दक्ष है, विचित्र दु खरूपी मगरमच्छोंके समूहमें व्याप्त
बुगतिरूपी विद्याल नदीमें प्रवेश करनेमें रोकनेमें तत्पर है, चारित्ररूपी निधिकी प्रकट करनेमें
दोषकी वनीके समान है, समस्त सम्पदाओंको आनेवाली विद्यातुल्य है और मोक्षगतिरूपी
नायिकाकी सन्ती है, ऐसा बुद्धि भी शीघ्र ही नष्ट हो जाती है ॥१७२०॥

गा०—जैसे मार्गमें धूलीमें रखा गया आवार शीघ्र नष्ट हो जाता है वैसे ही जीवोंका

'बीचीव' चण्डप्रभजनाभिघातोत्थागिततरलतरपमालेव, 'अध्रुव' अध्रुव । 'बोरिय' वीर्यमपि । जीवाना शरीरस्य दृढता बल वीर्यमात्मपरिणाम ॥१७२१॥

हिमणिचओ वि व गिहसयणासणभडाणि होंति अधुवाणि ।

जमकित्ती वि अणिच्चा लोए सज्झम्भरागोव्व ॥१७२२॥

स्पष्टोत्तरगाथा—

किह दा सत्ता कम्मवमत्ता सारदियमेहसरिसमिण ।

ण मुणंति जगमणिच्च मरणभयसमुत्थिया सता ॥१७२३॥

'किह' कथ तावन् । 'अणिच्च जग ण मुणति' जगदनित्य न जानन्ति । ने ? 'सत्तादी सीदन्ति स्वदृष्टपापवशात्तामु तांमु योनिविविदि सत्त्वा । सारदिगमेघसरिसमिण' नारदुत्तुसमुदगतनैकवचविचित्र-सम्यानजीमूतमालासदा । 'मरणभयसमुत्थिया सता' मरण विष वृषतमजीवितस्य सरिलूल प्रियविवागदार-कम्म, शोकाशानैर्जलदपटल, अयस्कान्तोपल दु सलोहावपणे, बन्धुहृदयापलाना द्रावकमौपधमायतापशामायतन एवभूतमरणभयममुत्थियता सन्त । एवमनित्यतामशेषवस्तुविषया ध्येयीकृत्य प्रवर्तते धर्मं ध्यान । अध्रुव ॥१७२३॥

अशरणाकथनायोत्तरप्रबन्ध । कर्माण्यात्मपरिणामोपाजितानि क्यायपरिणामोपनीतविरकालस्थितोनि सन्नित्तित्तशेयकालभावास्वसहवपरिकारणानि यदा फलमगुभ प्रपच्छति तदा तानि न निवारयितु कश्चित्त्व-मर्षोऽस्ति तेनाशरणोऽस्म्यहमिति चिन्ताप्रबन्ध कार्य इत्याचष्टे—

णामदि मदी उदिण्णे कम्मे ण य तस्स दीसदि उवाओ ।

अमदंपि विस मत्थं तण पि णीया वि ह्ति अरी ॥१७२४॥

बल शीघ्र नष्ट हो जाता है । तथा जीवोका वीर्य भी प्रचण्ड वायुके अभिघातसे उठी हुई चंचल तरंगमालाके समान अध्रुव है । जीवोके शरीरकी दृढताको बल और जीवोके आत्मपरिणामको वीर्य कहते हैं । ये दोनों ही शीघ्र नष्ट होनेवाले हैं ॥१७२१॥

गा०—घर, शय्या, आमन, भाण्ड ये सब भी वरुणके समूहकी तरह अध्रुव हैं । तथा लोक-मे यशकी कीर्ति भी सन्ध्याके समय आकाशकी लालिमाकी तरह अनित्य है ॥१७२२॥

गा०—मरणके भयसे युक्त होनेपर भी अपने अपने कामोमें लीन प्राणी शरत् कालके मेघके समान इस जगत्को अनित्य क्यों नहीं जानते ॥१७२३॥

टी०—अपने किये हुए पापके वशसे उन-उन योनियोंमें जो कष्ट उठाते हैं उन्हें सत्त्व कहते हैं । यह जगत् शरद् ऋतुमें उठे हुए अनेक रंग और अनेक आकार वाले मेघमालाके समान अनित्य है । तथा जिन्हें अपना जीवन प्रिय है उनके लिये मरण विषके समान है । प्रियजनके विधोगरूपी पुत्रके लिये नदीका तट है । शोकरूपी वज्रपातके लिये मेघपटल है । दुःखरूपी त्राटका लानेके लिये चुम्बक पत्थर है । बन्धुओंके हृदयपत्ता पत्थरको पिघलानेके लिये ओषध है । मरने पर कठोर हृदय कुटुम्बियोंका भी मन पिघल जाता है । लम्बी विपत्तियोंका घर है । ऐसा मरणके भयको जानते हुए भी लोग जगत्की अनित्यताको नहीं समझते यह आश्चर्य और गेदवी बात है ॥१७२३॥

‘शास्त्रि मदी’ नश्यति मति । ‘उद्विष्णे कर्मधे’ उदीर्णे कर्मणि । बुद्धिद्विधा स्वाभाविकी आगमभवा च । सा द्वयी यस्यासौ हितमवति नेतर । उक्त च—

द्विधेह बुद्धि प्रवदन्ति सतः स्वाभाविकीमागमभवाच्च ।
 बुद्धिद्वयो यस्य शरीरिण श्यादिष्ट हित सो लभते न चान्य ॥१॥
 स्वाभाविकी यस्य मतिविशुद्धा, तीर्थादवाप्त न तु शास्त्रमस्ति ।
 द्रष्टुं हित धर्मसतो न शक्नो भाषा विना स्वमिवाप्यनन्य ॥२॥
 तीर्थादवाप्त श्रुतमस्ति यस्य स्वाभाविकी नास्ति मतिविशुद्धा ।
 श्रुतस्य नान्नोति फल स तस्य दीपस्य हस्तेऽपि सतो ययान्य ॥३॥
 किं दर्पणेनादृतलोचनस्य विद्वान भोगस्य घनेन वा किम् ।
 शास्त्रेण किं वा मुचि भोरुकस्य तथैव किं मन्वमते श्रुतेन ॥४॥

ईदृशी बुद्धिर्नश्यति ज्ञानावरणाख्ये कर्मण्युदयमुपागते । तच्च ज्ञानावरणं वध्नाति जन्तुर्नानिना ज्ञानस्य ज्ञानोपकरणानां च द्वेषान्निह्लावादुपघातात् मात्सर्थाद् विघ्नकरणादासादनाद् दूषणात् । ज्ञानादेतिग्रहवरणाद-

इस प्रकार अध्रुवभावनाका कथन समाप्त हुआ । आगे अशरणभावनाका कथन करते हैं—

कर्मबन्ध आत्माके परिणामोसे होता है । जीवके ही कर्मायरूप परिणामोका निमित्त पाकर उन कर्मोकी दीर्घ स्थिति होती है । प्राप्त द्रव्य क्षेत्र काल और भाव उनके महकगरी कारण होते हैं । जब वे कम अशुभ फल देते हैं तो उनको कोई रोक नहीं सकता । अतः मैं अशरण हूँ ऐसा विचारना चाहिये, यह कहते हैं—

गा०—टी०—कर्मका उदय होनेपर बुद्धि नष्ट हो जाती है । बुद्धि दो प्रकारकी होती है एक स्वाभाविक और दूसरी आगमिक । जिसके दोनों प्रकारकी बुद्धि होती है वह अपने हितको जानता है । जिसके वह बुद्धि नहीं होती वह नहीं जानता । कहा भी है—

सन्त पुरुष दो प्रकारकी बुद्धि कहते हैं—एक स्वाभाविक, दूसरी आगमसे उत्पन्न हुई । जिम शरीरधारीके ये दोनों बुद्धियाँ होती हैं वह अपने इष्ट हितको प्राप्त करता है । जिसके दोनों बुद्धियाँ नहीं हैं वह हितको प्राप्त नहीं कर सकता । जिसके पास स्वाभाविक विशुद्ध बुद्धि तो है किन्तु जिसने शास्त्राभ्यास करके आगमिक बुद्धि प्राप्त नहीं की है वह हितकारी धर्मको उसी प्रकार नहीं देख सकता, जैसे दृष्टिमग्न पुरुष रूपको देखने हुए भी भाषाके बिना उसको कह नहीं सकता । जिसके पास गुरुसे प्राप्त शास्त्र तो है किन्तु उसे समझनेकी स्वाभाविक विशुद्ध बुद्धि नहीं है वह भी श्रुतका फल नहीं प्राप्त कर सकता । जैसे अन्धा पुरुष हाथमें दीपक होते हुए भी उसका फल नहीं पाता । जिसके लोचन मूढ़े हैं उसे दर्पणसे क्या लाभ ? जो न दान देता है न भोगता है उसे घने क्या लाभ ? जो डरपोक है उसे मुद्दमे शास्त्रसे क्या लाभ ? इसी तरह मन्दबुद्धि पुरुषको शास्त्रमें क्या लाभ ? ॥

ज्ञानावरण नामक कर्मका उदय आनेपर इस प्रकारकी बुद्धि नष्ट हो जाती है । जानिये, ज्ञानमें और ज्ञानके उपकरणोंमें द्वेष करनेमें, ज्ञानको और ज्ञानके माधनोंको छिपानेसे, प्रशमनीय ज्ञानमें दूषण लगानेसे, ईर्ष्या विनीको ज्ञानदान न करनेमें, विनीके ज्ञानाराधनमें बाधा डालनेमें,

काले पठनात् परेन्द्रियोपघातकारणात्^१द्विजित अवग्रहेहावायधारणाविकल्प मतिज्ञान श्रुतादिक वा नाशयति । उक्त च—

अवग्रहीतु च तथेहितु च सोवेहितु धारयितु च सम्यक् ।
 ताल भवत्पजितवान्पुरा य कर्मवम ज्ञानवृत्तेनिमित्तम् ॥१॥
 अन्धश्च पश्यन् अघिरश्च शृण्वन् जिह्वा विनाऽसौ रसनास्तथाश्नन् ।
 त्वचो विनाशो वरशीतकादि जानन्नसौ कर्मविभावबद्ध ॥२॥
 प्राण विना गन्धमप हि जीवो जानाति नित्य निखिल जगच्च ।
 परन्तु बोधावृत्तिकर्मनाम्ना प्रोद्यस्तरा न विषयेषु वेत्ति ॥३॥
 एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रियता भवेपु स त्रीन्द्रियत्व चतुरिन्द्रियत्वम् ।
 तेनावृत्त कर्ममहाम्बुदेन प्राप्नोति जीवो विमनस्कना च ॥४॥
 द्रष्टु हित श्रोतुमथेहितु च कर्तुं च दातु विधिना च भोक्तुम् ।
 स्वकर्मणा तेन नरो वृत्तस्सन् न बुध्यमान पशुनैति साम्यम् ॥५॥
 स्ववृद्धि^२मात्रामपि ज्ञान्यमाप्तु श्रेय समोपस्थमि^३हाप्यविद्वान् ।
 सुदूरस्थश्च च श्रुतोऽभिगम्य स केन विद्यात् परलोकपथ्यम् ॥६॥

प्रशस्त ज्ञानकी प्रशंसा न करनेसे, जीव ज्ञानावरण कर्मका बन्ध करता है । तथा ज्ञानादिका निग्रह करनेसे, अकालमे स्वाध्याय करनेसे, दूसरेकी इन्द्रियोका घात करनेसे सचित मतिज्ञानका, जिसके अवग्रह ईहा अवाय और धारणा भेद हैं तथा श्रुतज्ञान आदिका नाश हो जाता है । कहा है—

जो पहले ज्ञानको रोकनेमे निमित्त नीच कर्म उपाजित कर चुका है, वह सम्यक् रूपमे पदार्थको अवग्रहण करनेसे, ईहित करनेसे, अवायरूपसे जाननेमे तथा जाने हुएको धारण करनेसे मगध नहीं होता । अर्थात् उसे पदार्थोका अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप ज्ञान नहीं होते । यह जीव आँखोंके विना देखता है । कानोंके विना सुनता है । जिह्वाके विना रसोका स्वाद लेता है । त्वचाके विना शीत आदिका अनुभव करता है । किन्तु कर्मोंमे बद्ध होनेसे ऐसा नहीं कर सकता । तथा यह जीव विना नाकके गन्धको जानता है किन्तु ज्ञानावरण नामक कर्मका उदय होनेसे इन्द्रियोके विना विषयोको नहीं जानता । उस ज्ञानावरण नामक कर्मरूपी महामेघमे ढका होनेसे यह जीव एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चौइन्द्रिय और असेनी पञ्चेन्द्रिय होना है । अपने ज्ञानावरण कर्मके उदयसे मनुष्य न हितको देखता है, न सुनता है, न हितको जाननेकी इच्छा करता है, न विधिपूर्वक धन देता है, न उसे भोगता है । इस प्रकार वह पशुके समान हो रहा है । जो अपने समीपवर्ती भी कर्त्याणकी जो कि अपनी बुद्धिमात्रमे प्राप्त करने योग्य है, नहीं जानता, वह मुदूरवर्ती और शास्त्रके द्वारा जानने योग्य परलोकमे जो हितकर है उसे कैसे जान सकता

१ णादात्रि -अ० । २ त्वगीतये मयपि विष्वमेव न यो विनेषान् विषयेषु वेत्ति ॥२॥
 एकेन्द्रिय -अ०, न० । ३ जिनायानाविग -आ० । ४ हास्यति -अ० । ५ च तनोऽभिगम्य मेवेन विवेद्या -अ० ।

महागृहा भौमतम प्रवेशात् सदाप्यगाधाम्भसि मज्जनाच्च ।

घनाच्चिर चारुक्करोपनाच्च स्पाहेटिन कष्टतरोज्जभावः ॥७॥

तम-प्रवेशोऽम्भसि मज्जन च स्याद्दु त्रुच्चारकरोधन च ।

जाताविहैकत्र भवास्त्वनन्तान्तानिज दु-क्षमनुप्रयाति ॥८॥

नाल विद्याल नयन तृतीय श्रुत च मस्या रटितो गृहीतुम् ।

अ-पोऽपि यस्मिन् सति याति मार्गं क्षेपे शिवे मोक्षमहापुरस्य ॥९॥

एवभूतामज्ञतामापादयति ज्ञानावरण न जिञ्चित्स्निवारणधाम शरणमस्ति । 'ण तस्स दिस्सदि उवाओ' नैव तस्य परमणो निवारणे उपायो दृश्यते । असद्बैदस्य कर्मण उदयात् अमद वि विस होदि' अमृतमपि विप भवति । 'जगमपि सत्थ तृणमपि शस्त्र भवति । णोआ वि होति अरो' बन्धवोऽपि शत्रवो भवन्ति ॥१७२४॥

ज्ञानावरणस्य तु क्षयोपशमे किं स्यादित्याह—

मुक्खस्स वि होदि मदी कम्मोवत्तमे य दीसदि उवाओ ।

णीया अरी वि सत्थ वि तण अमय च होदि विसं ॥१७२५॥

मुखस्य वि होदि मदी' मूखस्यापि भवति मति । 'कम्मोवत्तमे य दीसदि उवाओ' कर्मोपरामे ज्ञाना-वरणस्य तु क्षयोपशमे सति उपायो दृश्यते मुमगत्वपुण्यकर्मोऽयान । 'णीया अरो वि' शत्रवोऽपि बन्धवो भवन्ति 'सत्थ वि तण' शस्त्रमपि तृण भवति, 'अमद होदि विस' विपमप्यमृत भवति नवदेवोऽप्ये ॥१७२५॥

पाओदएण अत्थो हत्थ पत्तो वि णस्सदि णरस्स ।

दूरादो वि सपुण्यस्स एदि अत्थो अयत्तेण ॥१७२६॥

'पावोदयेण' लाभान्तरायस्य कर्मण उदयेन, 'अत्थो हत्थ पत्तो वि णस्सदि णरस्स' हस्तप्राप्तोऽप्यर्थो नश्यति पुन । 'दूरादो वि' दूरतोऽपि । 'सपुण्यस्स' पुण्यवत् । 'एदि अत्थो' आयान्त्वर्था । 'अयत्तेण' अयत्नेन ॥१७२६॥

है । इस प्राणीका अज्ञानभाव महान् गुफाके भीतर भयकर अन्धकारमे प्रवेश करनेसे, मदा अगाध जलमे डूबे रहनेसे और विरकाल तक जेलखानेमे पड़े रहनेसे भी अधिक कष्टदायी है । अन्धकारमे प्रवेश जलमे डूबना और जेलखानेमे पड़े रहना तो एक ही भवमे दुःखदायी है किन्तु अज्ञानजन्य दुःख अनन्त भवोमे दुःखदायी है । श्रुतज्ञान तीमग विद्याल नेत्र है । किन्तु बुद्धिमे रहित प्राणी उसे ग्रहण नहीं कर सता । उस श्रुतज्ञानके होनेपर अन्धा मनुष्य भी मोक्षरूपी महानगरके कल्याणकारो मार्ग पर जाता है ।

ज्ञानावरण कर्म इस प्रकारकी अज्ञताको लाता है उसको निवारण करनेमे समर्थ कोई शरण नहीं है । उसके निवारण का कोई उपाय नहीं है । असातावेदनीय कर्मके उदयमे अमृत भी विप हो जाता है । तृण भी शस्त्र हो जाता है और बन्धु-शत्रव भी शत्रु हो जाते हैं ॥१७२४॥

शा०—टी०—ज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर क्या होता है, यह कहते है—ज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर मूर्खको भी बुद्धि प्राप्त होती है । पुण्यकर्मका उदय होनेसे कर्मके उपशमका उपाय दृष्टिगोचर होता है तथा सातावेदनीयके उदयमे शत्रु भी बन्धु हो जाते हैं, शस्त्र भी तृण हो जाता है और विप भी अमृत हो जाता है ॥१७२५॥

गा०—पाप अर्थात् लाभान्तराय कर्मके उदयमे मनुष्यके हाथमे आया भी पदार्थ नष्ट हो

पाओदएण सुट्ठु वि चेद्धतो को वि पाउणदि दोस ।

पुण्णोदएण दुट्ठु वि चेद्धतो को वि लहदि गुण ॥१७२७॥

‘पावोदएण’ अयसक्कीर्त्तदयेन । ‘सुट्ठु वि चेद्धतो’ सम्यक् चेष्टमान । ‘कोवि पाउणदि दोस’ कश्चित्प्राप्नोति दोष । ‘पुण्णोदयेण’ पुण्यकर्मण उदयेन । ‘दुट्ठु वि चेद्धतो’ यत्किञ्चिद्विद्वयं कुर्वन्निपि । ‘कोवि लभदि गुण’ कश्चित्त्वलभते गुणम् ॥१७२७॥

पुण्णोदएण कस्सइ गुणे असते वि होइ जसकित्ति ।

पाओदएण कस्सइ मगुणस्म वि होइ जसघाओ ॥१७२८॥

‘पुण्णोदएण’ पुण्यस्योदयेन । ‘कस्सइ होइ जसकित्ति’ कस्यचिद्भवति यथास्कीतिश्च । ‘पावोदएण’ पापस्योदयेन । ‘कस्सइ मगुणस्स वि’ कस्यचिन् सुगुणवतो पि । ‘जसघाओ होदि’ यथाघातो भवति ॥१७२८॥

णिरुवक्कमस्स कम्मस्स फले समुवट्ठिमि दुक्खमि ।

जादिजराकरणरुजाचिंताभयवेदणादीए ॥१७२९॥

‘णिरुवक्कमस्स’ नि प्रतीकारस्य कर्मणः । ‘फले समुवट्ठिमि दुक्खमि’ समुपस्थिते दुःखे, ‘जादि-जराकरणरुजाचिंताभयवेदणादीणे’ जाते, जराया, मरणे, व्याधौ, चिन्ताया, भये, वेदनादौ च समुपस्थिते ॥१७२९॥

जीवाण णत्थि कोई ताण मरण च जो हवेज्ज इध ।

पायालमदिगदो वि य ण मुच्चदि सरुम्मउदयम्मि ॥१७३०॥

‘जीवाण’ जीवस्य । नास्ति कश्चिद्रसा धरण वा । ‘जो हवेज्ज’ यो भवेत् । ‘पायालमदिगदो वि’ पाताल प्रविष्टोऽपि । ‘ण मुच्चदि’ । न मुच्यते दुःखान् । ‘सरुम्मउदयेहि’ स्वकर्मोदये मति ॥१७३०॥

गिरिकदर च अडविं सेल भूमिं च उदाधि लोगत ।

अदिगतूण वि जीवो ण मुच्चदि उदिण्णकम्मेण ॥१७३१॥

जाना है । और पुण्यवानको बिना प्रयत्न किये दूरसे भी पदार्थ प्राप्त होता है ॥१७२६॥

गा०—पाप अर्थात् अयस कीर्ति नामक कर्मके उदयसे सम्यक् चेष्टा करनेवाला भी दोषका भागी होता है । और पुण्य कर्मके उदयसे न करने योग्य भी काम करनेवाला प्रणसाका पात्र होता है ॥१७२७॥

गा०—पुण्यके उदयसे किमीमें गुण न होते भी उमका यग फलना है । और पापसे उदयसे गुणवानका भी अपयश होता है ॥१७२८॥

गा०—जिमका कोई प्रतीकार नहीं है ऐसे कर्मका उदय आनेपर जन्म, जरा, मरण, रोग, चिन्ता, भय, वेदना आदि दुःख भोगने होते हैं ॥१७२९॥

गा०—ऐसी अवस्थामें जीवका कोई रक्षक नहीं है जिमकी वह धरणसे जाये । अपने कर्मके उदयसे पातालमें प्रवेस करनेपर भी कर्मसे छुटकारा नहीं होता ॥१७३०॥

‘गिरिकन्दर घ’ गिरिकन्दर जटवों शैलभूमिमुदधि । लोचान्त प्रदिरराशि जीवो न मुन्दते । उद-
यायतेन कर्मणा ॥१७३१॥

दुगचदुअणोयपाया परिसप्पादी य जति भूमीओ ।

मच्छा जलम्मि पक्खी णभम्मि कम्मं तु सव्वत्थ ॥१७३२॥

‘दुगचदुअणोपाया’ द्विचतुरचरणादिका । परिसप्पादी य जति भूमीओ’ परिसप्पादिरच यान्ति
भूमावेव । मत्स्या बले पशिनो नभन्ति यान्ति । कर्म सर्वत्रण ॥१७३२॥

रविचटवादवेउव्वियाणमगमा वि अत्थि हु पदेमा ।

ण पुणो अत्थि पएतो अगमो कम्मस्स होइ इह ॥१७३३॥

‘रविचटवादवेउव्वियाण’ सूर्येण, चन्द्रेण, वायेन, देवेदवागम्यात्मनि प्रदेगा । न कर्मणामगम्योअ
प्रदेशोअन्ति लोके ॥१७३३॥

विज्जोसहमंतवलं बलवीरिय अस्सहत्थिरहजोहा ।

सामादिउवाया वा ण होंति कम्मोदए मरणं ॥१७३४॥

‘विज्जामतोसधिल्लवीरिये’ विद्या स्वाहाकारान्ता तदहितता मन्दस्य । वीर्यमात्मन शक्यत्वविराग ।
बलमाहारव्यापामत्र शरीरस्य दाहय, जनीकवन्ध । सामनेददणोपप्रशालस्यारच हेतवो न शरण ॥१७३४॥

जह आइक्खमुदितं कोई वारंतओ जगे णत्थि ।

तह कम्ममुदीरतं कोई वारतओ जगे णत्थि ॥१७३५॥

‘जह आइक्खमुदित’ यथा दिनमपिमुदयाचतचूडानणितामुपयान्त न निवारयति कश्चिन् तथा नमश्चित्त-
सहकारिकारणं कर्म न निपेद्युमस्ति समर्थ ॥१७३५॥

गा०—पहाडकी गुफा, जटवो, पर्वत, भूमि, नमुद्र, यहां तक कि लोवके अन्त तक चले
जानेपर भी जीव उदयप्राप्त कर्मने नही छूटता ॥१७३१॥

गा०—दोपाये, चौपाये और अनेक पैर वाले सपं आदि तो भूमिपर ही जाते हैं । मच्छ
जलमें जाते हैं । पक्षी आकाशमें जाते हैं किन्तु कर्म सर्वत्र पहुंचता है । उसकी गति सर्वत्र है
॥१७३२॥

गा०—लोकमें ऐसे प्रदेश हैं जो सूर्य, चन्द्र, वायु और देवोंके द्वारा लग्न्य हैं अर्थात् जहां
ये नही जा सकते । किन्तु ऐसा कोई प्रदेश नहीं है जहां कर्मकी गति नहीं है ॥१७३३॥

गा०—कर्मका उदय होनेपर विद्या, मत्र, शीषध, दल वीर्य, घोडे, हाथी, रघ, घोडा,
साम, दाम, दण्ड, भेद आदि उपाय शरण नहीं है ॥१७३४॥

टी०—जितने अन्तमें स्वाहाकार होना है उने विद्या कहते हैं । और जितने अन्तमें
स्वाहाकार नहीं होता उसे मत्र कहते हैं । वीर्य आत्माकी गतिको कहते हैं और बल बाहार
व्यापामत्ते उत्पन्न शरीरकी दृढताको कहते हैं ॥१७३४॥

गा०—जैसे सूर्यको उदयाचलने मन्त्रवप आनेको जातमें कोई नहीं रोद सकता उषो

रोगाणं पडिगारा दिड्डा कम्मस्स णत्थि पडिगारो ।
कम्म मलेदि हु जग इत्थीव णिरकुमो मत्तो ॥१७३६॥

'रोगाण पडिगारा दिट्ठा' व्याधीना प्रतीकारा दृष्टा औपघादय । कर्मणा नास्ति प्रतीकार ।
जगदस्येव महं यति कर्म मदगज इव निरङ्कुशा नलिनीवन ॥१७३६॥

रोगाण पडिगारो णत्थि य कम्मे णरस्स समुदिण्णे ।
रोगाण पडिगारो होदि हु कम्मे उवसमते ॥१७३७॥

'रोगाण पडिगारो व्याधीना प्रतीकारो नास्ति कर्मण्यसद्वेधे प्राप्तोदये सति, पथीपघादिमिहपशमो
रोगादीनां सोऽपि कर्मण्युपनाम गत एव नानुपसान्तेऽत्र ॥१७३७॥

विज्जाहरा य बलदेववासुदेवा य चक्कवड्डी वा ।
देविंदा व ण सरण कम्मड कम्मोदए ह्ँति ॥१७३८॥

'विज्जाहरा य' विजाघरादयो महाबलपराक्रमा अपि न शरण भवन्ति कर्मोदय इति
गायार्थ ॥१७३८॥

बोल्लेज्ज च कमतो भूमि उदधि तरिज्ज पवमाणो ।
ण पुणो तीरदि कम्मस्स फलमुदिण्णस्स वोलेटुं ॥१७३९॥

'बोल्लेज्ज' उल्लङ्घयेत् गच्छन् भूमि, समुद्र तरेन् प्लवमान । उदीर्णस्य कर्मण फलमुल्लङ्घयितु न
वेत्ति कोऽन्यो वा महाबलोऽपि ॥१७३९॥

सोहत्तिमिगिलग'हिटस्स मगो मच्छो च णत्थि जह सरण ।
कम्मोदयम्मि जीवस्स णत्थि सरण तहा कोई ॥१७४०॥

'सोहत्तिमिगिलगहिवस्स' सिहेन तिमिगिलास्येन महामत्स्येन च गृहीतम्य नैव शरण भवति अन्यो मृगो
मत्स्यो वा । तथा कर्मोदये जीवस्य नास्ति कश्चिच्छरणम् ॥१७४०॥

प्रकार सहकारी कारणोके मिलनेपर उदयमे आये कर्मको जगत्मे कोई रोक नहीं सकता ॥१७३९॥

गा०—रोगोका प्रतीकार औपघ आदि हैं किन्तु कर्मका कोई प्रतीकार नहीं है । जैसे
निरकुदा मत्त हाथी कमलिनीके घनको उजाड देता है वैसे ही कर्म समस्त जगत्को मसल देता
है ॥१७३६॥

गा०—असातावेदनीय कर्मका उदय होनेपर रोगोका प्रतीकार नहीं है । पथ्य औपघ
आदिसे जो रोगोका उपशाम होना है वह भी कर्मका उपशाम होनेपर ही होता है । कर्मका
उपशाम न होनेपर औपघ आदि भी लाभकारी नहीं होनी ॥१७३७॥

गा०—कर्मका उदय होनेपर विद्याधर, बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्ती अथवा देवेन्द्र जैसे
महाबली, महापराक्रमी भी किसीके शरण नहीं होते । वे भी रक्षा नहीं कर सकते ॥१७३८॥

गा०—चलता हुआ प्राणी भूमिको लाभ सकता है । तेरता हुआ प्राणी समुद्रको तैर
सकता है । किन्तु उदयागत कर्मके फलको उल्लघन कोई महाबली भी नहीं कर सकता । उसे
सबको भोगना पडता ही है ॥१७३९॥

गा०—जैसे कोई मिह किसी मृगको पकड ले तो दूसरा मृग उसकी रक्षा नहीं कर सकता ।

न्यावर्णितानामशरणत्व मनसावधार्यं इद शरणमिति चिन्तनीयमिति वक्ष्यति—

दसणणाणचरित्त तवो य ताण च होड सरणं च ।

जीवस्म कम्मणामणहेदु कम्मे उदिण्णम्मि ॥१७४१॥

‘दसणणाणचरित्त तवो य’ ज्ञान दशन चारित्र तपश्च रक्षा शरण च भवति । जीवस्य कम्मणासाहेतु कमप्युदीर्णोऽप्यमद्वेद्यादौ । एवमशरणानुप्रेक्षा गता ॥ अशरणा ॥१७४१॥

एवत्वानुप्रेक्षा उत्तरण प्रवर्धनोच्यते—

पाप करोदि जीवो वधवहेदु सरीरहेदु च ।

णिरयादिसु तस्स फल एक्को सो चेव वेदेदि ॥१७४२॥

पाप करोदि जीवो बान्धवनिमित्त शरीरनिमित्त च । बान्धवशरीरपोषणाय कृतस्य कर्मण फल नरकादिष्वेक एवानुभवति ॥१७४२॥

नरकादिगतिषु प्राप्त दुःखमपश्यतस्तत्रासतो बान्धवा वि कुर्वन्तीति आराजा निरस्यति मन्निहिता पश्यन्तोऽप्यक्वित्करा इति वक्ष्यते—

रोगादिवेदणाओ वेदयमाणस्म णिययकम्मफलं ।

पेच्छता वि ममवस्स किंचिवि ण करति से णियया ॥१७४३॥

‘रोगादिवेदणा’ रोगादिदुःखानि । ‘णिययकम्मफलं’ निजकर्मफल स्वयोगत्रयोपचितस्य कर्मण फल । ‘वेदयमाणस्स’ वेदयमानस्व । ‘ममवस्स पेच्छतावि’ पत्यक्ष पश्यन्तोऽपि । ‘णियया’ निजका बान्धवा, ‘से’ तस्स

या तिमिगल नामक महामत्स्य किसी मच्छको पकड़ ले तो दूसरा मच्छ उमको नही छुड़ा सकता । उसी प्रकार कर्मका उदय आनेपर जीवका कोई शरण नही होता ॥१७४०॥

आगे बहते हैं कि ऊपर जिनका वर्णन किया है, वे शरण नही हैं ऐसा मनमें दृढ़ निश्चय करने आगे कहे पदार्थ शरण हैं ऐसा विचारना चाहिये—

गा०—जीवके असातावेदनीय आदि कर्मका उदय होनेपर कर्मोंके नाशके कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप ही रक्षक हैं और शरण हैं ॥१७४१॥

इस प्रकार अशरणानुप्रेक्षाका क्यान हुआ । आगे एकत्वानुप्रेक्षाका क्यान करते हैं—

गा० - जीव बन्धु-बान्धवोंके निमित्त और शरीरके निमित्त पाप करता है । और बान्धवोंके तथा अपने शरीरके पोषणके लिये जो पापकर्म करता है उसका फल नरकादिमें अवेग ही भोगता है ॥१७४२॥

यहाँ कोई कह सकता है कि नरकादि गतियोंमें वह जो दुःख भोगता है उसे उसके बन्धुबान्धव नही देखते क्योंकि वे वहाँ नही हैं इसीसे वे कुछ कर नही सकते । इसके उत्तरमें कहते हैं कि निवट रहकर देखते हुए भी वे कुछ नही कर सकते—

गा०-टी०—अपने मनोयोग, वचनयोग और काययोगसे भवित कर्मका फल जब यह जीव भोगता है तो प्रत्यक्ष देखते हुए भी उसके बन्धुगण कुछ भी उसका प्रतीकार नही करते । इस

'किंचिदपि ण करति' किंचिदपि प्रतीकारजात न कुर्वन्ति । परत्रेह वा जन्मन्येक एवानुभवति जन्तुर्न तदीय-
कर्मफलसविभागकरणे समय कश्चिदिति भाव ॥१७४३॥

तह तथा यया दुःख स्वकर्मफलमेक एवानुभवति—

तह मग्ग एक्कओ चेव तस्स ण विदिज्जगो हवड कोई ।

भोगे भोत्तु णियया विदिज्जया ण पुण कम्मफल ॥१७४४॥

तथा स्वायुगलने । 'एक्कगो चेव मरदि' एक एव प्राणास्त्वजति । 'ण विदिज्जगो होइ कोई' न
सहायो भवति कश्चित् । तदीय मरण सविभज्य गृहीत्वा सहायता न कश्चित्करोतीत्यर्थ । अन्यथा एक एव
म्रियते इत्यप्यटमाने बहूनामप्येकदा मरणात् । 'भोगे' भुज्यन्तेऽनुभूयन्त इति भोगा द्रव्याणि अशनवसनमुख-
वातादीनि । भोक्तुमनुभवितु निजका बान्धवा । 'विदिज्जगा' सहाया । 'ण पुण' न पुन । 'कम्मफल भोत्तु
णियया विदिज्जया' तदीयकर्मफल भोक्तु न बन्धवस्सहाया ॥१७४४॥

प्रकारान्तरेणैकत्वभावनामाचष्टे—

णीया अत्था देहादिया य सगा ण कस्म इह होंति ।

परलोग अण्णेत्ता जदि वि दइज्जंति ते सुट्ठु ॥१७४५॥

'णीया अत्था' बन्धवो घन शरीरादिकाश्च परिग्रहा कल्पचिदपि सम्बन्धिनो न यान्ति परलोक प्रति
प्रस्थित । यद्यपि सुष्ठु काम्यन्ते परिग्रहा । गृहीत्वा तान्यदि नानास्य गन्तुमुत्कण्ठा तथापि ते नानुगच्छन्त्येक
एव यातीत्येकत्वभावना ॥१७४५॥

इहलोगत्रघवा ते णियया परस्म होंति लोगस्स ।

तह चेव धणं देहो सगा सयणासणादी य ॥१७४६॥

लोक और परलोकमे जीव अकेला ही भोगता है । उसके कर्मफलका बटवारा करनेमे ममर्थ कोई
भी नहीं है । यह इसका अभिप्राय है ॥१७४३॥

गा०-टी०—जैसे यह जीव अपने कर्मफलको स्वय ही भोगता है उसी प्रकार अपनी भायु
समाप्त होनेपर अकेला ही प्राणिको त्यागता है । दूसरा कोई भी उसका सहायक नहीं है । अर्थात्
उसके मरणका भागोदार बनकर कोई भी उसकी सहायता नहीं करता । यदि एक ही मरता है
ऐसा न हो तो एकके साथ बहूतोंको मरण प्राप्त होता है । जो भोगे जाते हैं उन्हें भोग बहूते हैं ।
भोजन, दस्य, मुखको सुवामित करनेवाले द्रव्य भोग हैं । भोगोकी भोगनेमे तो अपने बन्धु-बान्धव
सहायक होते हैं । किन्तु उनके कर्मों का फल भोगनेमे कोई सहायक नहीं होता ॥१७४४॥

प्रकारान्तरमे एकत्व भावनाको बहने हैं—

गा०-टी०—बन्धु-बान्धव घन और शरीर आदि परिग्रह किमीके नहीं होते । जय यह
जीव परलोक जाता है तो उसके माय नहीं जाते । यद्यपि मनुष्य परिग्रहोंमे बहूत अनुगण रखता
है । वह यदि उनको परइकर माय ले जाना चाहे तो भी वे उसके माय नहीं जाते । जीव अकेला
ही जाता है । यह एकत्व भावना है ॥१७४५॥

‘इहलोकबन्धवा’ अस्मिन्नेव जन्मनि बान्धवा । ‘परस्म लोहस न नियमा ह्येति’ अन्त्यस्य जन्मनो न बन्धवो भवन्ति । ‘तह चैव बाधवा इव धन देहो भग्न सत्प्राप्तपादो य’ धन शरीर शयनासनादयश्च परिग्रहा इह लोके एव न परजन्मनि उपकारका भवन्ति । एव हि ते बान्धवा परिग्रहारच महाया इति प्रहोतु शक्यन्ते यद्यनपायितया उपकारिण स्तु । इह जन्मन्येव ये प्रयान्ति ते परलोक गच्छन्मननुनरन्तीति वा प्रत्याशा ॥१७४६॥

यद्येते बान्धवादयो न महाया वन्तहि महाय इत्यागङ्गायामाचष्टे—

जो पुण धम्मो जीवेण कदो मम्मत्तचरणसुदमइओ ।

सो परलोए जीवस्स होइ गुणकारकमहाओ ॥१७४७॥

‘जो पुण’ य पुन । ‘जीवेण कदो धम्मो’ जीवेन कृतो धर्म, ‘सम्मत्तचरणसुदमइओ’ रत्नत्रयरूपो दुर्गतिसन्वित जीव धारयति धत्ते वा शुभे स्थाने इति रत्नत्रय धर्म इत्युच्यते । ‘सो’ वा व्यावर्तितो धर्म । ‘जीवस्स’ जीवस्य । ‘परलोए’ परजन्मनि । गुणकारक महायो भवति अन्त्यदुःखनिश्रेयससुखप्रदानान् । तथा चोक्त—

इत्वा थावापुषिभ्योव्वरविषपरति वोतभीसुग्गिपादा

इत्वा लोकत्रयैइय सुरनरपतिभि प्राप्य पूजा विशिष्टाम् ।

मृत्युव्याधिप्रभृतिप्रियविषमजरातोषभोक् प्रहणे

भोक्षे नित्योत्तमोह्ये क्षिपति निरपमे यस्स भोग्ग्यात्सुधर्म ॥ इति ॥१७४७॥

ननु च ‘अमहायत्वभावनाधिकारे सहायनिरूपणा क्यमुपयुज्यते । नैव दोष’ यो ‘येन जन्तुना सहाय-

गा०-टी०—जो इन जन्ममे बान्धव हैं वे परलोकमे बान्धव नहीं होते । बान्धवोंकी ही तरह धन, शरीर, शयन, आसन आदि परिग्रह भी इसी लोकमे काम आते हैं परलोकमे नहीं । यदि वे बान्धव और परिग्रह सदा रहनेवाले हों तो उन्हें महायक कहा जा सकता है । जब वे इसी जन्ममे नष्ट हो जाते हैं तो वे परलोकमे जानेपर साथमे जायेंगे, इसकी आशा कैसे ? ॥१७४६॥

यदि ये बन्धु आदि महायक नहीं हैं तो कौन सहायक हैं ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०-टी०—जीवने सम्यक्व्यचारित्र ज्ञानरूप अर्थात् रत्नत्रयरूप धर्म विद्या है जो दुर्गतिमे जानेवाले जीवका धारण करता है उसे शुभ स्थानमे धरता है वह धर्म है इन तरह रत्नत्रयको धर्म कहते हैं । वह धर्म परलोकमे जीवका गुणकारक सहायक होता है । क्योंकि उससे सामारिक और पारमायिक सुख मिलता है । कहा है—

वह धर्म हमारी रक्षा करे जो मर्त्यलोक और स्वर्गलोकके भय, शोक और विषादन गृहित विषय सुखको देकर देवेन्द्रों और राजेन्द्रोंमे विशिष्ट रूपमे पूजित नौन लोकोवा स्वामी तीर्थङ्कर पद प्रदान करता है तथा अन्तमे मृत्यु, रोग, जन्म, प्रियविषय, जरा, व्याधि और शोकमे रहित नित्य उत्कृष्ट और अनुपम सुखवाले मोक्षमे ले जाता है ।

शङ्का—यह अधिकार असहाय भावनाका है कि जीवका कोई महाय नहीं है । इसमे महायका कथन करना कैसे उचित है ?

त्वेनाध्यवसितो वाण्यवाविरसौ सहायो न भवतीति न तत्रादर कार्यं । सम्यक्त्वज्ञानचारित्र्यात्मवस्तु धर्मं । धर्मोऽपि जीवपरिणाम उपकारि महाय इति । तत्रादरो जन्यने सूरिणा । अतिसहितधर्माभ्यमहायानिरूपणेन जातिघनादीनां तयाभूतमहायताभावान् प्रस्तुतैव सहायता समर्थिता भविष्यति । अत्रोच्यते । सम्यक्त्वादयः शुभपरिणामा प्रशस्तगतिजातिगोनमघातसहनशायु मद्बेद्यारिक्त्वात्मनि निधाय नश्यन्ति तेन देवो मानव पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक कुलीन शुभनीरोरुशरीरश्चिरजीवी सुखी भविष्यति । धर्मानुबन्धिन पुण्यस्योदयात् दीर्घामिमुखा बुद्धिनिरतिचाररत्नत्रयमपत्तिश्च भविष्यतीति सभवंत्युपकारसहायता धम्मस्य । ननु च ज्ञानपूर्वकत्वाच्चरणस्य 'सम्मत्तचरणसुदमइगो' इति कथमुपन्यस्त ? अयमस्याभिप्राय सत्यपि श्रुतज्ञाने असयत-सम्यग्दृष्टेद्यारित्राभावान् महती मवरनिजरे मुख्यगुणे भवत । तस्मान्मूर्ख्यापिनश्चारित्र प्रधान किंच तज्ज्ञानमुपायश्चारित्रमुपेय अत परायत्वाज्ज्ञानमप्रधान उपेयत्वाच्चरण प्रधानमिति । 'जो पुण धम्मो जीवेण कदो इत्यनेन धर्मस्य सर्वया नियत्व प्रतिपिद्ध फलवैचित्र्यमनुभवसिद्ध, सर्वदैकरूपत्व धर्मस्य विरुध्यते । मुषसापनाना श्रोत्रस्त्रगन्धमाल्यादीना वैचित्र्यात् तत्कार्यसुखस्याऽपि वैश्वस्य नित्यत्वेऽपि धर्मस्य घटयेदिति चेत् अत्रोच्यते । अनिसमितानतिसहितमुखमाघनता तस्य धर्महेतुता न वंत्पन विकल्पद्वये धर्महेतुत्वाम्पुपगमे

समाधान—यह दोष उचित नहीं है क्योंकि जिस जीवने यहाँ जिस बन्धु आदिको अपना सहायक रूपसे माना हुआ है वह सहायक नहीं है इसलिये उसमें आदरभाव नहीं करना चाहिये । सम्यक्त्व ज्ञान चारित्ररूप धर्म जीवका परिणाम होनेसे उसका उपकारने सहायक है । इसलिये आचार्य उसमें आदर करते हैं ।

शङ्का—सातिशय धर्मके सहाय होनेका कथन न करके भी जाति बन्धु घन आदि उस प्रकारके सहायक नहीं होनेसे प्रस्तुत धर्मादिके ही सहायक होनेका समर्थन होता है ।

समाधान—सम्यक्त्व आदि शुभपरिणाम आत्मामे उत्तम गति, उत्तम जाति, उत्तम गोत्र, उत्तम सहनन, आयु, सातावेदनीय आदि कर्मा को उत्पन्न करके नष्ट हो जाते हैं । उन कर्मोंके उदयमे जीव, देव अथवा पचेन्द्रिय पर्याप्तक कुलीन, शुभ नीरोग शरीर वाला चिरजीवी और सुखी होता है तथा धर्मानुबन्धि पुण्यके उदयसे बुद्धि मुनिदीशके अभिमुखी होती है और निरति-चार रत्नत्रयरूप सम्पत्ति होती है । अत धर्म सहायक और उपकारी है ।

शङ्का—चारित्र ज्ञानपूर्वक होता है अत ग्रन्थकारने 'सम्यक्त्वचारित्र श्रुतमतिक' केमे कहा ? यहाँ चाग्रिके पश्चान् ज्ञानका निर्देश किया है ?

समाधान—इसका अभिप्राय यह है कि अमयत सम्यग्दृष्टिके श्रुतज्ञान होनेपर भी चारित्र-का अभाव होनेसे बहुत अधिक मवर और निजंरा ये दोनों मुख्य गुण नहीं होते । इसलिये जो मवर और निजंराके अर्थों हैं उनके लिये चारित्रकी प्रधानता है । तथा ज्ञान उपाय है और चारित्र उपाय है अत पराय होनेसे ज्ञान अप्रधान है तथा उपाय—उपाय द्वारा प्राप्य होनेसे चारित्र प्रधान है । 'जो धर्म जीवने किया' ऐसा कहनेसे धर्मके सर्वया नित्य होनेका निषेध किया है । धर्मके फलकी विचित्रता अनुभवने सिद्ध है । अत धर्मकी सर्वदा एकरूपता आगम विरुद्ध है ।

शङ्का—मुखके सापन मयी, वस्त्र, गन्ध, माला आदि अनेक हैं अत उनका कार्य मुख भी अनेक रूप है । इस तरह धर्मको नित्य मानने पर भी फल की विचित्रता बन जाती है ।

समाधान—कुछ साधन मानिनाय मुखदायक होते हैं और कुछ माधारण मुखदायक होते

कथं न वैचित्र्यं धर्मस्य । अथ न धर्मो हेतुः स्वहेतुसामान्यायततो मुखसाधनानां सातिशयनिरतिशयत-
दायत्त फलविभाग इति धर्मस्यानर्थक्यमापद्यते । ततो न धर्मस्य सर्वथा नित्यता ॥१७४७॥

शरीरद्रविणादीनां असहायताभावना तद्गोचरानुशासननिवर्तनमुपेन स्थिरयत्युत्तरगाया—

बद्धस्स वधणेण व ण रागो देहम्मि होइ पाणिस्स ।

विससरिसेसु ण रागो अत्थेसु महाभयेसु तथा ॥१७४८॥

'बद्धस्स वधणेण व ण रागो' रज्जुशृङ्खलादिनिर्बद्धस्य बन्धनक्रियासाधकतमे रज्ज्वादौ दुःखहेतौ यथा न रागः । तथा 'देहम्मि होइ पाणिस्स' मुखदुःखसाधनविवेकतस्य दुःखहेतावसारेऽस्थिरज्जुचिनि कथं न रागो भवति । गुणवशपातिनो हि प्राज्ञा । विससरिसेसु' विपत्तदशेष्वपि 'ण रागो पाणिस्स' ज्ञानिनो नैव रागः । केयु ? 'अत्थेसु सत्थेसु' । कथमर्थानां विपत्तदशानेति चेत् । यथा विप दुःखदायि पाणान्वियोजयति च तथायोऽप्यजनरक्षादिषु व्यापून दुःखेन योजयति, प्राणानां च विनाशो निमित्तं भवति । तथाहि । प्राणिनोऽर्थार्थं एव परस्परं प्रघाते प्रयतन्ते अतएव महाभयहेतुत्वान्महाभयतार्थानां सूत्रकारेणोक्ता । 'अत्थेसु महाभयेसु' इति । यद्वि यस्यानुपकारि तस्य तस्मिन् विवेकिनः सहायबुद्धिर्यथा विपत्कष्टकादौ, अपकारि शरीरद्रविणादिकमिति पुनः पुनरभ्यस्यतो नेतरः सहायोऽयमिति चिन्ताप्रबन्धः प्रवर्तते ॥ एकत् ॥१७४८॥

हे । इसमें धर्म भी कारण है या नहीं ? यदि धर्म भी कारण है तो धर्ममें वैचित्र्य क्यों नहीं हुआ । यदि कहोगे कि धर्म कारण नहीं है, सुखके साधन अपने सामान्य कारणोंके अधीन हैं और उनका जो सातिशय तथा निरतिशय फलभेद पाया जाता है वह भी उन्हींके अधीन है तो धर्म निरर्थक सिद्ध होता है । अतः धर्म सर्वथा नित्य नहीं है ॥१७४७॥

विशेषार्थ—यहाँ टीकाकारका धर्मसे अभिप्राय शुभ परिणामोंसे है । शुभ परिणामोंकी हीनाधिकताके अनुसार पुण्यबन्धमें विचित्रता होती है और तदनुसार फलमें विचित्रता होती है ॥१७४७॥

शरीर धन आदिमें असहायताकी भावनाको उनके विषयमें जो अनुराग है उस अनुरागको हटानेके द्वारा स्थिर करते हैं—

गा०—टी०—जैसे पुरुष रस्सी साकल आदिसे बंधा है उसे बन्धन क्रियामें साधकतम रस्सी आदिमें राग नहीं होता क्योंकि वे उसके दुःखमें हेतु हैं, उसी प्रकार जो अपने सुख और दुःखके साधनोमें भेदको जानता है उसे दुःखके हेतु, असार, अस्थिर अशुचि शरीरमें राग नहीं होता । विद्वान्जन गुणोंके पक्षपाती होते हैं । अतः विपके समान सब अर्थोंमें ज्ञानीका राग नहीं होता ।

शका—सब अर्थ विपके समान कैसे हैं ?

समाधान—जैसे विप दुःखदायी है, प्राण हरण कर लेता है वैसे ही अर्थ भी जो उसके उपार्जन और रक्षणमें लगता है उसे दुःख देता है । तथा प्राणोंके विनाशमें निमित्त होता है । इसका नुशासा इस प्रकार है—प्राणीगण अर्थके लिये ही परस्परमें घात करनेमें लगते हैं । इसीलिये प्रयत्नकारने महाभयका कारण हानेमें अर्थोंको महाभयरूप कहा है । जो जिसका उपकार नहीं करता, वल्कि अनुपकार करता है चिन्तेको पुरुष उसे अपना सहायक नहीं मानते । जैसे विपकण्टक

अन्यत्वभावनानिरूपणार्थमुत्तर प्रबन्ध —

किहदा जीवो अण्णो अण्णं सोयदि ह्नु दुक्खियं णीय ।

ण य बहुदुक्खपुरक्कडमप्पाणं सोयदि अबुद्धी ॥१७४९॥

'किहदा अण्णो जीवो अण्णं सोयदि' पद्यटना । अन्यो जीवो नीग स्वस्मान्य ज्ञातिवर्गं । 'दुक्खियं' दुःखेनाभिभूत कथं तावच्छोचति । 'ण य सोयदि' नैव शोचने । क ? 'अत्ताण आत्मानं' कौटुम्भूत 'बहुदुक्खपुरक्कड' शारीरैरागतुकं, मानसं स्वाभाविकैरिष बहुभिर्दुःखैः पुरस्कृत । 'अबुद्धि' मयाऽज्ञाते काले चतसृषु गणेषु विचित्रासदंघोऽप्यात् द्रव्यक्षेत्रकालनाभिमहकारिकारणसाम्निव्यापेऽयानुपरतमापद प्राप्ता पुनरप्यागमिष्यति मा खलीकत् । न हि कारणाम्पासस्थितसहकारिप्रत्यये सति कार्यस्यानुद्भवो नामस्ति, यो यद्भावेति नानादशेदुःखं स कथमिव तद्वेतुकं ? यथा सत्यपि पववीजेऽनुपजायमानश्चूताङ्कुरा । तथा सत्यसद्वेद्योदये यदि न स्युर्भवन्ति च । तस्मादात्मप्रदेसावस्थितस्य दुःखबीजस्य केनोपायेनापायो भविष्यतीत्य-ह्यनुद्धितया अबुद्धि । एतद्भूतं भवति परस्य दुःख आत्मन एव दुःखमिति मत्वा शोकमयमुपैति, तद्विनाशे च सतत प्रयत्नं करोति । तथा च प्रवर्तमानस्य स्वदुःखनिवृत्तये न प्रारम्भोऽस्ति । ततोयं दुःखं भोजं भोजं पर्यटति । न च परो दुःखात्प्राप्तुं शक्यते । तेन हि सञ्चितानि कर्माणि कथं फलं न प्रयच्छन्ति । न हि परस्य शोकं फलशयिना कर्मणा प्रतिबन्धकं, तथा चाम्यधापि—

आदिको कोई अपना सहायक नहीं मानता । उसी प्रकार शरीर धन वगैरह भी अपकार करनेवाले हैं । इस प्रकार बार-बार अभ्यास करनेसे 'मेरा कोई अन्य सहाय नहीं है । ऐसा सतत् चिन्तन चलता है ॥१७४८॥

आगे अन्यत्व भावनाका कथन करते हैं—

गा०—टी०—अन्य जीव अपनेसे अन्य सम्बन्धी जनोको दुःखसे पीडित देखकर वंभे शोक करता है ? किन्तु यह अज्ञानी शारीरिक, आगन्तुक, मानसिक और स्वाभाविक अनेक दुःखोंसे घिरे हुए अपने आत्माकी चिन्ता नहीं करता है कि अतीतकालमें मैंने चारों गतिधामोंमें अनेक प्रकारके अमातावेदनीयके उदयसे तथा द्रव्य क्षेत्र काल और भावरूप सहकारी कारणोंके मिलनेमें निरन्तर आपदाएँ भोगी और वे आपदाएँ पुनः मुझे परेशान करनेके लिये भविष्यमें आयेंगी । सहकारी कारणोंके साथ कारणके रहते हुए कार्य अवश्य उत्पन्न होता है । जो जिनके रहते हुए भी उत्पन्न नहीं होता वह उमका कारण वंभे हो सकता है ? जैसे जो बोनेपर आमका अकुर पैदा नहीं होता अतः आमके अकुरका कारण जोके बीज नहीं हैं । उसी प्रकार अमातावेदनीयका उदय होते हुए भी यदि दुःख नहीं होता तो अमातावेदनीय दुःखका कारण नहीं हो सकता । किन्तु अमातावेदनीयके उदयमें दुःख अवश्य होता है । अतः आत्माके प्रदेशोंमें जो दुःखके कारण उपस्थित हैं उनका विनाश किम् उपायसे होगा, ऐसा विचार न करनेसे उमें अबुद्धि कहा है । बहनेका अभिप्राय यह है कि यह अज्ञानी जीव दूसरेके दुःखको अपना ही दुःख मानकर शोक करता है और उसके विनाशका निरन्तर प्रयत्न करता है । और ऐसा करनेसे अपने दुःखको दूर करनेका प्रारम्भ भी नहीं कर पाता । इसमें दुःख भोगते-भोगते भ्रमण करता है । दूररेको दुःखमें बचाना शक्य नहीं है । उसने जो कर्मबन्ध किया है वह उसे फल क्यों नहीं देगा ? दूररेके शोक करनेसे फल देनेवाले कर्म शक्य नहीं जाते । कहा भी है—

प्रीति पूर्वं कृत कर्म मनोवाकवापकर्मभिः ।

न निवारयितुं शक्यं सहस्रत्रिदशैरपि ॥ इति ॥

तेनान्यदुत्सापेशं शोकोऽप्यव्ययं । अन्यशब्देन च स्वदुःखात्पृथक्त्वपरदुःखस्योच्यते । अन्यत्र परदुःखागतम्यानुप्रेक्षणमन्यत्वानुप्रेक्षा एव परदुःखस्यान्यतामरप्रेक्षमाण परदुःखस्योपहननं वस्तु न शक्यत इति न शोचति [परदुःखं], स्वदुःखंमूलने प्रयतत इति भावोऽप्यस्य सूत्रे ॥१७४९॥

मवंस्य जीवराशेरत्मानोऽप्यत्वस्यैवानुप्रेक्षणमन्यत्वानुप्रेक्षेति कथयत्युत्तरगाथा—

संसारमि अणते सगेण कम्ममेण हीरमाणार्णं ।

को कस्म होइ सयणो सज्जड मोहा जणमि जणो ॥१७५०॥

'संसारमि अणते' अन्तातीते पञ्चविधे रासारं परिवर्तने । 'सगेण कम्ममेण' आमीयमिथ्यादर्शनादि परिणामोत्पादितकर्मपर्यायेण पुद्गलस्वरूपेण 'हीरमाणार्णं' आहुष्यमाणानां बहुविधा गतिं प्रति । 'को कस्म होइ सयणो' नैव कश्चिन् कस्यचित्स्वजनो नाम प्रतिनियतोऽस्ति । युज्यतेऽप्यविवेकस्वजनोऽप्यपरजनोऽप्यमिति यदि यो यस्य स्वजनत्वेनाभिमतस्म तस्यैव स्वजन सर्वदा भवेत् । परजनो वा स्वजनता नोपेयात् । न चायमन्ति प्रतिनियम स्वकर्म परतन्त्राणामतो न कश्चिन् स्वो जनं परे वा ममास्ति । सर्वो जीवराशि-मिथ्यात्वादिगुणविकल्पोपनीतनानातोऽप्येव एवेति कृतम्यवसायस्य क्वचिदेव दया प्रीतिर्वा क्वचिन्निर्दयता द्वेषोऽभमानतारूपो न प्रादुर्भवति ततो विरागद्वेषस्य चारित्र्यमविकल्प भवति । 'सज्जडि जणमि जणो' आत्मन्ति

'पूर्वमे मन, वचन, कायमे जो कर्म किये है । मव इन्द्र भी मिलकर उनका निवारण नहीं कर सकते' ।

इसलिये दूसरेके दुःखको देखकर हमका शोक करना व्यर्थ है । अन्य शब्दमे परके दुःखको अपने दुःखसे भिन्न कहा है । परके आगत दुःखको अपनेमे भिन्न चिन्तन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है । इस प्रकार परके दुःखको अपनेसे भिन्न विचार करता हुआ जानता है कि परके दुःखका विनाश करना शक्य नहीं है इसलिये वह उसका शोक नहीं करता । और अपने दुःखके विनाशमे प्रयत्नशील रहता है । यह आचार्यका अभिप्राय है ॥१७५१॥

आगे कहते हैं कि समस्त जीवराशि अपनेमे अन्य है ऐसा चिन्तन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है—

गा०-टी०—पचपरावर्तनं रूपं ससारके अनन्तं होते हुए अपने मिथ्यादर्शन आदि परिणामोत्से उत्पन्न हुए पुद्गल स्वरूप कर्म पर्यायके द्वारा अनेक गतियोंमे भ्रमण करने हुए जीवका कौन किमका स्वजन है ? यह स्वजन है और यह परजन है यह भेद हो सकता था यदि जो जिसका स्वजन है वह उसका स्वजन सदा रहता और परजन कभी भी स्वजन न होता । किन्तु अपने-अपने कर्मोंके अधीन जीवोंका यह नियम नहीं हो सकता । अन न कोई मेरा स्वजन है और न कोई परजन है । मिथ्यात्व आदि गुणस्यानोक्ते भेदसे नाना भेदरूप हुई ममस्त जीवराशि मुझसे भिन्न ही है ऐसा जिमने निश्चय किया है उसका किन्तोमे ही दया और प्रीति और किन्तोमे निर्दयता और द्वेष यह अमानतरूप व्यवहार नहीं बनना । इसलिये जो राग-द्वेषमे रहिन है

करोति जन हि जनो ममाय भ्राता पिता पुत्रो भागिनियो दास स्वामीति^१, वा मोहद्वस्तुत्वस्य अन्यतामात्र-
रूपस्य निरस्तस्वजनत्वस्य^२ परिज्ञानात् ॥१७५०॥

प्रकारात्तरेण स्वजनपरजनविवेकाभाव दर्शयत्युत्तरगाथा—

सव्वो वि जणो सयणो सव्वस्स वि आसि तीढकालम्मि ।

एते य तहाकाले होहिदि सजणो जणस्स जणो ॥१७५१॥

‘सव्वो वि जणो सजणो’ निरवरोधो जन्तुरनन्त स्वजन । ‘सव्वस्स वि’ सर्वस्यापि प्राणमृत । ‘तीढ-
कालम्मि’ अतीते काले ‘आसि’ आसीत् । ‘एते य तथा काले’ भविष्यति तथा काले । ‘होहिदि’ भविष्यति ।
‘सजणो जणस्स जणो’ स्वजनो जनस्य जन । एतदनेनाख्यायते अतीते भविष्यति च काले सर्वस्य सर्वं स्वजन
अमीद्व्युत्पद्यति च । ततस्म्यवसाधारणत्वं स्वजनत्वस्य मति ममाय स्वजन इति मिथ्यानकल्प । अतएव
गमाप्य^३ न्यस्तस्य इत्येतदेव तत्त्वमित्यन्यत्वस्य स्वपरविषयस्यानुप्रेक्षणमन्यत्वानुप्रेक्षा ॥१७५१॥

रत्तिं रत्तिं रुक्खे रुक्खे जह सउणयाण सगमणं ।

जादीए जादीए जणस्स तह सगमो होई ॥१७५२॥

‘रत्तिं रत्तिं’ राधो राधो । ‘रुक्खे रुक्खे’ वृक्षे वृक्षे । ‘जह सउणयाण सगमणं’ यथा पक्षिणा सगमन ।
‘जादीए जादीए’ जन्मनि जन्मनि । ‘जणस्स’ जनस्य । ‘तहा’ तथा । ‘सगमो होई’ सगमो भवति । यथा
राश्रावाथयमन्तरेण स्थातुममर्थं पक्षिणो योग्य वृक्षमस्त्विव्य ढीकते । तद्वत्प्राणिनोपि निरवरोपगलितायु
पुद्गलम्वन्ध्या परित्यक्तप्राक्तनसरीरा सरीरातरग्रहणाधिनि सरीरग्रहणयोग्यदेश यौनिकजितमास्वन्दन्ति ।

उसका चारित्र सर्वत्र एकरूप होता है । यह मेरा भाई, पिता, पुत्र, भानेज, दास या स्वामी है
इस प्रकार आसक्ति मनुष्य मोहवदा करता है । वस्तुतत्त्व तो अन्यतामात्र रूप है उसमें कोई
स्वजन नहीं है ॥१७५०॥

प्रकारान्तरसे स्वजन और परजनके भेदका अभाव कहते हैं—

गा०—अतीतकालमें सब प्राणियोंके समस्त अनन्त जीव स्वजन थे । तथा भविष्यत् कालमें
सब प्राणियोंके सब जीव स्वजन होंगे ॥१७५१॥

टी०—इस गायसे यह कहा गया है कि अतीत कालमें सबके सब जीव स्वजन थे और
भविष्यमें सबके सब जीव स्वजन होंगे । इस प्रकार जब सभी जीव स्वजन हैं तो यह मेरा स्वजन
है इस प्रकारका सकल्प मिथ्या है । वे मुझसे अन्य हैं और मैं उनसे अन्य हूँ, इस स्वपरविषयक
अन्यत्व तत्त्वका चिन्तन अन्यत्वानुप्रेक्षा है ॥१७५१॥

गा०—जमें प्रत्येक रात्रिमें प्रत्येक वृक्षपर पक्षियोंका मगम होता है उसी प्रकार जन्म-
जन्ममें मनुष्योंका मगम होता है ॥१७५२॥

टी०—जैसे रात्रिमें आथयके बिना रहनेमें अममर्थ पक्षी योग्य वृक्षको त्याजकर उमापर
वनेरा लेते हैं । उन्हीकी तरह मसारके प्राणी भी जब उनके आयुकर्मके पुद्गल म्वन्ध पूर्णरूपमें

१ नि वगामो०—आ० । २ जनपरि—आ० । ३ अपरिज्ञानात् इति प्रतिभाति । ४ तानान्या

ममापरतन्नेव इत्ययदेव—आ० । ५ न्यस्तस्य इ—आ० ।

तत्र ययो शुक्रयोगितमयमाश्रितोऽगुचितम तौ पितरारविति सवस्त्वयति । तयाभूतयोरेव शुक्रयोगितमोरपात्त-
देहा भ्रातर इति । अन्ये त एवभूताश्च स्वजनिनोतिमुलभा । काताररे पक्षिणा निषामवृथा इवेति
भाव ॥१७५२॥

पहिया उवासये जह तहिं तहिं अन्नियति ते य पुणो ।

छंडित्ता जति णरा तह णीयसमागमा सव्वे ॥१७५३॥

'पहिया' पयिका । 'उवासये' उपाश्रये कस्मिन्चित् । 'जह' यथा । 'तहिं तहिं' तस्मिस्तस्मिन् ग्राम-
नगरादी । 'अन्नियति' अन्यान्य ढीकन्ते । 'ते य' ते च सगता पयिका । 'पुणो' पश्चात् । 'छंडित्ता' त्यक्त्वा ।
'जति' याति स्वाभिमत देश । 'तह णीयसमागमा सव्वे' तथा बन्धुसमागमा सर्वेषु च । एतेन बन्धु-
समागमस्यानित्यता व्याख्याता ॥१७५३॥

भिण्णपयडिम्मि लोए को कस्स सभावदो पिओ होज्ज ।

कज्ज पडि सवध वालुयमुट्ठीव जगमिणमो ॥१७५४॥

'भिण्णपयडिम्मि लोए' नानास्वभावं लोके । 'को कस्स सभावदो पिओ होज्ज' क कस्य स्वभावं
प्रिया भवेत् । समानशीलताया हि सख्य भवति । न च सर्वबन्धव समानशीला कथं तहिं तेषा वा स
वान्धव । 'कज्ज पडि सवधो' कायमेवाहिय सम्बन्ध' नासति कार्येऽस्ति सम्बन्ध । 'वालुयमुट्ठीव' बालुका-
मुष्टिरिव । 'जगमिणमो' लोकोय । यथा बालुकाना भिन्नप्रकृतीना इवद्रव्यमत्तरेण न स्वाभाविक सम्बन्धो येन
सगता मुष्टिमुपेयु । उदकादिद्रव्योपनीतैव सगतिस्तासा, एव कार्योपनीतैव सगति स्वजनाना ॥१७५४॥

गल जाते है, और वे पूर्व शरीरको छोड नवीन शरीर ग्रहण करना चाहते हैं, तो वे शरीर ग्रहण
कारनेके योग्य देशमें, जिसे योनि कहते हैं, जाते हैं। वहाँ उन्हें जिनके अत्यन्त अपवित्र रजवोर्यं
रूपका आश्रय प्राप्त होता है उन दोनोंमें माता-पिताका सकल्प करते हैं। उसी प्रकारके रजवोर्यसे
जिनके शरीर बनते हैं वे भाई होते हैं। बनने पक्षियोंके रहनेके वृक्षोंकी तरह इस प्रकारके
स्वजनवास सुलभ है। यह उक्त गायिका अभिप्राय है ॥१७५२॥

गा०—जैसे किसी उपाश्रयमें पयिक विभिन्न ग्राम नगर आदिमें परस्परमें मिलते हैं। पीछे
वे सब उस उपाश्रयको छोडकर अपने-अपने देशको चलें जाते हैं। उसी प्रकार सब बन्धु-वान्धवोंका
समागम है। इससे बन्धुसमागमको भी अनित्य कहा है ॥१७५३॥

गा०—टी०—लोगोंके अलग-अलग स्वभाव होते हैं। ऐसे नाना स्वभाववाले लोकमें कौन
किसको स्वभावसे प्रिय हो सकता है। समानशील वालोंमें ही मित्रता होती है। किन्तु सब बन्धु-
वान्धव तो समान शीलवाले नहीं होते। तब कैसे वह उनका बन्धु हो सकता है। कार्यको लेकर
ही सम्बन्ध होता है। कार्यके न रहनेपर सम्बन्ध नहीं रहता। जैसे रेतका प्रत्येक कण अपना
भिन्न स्वभाव रखता है। किसी मिलानेवाले द्रव्यके दिना उनका परस्परमें कोई स्वाभाविक
सम्बन्ध नहीं है। पानी आदिके सम्बन्धसे ही वे परस्परमें मिलते हैं। अन्याया मुट्टीमें अलग-अलग
ही रहते हैं। इसी प्रकार स्वजन भी कार्यवश ही परस्परमें मिलते हैं ॥१७५४॥

त च कार्यद्वय सम्बन्ध स्पष्टयत्युत्तराया—

माया पोसेद् सुयं आधारो मे भविस्सदि इमोत्ति ।

पोसेदि सुदो माद गन्धे धरिओ इमाएत्ति ॥१७५५॥

'माया पोसेदि सुद' माता पोपयति सुन । 'आधारो मे भविस्सदि इमोत्ति' अय ममाधारो भविष्य-
तीति । 'पोसेदि सुदो माद' पोपयति सुदो मातर । 'गन्धे धरिओ इमाएत्ति' गर्भे धारितोऽजयेति ॥१७५५॥

उपकारापकारयो प्रतिबन्धात् शत्रुता मित्रता वेति तत् कथयति—

होउण अरी वि पुणो मित्त उवकारकारणा होइ ।

पुनो वि खणेण अरी जायदि अन्नयारकरणेण ॥१७५६॥

'होऊण अरी वि' शत्रुत्वमि भूत्वा । 'पुणो' पुन । 'मित्तो होइ' सुहृद्भवति । म एवारि । कुत ?
'उपकारकरणा' उपकारकरणेन । 'पुत्तोवि खणेण अरी जायदि' पुत्रोपि क्षणेन शत्रुर्भवति, केन ? अपकार-
करणेन, निर्भर्त्सनतादनाद्यपकरणक्रियायाः । यस्मादेव ॥१७५६॥

तम्हा ण कोह कस्सइ मयणो व जणो व अत्थि ससारे ।

कज्ज पडि हुति जगे णीया व अरी व जीवाणं ॥१७५७॥

'तम्हा' तस्मान् । 'ण कोह कस्सइ मयणो व जणो व अत्थि ससारे' नैव कश्चित्कस्यचित्स्वजन
परजनो वा विद्यते । 'कज्ज पडि होइ' शीघ्रं वा अरी वा जन' वार्यमेवोपकारापकारलक्षण प्रति बन्धव
शत्रुवत्त्वं भवति । न स्वाभाविकी बन्धुता शत्रुता वा जीवानामस्ति उपकारापकारक्रिययोरनवस्थितत्वात्तन्मू-
लोत्तरमित्रभावोप्यनवस्थित इति न रागद्वेषो भवतिदपि कार्ये । मत्तोऽज्ये सर्व एव प्राणभूत इति कार्यान्व-
त्वानुप्रेषेति प्रस्तुताधिकारेणाभिसम्बन्ध ॥१७५७॥

आगे उम कार्यवश हुए सम्बन्धको टूट करते हैं—

गा०—यह मेरा बुढ़ापेमें आधार होगा इस भावनासे माता पुत्रका पालन करती है और
पुत्र माताका पालन करता है कि इसने मुझे गर्भमें धारण किया था ॥१७५५॥

आगे कहते हैं कि शत्रुता और मित्रता उपकार और अपकारसे बँधे हैं—

गा०—शत्रु होकर भी उपकार करनेमें मित्र हो जाता है । अपकार करनेसे पुत्र भी क्षण-
भरमें शत्रु हो जाता है । अर्थात् यदि पुत्र माता पिताका तिरस्कार करता है उन्हें मारता है तो
वह शत्रु ही प्रतीत होता है ॥१७५६॥

गा०—इसलिये ससारमें कोई किसीका न स्वजन है और न परजन है । उपकार और
अपकार रूप कार्यको लेकर ही जीवोंके मित्र या शत्रु बनते हैं ॥१७५७॥

टो०—जीवोंमें न तो स्वाभाविक शत्रुता है और न स्वाभाविक बन्धुता है । उपकार
और अपकाररूप क्रिया भी स्थायी नहीं है इसलिये उपकार मूलन मित्रता और अपकारमूलक
शत्रुता भी स्थायी नहीं है । अत न किसीसे राग करना चाहिये और न किसीमें द्वेष करना
चाहिये । सभी प्राणी मनुष्यमें अन्य है इस प्रकार अन्यत्वानुप्रेक्षा करना चाहिये ॥१७५७॥

शत्रुमित्रयोर्लक्षणमाचष्टे—

जो जस्स वट्टदि हिदे पुरिसो सो तस्म घघवो होदि ।

जो जस्म कुणदि अहिद सो तस्स रिबुणि णायव्वो ॥१७५८॥

‘जो जस्स वट्टदि हिदे’ यो यस्य उपकारे वर्तते । ‘पुरिसो’ पुरुष । ‘सो तस्स घघवो होवि’ स तस्य बन्धुर्भवति । ‘जो जस्स कुणदि अहिद’ यो यस्य करोत्यहित । ‘सो तस्स रिबुणि णायव्वो’ म तस्य रिपुरिति ज्ञातव्य ॥१७५८॥

शत्रुलक्षण बन्धुषु दर्शयति—

णीया करति विग्घ मोक्खब्भुदयावहस्स धम्मस्स ।

कारिंति य अइवहुग असजम तिव्वदुक्खकर ॥१७५९॥

‘णीया करति विग्घ’ बन्धव कुर्वन्ति विघ्न । कस्य ? ‘धम्मस्स’ धर्मस्य, ‘कीदुग’ ? मोक्खरभुद यावहस्स’ निरवशेषदु खकारिबर्माणाय सासारिकमतिनायवन् मुख च सपादयतो रत्नत्रयस्य । ‘कारिंति य’ कारयन्ति च । किं ? ‘असजम’ हिमानुतस्तेषादिक, ‘अइवहुग’ अतीव महात् । ‘तिव्वदुक्खकर’ दु सह-नरकादिषु खोत्थायनोत्थत् । हितस्य विघ्नकरणादहिते च प्रवर्तनात् दर्शिता शत्रुता शून्यतामितेन । अन्येषा बान्धवाद्यभिमताना शत्रुत्वेनानुप्रेक्षा अन्यत्वानुप्रेक्षेति कथितं भवति ॥१७५९॥

इदानीमप्यन्वयेन साधुषो भण्यते तेषामुपकारकत्वपेणानुप्रेक्षेति चेत्तसि वृत्त्या व्याचष्टे—

णीया सत्तु पुरिसस्म हृति जदिधम्मविग्घकरणेण ।

कारेति य अतिवहुग असंजम तिव्वदु खयर ॥१७६०॥

शत्रु और मित्रका लक्षण कहते हैं—

गा०—जो पुरुष जिसका उपकार करता है वह उसका वाग्धव होता है । और जो जिसका अहित करता है वह उसका शत्रु होता है । यह मित्र और शत्रुका लक्षण जानना ॥१७५८॥

आगे बन्धुओंमें शत्रुका लक्षण दिखलाते हैं—

गा०—टी०—बन्धुगण दु ख देनेवाले सब कर्मोंका पूर्णरूपसे विनाश और समाश्रयका सातिशय दु ख देनेवाले रत्नत्रयरूप धर्ममें विघ्न करते हैं । और दु सह नरकादिके दु खोंको लानेमें तत्पर हिंसा, झूठ, चोरी आदि अमयम करते हैं । अर्थात् यदि कोई जिनदीक्षा आदि लेकर आत्म-कल्याणमें लगना चाहता है तो परिवारके लोग उसे रोकते हैं तथा अपने पीपणके लिये मनुष्यको बुरे कर्म करनेकी प्रेरणा करते हैं । तो हितसाधनमें विघ्न करनेमें और अहितमें लगानेसे बन्धु शत्रु हैं, यह इसमें दिखलाया है । इसका अभिप्राय यह है कि जो अन्य बान्धव आदि रूपसे इष्ट हैं उन्हें भी शत्रु रूपसे विचारना कि ये मेरे मित्र नहीं हैं, शत्रु हैं, अन्यत्वानुप्रेक्षा है ॥१७५९॥

अब अन्य शब्दसे साधुओंको खेतें हैं । उन्हें उपकारी रूपमें विचारना अन्यत्वानुप्रेक्षा है, यह कहते हैं—

गा०—पुरुषके यति धर्म स्वीकार करनेमें विघ्न करनेसे बन्धुगण शत्रु होते हैं तथा वे

‘अन्यथा यतीना बन्धुत्व कथं प्रस्तुताया अन्यत्वानुप्रेक्षामामुपयुज्यते ॥१७६०॥

पुरिसस्स पुणो साधु उज्जोव संजणति जदिधम्मे ।

तथ^३ तिव्वदुक्खकरण असंजमं परिहरावेत्ति ॥१७६१॥

‘पुरिसस्स’ पुष्टयस्य । ‘पुणो साधु’ साधव वृत्त उज्जोव संजणति’ उद्योग सम्यग्जनयति । ‘जदिधम्मं’ मत्तारभपरिग्रहत्यागलक्षणं यतिधर्मं, ‘तथ असंजमं परिहरावेत्ति’ तथा असंजमं परिहारयन्ति । कीदृग्भूत ? ‘तिव्वदुक्खयर’ तीव्राणा दुःखानामुत्पादक ॥१७६१॥

उपमहरति प्रस्तुतमय—

तम्हा णीया पुरिसस्स होंति साहु अणेयसुहेहेदु ।

मसाग्मदीणता णीया य णरस्स होंति अरी ॥१७६२॥

‘तम्हा’ तस्मात् । हिते प्रवर्तनान् अहिते निवर्तनान् । ‘णीया पुरिसस्स’ बन्धव पुष्टयस्य । के ? ‘साधु’ साधव । ‘अणेयसुहेहेदु’ इन्द्रियातीन्द्रियमक्कलमुखहेतव । ‘समारमदीणता’ समारमपारनेकदुःखसङ्कुल-मवतारयन्त । ‘णीया य णरस्स होंति अरी’ धनवो भवन्ति मनुष्यस्य बन्धव । एतेन मूत्रेण अन्यथा यतीना बन्धूना मित्रत्वगन्धुत्वानुप्रेक्षण अन्यत्वानुप्रेक्षेति कथ्यते । एवमनुप्रेक्षमाणस्य धर्मं तदुपदेशकं रिणि च यतिजने महानादरो भवति । अभिमतं मकलं मुखमुपस्थापयतो धर्मस्य विघ्नं सम्पादयन्तु चतुर्गतिघटीयन्त्रे^४ दुःखानार-‘आरोहणम्’ नितरामनादरो भवति ॥१७६२॥ अण्णत्त ।

ससागनुप्रेक्षा कथ्यते प्रबन्धेनोत्तरेण—

मिच्छत्तमोहिदमदी संसारमहाडवी तदोदीदि ।

जिणवयणविप्पणट्ठो महाडवीविप्पणट्ठो वा ॥१७६३॥

अत्यन्तं दुःखं दुःखदायी अमयमं कराते है इसलिये भी वे दानु है ॥१७६०॥

गा०—किन्तु मानु मवं आरम्भ और मवं परिग्रहवे त्यागरूपं मुनियमं पुष्पको तत्पर कराते है और तीव्र दुःखदायी अमयमका त्याग कराते है ॥१७६१॥

प्रस्तुत कथनका उपसंहार करते है—

गा०—टी०—अतः हितमे लगाने और अहितमे रोकनेके कारण माधुगण बन्धु है । वे इन्द्रियजन्य और अतीन्द्रिय मुखके कारण है तथा अनेक दुःखोंमें भरे अपार समारमे पार उतारते है । इस गाथाके द्वारा अपनेमें अन्य माधुगणोंका मित्ररूपमें और बन्धुगणोंका दानुरूपमें चिन्तन करनेको अन्यत्वानुप्रेक्षा कहा है । ऐसा चिन्तन करनेमें धर्ममें और धर्मका उपदेश करनेवाले माधुगणमें महान् आदर होता है । और सर्व इष्टं सुखको देनेवाले धर्ममें विघ्न करनेवालोंमें और जिनपरमें उतारना दुःखकर है उम चार गतिरूपी घटीयत्रपर चटाने वालोंमें अत्यन्त अनादर होता है ॥१७६२॥

१ अन्यथा—आ० म० । २ कथमत्र—आ० म० । ३ असंजमं परिहरावेत्ति तिव्वदुक्खयर—आ० ।

४ यानिन्द्रि—आ० म० । ५ यन्त्रे दुःखभारे वा—आ० म० । ६ आरोहणम्—अ० म० ।

'मिच्छतमोहिदमदी' वस्तुयायात्प्राध्यान दर्शनमोहोदयञ्च मिथ्यात्व तेन मिथ्यात्वेन हेतुना मोहमुपगता मतिर्यस्यासी । 'ससारमहाटवी' ससारो महाटवी 'दुस्तरत्वाद्नेत्रदुःस्माहत्वाद्दिनानामितु-
मुयतत्वाच्च ता ससारमहाटवी । 'तवे' तस्मान् मिथ्यात्वमूढमतित्वात् । 'अदीदि' प्रविशति । ननु च मिथ्या-
त्वात्मयमकृपाययोगाश्चत्वारोऽपि ससारस्य निमित्तभूता तत्र किमुच्यते मिथ्यात्वमूढमति ससारमहाटवी
प्रविशतीति । अत्रोच्यते—उपलक्षण मिथ्यात्वग्रहण असयमादीना । 'जिणघयणविष्णुण्टो' द्रव्यभावकर्मा-
रानिजयात् जिनास्तेषा वचन जीवाद्यर्थयायात्प्रकाशनपदु प्रत्यक्षादिप्रमाणातराविरोधि ततो विप्रनष्टस्तर्या-
परिज्ञानात् वस्तुत्वप्रधान तन्निरपितेन मार्गेणानाचरणाच्च महाटवी महतीमटवी प्रविशति । 'विष्णुण्टो वा'
मार्गादिप्रनष्ट इव । 'ससारमहोदयिमविगम्न जीवपोतो भमदि' ससारमहासमुद्र प्रविश्य जीवयानपात्र भ्रमति ।
कीदृग्भूत ससारमहोदयि ॥१७६३॥

बहुतिच्चदुक्खसलिल अणतकायप्पवेसपादाल ।

चदुपरिवट्टावत्त चदुगदिवहुपट्टमणत्त ॥१७६४॥

'बहुतिच्चदुक्खसलिल' बहूनि तोत्राणि दु खानि सलिलानि यस्मिन्समारमहादधौ त । 'अणतकायप्पवेस
पादाल' अनताना जीवाना काय शरीरअनतकाय अनन्तकाय 'प्रवेशास्ते पातालसस्यानीया यस्य त । अथवा
न विद्यते अन्तो निश्चयोऽप्यैव जीवस्येद शरीरमिति बहूना साधारणत्वात् यस्मिन् काये सोऽनन्त कायोऽस्य

आगे ससार अनुप्रेक्षाका कथन करते हैं—

गा०—टी०—दर्शनमोहके उदयसे जो वस्तुके यथार्थस्वरूपका सप्रधान है उसे मिथ्यात्व
कहते हैं । उस मिथ्यात्वके कारण जिसकी मति मोहित है वह मिथ्यात्वसे मोहितमति होनेसे
ससाररूपी महा अटवीमें प्रवेश करता है । महाअटवीके समान ही ससारको पार करना कठिन है
वह अनेक दु खोंसे भरा है तथा प्राणीका विनाश करनेवाला है इसलिये ससारको महाटवी
कहा है ।

शंका—मिथ्यात्व, असयम, कृपाय और योग ये चारो भी ससारके हेतु हैं । तब यह क्यों
कहा कि मिथ्यात्वमें जिसकी मति मूढ है वह ससार महाटवीमें प्रवेश करता है ।

समाधान—मिथ्यात्वका ग्रहण असयम आदिका उपलक्षण है अत मिथ्यात्वके ग्रहणमें
असयम आदिका ग्रहण हो जाता है । द्रव्यकर्म और भावकमरूपी शत्रुओंको जीतनेसे जो जिन
कहे जाते हैं उनके वचन जीवादि पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको प्रकाशनमें दक्ष हैं तथा वे प्रत्यक्ष
आदि अन्य प्रमाणोंमें अविच्छेद हैं । उन वचनोंका अर्थ न जाननेसे जो सत्त्वोंका अध्रधान है उससे
तथा उसमें कहे गये मार्गके अनुसार आचरण न करनेसे ससाररूपी महाअटवीमें प्रवेश करता है ।
तथा मार्गमें भ्रष्ट होकर जीवरूपी जहाज ससाररूपी महासमुद्रमें प्रवेश करके भटकता है ॥१७६३॥

ससाररूपी महासमुद्र कैसा है, यह बतलाते हैं—

गा०—टी०—जिस ससाररूपी महासमुद्रमें तीव्र दु खरूपी जल भरा है और अनन्त जीवोंके
काय अर्थात् शरीरको अनन्तकाय कहते हैं । अनन्तकायमें प्रवेश ही जिस ससार समुद्रमें पाताल
है । अथवा 'यह शरीर इमी जीवका है' ऐसा अन्त अर्थात् निश्चय जहाँ नहीं वह काय अनन्त है

जीवस्येत्यनन्तकाय । अन्तरेणापि भावप्रधानो निर्देश । तेनायमर्थ अनन्तकायत्वस्य प्रवेश अनन्तकाय-
प्रवेश स पाताल यम्य त । 'चतुपरिवट्टावत्' चत्वार द्रव्यक्षेत्रकालमावास्या परिवर्ता आवर्ता यस्मिस्त ।
'चतुर्गदिवट्टपट्टण' चतस्रो गतयो बहूनि महान्ति पत्तनानि यस्मिस्त । 'अणत' अनन्त ॥१७६४॥

हिंसादिदोसमगरादिसावद दुविहजीववहुमच्छ ।

जाडजराभरणोदयमणेयजादीमदुम्भीयं ॥१७६५॥

'हिंसादिदोसमगरादिसावद' हिंसानूतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहा हिंसादिदोपास्ते मकरादय स्वापदा यस्मिस्त ।
'दुविहजीववहुमच्छ' द्विविधा स्यात्परजगमविकल्पा जीवा इति द्विविधा जीवास्ते बहवो मत्या यस्मिन् ।
'जाडजराभरणोदय' जानिरभिनवारीरग्रहण, जरा नाम गृहीतस्य शरीरस्य तेजोवलादिभिरुत्ता, मरण
शरीरादपगम एतानि जातिजराभरणानि उदय उद्गतियस्मिन् । 'अणेयजादीमुदुम्भीयं' अनेकानि जाति-
शतानि ऊर्मयो यस्मिन् । एकद्वित्रियतुष्पञ्चेन्द्रियजानय प्रत्येकमवान्तरभेदापेक्षया पृथिवीकायिका, अष्कायिका-
स्तेज्कायिकवनस्पतिकायिका इति । एकेन्द्रियजानिरनेकप्रकारा । षड्विंशद्विकल्पा पृथिवी । आपोऽपि वर्पहिम-
हिमानीकरकादिभेदभिन्ना । अन्निरपि प्रदीपोऽम्बुकमचिरित्यनेकभेद । वायुरपि गुञ्जामण्डलिकादिविकल्प ।
वनस्पतयोऽपि तरयुन्भवन्लीलातृणादिभेदास्ततो जातिशतानोर्युक्त ॥१७६५॥

क्योंकि एक शरीरमे बहुतसे जीव समानरूपसे रहते हैं। वह अनन्तकाय जिस जीवकी है वह
अनन्तकाय है। 'भाव प्रत्ययके बिना भी निर्देश भावप्रधान होता है' इस नियमके अनुसार अर्थ
होता है अनन्त कायत्वका प्रवेश अनन्तकाय प्रवेश। वही जिसमें पाताल है। तथा द्रव्य क्षेत्र काल
और भाव परिवर्तन रूप जिसमें चार भँवर हैं। और चारगतिरूप महान् द्वीप हैं तथा जो अनन्त
है ॥१७६४॥

विशेषार्थ—समारको महासमुद्रकी उपमा दी है। समुद्रमे जल होता है ससारमे दु ख ही
जल है। जैसे जलका आरपार नहीं है वैसे ही ससारके दु खका भी आदि अन्त नहीं है। समुद्रमे
पानाल होते हैं जिनमे प्रवेश करके निकलना कठिन है। ससारमे जो अनन्तकाय निगोद हैं वही
पाताल है उनमे प्रवेश करके निकलना कठिन है। समुद्रमे भँवर होते हैं। ससारमे परिवर्तनरूप
भँवर है। समुद्रमे द्वीप होते हैं जहाँ कुछ समय ठहर सकते हैं। ससारमे चार गतियाँ ही द्वीप हैं।
इसी प्रकार समुद्र भी अनन्त है और ससार भी ॥१७६४॥

गा०—टी०—उम ससाररूपी समुद्रमे हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रहर्णपी मगर
आदि क्रूर जन्तु रहते हैं। म्यावर और जगम जीवरूप बहुतसे मच्छ हैं। जाति अर्थात् नया
शरीर धारण करना, जरा अर्थात् वर्तमान शरीरके तेज वल आदिमे कमी होना, मरण अर्थात्
शरीरका त्याग । ये जाति जरा और मरण उसके उठाव हैं तथा सैकड़ो जातियोंपी उनमे तरंग
हैं। एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पचेन्द्रिय ये पाँच जातियाँ हैं। इसमेंमे प्रत्येकके
अनेक अवान्तर भेद हैं। जैसे एनेन्द्रिय जातिके पृथिवीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक,
वनस्पतिकायिक आदि अनेक भेद हैं। उनमेंसे भी पृथिवीके छत्तीस भेद हैं। जलके भी बर्षा, हिम,
ओले आदि भेद हैं। आगके भी दीपक, अगार, लपट आदि अनेक भेद हैं। वायुके भी गुञ्जा,
माण्डलिक आदि भेद हैं। वनस्पतिके भी वृक्ष, शाही, बेल, लता, तृण आदि भेद हैं। इन्गमें
सैकड़ो जातियाँ कही हैं ॥१७६५॥

दुविहपरिणामवाद ससारमहोदधिं परमभीम ।

अदिगम्म जीवपोदो भमइ चिर कम्मभण्डभरो ॥१७६६॥

‘दुविहपरिणामवाद द्विविधा शुभानुभपरिणामा वाता यस्मिस्त । ‘परमभीम’ अतिभयकर । ‘अदिगम्म’ प्रविश्य । ‘जीवपोदो’ जीवपोत । ‘भमइ चिर’ चिरकाल भ्रमति । ‘कम्मभण्डभरो’ कर्मद्रविण-भार । त्रिभि मम्बन्ध ॥१७६६॥

भवससार निरूपयति—

एगविगतिगचउपचिंदियाण जाओ हवाति जोणीओ ।

मव्वाओ ताओ पत्तो अणत्सुत्तो इमो जीवो ॥१७६७॥

‘एगविगतिगचउपचिंदियाण’ नामकर्म गतिजात्यादिविचित्रभेद । तत्र जातिक्रम पञ्चविकल्प एकद्वित्रि-चतु पञ्चेन्द्रियजातिविकल्पेन तासा जातीनामुदयान् । एकेन्द्रियतादिपर्यायभाजो जीवा एकेन्द्रियादिशब्द-नोच्यन्ते । तेषामेकेन्द्रियादीना योनय आश्रया वादरसूक्ष्मपर्याप्तकापर्याप्तकाम्या जीवद्रव्याणामिहाश्रयत्वेन विवक्षिता । ‘सचिंतशोतसवृता सेतर मिथाश्चैवशस्तद्योनय’ [त ० सू० २।३२] इति मूने ये निर्दिष्टाश्च-तुरगीतिशतमहस्रविकल्पास्त इह न गृह्यन्ते । यन मृशान्तरे देवत्वनारकत्वमनुप्यत्वतिनयंत्वारण भवपर्याय-परावृत्तिर्भवससार इत्युक्त ।

गिरयादिजहण्णादिमु जाव दु जवरिल्लयाडु गेवज्जा ।

मिच्छत्तससिदेण दु भवट्ठो भज्जिदा बहुसो ॥ इति वचनात् ॥

योनयो न भवदब्दवाच्या । जीवपर्यायो हि भवस्तय भव ममारस्त्रिदाद्विध —पृथिव्यप्तेजोवायुवन-

गा०- वर्मरूपी भाण्डसे भरा हुआ जीवरूपी जहाज शुभ अशुभ परिणामरूप वायुसे युक्त अतिभयकर ससार महासागरमें प्रवेश करके चिरकाल तक भ्रमण करता है ॥१७६६॥

अथ भवससारका कथन करने हैं—

गा०-टी०—नामकर्मके गतिनामकर्म जातिनामकर्म आदि अनेक भेद हैं । उगमेसे जाति-नामकर्मके पांच भेद हैं—एकेन्द्रिय जातिनाम, दोइन्द्रिय जातिनाम, त्रीन्द्रिय जातिनाम, चतुरिन्द्रिय जातिनाम और पञ्चेन्द्रिय जातिनाम । उन जातिनाम कर्मों के उदयसे एकेन्द्रिय आदि पर्यायमें जन्म लेनेवाले जीव एकेन्द्रिय आदि शब्दमें कहे जाते हैं । उन एकेन्द्रिय आदिको वादर सूक्ष्म पर्याप्त और अपर्याप्त योनियेको यहाँ जीवद्रव्यका आश्रय कहा है । तत्त्वार्थ सूत्रके ‘सचित्तशोत-सवृता’ इत्यादि सूत्रमें जो चौगसी लाय्य योनियाँ कही हैं, यहाँ उनका ग्रहण नहीं किया है । क्योंकि उसी तत्त्वार्थसूत्रके ‘ससारिणो मुक्ताश्च’ सूत्रकी सर्वार्थसिद्धि टीकामें देव, नारकी, मनुष्य और तिर्यञ्च नामक भवपर्यायके परावर्तनको भवमसार कहा है । कहा है—‘इम जीवने नरत्वगति आदिकी जपन्य स्थितिमें लेकर उपरिम प्रवेयव पर्यन्त अनेक भवस्थितियोंको मिथ्यात्वने मनगमें भोगा है ।’

अत भयशब्दमें योनियाँ नहीं कही जाती । जीवकी पर्यायको भय कहते हैं । भवमसार तीस प्रकारका है—पृथिवीवाय, जलवाय, तेजस्वाय, वायुवाय और वनस्पतिवायमेंसे प्रत्येकके

स्पतिनाया प्रत्येक वादरसूक्ष्मपर्याप्तकापर्याप्तविकल्पाद्विगतविधा । द्वित्रिचतुरिन्द्रियासज्ञासंज्ञिविकल्पा पञ्चेन्द्रियाश्च पर्याप्तापर्याप्तविकल्पा दशविधा । अन्ये तु भवपरिवर्तनमेव 'वदन्ति । नरकगतौ सर्वजघन्य-
मायुर्ज्ञानवर्षसहस्राणि । तेनायुषा तत्रोत्पन्न पुन परिभ्रम्य तेनैवायुषा तत्र जायते । एव दशवर्ष-
सहस्राणा यावन्त समयास्तावन्वृत्त्वा तत्रैव जातो मृत । पुनरेकममयाविकभावेन त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि
परिसमापितानि । तत प्रच्युष्य तिर्यग्गतौ अन्तर्मुहूर्ताय ममुत्पन्न । पूर्वोक्तेन क्रमेण त्रीणि पत्न्योपमानि परि-
ममापितानि । तत प्रच्युष्य एव मनुष्यगतौ । देवगतौ नारकवन् । अथ तु विशेष, एकत्रिंशत्सागरोपमाणि
परिसमापितानि यावत्तावद्भवपरिवर्तना मवर्तिता भवन्ति इति । अनन्तवारमय प्राप्तो जीव ॥१७६७॥

द्रव्यपरिवर्तनमुच्यते—

अण्ण गिण्हदि देह त पुण मुत्तूण गिण्हदे अण्ण ।

घडिजंत व य जीवो भमदि इमो दब्बससारे ॥१७६८॥

अण्ण गेण्हदि देह' अन्यच्छरीर गृह्णाति । 'त पुण मुत्तूण' तच्छरीर मुक्त्वा पुनरन्यद् गृह्णाति ।
घटीयन्नमिव जीवो' घटीयन्नवज्जीव । यथा घटीयन्न अन्यज्जल गृह्णाति तत त्यक्त्वा पुनरन्यदादत्ते
एवमथ शरीराणि गृह्णन् मुचस्व भ्रमन्ति । शरीराणि विचित्राणि द्रव्यसम्बन्धेभ्यन्ते तत्स्वात्मन परिवर्तन

वादर, सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त चार भेद होनेमें त्रीस भेद होने हैं । तथा दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय,
चौइन्द्रिय, असंज्ञिपञ्चेन्द्रिय और सज्ञीपञ्चेन्द्रियके पर्याप्तक और अपर्याप्तक भेद होनेसे दसभेद
होते हैं ।

अन्य आचार्य भवपरिवर्तनका स्वरूप इस प्रकार कहते हैं—

नरकगतिमें सबसे जघन्य आयु दस हजार वर्षकी है । कोई जीव उस आयुको लेकर
नरकमें उत्पन्न हुआ । पुन परिभ्रमण करके उतनी ही आयुको लेकर नरकमें उत्पन्न हुआ । इम
प्रकार दस हजार वर्षोंके जितने समय होते हैं उतनी वार दस हजार वर्षकी आयु लेकर नरकमें
उत्पन्न हुआ और मरा । पुन दस हजार वर्षकी आयुमें एक-एक समय बढ़ाकर नरकमें उत्पन्न
होते हुए वहाँकी उत्कृष्ट आयु तैतीम सागर पूर्ण की । नरककी आयु पूर्ण करनेके पश्चात् तिर्यञ्च-
गतिमें एक अन्तर्मुहूर्तकी आयु लेकर उत्पन्न हुआ और मरा । नरकगतिमें वहे क्रमानुसार
तिर्यञ्चगतिकी उत्कृष्ट आयु तीन पत्य पूर्ण की । तिर्यञ्चगतिके ममान मनुष्यगतिकी आयु
पूर्ण की और नरकगतिके समान देवगतिकी आयु पूर्ण की । किन्तु इतना विशेष है कि उपरिम
श्रेण्येयकी उत्कृष्ट आयु इतनी सागर पूर्ण होने पर ममस्त भवपरिवर्तन हो जाते हैं । ऐसे
भवपरिवर्तन इस जीवने अनन्तवार किये हैं ॥१७६७॥

द्रव्यपरिवर्तनको कहते हैं—

गा०—टी०—घटीयन्नकी तरह जीव अन्य शरीरको छोड़कर अन्य शरीरको ग्रहण करता
है । उसे भी छोड़कर अन्य शरीरको ग्रहण करता है । जैसे घटीयन्न नया जल ग्रहण करता है
उसे निकालकर फिर नया जल ग्रहण करता है । उसी प्रकार यह जीव शरीरको ग्रहण करता
और छोड़ता हुआ भ्रमण करता है । द्रव्यगदमे विचित्र शरीर कहें हैं । आत्माके शरीरको

द्रव्यसत्तार इति सूत्रकारस्यास्य व्याख्या स्पूलबुद्धीनुद्दिश्य । एव तु द्रव्यपरिवर्तनं ग्राह्य । द्रव्यपरिवर्तनं द्विविध—नोकर्मपरिवर्तनं कर्मपरिवर्तनं चेति । तत्र नोकर्मपरिवर्तनं नाम श्रयाणा शरीराणा पण्णा पर्याप्तीना योग्या ये पुद्गल एकेन जीवने एकस्मिन्मयमे गृहीता म्निग्धरूडावर्णगन्धादिभिस्तीक्ष्णमन्दमध्यमभावेन च यथावस्थिता द्वितीयादिषु समयेषु निर्जोर्णा अगृहीताननन्तवारानतीत्य, मिश्रकारश्च अनन्तवारानतीत्य मध्ये गृहीतागृहीताश्च अनन्तवारानतीत्य त एव तेनैव प्रकारेण तन्मैव जीवस्य नोकर्मभावभाष्यन्ते यावत्तावत्समुदितं नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनं । कर्मद्रव्यपरिवर्तनमुच्यते—एकस्मिन्मयमे एवेन जीवने अष्टविधकर्मभावेन द्वे च गृहीता समयाधिकावलिकामतीत्य द्वितीयादिषु समयेषु निर्जोर्णा पूर्वोत्तेनैव क्रमेण त एव तेनैव प्रकारेण तस्य जीवस्य कर्मभावभाष्यन्ते यावत्तावत्कर्मद्रव्यपरिवर्तनं ॥१७६८॥

रगगदण्डो व इमो बहुविहसठाणवण्णरूवाणि ।

गिण्हदि मुच्चदि य णिद जीवो सत्तारमावण्णो ॥१७६९॥

‘रगगदण्डो व रगगदण्डो इव । ‘इमो’ अयं बहुविहसठाणवण्णरूवाणि’ बहुविधसन्धानवर्णस्वभावान् । गिण्हदि य ‘मुच्चदि य णिद’ गृह्णाति मुञ्चति च ‘अस्मित । क्रियाविशेषणमेतत् । ‘जीवो सत्तारमावण्णो’ जीवो द्रव्यसत्तारमापन्न ॥१७६९॥

क्षेत्रसत्तार निरूपयति—

अथ ण जादो ण मदो हवेज्ज जीवो अणत्तो चैव ।

काले तदम्मि इमो ण सो पदेमो जए अत्थि ॥१७७०॥

परिवर्तनं द्रव्यसत्तार है । ग्रन्थकारने स्पूलबुद्धि वालोको लक्ष करके द्रव्यसत्तारका यह स्वरूप बहा है, किन्तु द्रव्यपरिवर्तनं इस प्रकार लेना ।

द्रव्यपरिवर्तनके दो भेद हैं—नोकर्म परिवर्तनं और कर्म परिवर्तनं । उनमें नोकर्म परिवर्तनं इस प्रकार है—तीन शरीर और छह पर्याप्तियोंके योग्य जो पुद्गल एक जीवने एक समयमें ग्रहण किये, उनमें जंसा स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण रहा हो और तीव्र, मन्द या मध्यम भावने वे ग्रहण किये गये हों, दूसरे आदि समयोंमें उन्हें भोगकर छोड़ दिया । उसमें पश्चान् अनन्तवार अगृहीतको ग्रहण करके, अनन्तवार मिश्रको ग्रहण करके, मध्यमे गृहीत और अगृहीतको अनन्तवार ग्रहण करके वे ही पुद्गल उसी जीवके उन्नी प्रकारमें जब नोकर्म रूपको प्राप्त होते हैं, उन सबको नोकर्म परिवर्तनं कहते हैं । अब कर्मद्रव्य परिवर्तनं कहते हैं—एक समयमें एक जीवने आठ कर्मरूपसे जो पुद्गल ग्रहण किये और एक समय अधिक एक आवली कालके पश्चान् द्वितीय आदि समयोंमें उन्हें भोगकर छोड़ दिया । नोकर्म परिवर्तनमें बड़े क्रमके अनुमानं वे ही कर्मपुद्गल उसी जीवके उन्नी प्रकारमें जब कर्मरूपसे आते हैं उस सबको कर्मद्रव्य परिवर्तनं कहते हैं ॥१७६८॥

गा०—जंमे रगभूमिमे प्रविष्ट हुआ तट अनेक रूपको धारण करता है उन्नी प्रकार द्रव्यसत्तारमें भ्रमण करता हुआ जीव निरन्तर अनेक आकार, रूप, स्वभाव आदिको ग्रहण करता और छोड़ता है ॥१७६९॥

'जस्य ण जादो ण मदो हवेज्ज' यत्र क्षेत्रे जानो मृतो वा न भवेज्जीव । 'अणतसो चैव' अनन्त-
वारान् । 'कालेतीदमि इमो अतीते कालेऽयं । ण सो पदेसो षणे अत्थि' नामो प्रदेशो जगति विद्यते । अन्वये
तु क्षेत्रपरिवर्तन—जयति मूकमनिगोदजीवो पर्याप्तक सर्वजघन्यप्रदेशशरीरो लोकस्याष्टमध्यप्रदेशान् स्वशरीर-
मध्यप्रदेशान् कृत्वोत्पन्न क्षुद्रभवग्रहणं जीवित्वा मृत, स एव पुनस्तेनैवावगाहेन द्विरुत्पन्नस्तथा त्रिद्वितुरिति ।
एव यावन्तोऽङ्गुलस्यामरुच्येयभागप्रमिताकाशप्रदेशास्तावत्कृत्वा तत्रैव जन्तित्वा पुनरेकैकप्रदेशाधिकभावेन
सर्वलोक आत्मनो जन्मक्षेत्रभावमुपनीतो भवति यावत्सावत् क्षेत्रपरिवर्तन । उक्तं च—

सम्बन्धि लोपक्षिते कर्मसो स णत्थि जण उप्पण्ण ।

भोगाहणा य बहुसो परिभमिदो चित्तसत्तारे ॥ [वा० अणु० २६] ॥१७७०॥

कालपरिवर्तनमुच्यते—

तकालतदाकालसमयसु जीवो अणतसो चैव ।

जादो मदो य सव्वेसु इमो तीदम्मि कालम्मि ॥१७७१॥

'तकालतदाकालसमयेसु' उत्सर्पिण्यवसर्पिणोसन्नितयो कालयोर्यं ममयास्तेषु । 'जीवो अणतसो चैव'
जीवोऽनन्तवारान् । 'जादो मदो य सव्वेसु' जातो मृतश्च सर्वेषु समयेषु । 'इमो तीदम्मि कालम्मि' अयम-
तीते काले । इयमस्या गाथाया प्रपञ्चन्याह्या—उत्सर्पिण्या प्रथमममये जातं कश्चिज्जीव स्वायुष परिम-
माप्तो मृत, स एव पुनर्द्वितीयाया उत्सर्पिण्या द्वितीयममये जातं स्वायुष क्षयामृत । स एव पुनस्तृतीयाया-

अव क्षेत्रसमारको कहते हैं—

गा०—जगन्मे ऐसा कोई प्रदेश नहीं है जहाँ यह जीव अतीत कालमें अनन्तवार जन्मा
और मरा न हो ॥१७७०॥

टी०—अन्य आचार्य क्षेत्रपरिवर्तनका स्वरूप इस प्रकार कहते हैं—सूक्ष्म निगोदिया
लक्ष्यपर्याप्तक जीव सबसे जघन्य प्रदेशवाला शरीर लेकर लोकके आठ मध्यप्रदेशोंको अपने
शरीरके मध्य प्रदेश बनाकर उत्पन्न हुआ और क्षुद्रभव ग्रहण करके एक श्वामने अठारहवें भाग
समय तक जिया और मरा । वही जीव पुन उमी अवगाहनाको लेकर उसी स्थानमें दुबारा
उत्पन्न हुआ, निधारा उत्पन्न हुआ, चौथो बार उत्पन्न हुआ । इस तरह अगुलके असस्यातवे
भाग प्रमाण आकाशमें जितने प्रदेश होते हैं उतनी बार वही उत्पन्न हुआ । पुन एक-एक प्रदेश
बढ़ाने-बढ़ाने सर्वलोकको अपना जन्मक्षेत्र बनाया । इस सबको क्षेत्रपरिवर्तन कहते हैं । कहा
भी है—

सर्व लोकक्षेत्रमें ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ यह क्रमसे उत्पन्न नहीं हुआ । अनेक अव-
गाहनाके साथ इस जीवने क्षेत्र समारमें परिभ्रमण किया ॥१७७०॥

कालपरिवर्तनको कहते हैं—

गा०—यह जीव अनान कालमें उत्सर्पिणो और अवसर्पिणो कालके मत्र समयमें अनन्त
वार उत्पन्न हुआ और अनन्तवार मरा ॥१७७१॥

टी०—इस गाथाकी विन्मृत व्याख्या इस प्रकार है—उत्सर्पिणो कालके प्रथम समयमें
उत्पन्न हुआ कोई जीव अपनी आयुके ममाप्त होनेपर मरा । वही जीव पुन दूसरी उत्सर्पिणोके

उत्सर्पिण्यास्तृतीयसमये जात । एवमनेन क्रमेण उत्सर्पिणी परिसमाप्ता तथा चावसर्पिणी । एव जन्मनैरन्तर्य-
भुवत । मरणस्यापि नैरन्तर्यं तथैव ग्राह्यमेव तावत्कालपरिवर्तन । उक्तं च—

‘उवसर्पिणिप्रवसर्पिणिसमयावलिगामु गिरवसेसामु ।

जादो मदो य बहुतो भ्रमणेण दु कालससारे ॥’ [वा०, अपु० २७] ॥१७७१॥

स्पन्दनसमार निरूपयत्युत्तरगाथा—

अट्टपदेसे मुत्तूण इमो सेसेसु सगपदेसेसु ।

तत्तमिव अट्टरण उव्वत्तरत्तण कुणदि ॥१७७२॥

‘अट्टपदेसे मुत्तूण’ अष्टौ प्रदेशान्तरवकाकारान् भुवन्वा । ‘इमो’ अयं जीव । ‘सेसेसु सगपदेसेसु’ गणेषु
स्वप्रदेशेषु ‘तत्तमिव अट्टरण’ तप्तजलमध्यस्थतन्मुसवत् । ‘उव्वत्तरत्तण कुणदि’ उद्वनेन परावर्तनं करोति ।
एतया गायया स्वप्रदेशेषु सप्तारत्नामात्मन क्षेत्रममारत्वेनोच्यते ॥१७७३॥

भावससारोत्तरप्रतिपादनार्थं गाथा—

लोगागासपपेसा अससगुणिटा हवति जावदिया ।

तावदियाणि हु अज्जवमाणाणि इमस्स जीवस्स ॥१७७४॥

‘लोगागासपपेसा’ लानावागतस्य प्रदेशा । ‘अससगुणिटा’ असस्यगुणिता । ‘हवति जावदिया’
यावन्ता भवन्ति । ‘तावदियाणि हु अज्जवमाणाणि’ तावदध्यवसायस्थानानि भवन्ति । ‘इमस्स जीवस्स’ अस्य
जीवस्य । जीवस्य असख्यातलोकप्रमाणेऽध्यवसायसंज्ञितेषु नावेषु परावृत्तिर्भावमसार ॥१७७४॥

दूमरे ममयमे उत्पन्न हुआ और अपनी आयुके समाप्त होने पर मरा । वह जीव पुन तीसरी
उत्सर्पिणीवे नीसरे ममयमे उत्पन्न हुआ । इस क्रमसे उसने उत्सर्पिणी समाप्त की और इसी
क्रममे अवसर्पिणी समाप्त की । अर्थात् उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके सब समयोमे क्रममे
जन्मा । तथा इसी प्रकार उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके सब समयोमे मरा भी । इस सबको
काल परिवर्तन कहते हैं । वही भी है—

कालममारमे भ्रमण करनेसे यह जीव उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके सब समयोमे
अनेक बार जन्मा और अनेक बार मरा ॥१७७१॥

आगे क्षेत्रसमारूप स्पन्दन ससारको कहने हैं—

गा०—श्लोकके मध्यमे स्थित गौके स्तनवे आकार आठ प्रदेशोको छोड़कर यह जीव अपने
शेष प्रदेशोमे तप्त जलके मध्यमे स्थित चावलोकी तरह उद्वर्तन परावर्तन किया करता है ।
अर्थात् जैसे आग पर रखे गमं जलमे पड़े हुए चावल ऊपर नीचे हटा करते हैं उसी प्रकार आठ
मध्य प्रदेशोको छोड़कर जीवके शेष प्रदेश चल रहने हैं ॥१७७३॥

भाव समारका कथन करते हैं—

गा०—श्लोककारके प्रदेशोको असख्यातसे गुणा करनेपर जितनी राशि होती है उतने ही
इस जीवके अध्यवसाय स्थान होने हैं । इन असख्यात लोक प्रमाण अध्यवसाय नामक भावोमे
जीवके परावर्तनको भाव समार कहते हैं ॥१७७४॥

अञ्जवसाणठाणंतराणि जीवो विकुब्बइ इमो हु ।

णिच्चं पि जहा सरडो गिण्हदि णाणाविहे वण्णे ॥१७७५॥

'अञ्जवसाणठाणतराणि जीवो विकुब्बइ इमो खु' अच्यवसायम्यानन्तराणि जीव परिणमस्यय ।
'निच्चपि' नित्यमपि, 'यथा सरडो णाणाविहे वण्णे' यथा गाया नानाविधान्वर्णानुपादते । एव ससार ॥१७७५॥

तस्य भयमुपदर्शयति—

आगामम्मि वि पक्खी जले वि मच्छा थले वि थलचारी ।

हिंसति एक्कमेक्क सव्वत्थ भय सु ससारे ॥१७७६॥

'आयासम्मि वि पक्खी' आकाशे मचरन्त परकीयपरिणोऽपि वाधन्ते । 'जले वि मच्छा' जलेऽपि मत्स्या । 'थले वि थलचारी' भूमावपि भूमिचारिण । 'हिंसति' बाधन्ते । 'एक्कमेक्क अयान्य' । 'सव्वत्थ भय सु ससारे' सर्वत्र भय ससारे ॥१६७६॥

गा०—जैमे गिरगिट नित्य ही नाना प्रकारके रग बदलता है वैसे ही यह जीव अच्यवसाय स्थानोको धारण करता हुआ परिणमन करता है ॥१७७५॥

विशेषार्थ—भावपरिवर्तनका विस्तृत स्वरूप इस प्रकार है—पञ्चेन्द्रिय मज्ञो पर्याप्तक मिथ्या-दृष्टिकोई जीव सबसे जघन्य अपने योग्य ज्ञानावरण कर्मका अन्त कोटिकोटी नागरप्रमाण स्थितिवन्व करता है । उस जीवके उस स्थितिवन्वके योग्य असर्यात लोकप्रमाण कपायाध्यवसायस्थान होते हैं । उनमेंसे सबसे जघन्य कपायाध्यवसायस्थानमें निमित्त अमख्यात लोकप्रमाण अनुभागाध्यवसायस्थान होते हैं । इस प्रकार सबसे जघन्य स्थिति, सबसे जघन्य कपायाध्यवसाय स्थान, सबसे जघन्य ही अनुभागवन्व स्थानको प्राप्त उस जीवके उसके योग्य सबसे जघन्य एक योगस्थान होता है । फिर उसी स्थिति, उसी कपाय स्थान और उसी अनुभागस्थानको प्राप्त उस जीवके दूसरा योगस्थान होता है जो पहलेसे अमख्यात भागवृद्धियुक्त होता है । इस प्रकार श्रेणिके अमख्यातवें भागप्रमाण योगस्थानोंके समाप्त होनेपर पुन वही स्थिति और उनी कपायाध्यवसायस्थानको प्राप्त उनी जीवके दूसरा अनुभागाध्यवसायस्थान होता है । उनके भी योगस्थान पूर्ववत् जानना चाहिये । इस प्रकार तीसरे आदि अमख्यात लोकप्रमाण अनुभागाध्यवसायस्थानोंके समाप्त होनेपर उसी स्थितिको प्राप्त उसी जीवके दूसरा कपायाध्यवसायस्थान होता है । उनके भी अनुभागाध्यवसायस्थान पूर्ववत् जानना । इस प्रकार तीसरे आदि कपायाध्यवसायस्थानोंके समाप्त होनेपर वही जीव एक समय अधिक्क जघन्यस्थितिको बाधता है । उनके भी कपायादि स्थान पूर्ववत् जानना । इसी प्रकार एक-एक समय अधिक्क क्रमसे ज्ञानावरण कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागर पूर्ववत् वाधता है । इसी प्रकार सत्र मूलवर्माँ और उनकी उत्तर प्रनृतियोंकी मत्र स्थितियोंको उक्त प्रकारसे वाधता है । इस सत्रको भावपरिवर्तन कहते हैं ॥१७७५॥

समारम्भे भय दगति है—

गा०—आकाशमें विचरण करते हुए पशियोंको दूसरे पक्षी वाया देने हैं । जलमें मन्थ वाधा करते हैं । थलमें थलचारी वाधा करते हैं । इस प्रकार सर्वत्र एउ दूसरेकी हिंसा करते हैं । अतः समारम्भे सर्वत्र भय है ॥१७७६॥

समगो बाहपरद्धो विलत्ति णारुण अजरस्स मुह ।
सरणत्ति मण्णमाणो मच्चुस्स मुहं जह अदीदि ॥१७७७॥

‘समगो बाहपरद्धो’ शशो व्याधेनोपद्रुत, ‘विलत्तिणारुण अजरस्स मुह’ विलमिति ज्ञात्वा अजरस्स मुह । ‘सरणत्ति मण्णमाणो’ शरणमिति मन्यमान । ‘मच्चुस्स मुहं जह अदीदि’ मृत्योर्मुखं यथा प्रविशति ॥१७७७॥

तह अण्णाणी जीवा परिद्धमाणच्छुहादिवाहेहिं ।

अदिगच्छति महादुहहेदु संसारसप्पमुह ॥१७७८॥

‘तह अण्णाणी जीवा’ तथा अज्ञानिनो जीवा । ‘परिद्धमाणच्छुहादिवाहेहिं’ अनुवाच्यमाना क्षुदादिभिर्व्याधे । ‘अदिगच्छति’ प्रविशति । ‘महादुहहेदु’ महतो दुःखस्य निमित्त । ‘संसारसप्पमुह’ संसारसर्पमुख ॥१७७८॥

जावदियाड सुहाड होंति लोगम्मि सव्वजोणीसु ।

ताइपि बहुविधाड अणंतखुत्तो इमो पत्तो ॥१७७९॥

‘जावदियाड’ यादन्ति । ‘सुहाणि होंति लोगम्मि’ सुखानि भवन्ति लोके । ‘सव्वजोणीसु’ सर्वासु योनिषु । ‘ताइपि बहुविधाड’ तान्यपि बहुविधानि । ‘अणंतखुत्तो इमो पत्तो’ अनन्तवारमय जीव प्राप्त ॥१७७९॥

दुक्ख अणतखुत्तो पावेत्तु सुहपि पावदि कहिं वि ।

तह वि य अणंतखुत्तो सव्वाणि सुहाणि पत्ताणि ॥१७८०॥

‘दुक्ख अणतखुत्तो पावेत्तु सुहपि पावदि कहिं वि’ दुःखमपि अनन्तवार प्राप्य सुखमपि प्राप्नोति कथञ्चित् । ‘तह वि य अणंतखुत्तो’ तथाप्यनन्तवार ‘सव्वाणि सुहाणि पत्ताणि’ सर्वाणि सुखानि प्राप्तानि गणभूता चक्रवर्तिना पञ्चानुत्तरविमानवामिना लौकान्तिकानामहमिन्द्राणां च सुखानि मुक्त्वा ॥१७८०॥

गा०—जैसे खरगोश व्याधसे मत्ताया जानेपर विल समझकर अजरकरके मुखमें प्रवेश करता है । वह उसे अपना शरण मानकर मृत्युके मुखमें प्रवेश करता है ॥१७७७॥

गा०—उसी प्रकार अज्ञानी जीव भूख प्यास आदि व्याधोके द्वारा पीडित होनेपर महान् दुःखमें निमित्त ममारूपी सर्पके मुखमें प्रवेश करते हैं ॥१७७८॥

गा०—लोकमें सब योनियोंमें जितने प्रकारके सुख होते हैं उन सब अनेक प्रकारके सुखोको भी इस जीवने अनन्तवार भोगा है ॥१७७९॥

गा०—अनन्तवार दुःखोको प्राप्त करके कदाचित् सुखको भी प्राप्त करता है । तथापि अनन्तवार इस जीवने सब सुखोको प्राप्त किया है ॥१७८०॥

टी०—किन्तु गणधर, चक्रवर्ती, पांच अनुत्तर विमानशामी, लौकान्तिक और अनुदिग विमानवासी देवोको मम इस जीवने प्राप्त नहीं किया, क्योंकि ये चक्रवर्तीको छोड़कर मम नियममें सम्यग्दृष्टि होनेसे मोक्षगामी होते हैं । और चक्रवर्ती पद वाग्-वाग् प्राप्त नहीं होता है ॥१७८०॥

करणेहिं होदि विगलो बहुसो चित्तवचिसोदणिचेहिं ।

घाणेण य जिन्भाए चिद्धात्रलविरियजोगेहिं ॥१७८१॥

‘करणेहिं होदि विगलो’ विकलेन्द्रिय वचचिद्भवति । ‘बहुसो’ बहुश । ‘चित्तवचिसोदणिचेहिं’ मनमा वचना श्रोत्रेण नेत्रेण करणेन हीन । स्पशनेन्द्रियवकल्यासभवात् तदनुपन्यास । ‘घाणेण य’ घ्राणेन च । ‘जिन्भाए’ जिह्वाया । ‘चिद्धात्रलविरियजोगेहिं’ चेष्टया बलेन वीर्येण च ॥१७८१॥

जच्चधवधिरमूओ छादो तिसिओ वणे व एयाई ।

भमइ सुचिरपि जीवो जम्मवणे णट्टसिद्धिपहो ॥१७८२॥

‘जच्चधवधिरमूओ’ जान्यन्तो, वधिरो, मूक । ‘छादो’ क्षुधा पीडित, ‘तिसिओ’ तृपाभिभूत । ‘वणे व एयाओ भमइ’ अमहायो यथा वने भ्रमति । तथा ‘सुचिरपि’ चिरकालमपि । जीवो ‘जम्मवणे’ जन्मवने भ्रमति । ‘णट्टसिद्धिपहो’ नट्टनिद्धिमार्ग । उक्तं च—

बलुपचरितेनंष्टज्ञानस्सुसचित्तकर्मभिं, करणविकलं कर्मोद्भूतो भवान्बपातत ।

सुचिरमवशो दु खार्तो निमोहितलोचनो, भ्रमति कृपणो नट्टप्राणं शुभेतरकर्मवृत् ।

श्रवणविकलो वाग्धोनोज्जो यथावृत्तलोचनं, तृपितमलिनो नट्टोऽष्टध्यां चरेदसहस्रमकं ।

असहस्रकृत् गृह्णन् मुञ्चश्चराचरदेहता, भ्रमति सुचिरं जमाटध्या तयायमदेशकं ॥इति॥१७८२॥

एइदियेसु पचविधेसु वि उत्थाणवीरियविहूणे ।

भमदि अणत काल दुक्खसहस्साणि पावेत्तो ॥१७८३॥

‘एइदियेसु पचविधेसु वि’ एकेन्द्रियेषु पञ्च प्रकारेषुपि । पृथ्व्यपतेजोवामुवनम्पतिशरीरधारिषु ।

गा०—यह जीव बहुत बार मन, वचन, श्रोत्र, नेत्र, घ्राण और जिह्वा इन्द्रिय तथा चेष्टा बल और वीर्यमे हीन विकलेन्द्रिय होता है ।

टी०—किन्तो प्राणिका स्पर्शन इन्द्रियसे हीन होता तो असंभव है अत उसका कथन नहीं किया है ॥१७८१॥

गा०—टी०—कभी यह जीव जन्ममे ही अन्धा, बहिरा, गूंगा होता है और भूख तथा प्यास से पीडित होकर जैसे कोई मार्ग भूलकर वनमे अकेला भटकता है उसी प्रकार मोक्षमार्गमे भ्रष्ट होकर जन्मरूपी वनमे अकेला भ्रमण करता है । वहा भी है—अपने बुरे आचरणोमे सचित्त त्रिये कर्मोके द्वारा अपना जान खोकर यह जीव विकलेन्द्रिय होता है तथा कर्मोसे प्रेरित हो मसाररूपी समुद्रमे गिरकर निरकाल तक परापीन हो, आस बन्द करके भ्रमण करता है । उसका कोई रत्नक नहीं होता । जैसे कोई बहिरा, गूंगा अन्धा भूख प्राणी प्यासमे व्याकुल हो, मार्ग भूलकर अकेला वनमे भटकता है । उसी प्रकार यह ममारी प्राणी मार्गदर्शकके बिना बार-बार भ्रमस्थावर पर्यायोको ग्रहण करता और छोडता हुआ चिरकाल तक जन्मरूपी वनमे भ्रमण करता है ॥१७८२॥

गा०—पृथिवी, जल, तेज, वायु और वनम्पतिवा शरीर धारण करनेवाले पाँच प्रकारके

'उत्पानवीरियविहीणो' पृथिव्यादिकायान् परित्यज्य त्रसकायप्राप्तिनिमित्तोत्पानवोदंरहित । 'भमदि अणत काल' भ्रमति अनन्तकाल । 'दुस्ससहस्साणि पावेंतो' दुस्सनहसाणि प्राप्नुवन् ॥१७८२॥

बहुदुक्खावत्ताए ससारणदीए पावकलुमाए ।

भमड वरागो जीवो अण्णाणनिमीलितो सुचिरं ॥१७=४॥

'बहुदुक्खावत्ताए' बहुदुःखावर्तना । 'ससारणदीए' समृतिनद्य । 'पावकलुमाए' पावकलवत्तहिताया । वरागो जीवो भमदि' दीनो जीवो भ्रमति । 'सुचिर अण्णाणनिमीलितो' अज्ञानेन निमीलित ॥१७८४॥

विमयामिसारगाड कुजोणिणेमि सुहदुक्खददस्सीलं ।

अण्णाणतुंधरिदं कमायदहपट्टियाबंध ॥१७=५॥

'विमयामिसारगाड' विषयान्निस्कारादौर्गतं स्तब्ध । 'कुजोणिणेमि सुहदुक्खददस्सीलं' बुन्धितयोनि-
नेमिक सुषट्-खट्दृक्सील । 'अण्णाणतुंधरिदं' अज्ञानतुन्धरिदं । 'कमायदहपट्टियाबंध' कपायदृढ-
पट्टिकाबन्ध ॥१७८५॥

बहुजम्मसहस्मविसालवत्तिणं मोहवेगमहिचवल ।

ससारचक्रमारुहिय भमदि जीवो अणप्पवसो ॥१७८६॥

'बहुजम्मसहस्मविसालवत्तिणं' अनेकजन्मसहस्रविंशालमार्ग । 'मोहवेगं' मोहवेग । 'ससारचक्रमारु-
हिय' एवभूत ससारचक्रमारुह्य । 'अणप्पवसो जीवो भमदि' अनात्मवसो जीवो भ्रमति ॥१७८६॥

भार णरो वहंतो कर्हिचि विस्समदि ओरुहिय भारं ।

देहभरवाहिणो पुण ण लहति खणं पि विस्समिदु ॥१७८७॥

'भार णरो वहंतो' भार वहन्तर । 'कर्हिचि भारमोटहिय' वस्मिन्निवहेने काले च भारमवत्तार्य ।
'विस्समदि' विधाम्यति । 'देहभरवाहिणो पुण' देहभारोद्वाहिणो जीवा पुन । 'न लभति खण पि विस्समिदु'
न लभन्ने क्षणमपि विश्राम वतुं । औदारिकवैक्रियिकयोविनष्टयोराप कार्माण्तंजसयोरवस्थानान् ॥१७८७॥

एकेन्द्रियोमे यह जीव हजारो वष्ट भोगता हुआ अनन्तकाल तक भ्रमण करता है । उसमे इतनी
भी शक्ति नहीं होती कि पृथिवी आदि कायोका त्याग करके त्रसकायको प्राप्तिके लिये प्रयत्न कर
सके ॥१७८२॥

गा०—अज्ञानमे पडा हुआ यह बेचाग जीव पापरूपी मेले पानीसे भरो और बहुत दुःख-
रूपी भँवरसे युक्त समाररूपी नदीमे चिरकाल भ्रमण करता है ॥१७८४॥

गा०—यह समाररूपी चक्र (पहिया) विषयोकी अभिलाषारूपी आरंभे जकडा हुआ है,
बुयोनिरूपी नेमि—हाल उमपर चढी हुई है । उममे सुख दुःखरूपी भजवत कोले लगी है ।
अज्ञानरूपी तुम्बपर वह स्थित है, कपायरूपी दृढ पहियोसे कसा हुआ है । अनेक हजार जन्मरूपी
उमका विसाल मार्ग है । उमपर वह समार चक्र चलता है । मोहरूपी वेगसे अतिशीघ्र चलता
है । ऐसे समाररूपी चक्रपर सवार होकर यह पराधीन जीव भ्रमण करता है ॥१७८५-८६॥

गा०-टी०—भारवाही मनुष्य तो किन्ही देश और कालमे अपना भार उतागकर विश्राम कर
लेता है । किन्तु शरीरके भारको टोनेवाले जीव एक क्षणके लिये भी विश्राम नहीं पाते । औदारिक

कम्माणुभावदुहिदो एव मोहघयारगहणम्मि ।

अघो व दुग्गमग्गे भमदि हु समारकतारे ॥१७८८॥

‘कम्माणुभावदुहिदो’ असद्वेद्यादिपापकर्ममाहात्म्यजनितदुःख । ‘एव’मुक्तौ न ब्रमेण । ‘समारकतारे भमदि’ समारकान्तारे भ्रमति । कीदृशे ? ‘मोहघयारगहणम्मि’ मोहान्धकारगहने । ‘अघो व दुग्गमग्गे’ अघ इव दुर्गमार्गे ॥१७८८॥

दुक्खस्स पडिगरंतो सुहमिच्छतो य तह इमो जीवो ।

पाणवधादीदोसे करेइ मोहेण सछण्णो ॥१७८९॥

‘दुक्खस्स पडिगरंतो’ दुःखस्य प्रतीकार कुर्वन् । ‘सुहमिच्छतो य’ इन्द्रियमुखमभिलषन् । ‘इमो जीवो’ अयं जीव । ‘पाणवधादीदोसे’ हिमादिदोषान् । ‘करेइ मोहेण सछण्णो’ करोति मोहेन सछन् । एतदुक्तं भवति—दुःखभीरुनिरवचोपदुःखापायस्योपाय न वेति । दुःखनिराकरणायपि दुःखहेतून् एव हिमादीन् प्रवर्तयति । इन्द्रियमुखलम्पटोऽपि तेष्वेव हिंसादिषु दुःखहेतुषु प्रवर्तते । ततोऽप्य सकलो व्यापारो दुःखस्यैव मूलमिति ॥१७८९॥

दोसेहिं तेहिं बहुग कम्मं यधदि तदो णव जीवो ।

अध तेण पच्चड पुणो पविसिच्चु व अग्गिमग्गीदो ॥१७९०॥

‘दोसेहिं तेहिं’ प्राणिवधादिकैर्दोषैः । ‘बहुग कम्मं यधदि’ महत्कर्म बध्नाति । ‘णव’ प्रत्ययः । ‘तदो’ पदचान् । ‘अध’ कर्मबन्धानन्तर । ‘तेण पच्चडि’ तेन बन्धनेन कर्मणा पच्यते । ‘पविसिच्चु व’ प्रविश्येव । किं ? ‘अग्गि’ अग्निः । ‘अग्गीदो’ अग्ने । अग्नेरागत्य अग्निं प्रविश्य यथा बाध्यते एव पूर्वं कर्मनिर्वाहितं पुनः प्रत्ययकर्मनिर्वाहने इह्यते इति ॥१७९०॥

और वैक्रियिक शरीरोंके छूट जानेपर भी कामर्ण और तैजस शरीर बराबर बने रहते हैं ॥१७८७॥

गा०—इस प्रकार असातावेदनीय आदि पापकर्मोंके प्रभावसे दुःखी जीव मोहरूपी अन्धकारमें महन ससाररूपी वनमें उसी प्रकार भ्रमण करता है जैसे अन्धा व्यक्ति दुर्गम मार्गमें भटकता है ॥१७८८॥

गा०-सी०—मोहसे आच्छादित यह जीव दुःखमें बचनेका उपाय करना है और इन्द्रिय मुख की अभिलाषा रखता है और उसके लिये हिंसा आदि दोषोंको करता है । आशय यह है कि दुःखमें डरता है किन्तु समस्त दुःखोंके विनाशका उपाय नहीं जानता । यद्यपि दुःखोंको दूर करना चाहता है किन्तु हिंसा आदि पापोंमें प्रवृत्त होता है जो दुःखके हेतु हैं । इन्द्रिय मुखका लम्पटी होते हुए उन्हीं हिंसा आदि पापोंमें लगा रहता है जो दुःखके कारण हैं । इसलिये उसका मग्न काम दुःखका ही मूल होता है ॥१७८९॥

गा०—उन हिंसा आदि दोषोंको करनेमें जीव बहूत मा नया कर्म बाँधता है । कर्मबन्धने पदचान् उन कर्मका फल भोगता है । इस प्रकार जैसे कोई एक आगमें निबलकर दूसरी आगमें प्रवेश करके मष्ट उठाता है, वैसे ही पूर्ववद्ध कर्मोंको भोगकर पुनः नवीन कर्मरूपी आगमें जलता है ॥१७९०॥

१ भोक्तारो विमेषदुःखापायस्यापाय—आ० मु० । नि शेषदुःखापायोपाय—मूलारा० ।

२ कर्मनिबन्धने—आ० ।

वधतो मुञ्चतो एवं कम्म पुणो पुणो जीवो ।

सुहकामो बहुदुक्खं संसारमणादिय भमड ॥१७९१॥

‘वधतो मुञ्चतो’ वन्धन् मुञ्चन् । ‘एव कम्म पुणो पुणो जीवो’ कर्म पुन पुनर्जिव दत्तफलानि मुञ्चति, कर्मफलानुभवकालोपजातगगद्देपादिपरिणामैरभिनवानि कर्माणि बध्नाति । सुहकामो सुखाभिलाषवान् । ‘बहुदुक्ख’ विचित्रदुःख । ‘संसारमणादिग भमडि’ अनादिक संसार भ्रमति । संसारचिन्ता ॥१७९१॥

लोकानुप्रेक्षा निरूप्यते । नामस्थापनाद्रव्यादिविकल्पेन यद्यप्यनेकप्रकारो लोकगतपापीह लोकगन्देन जीवद्रव्यलोक एवोच्यते । कथं ? सूत्रेण जीवधर्मप्रवृत्तिक्रमनिरूपणात्—

आहिङ्गपुरिसस्स व इमस्स णीया तहिं तहिं होंति ।

सव्वे वि इमो पत्तो सबंधे सव्वजीवेहिं ॥१७९२॥

‘आहिङ्गपुरिसस्स व’ देशान्तर भ्रमत् पुंस इव । ‘इमस्स णीया तहिं तहिं होंति’ अस्य वधवस्तत्र तत्र भवन्ति । सव्वेवि इमो पत्तो’ सर्वानिय प्राप्त । सबंधे’ सबंधान् । सव्वजीवेहिं’ सर्वजीव सह ॥१७९२॥

माया वि होइ भज्जा भज्जा मायत्तण पुणमुवेदि ।

इय समारे सव्वे परियट्टते हु सवधा ॥१७९३॥

माया व होइ भज्जा’ माता भार्या भवति । भार्या मातृता पुनरर्पति । एव ससारे सर्वे सम्बन्धा परिवर्तन्ते इति मायार्य ॥१७९३॥

जणणी वसंततिलया भगिणी कमला य आम्मि भज्जाओ ।

घणदेवस्म य एक्कम्मि भवे ससारवासम्मि ॥१७९४॥

‘जणणी वसंततिलया’ घनदेवस्य जननी वसंततिलका । कमला भगिनी । ते उभे भार्ये जाते

गा०—इस प्रकार जीव जो कर्म फल दे लेते हैं उन्हें छोड़ देता है और कर्मोंका फल भोगते समय होनेवाले राग-द्वेष रूप परिणामोंसे नवीन कर्मोंका धन्ध करता है । सुखकी अभिलाषा रखकर बहुत दुःखोंसे भरे अनादि संसारमें भ्रमण करता है ॥१७९१॥ समाप्त अनुप्रेक्षाका वधन समाप्त हुआ ।

अब लोकानुप्रेक्षाका कथन करते हैं । यद्यपि नाम, स्थापना, द्रव्य आदिके भेदसे लोकके अनेक भेद हैं । तथापि यहाँ लोक शब्दसे जीव द्रव्यलोक ही कहा है क्योंकि गाधामे जीवके प्रवृत्ति क्रमका कथन किया है—

गा०—जैसे देशान्तरमें भ्रमण करनेवाले पुरुषको सर्वत्र इष्ट-मित्र मिलते हैं उसी प्रकार इस जीवके भी जहाँ-जहाँ यह जन्म लेता है वही-वही धन्धु-वग्धव होते हैं । इस तरह इसने सब जीवोंके साथ सब सम्बन्ध प्राप्त किये हैं ॥१७९२॥

गा०—जो इस जन्म माता है वही दूसरे जन्ममें पत्नी होती है और पत्नी होकर पुन माता बन जाती है । इस प्रकार संसारमें सब सम्बन्ध परिवर्तनशील हैं ॥१७९३॥

गा०-टा०—दूसरे भवोंमें सम्बन्ध बदलनेकी तो बात ही बया है । किन्तु धनदेवकी माता वसन्ततिलका और वहन कमला, ये दोनों उभो भवमें धनदेवकी पत्नी हुईं । कहा भी है—

घनदेवस्य तस्मिन्नेव भवे । भवान्तरेषु सबन्धान्ययाभावे किमस्ति वाच्य ? उक्तं च—

यद्येकदेहवहने लभतेऽपवाद दुःख ततो ध्ययनमुग्रबलं च पापम् ।
नानाशरीरवहनेषु क्व न दुःखं प्राप्नोति 'को न विषयान्नितपापकर्म ॥
कुर्यान्न तन्मदगजोद्धतदत्तवेगं सद्गो विरुद्धबलपाणिबिसृष्टधारः ।
कुर्वन्ति तु क्षमधिकं विषया नराणां, तस्मात्त्यजन्ति विषयान् परिदृष्टत्त्वा ॥

एवमयं कष्टो लोकधर्म ॥१७९४॥

राया वि होइ दासो दामो गयचण पुणमुवेदि ।
इयं मसारे परिवट्टते ठाणाणि सव्वाणि ॥१७९५॥

'राया वि होइ दासो' राजा दासो भवति, नीचगोत्राजानान्, दासो राजतां पुनरुपैति उच्चगोत्र-
कर्मण उदयान् । एव मसारे परिवर्तन्ते सर्वाणि स्थानानि ॥१७९५॥

कुलरूढतेयभोगाधिगो वि राया विदेहेदेमवदी ।
वचुचधरम्मि सुभोगो जाओ कीडो सकम्मेहि ॥१७९६॥

'कुलरूढतेयभोगाधिगो वि' कुलेन रूपेण तेजसा भागेनाधिकोऽपि । विदेहजनपदाधिपतो राजा सुभोग-
सज्ज सुवर्चोर्गृहे कीटो जातस्त्वं कर्मभिः प्रेरितः । उक्तं च—

दृष्ट्वा क्वचित्सुरमनुष्यगणप्रधाना सर्वद्विदोःस्रवपुषः शशिकांतस्था ।
अष्टास्त एव पुनरन्येनत प्रणुन्ना दीना भवन्ति कुलरूपधनप्रतापे ॥१७९६॥

यदि एक शरीर धारण करनेपर जीव अनेक अपवादों और दुःखोंको पाता है और उसमें
मनोवेदना और उग्र पापको वाधता है तब विषय सेवनके द्वारा पापकर्मका उपार्जन करनेवाला
कोन पुरुष नाना शरीर धारण करनेपर कर्म दुःख नहीं पाता है अर्थात् अवश्य दुःख पाता है ।

मदमें मत्त हाथीके द्वारा वेगपूर्वक किया गया प्रहार तथा बलशाली हाथमें छोड़ी गयी
तीक्ष्ण तलवार दुःख नहीं देते । उसमें भी अधिक दुःख विषय देते हैं । इसलिये तत्त्वज्ञानी जन
विषयोंको त्याग देते हैं । इस प्रकार यह लोकधर्म दुःखदायक है ॥१७९४॥

गा०—नीच गोत्रका बन्ध करनेसे राजा मरकर दास होता है और उच्च गोत्रका बन्ध
करनेसे दाम राजा हो जाता है । इस प्रकार ससारमें सत्र स्थान परिवर्तनशील है ॥१७९५॥

गा०—विदेह देशका राजा सुभोग कुल, रूप, तेज और भोगमें अधिक होते हुए भी अपने
कर्मोंमें प्रेरित होकर विष्टाधरमें कीट हुआ, कहा भी है—जो देव और मनुष्योंमें प्रधान थे,
जिनका शरीर मद्द अद्विषोमि दीप्तिमान था, जिनका रूप चन्द्रमाकी तरह मनोहर था, वे भी
अन्य गतिमें कुल, रूप, धन और प्रतापमें अष्ट होकर दीन होते हैं ॥१७९६॥

होउण महद्गीओ देवो सुभवण्णगंधरूवघरो ।

कुणिमम्मि वसदि गम्भे धिगत्थु ससारवासस्स ॥१७९७॥

‘होऊण महद्दोओ देवो’ महद्दिको देवो भूत्वा । ‘सुभवण्णगंधरूवघरो’ प्रसास्ततेजोगन्धरूपान्वित ।

इन्द्रचापतडिदम्बधराणा पद्मदानु गगने सहसैव ।

जन्म सबवति तद्दवमीया जन्म वेद्यमनुचिप्रविमुक्तम् ॥

वातपित्तकफजं परिमुक्त ध्याधिभिर्विगतखेदमनिद्रम् ।

अच्युत परमपीवनमुक्त सर्वतोऽविकलमुत्तमकान्ति ॥

सर्वतइव विमलाम्बरवर्णस्पर्शगन्धवरवाङ्मितहास ।

सद्विलासगतिचेष्टित लील ते शरीरमरमत्र सभग्ने ॥

गीतवाद्यतितुर्यनिनादैस्तास्तदाद्य समुपेत्य सहर्षाः ।

देवदेव^३वनिता प्रणिपत्य कुवंतेऽत्र समुपासनमेया ॥

फुल्लपद्मसमैरथ हस्तेर्दक्षिणे प्रवरलक्षणकोणे ।

चारुव द्रवदना नतिमेयां स्निग्धदृष्टिहसिता प्रतिसृष्ट ॥

मृगपासनमस्तकोपविष्टान् मृगपातप्रयतानिवाचलानां ।

अय तानभिषेकमापद्यति मुदितास्तत्र^३ सुरा सुवणकुम्भे ॥

प्रविकाशय वरत्रपद्मजानि सुरनायार्कगुणाशुभि सुराणां ।

^३कुम्भ सुधिर स्वमाधिपत्यमिति तान्वाग्भिरभिष्टुवन्ति चैव ॥

गा०-टी०—शुभरूप, शुभगन्ध, और प्रशस्त तेजधारी महती ऋद्धिका धारक देव भी होकर गन्दे गर्भस्थानमें वास करता है ।

देवोमे उत्पत्तिका वर्णन करते हुए कहा है—

जैसे आकाशमें सहसा ही शीघ्रतासे इन्द्रधनुष, विजली और मेघ प्रकट होते हैं उसी प्रकार देवोका जन्म होता है । उनका शरीर अपवित्र वस्तुओंसे रहित होता है, वात, पित्त और कफमें उत्पन्न होनेवाले रोगोंसे रहित होता है । खेद और नीदसे रहित होता है । उत्कृष्ट यौवनसे युक्त होता है, सब रूपसे परिपूर्ण होता है, उत्तम कान्तिसे युक्त होता है । उत्तम रूप, रस गन्धसे युक्त है । वचन-विलास, हाम-विलास, गति चेष्टासे लीला सहित होता है । वे देव ऐसा, शरीर तत्काल प्राप्त कर लेते हैं । उसके पश्चात् गीत वाद्योंकी पक्ति तथा भेरीक शब्दोंके साथ देव-देवागणों बड़े हर्षके साथ उनके पास जा, नमस्कार करके उनकी सेवा करते हैं । हास सहित स्निग्ध दृष्टिसे युक्त सुन्दर चन्द्रमुखी देवागणोंसे खिले हुए कमलके समान तथा उत्तम लक्षणोंसे युक्त दक्षिण हाथोंसे उनका नमस्कार स्वीकार करती हैं ।

पर्वतोंके अग्रभाग पर बंटे हुए सिंहके समान सिंहासनके मस्तक पर बंटे हुए उन देवोका वे देव प्रसन्नतापूर्वक सुवर्ण कलशोंसे अभिषेक करते हैं । हे देवेन्द्ररूपी सूर्य ! अपने गुणरूपी किरणोंसे देवोंके मुखरूपी कमलोंकी विकसित करो और चिरकाल तक हमारे स्वामी रहो, इस

आदाय नैदाघरवि शिरःसु न्यस्तीरिवेत्तैमुकुटानि भूत्वा ।
 विभूषिताश्चाभरणैरनर्घैर्हारार्थं हाराम्बकुण्डलाद्यैः ॥
 ज्योतिर्विभूषान् गगनप्रदेशान् विष्टुडिनन्दान् दक्षिराम्बुदासः ।
 रत्नाघितान् हेममहागिरांश्च विशेषयतोऽभ्यधिकं विभान्ति ॥
 दिव्यदीर्घबलविक्रमपुष्यो दिव्यदोस्तवपुष्यो दिशो ददाः ।
 भासयति विमलांबराकंबहिष्यसोम्पवपुषः शशाङ्कवत् ॥
 दूरमप्यतिपतन्ति सायवान् गौरवाद् गिरिसमा भवन्ति च ।
 आणवावतिविशति मेदिनीं पायिवाञ्च महतोऽपि हन्वते ॥
 काष्ठभनिमनिल जल ग्रहैः सप्रविशय च तनू शरीरेणा ।
 निविशेयगुणकाः सहासित्तु ते भवन्ति सुचिर मुगन्धय ॥
 पावकाचलमूर्त्न बनावनीसागराश्च सहसा निपत्य ते ।
 स्थानमोप्सिततम श्रमाडिना याति चाप्रतिहृताः समीरवत् ॥
 उत्क्षिपेद्युर्वनां महाबलात् पातयेयुरपि मन्दराङ्करं ।
 मन्दराप्रतिक्षर धरास्थितास्ते स्पृशेयुरपि यद्यभीप्सित ॥
 ईशित्तु मुरन्गामपत्नत वतुंमात्सवगागामुधानपि ।
 रूपमात्ममनसा समोप्सित षष्टमप्यलममोऽसहस्रया ॥

प्रकार वे देव अपने वचनोसे उनको स्तुति करते हैं ॥ उनके मस्तक पर मुकुट शोभित होते हैं जो मानो शीष्म कालके सूर्यको ही पकड़ कर सिरो पर रख लिया है ऐसे प्रतीत होते हैं । उन मुकुटोंसे तथा हार, अर्द्धहार, बाजूबन्द, कुण्डल आदि बहुमूल्य आभरणोंसे भूषित होकर वे देव सूर्यचन्द्रमे सुशोभित आकाशसे, विजलीसे सम्बद्ध सुन्दर मेघोंसे और रत्नोंसे खचित स्वर्णमयी पर्वतोंमे भी अविश्व सुशोभित होते हैं । दिव्य दीर्घ, बल, विक्रम और आयुवाले तथा दिव्य चमकदार शरीरवाले वे देव निर्मल आकाशमे स्थित सूर्य और दिव्य मौम्य शरीरवाले चन्द्रमाकी तरह दसो दिशाओको प्रकाशित करते हैं । वे लाघवसे सुदूर तक ऊपर उठे हुए हैं और गौरवसे पर्वतके समान होते हैं । सूक्ष्म होनेसे पृथ्वीमे प्रवेश करते हैं और महान् होनेसे बड़ो-बड़ोको रोकते हैं । अर्थात् अणिमा, महिमा, लघिमा और गरिमा मिट्टिके धारो होने है । वे काष्ठ, अग्नि, वायु, जल और पृथ्वीमे तथा प्राणियोंके शरीरमे प्रवेश करके उन्हींके समान हो जाते हैं । ऐसी उनमे शक्ति होती है ॥ वे आग, पर्वत, पृथ्वी और सागरमे, सहसा प्रवेश करके श्रमके बिना वेरोक-टोक वायुकी तरह इच्छित स्थानको चले जाते हैं । वे महान् बलसे पृथ्वीको ऊपर उठा सकते हैं । अपने हाथोंमे मन्दराचलको गिरा सकते हैं । वे पृथ्वी पर रहकर यदि चाहे तो मुमेरुकी चोटोके अग्रभागको छू सकते हैं अर्थात् प्राप्ति और प्राणाम्य सिद्धिमे सम्पन्न होते हैं ॥

वे बिना प्रयत्नके देवो और मनुष्योंका स्वामित्व कर सकते हैं । मृगोंको भी अपने वशमे कर सकते हैं और हजारो इच्छित रूप बना सकते हैं । अर्थात् ईशित्व और वांगत्व सिद्धिसे सम्पन्न होते हैं ॥ अपनी सुगन्धमे और मिष्ट वचनोमे दिशाओंको पूरित करके सन्तान आदिके

१ तोऽप्यपि -आ० । २ वरा वचिहि -आ० । ३ ति विप्रवान् सु-आ० । ४ ता शरीर-अ० ।

५ महाबलान् -अ० ६ स्पृशुः -अ० । ७, सह स्ववा -आ० ।

सपूर्वाशा स्वसुरभिर्गन्धैर्वाग्निं^१मृष्टं शुभकुसुमैश्च ।
 सतानाद्यैर्विरचितमालां नित्याम्लानां परिवहमाना ॥
 मात्यैर्गन्धे सुखमनुलिप्ता^२ दध्युर्वत्राप्यतिविरजासि ।
 ररम्यते रतिनिपुणाभिस्स्वाभि सादं वरवनिताभिः ॥
^३सुखेनेव जीवन्तो यान्ति वियोगकृत परिताप ।
 तत्र महद्भिमुता अपि देवः स्त्रीपुरया विद्यमानुष एव ॥
 प्राणभृतामिह मध्यमशोकैः तीव्रतरारिक्वापयचतुष्क ।
 स्यात्सुरसततय समकालां, तन्न भवति हि कर्मवशेन ॥
 अदध्युपमानितजीवितदेवे, स्त्री चिरजीवितवत्यपि तस्या ।
 पत्यमित बत जीवितकाल तेन वियोगमित सुरलोकः ॥
 मृत्युकृत च विचिन्त्य सुदुःख भावि सुरा परिभीतमनस्का ।
 तत्र भजन्ति मृगा इव बद्धा व्याघ्रसमीपमुपेत्य समीका^४ ॥
 गर्भकृतामपि ते दुरवस्था सपरिचिन्त्य पुन समवाप्य ।
 शोकभये विपुले परियान्ति चारकरोष इवाभ्युपयाते ॥
 मृतपयावशुचेरतिदुःख निर्गमन स्मरता च शुचीनां ।
 जन्मतयेति भय दिविजाना, स्यादधिक तदवाप्य सुख तत् ॥
 तानपि चासु पतेत् क्षुदनिष्टा पश्यत सर्पवधूरिव कष्टा ।
 वर्षसहस्रमितोह गतेऽपि कालदरो न जहात्यहमिदं ॥
 उच्छ्वसन ध्रमज नृपतेपि पक्षमितैर्द्विसंयंदि यान्ति ।
 कान्यसुरेषु कया दत लोके ही सभयो जननार्णववात ॥

सुन्दर फूलोमे रचित माला धारण करते हैं जो कभी मुखझाती नहीं है ॥ सुखपूर्वक माला और गन्धसे विलिप्त वे देव अत्यन्त स्वच्छ वस्त्र धारण करते हैं और रतिमें निपुण अपनी देवागनाबोकें साथ रमण करते हैं ॥ इस प्रकार सुखपूर्वक जीवन यापन करते हुए वियोगजन्य मन्तापको सहते हैं । क्योंकि स्वर्गमें महद्दिक भी देव-देवागना समान आयुवाले नहीं होते । आगे-पीछे मरते हैं ॥ मध्यलोकसे यहाँके प्राणियोकी क्वापय तीव्रतर होती है । अतः कर्मवश देव-देवागनाबोकी आयु समान नहीं होती ॥ देवकी आयु सागरप्रमाण होती है और देवागना चिरकाल तक भी जीवित रहे तो उसकी आयु पत्यप्रमाण ही होती है इसलिये देवलोकमें वियोगजन्य सन्ताप होता है । भविष्यमें होनेवाले मृत्यु जन्य दुःखका विचार करके देव डर जाते हैं और वहाँ ऐसे भयभीत रहते हैं जैसे व्याघ्रके समीपमें बाधे गये मृग । स्वर्गलोकसे च्युत होनेपर गर्भमें होनेवाली दुरवस्थाका भी विचार करके वे महान् शोक और भयने युक्त होते हैं जैसे कोई जेलखानेसे डरता है । पवित्र देवोको देवलोकमें जितना सुख होता है उमसे भी अधिक भय स्त्रोके अपवित्र भूत्रमार्गसे जन्म लेनेका स्मरण करके जन्मसे ही होता है । यहाँ स्वर्गमें तो हजार वर्ष बीतनेपर भी भूत नहीं सताती थी । किन्तु मनुष्य पर्यायमें जन्म लेनेपर सर्पिणीकी तरह भूख सताती है यह भय अहमिन्द्रदेवको भी नहीं छोड़ता । स्वर्गमें तो पन्द्रह दिनमें एक बार स्वाम लेनेका थम उठाना होता

रोगनराविकलत्वविहीनास्तत्र पुनश्च भवन्मनुजानाम् ।
 तत्सहितं प्रसमीड्य पुरस्तात् प्राप्यमवश्यमतश्च्युतमात्रे ॥
 अन्यवशादवशा विलपन्तो देशमिवान्यमुपद्रवयुक्त ।
 सप्रतिपत्सव उपभय ते शोकवशा बहुशोऽपि भवन्ति ॥
 यत्सुरसौदमवाप्य विमाने भूतऋजो जगतीरपि धान्ति ।
 तत्परिचिन्तयता कुशलाना वेन सुरेषु भवेद्बहुमान ॥
 तैःजघिना विधिना बहुतत्त्व दूरगतान्यपि जानत एव ।
 तेन भयापनुभूय पुरस्तादश्नुवते 'भयकृद्यदपश्चात् ॥
 यः सहसा भयमभ्युपयाति पूर्वतर न भय स उपैति ।
 प्राग्वदितात्मवधस्तु नरः प्राक् प्राप्य भय वपमेति हि परचान् ॥
 अतो न सौख्यं तदिहास्ति किञ्चन विभूयमान मनसा भवार्णवे ।
 सुखे प्रसक्तो विपुले 'पुमानय भजेत दु खेन विनाशुनापि यत् ॥
 ययाणुकेशोपहृतेऽपि भोजने न त नरो रोचयते कुलोदितः ।
 तयल्पवो'पेऽप्यसुखे सुखे सति न तद्बुधो रोचयते कराचन ॥
 'प्रपीयमानेऽन्वनि पातितो यथा लवोऽपि मूत्रस्य तद्वद्बुधयेत् ॥
 तथा लवाशोऽप्यसुखस्य सस्सुखे करोति सर्वस्य सुखस्य दूषण ॥

किन्तु मनुष्यगतिमे तो सतत श्वाभ लेंना होता है । हा, जन्मरूपी समुद्रका वास भयकारक है । यहाँ देवगतिमे तो रोग, बुटापा आदि नहीं है । किन्तु मनुष्योमे तो ये सब हैं । यहसि च्युत होने पर ये सब अवश्य प्राप्त होंगे । ऐसा देख वे देव दु खी होते हैं । जैसे कोई परवश होकर उपद्रवसे युक्त अन्य देशमे जानेपर विलाप करता है वैसे ही देव स्वाधीन होते हुए भी परवश होकर देवगतिमे मनुष्यगतिमे जानेका बहुत शोक करते हैं । स्वर्गके विमानोमे देवोका सुख प्राप्त करके भी जीवोको पुन इमी मनुष्यलोकमे जन्म लेंना होता है ऐसा विचार करनेवाले बुद्धिमानोको देवोके प्रति बहुमान कैसे ही सकता है । वे देव अथधिज्ञानके द्वारा दूरवर्ती तत्त्वोको भी जानते ही हैं । इससे पहले ही भयका अनुभव करते हैं ।

जो भय अचानक उपस्थित होना है उसका भय पहलेसे नहीं होता । किन्तु जिस मनुष्यको पहलेमे यह ज्ञात हो जाता है कि मेरा वध होगा वह पहले भयभीत होता है, पीछे मारा जाता है । अर्थात् मनुष्यगतिमे तो मृत्युका बोध पहलेसे नहीं होता । किन्तु देवगतिमे तो मृत्युसे छह मास पूर्व माला मुरझा जाती है । अत मृत्यु पीछे होती है और उसका भय पहले आ जाता है । अत विचार करनेपर इस सत्साररूपी समुद्रमे कुछ भी सुख नहीं है । बहुत मुखमे आसक्त मनुष्य भी एक परमाणु प्रमाण दु खके विना सुख नहीं भोग सकता । अर्थात् संसारके मुखमे दु खका मिश्रण रहता ही है । जेमे कुलीन मनुष्यको यदि भोजनमे जरा मा भी बाल आदि गिर जाये तो भोजन नहीं रचना उसी प्रकार जानीको बहुतमे सुखमे घोडा मा भी दु ख मिला हो तो वह सुख नहीं रचना । जैसे पीनेके पानीमे मूत्रकी एक बूंद भी गिरनेपर वह पानी दूषित

१ भयमभ्युपयाति -आ० । २ पुमानय -आ० म० । ३ दोषोऽय-अ० म० । ४ प्रपीयमाने -अ० प्र० ।

गुणैरनेकैरपि समुत्ता स्त्रिय कृतापचारं सङ्घट्ट्यनिर्घुण ।

नरो जहास्येय यथा तथा बुधो न दृष्टिदोषादिव सोऽनुमिरुच्छति (?)

‘कुणिममि वसति गम्भे’ कुणितगर्भे वसति । ‘धिगत्यु ससारवातस्स’ धिगस्तु ससारवातस्स ।

उक्त च—

त्यागाद्भोगादेव समुत्थ मनुष्येपु गर्भस्मृत्या गर्भनिपात च समीप्य ।

प्रस्तादेव देहानुबन्धोऽपि निरीक्ष्य गर्भाविष्टा दुःखमिवात्तेऽनुभवन्ति ॥१७९७॥

इध किं परलोगे वा सत्त् पुरिमस्स हुति णीया वि ।

इहइं परत्त वा खाइ पुत्तमस णिययमादा ॥१७९८॥

‘इत्य किं परलोगे वा’ इहलोके परलोके वा, ‘पुरिमस्स णीया वि सत्त् होंति’ वधवोऽपि शशवो भवति पुरपस्य । ‘इहइ परत्त वा खाइ’ इह वा परत्त वा अत्ति, ‘पुत्तमस णिययमादा’ पुत्रस्य मास आत्मीया जननी अत्ति किमत पर वट्ट ॥१७९८॥

होऊण रिऊ बहुदुक्खकारओ बंधवो पुणो होदि ।

इय परिवत्तइ णीयत्तण च सत्तुत्तणं च जये ॥१७९९॥

‘होऊण रिऊ’ रिपुर्भूत्वा पूव । ‘बहुदुक्खकारो’ विचित्रदुःखकारी । स एव पुणो पश्चादपि । ‘इय बंधवो होदि’ प्रियवाधवो भवति । ‘इय परिवत्तइ’ एव परिवर्तते । ‘णीयत्तणं च सत्तुत्तणं च’ बन्धुत्व च शत्रुत्व च । ‘जये’ जीवलांके ॥१७९९॥

विमलाहेदु वक्षेण मारिओ णिययमारियागम्भे ।

जाओ जाओ जादिभरो सुदिट्ठी सकम्भेहि ॥१८००॥

‘विमलाहेदु’ विमलानिमित्त । ‘वक्षेण मारिओ’ वक्राख्येन भूतवेन मारित । क ? ‘सुदिट्ठी’ सुदृष्टि-

हो जाता है उसी प्रकार दुःखका जरा सा भी अशा सब मुखको दूषित कर देता है । जैसे अनेक गुणोंसे युक्त स्त्री यदि एक बार भी व्यभिचार दोषसे दूषित हो जाये तो दयालु भी मनुष्य उसे त्याग देता है । उसी प्रकार ज्ञानी मनुष्य भी दुःखसे मिश्रित मुखको त्याग देता है ।

अत कहा है—मनुष्योंमें गर्भका स्मरण करके तथा गर्भपातको देखकर और मनुष्योंके अपवित्र शरीरको देखकर देव दुःखी होते हैं और मरण होनेपर गर्भमें प्रवेग करके दुःख भोगते हैं ॥१७९७॥

गा०—इस लोक अथवा परलोकमें बन्धु भी मनुष्योंके शत्रु हो जाते हैं । इस लोक तथा परलोकमें माता भी अपने पुत्रके भासको खाती है इससे अधिक कष्टकी बात और क्या है ? ॥१७९८॥

गा०—बट्ट दुःख देनेवाला शत्रु भी पुनः प्रिय बन्धु हो जाता है । इस प्रकार जगत्में बन्धुता और शत्रुता परिवर्तनशील है ॥१७९९॥

गा०—सुदृष्टि नामक रत्नपारखी मैथुन करते समय अपनी पत्नी विमलाके निमित्तसे

नामधेय । 'सकम्पेहि' आत्मीयं कमभि । 'जादो' उत्पन्न । क्व 'निययभारियागम्भे' निजमायागम्भे ।
'जादिभरो जादो' जानिम्मग्दच जात ॥१८००॥

होरुण बंभणो सोत्तिओ सु पाव करित्तु माणेण ।

सुणगो व सुग्गे वा पाणो वा होड परलोए ॥१८०१॥

'होरुण बंभणो सोत्तिओ' श्रोत्रियो ब्राह्मणो भूत्वा । 'माणेण' जातिमदने । गुणिजननिन्दावमानाम्या
'पाप करित्तु' पाप कृत्वा नीचगोत्रमुपचित्य । सुणगो व सुग्गे वा पाणो वा होड परलोए' इवा
सूकरश्चाण्डालो वा भवति परजन्मनि ॥१८०१॥

दारिद अडिदत्त णिद च युदि च वसणमभ्भुदय ।

पावदि बहुसो जीवो पुरित्तिण्वुंमयत्त च ॥१८०२॥

'दारिद' दारिद्र्य । 'बहुसो जीवो पावदि' बहुस जीव प्राप्नोति लाभान्तरायोदयान् । अडिदत्त'
आह्वयता पूर्ववदेव सम्बन्ध । पावदि बहुसो इमो इत्यनेन । लाभान्तरायशयापराधादीप्सितानि द्रव्याणि लभते,
लभ्यानि च नश्यन्ति तत्र आह्वयता । निदा' श्वपाश्वच्छण्डाल कुण काणो दुर्भंगो भूय कृपण इत्यादिका ।
'युदि च' स्तुति च कुलीना रूपवान् वामी क्षाड्य प्राज्ञ इत्यादिका यशस्वीनेरुदयान् । 'एव वसण' दुःख
अग्रेद्योदयान् । 'अभ्भुदय' देवमनुजभवज सुख सद्ग्रेद्योदयान् । पुरित्तिण्वुंमयत्त च' पुरुषत्वं च स्त्रीत्वं च
नपुंसकत्वं च बहुस प्राप्नोति ॥१८०२॥

कारी होड अकारी अप्पडिभोगो जणो हु लोगम्मि ।

कारी वि जणममक्खं होइ अकारी सपडिभोगो ॥१८०३॥

'अकारो अपि' दोषमकुर्वन्पि कारो भवति, 'अपडिभोगो जनो' पुष्यरहितो जन । 'कारीवि' कुर्व-

अपने मेवक्क वक्के द्वारा मारा गया और मरकर अपनी पत्नी विमलाके गर्भमे उत्पन्न हुआ ।
उत्पन्न होनेपर उसे पूर्वजन्मका स्मरण हो आया ॥१८००॥

विशेषार्थ—बृहत्संघाकोशमे १५३वें नम्वर पर इसकी कथा है ।

पा०—श्रोत्रिय ब्राह्मण होकर यह जीव अपनी जातिका अभिमान करके गुणी जनोकी
निन्दा और अपमानके द्वारा नीच गोत्रका बन्ध करता है और मरकर परलोकमे कुत्ता, सूकर या
चण्डाल होना है ॥१८०१॥

पा०—टी०—यह जीव लाभान्तरायका उदय होनेसे अनेक बार दरिद्र अवस्था पाता है ।
लाभान्तरायका क्षयोपशम होनेसे अनेक बार इच्छित धन पाता है । इस प्रकार अनेक बार धनीमे
दरिद्र और दरिद्रमे धनी होता है । अयशस्वीनिका उदय होनेसे चण्डाल, काना, अभागा, मूर्ख,
कज्जम आदि निन्दाका पात्र होता है । यशस्वीनिका उदय होनेसे कुलीन, रूपवान धनी, पण्डित
इत्यादि स्तुतिक पात्र होना है । अनातावेदनीयका उदय होनेसे दुःख उठाना है और मातावेद-
नीयका उदय होनेसे देव और मनुष्य भवका सुख भोगना है । इसी प्रकार अनेक बार स्त्री, पुण्य
और नपुंसक होना है ॥१८०२॥

पा०—पुष्यहीन मनुष्य लोकमे दोष नहीं करनेपर भी दोषका भागी होता है । और
पुष्यवान अनाचार करने भी लोगोके सम्मुख दुःखानी मिद नही होना ॥१८०३॥

न्नन्यनाचार, 'जणसमस्व' जनाना प्रत्यक्ष 'अकारो होई' दुराचारो न भवति । सर्पाडभाग
पुण्यवान् ॥१८०५॥

मरिसीए चदिगाए कालो वेस्सो पिओ जहा जोण्हो ।

सरिसे वि तहाचारे कोई वेस्सो पिओ कोई ॥१८०४॥

सरिसीए चदिगाए' चद्रिकाया समानायामपि । 'कालो वेस्सो' कालपक्षो द्वेष्य । पिओ जहा
जोण्हो' शुक्लपक्षो यथा प्रिय । सरिसे वि तहाचारे' मद्गोप्याचारे द्वयो पुत्रो । 'कोई वेस्सो पिओ कोई'
कश्चित् द्वेष्य कश्चित् प्रिय ॥१८०४॥

इय एस लोगधम्मो चित्तज्जतो करेइ णिव्वेद ।

धण्णा ते भयवता जे मुक्का लोगधम्मादो ॥१८०५॥

'इय एस लोगधम्मो' अयमेव प्राणिधर्म । 'चित्तज्जतो' चिन्त्यमानो । 'करेइ णिव्वेद' निवेद करोति ।
'धण्णा ते भयवता' पुण्यवन्तस्ते यतय । जे मुक्का लोगधम्मादो' ये मुक्ता प्राणिधर्माद् व्यावर्णितान् ॥१८०५॥

विज्जू व चचल फेणदुब्बल वाधिमहिदमच्चुहद ।

णाणी किह पेच्छतो रमेज्ज दुक्खुद्धुद लोम ॥१८०६॥

'विज्जू व चचल' विद्युदिव चचल, फेणदुब्बल' फेनमिव दुर्बल । वाधिमहिदमच्चुहद' व्याधि-
भिमयित मृत्युना हत । 'लोम पेच्छतो' लोक पश्यन् । 'णाणी किप रमेज्ज' ज्ञानी कथ तत्र रतिं कुर्यात् ।
लोगधम्मचिन्ता ॥१८०६॥

अशुभत्वानुप्रेक्षा प्रक्रम्यते—

असुहा अत्था कामा य हुति देहो य सव्वमणुयाणं ।

एओ चैव सुभो णवरि सव्वसोक्खायगे धम्मो ॥१८०७॥

'असुहा अत्था कामा य हुति' अशुभा अर्था कामाश्च भवन्ति । 'देहो य सव्वमणुयाणं' देहश्च सर्वं

गा०—जैसे चांदकी चांदनोके समान होनेपर भी लोग कृष्णपक्षमें द्वेष करते हैं और
शुक्लपक्षमें प्रेम करते हैं । वैसे ही समान आचार होते हुए भी कोई मनुष्य लोगोको प्रिय होता
है और कोई अप्रिय होता है ॥१८०४॥

गा०—इस प्रकार लोकदशाका चिन्तन करनेसे वैराग्य उत्पन्न होता है । वे पुण्यवान
यतिजन धन्य हैं जो इस ऊपर कही ससारकी दशामें मुक्त हो गये हैं ॥१८०५॥

गा०—विजलीकी तरह चचल, फेनकी तरह दुर्बल, रोगोसे ग्रस्त और मृत्युसे पीडित इस
लोकको देखकर ज्ञानी इसमें कौन अनुराग कर सकता है ॥१८०६॥

इस प्रकार लोकानुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ ।

अब अशुभत्व अनुप्रेक्षाका कथन करते हैं—

गा०—अर्थ, काम और सब मनुष्योकी देह अशुभ है । एक मव सुखोकी खान धर्म ही
शुभ है । शेष सब अशुभ है ॥१८०७॥

मनुजानाम् । 'एकको चैव सुभो' एक एव शुभ पुन । 'सर्व्वमुखायरो घम्मो' सर्व्वेषा सौख्यानामाकरो धर्म ॥१८०७॥

अर्थस्याशुभता व्याचष्टे—

इहलोगियपरलोगियदोसे पुरिसस्म आवहड णिच्च ।

अत्यो अणत्थमूल महाभयं मुत्तिपडिपथो ॥१८०८॥

'इहलोगियपरलोगियदोसे' ऐहिकान् पारलौकिकाश्च दोषान् । 'पुरिसस्म आवहड णिच्च' पुरुषस्य आवहति नित्य । 'अत्यो अणत्थमूल' अयोजनार्थना मूल, 'महाभयं' महती भयस्य मूलत्वान्महाभय । 'मुत्तिपडिपथो' मुक्तेरर्गलीमूत ॥१८०८॥

कामस्याशुभतमतामाचष्टे—

कुणिमकुडिभवा लहुगत्तकारया अप्पकालिया कामा ।

उवघो लोए दुक्खावहा य ण य ह्ति ते सुलहा ॥१८०९॥

'कुणिमकुडिभवा लहुगत्तकारया' अशुचिकुटिभवा लघुत्वकारिण । 'अप्पकालिया कामा' अल्पकालेषु भवा कामा । 'उवघो लोए' लोकदमे दुःखावहाश्च । ण य ह्ति ते सुलभा' नैव ते सुलभा भवन्ति ॥१८०९॥

कामाशुभत्वमाख्याति—

अट्ठदलिया छिरावक्कवद्विया मसमट्टियालिचा ।

चहुकुणिमभण्डभरिदा विहिंमणिज्जा खु कुणिमकुडी ॥१८१०॥

'अट्ठदलिया' अस्थिदलनिष्पन्ना । 'छिरावक्कवद्विया' शिरावन्क्लवदा । 'मसमट्टियालिचा' मास

अर्थकी अशुभता बतलाते हैं—

गा०—टी०—घन सत्र अनर्थोंकी जड़ है । यह पुरुषमें इस लोक और परलोक मन्वन्धी दोष लाता है अर्थात् घन पाकर मनुष्य व्यसनमें फँस जाता है और उसमें वह इस लोकमें भी निन्दाका पात्र होता है और परलोकमें भी कष्ट उठाता है । मृत्यु आदि महान् भयोंका मूल होनेसे घन महाभय रूप है । और मोक्षमार्गके लिये तो अर्गला है । घनमें मस्त मनुष्य मोक्षकी बात भी सुनना नहीं चाहता ॥१८०८॥

अब कामकी अशुभता बतलाते हैं—

गा०—यह कामभोग अपवित्र अपने और परके शरीरके संयोगमें पैदा होता है । यह मनुष्यको गिराता है, उसे लोगोंकी दृष्टिमें लघु करता है । यह अल्पकालके लिये होता है तथा दोनों ही लोकमें दुःखदायी है । तथा सुलभ भी नहीं है ॥१८०९॥

अब शरीरकी अशुचिना कहते हैं—

गा०—यह शरीर रूपी कुटी हड्डी रूपी पत्तोंमें बनी है । निरारण रूपी बल्ल (छाल) से

मृत्तकालिप्ता । 'बहुकुणिमंत्रं भरिदा' अनेकाशुचिद्रव्यपूर्णा । 'विहिसणिज्जा सु कुणिभकुडो' जुगुम्भनीया
अशुचिकुटी ॥१८१०॥

इगालो धुव्वतो ण सुद्धिमुवयादि जह जलादीहिं ।

तह देहो धोव्वतो ण जाइ सुद्धिं जलादीहिं ॥१८११॥

'इगालो धोव्वतो' प्रसाल्यमाना मर्षो न शुद्धमुपयाति न शुक्लतामुपयाति । 'जह' यथा । 'जलादी-
हिं' जलादिभि । तह देहो धोव्वतो' तथा शरीरं प्रसाल्यमानं । 'ण जाइ सुद्धिं जलादीहिं' न याति शुद्धिं
जलादिभि ॥१८११॥

सलिलादीणि अमेज्झ कुणइ अमेज्झाणि ण दु जलादीणि ।

मेज्झममेज्झ कुव्वति मयमवि मेज्झाणि संताणि ॥१८१२॥

'सलिलादीणि' सलिलादीनि द्रव्याणि शुचीनि । 'अमेज्झ कुणइ' अमेध्य करोति । 'अमेज्झाणि'
अशुचीनि । 'ण दु जलादीणि मेज्झ कुणइ' नैव जलादीनि शुचित्तामापादयन्तीति । 'अमेज्झाणि' अशुचीनि
'सयममेज्झाणि संताणि' अमेध्ययोगात् स्वयमशुचीनि सन्ति ॥१८१२॥

तारिसयममेज्झमय मरीरय किह जलादियोगेण ।

मेज्झ हवेज्ज मेज्झ ण हु होदि अमेज्झमयघडओ ॥१८१३॥

'तारिसयममेज्झमय' शुचीनामशुचिताकरणसमर्थाशुचिभयं शरीरकं । 'किह' कथं । 'जलादियोगेण'
जलादिसम्बन्धेन । मेज्झ हवेज्ज' शुचिर्भवेत् । 'अमेज्झमय घडओ' अमेध्यमयी घट । 'न हु मेज्झो होदि'
नैव शुचिर्भवति । यथा जलादियोगेन ॥१८१३॥

यदि शरीरमशुचि किं तहिं शुचीत्यत्राह—

णवरि हु घम्मो मेज्झो धम्मत्थस्म वि णमति देवा वि ।

घम्मणेण चैव जादि सु साह जल्लोसधादीया ॥१८१४॥

बाँयो हुई है । मामहूपी मिट्टीसे लीपी गई है तथा अनेक अपवित्र वस्तुओंसे भरी हुई है । इस
तरह यह शरीररूपी कुटिया घृणास्पद है ॥१८१०॥

गा०—जैसे कौयलोको जलादिसे धोनेपर भी वे सफ़ेद नहीं होते । उसी प्रकार जलादिने
धोनेपर भी शरीरकी शुद्धि नहीं होती ॥१८११॥

गा०—अपवित्र शरीर जलादिको भी अपवित्र कर देता है । अर्थात् शरीरके सम्बन्धमें
निर्मल जल मिला हो जाता है । जल स्वयं मिला नहीं है, स्वयं तो निर्मल ही है किन्तु जल
शरीरकी पवित्र नहीं बनाता । बल्कि शरीरके सयोगसे जल ही अपवित्र हो जाता है ॥१८१२॥

गा०—निर्मलको मलीन करनेवाला अपवित्र शरीर जलादिके सम्बन्धसे कैसे पवित्र हो
सकता है । क्या मलमे भरा घडा पानीसे धोनेसे पवित्र हो सकता है ॥१८१३॥

यह शरीर अपवित्र है तो पवित्र कौन है, इसका उत्तर देते हैं—

गा०—किन्तु धर्म पवित्र है क्योंकि रत्नप्रयात्तमक धर्ममें स्थितको देव भी नमस्कार करते

'णवरि ह्य धम्मो भेज्जो' धर्मं पुनं नुचि । कस्मान् सुशब्दो यस्मादित्यर्थे वर्तते । 'धम्मत्थस्स वि णमत्ति देवा वि' यन्मादृमं रत्नत्रयात्मने स्थितस्य देवा अपि नमस्कारं कुर्वन्ति । धर्मेण शुचिना योगादात्मापि शुचिरिति । 'धर्मेण चैव जादि खु साधू धर्मेणैव प्राप्नुवन्ति माधव । किं ? 'जल्लोपघादीया' जल्लोपघ्यादिकमृद्वचतिशम् ॥१८१४॥ अनुभूतः ।

आश्रवानुप्रेक्षा निरूप्यते—

जम्मसमुद्दे बहुदोसवोचिए दुक्खजलयराइण्णे ।

जीवस्स दु परिभ्रमणम्मि कारण आमवो होदि ॥१८१५॥

'जम्मसमुद्दे' जन्मसमुद्रे । 'बहुदोसवोचिए' विचित्र दोषतरङ्गो । 'दुक्खजलयराइण्णे' दुःखजलचरैराकीर्णो । 'जीवस्स परिभ्रमणम्मि' जीवस्य परिभ्रमणे यत् कारणं तत् 'आसवो' आश्रवो भवति । ननु च कर्माणि कारणानि नत्वाश्रवः । अत्रोच्यते । कर्मणा परिभ्रमणकारणानां कारणत्वादाश्रवः कारणमित्युक्तं ॥१८१५॥

ससारसागरे से कम्मजलममवुडस्स आसवदि ।

आसवणीए णावाए जह सलिल उदधिमज्झम्मि ॥१८१६॥

'ससारसागरे' ससारसमुद्रे । 'से तस्य । 'असद्युडस्स' मवररहितस्य मम्यक-वसयमशामादीर्वाज्जव-सतोपपरिणामरहितस्य । 'कम्मजलमासवदि' ज्ञानावरणादिकर्मजलमाश्रवत्यागच्छति । 'आसवणीए णावाए' आसवणशीलाया नावि यथा सलिलं प्रविशति । 'उदधिमज्जे' समुद्रमध्ये ॥१८१६॥

धूली णेहुत्तुप्पिदगचे लग्गा मलो जहा होदि ।

मिच्छत्तादिसिणेहोल्लिदस्स कम्म तहा होदि ॥१७१७॥

है । पवित्र धर्मके सम्बन्धसे आत्मा भी पवित्र है । धर्मसे ही साधु भी जल्लोप गी आदि ऋद्धियोंको प्राप्त करते हैं । अर्थात् रत्नत्रयरूप धर्मका साधन करनेसे साधुआके शरीरका मल भी औपधीरूप हो जाता है ॥१८१४॥

आगे आश्रवानुप्रेक्षाको कहते हैं—

गा०—टी०—यह जन्ममरणरूपी समुद्र विविध दोषरूपी लहरोसे युक्त है तथा दुःखरूपा जलचर जीवोंसे भरा है । इस समुद्रमें परिभ्रमणका कारण आश्रव है ।

शका—ममार समुद्रमें परिभ्रमणका कारण तो कर्म है, आश्रव नहीं है ।

समाधान—परिभ्रमणका कारण कर्म है यह ठीक है । किन्तु उन कर्मों का कारण आश्रव है । अत आश्रवको परिभ्रमणका कारण कहा है ॥१८१५॥

गा०—जैसे समुद्रमें मध्यमें छेदयुक्त नावमें जल प्रवेश करता है वैसे ही मगाररूपी समुद्रमें जो जीव मवरमें रहित है अर्थात् मम्यक्त्व, सयम, शमा, मार्दव, आर्जव, सन्तोष आदि रूप परिणामोंमें रहित है उसके ज्ञानावरण आदि कर्मरूप जलवा आश्रव होता है ॥१८१६॥

गा०—जैसे तेलसे त्रिप्त शरीरमें लगे हुई धूल मलरूप हो जाती है वैसे ही जो आत्मा

‘धूलौ चेदुत्पिदगते लम्बा’ धूलौ स्नेहाम्बुक्तमरीरलम्बा । ‘बहु मत्तो होडू’ यथा मल भवति । ‘मिच्छतादिस्तिमेहोस्तिदस्त’ मिथ्यात्वमयमवपायपरिणामस्नेहाम्बुक्तम्यात्मन प्रदेशेष्ववस्थित बन्धनानाम्बुद्रव्य । ‘तहा’ तथा । ‘कम्भ होदि’ कर्म भवति । एतदुक्त भवति-आत्मपरिणामान्मिथ्यात्वादिकान विनिष्ट पुद्गलद्रव्य कर्मत्वेन परिणमयतीति कर्मत्वपर्यायहेतुरात्मन परिणाम आसव इत्यर्थे ॥१८१७॥

ओगाडगाढाणचिदो पुग्गलद्वेहिं मव्वदो लोगो ।

सुहमेहि वादरेहिं य दिस्सादिस्सेहिं य तहेव ॥१८१८॥

‘ओगाडगाढाणचिदो’ अनुप्रवेशागाढ निश्चित । पुग्गलद्वेहिं’ पुद्गलद्रव्यै ‘सव्वदो लोगो’ वात्सव्येन लोक । ‘सुहमेहि वादरेहिं य’ सूक्ष्मे स्फूर्तिरव । ‘दिस्सादिस्सेहिं’ चक्षुषा दृश्यैर्दृश्यैश्च । ‘तहेव’ तदेव । एतया गायया कर्मत्वपर्याययोग्याना पुद्गलद्रव्याणा सर्वत्र लोकाकाशे बह्वान्मास्तित्वमाख्यातम् ॥१८१८॥

के ते आसवा इत्यत्राह—

मिच्छत्त अविरमणं कमाय जौगा य आसवा होति ।

अरहतवुत्तअत्थेसु विमोहो होड मिच्छत्त ॥१=१९॥

‘मिच्छत्त अविरमण कमायजोगा य आसवा होति’ मिथ्यात्वमयमवपाययोग्यात् आसवा भवन्ति । आसवत्प्रागुच्यति कर्मत्वपर्याय पुद्गला एभि कारणभूर्तरिति मिथ्यात्वात्प आसवस्यदवाच्या तेष्व्वास्वेषु । मिथ्यात्वस्वरूप वक्ष्यति । ‘अरहतवुत्त अत्थेसु’ बहुदुक्तेषु अनन्तद्रव्यपर्याया मत्रेषु व्येषु विमोहो मिच्छत्त होदि’ अध्वान मिथ्यात्व भवति ॥१८१९॥

अमयममाचष्टे—

अविरमण हिंसादी पंच वि दोसा हवति णायव्वा ।

कोधादीया चत्तारि कमाया रागदोसमया ॥१=२०॥

मिथ्यात्व, असयम और कपायपरिणामरूप तैलसे लिप्त होता है उन आत्माके प्रदेशोमे स्थित कर्मरूप होनेके योग्य पुद्गलस्कन्ध कर्मरूप हो जाते हैं । इसका आराय यह है, मिथ्यात्व आदि रूप आत्माके परिणामोमे विनिष्ट पुद्गलद्रव्य कर्मरूपसे परिणमन करता है इसलिये कर्मरूप परिणमनमे कारण आत्माके परिणाम ही आसव है ॥१८१७॥

गा०—यह लोक सर्वत्र पुद्गल द्रव्योसे ळ्मात्स भरत हुआ है । वे पुद्गल सूक्ष्म भी हैं और बादर भी हैं । चक्षुके द्वारा दिखाई देने योग्य भी हैं और न दिखाई देने योग्य भी हैं ।

टी०—इस गायिकाके द्वारा कर्मरूप होनेके योग्य पुद्गल द्रव्योका सर्वत्र लोकाकाशमे अस्तित्व बतलाया है ॥१८१८॥

वे आसव कौन हैं यह ब्रतलाते हैं—

गा०—मिथ्यात्व, असयम, कपाय और योग ये आसव हैं । जिन कारणोसे पुद्गल कर्मरूप होकर आते हैं उन मिथ्यात्व आदिको आसव कहते हैं । उनमेंमे मिथ्यात्वका स्वरूप कहते हैं—अर्हन्त भगवान्के द्वाग वहे गये अनन्त द्रव्य पर्यायात्मक पदार्थोमे अध्वान करना मिथ्यात्व है ॥१९१९॥

‘अविरमण’ अविरमण नाम । ‘हिमादि पञ्च वि दोसा’ हिसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहास्या पञ्चापि दोषा । ‘हवति णाद्वक्का’ अविरमण भवन्तीति ज्ञातव्या । प्रमत्तयोगत्वाणव्यपरोपण, असदभिधान, अदत्तादान, मंथुकर्म विरोध, मूर्छा चैति एते परिणामा अविरमणान्द्वेनोच्यन्ते । विरमण हि निवृत्तिस्वतोऽप्यत्वात् । प्रवृत्तिरूपा हिमादय अविरमण इत्युच्यन्ते । ‘कोषादीणां क्रोधमानमायालोमा । ‘चत्तारि’ चत्वार । ‘क्साया’ कषाया इत्युच्यन्ते । ‘रागदोसमया’ रागद्वेषात्मका ॥१८२०॥

रागद्वेषयोर्माहात्म्य दर्शयति—

किहदा राओ रंजेदि णर कुणिमे वि जाणुम देहे ।

किहदा दोमो वेस खुणेण णीयपि कुणड णर ॥१८२१॥

‘किहदा राओ रंजेदि णर’ कथ तावद्गतो रज्जयति नर । ‘कुणिमे वि देहे’ अणुषावपि देहे, अनुराग-स्यायोमे । ‘जाणुम’ शरीराणुषित्व जानन्त अञ्ज रज्जयति । सारे वस्तुनि नर रज्जयतीति न तच्चित्र ज्ञातार-मणुचिन्त्यसारे शरीरे रज्जयतीत्येतदद्भुतमिति भाव । ‘दोसो’ दोष, ‘किहदा वेस कुणडि’ कथ ताव-द्वेष्य करोति । ‘खुणेण’ क्षणमात्रेण । ‘णीयपि णर’ बान्धवमपि नर । अनेनापि द्वेषमाहात्म्यमाख्यायने । रागाश्रयानपि बध्नुं द्वेष्यान् करोतीति ॥१८२१॥

सम्मादिट्ठी वि णरो जेसिं दोसेण कुणड पावाणि ।

धिस्सेसि गारविंदियसण्णामयरागदोसाण ॥१८२२॥

‘सम्मादिट्ठी वि णरो’ तत्त्वज्ञानप्रदानममन्वितोऽपि नर । ‘सेसिं दोसेण कुणडि पावाणि’ येषा दोषेण करोति पापानि । ‘धिस्सेसि गारविंदियसण्णामयरागदोसाण’ धिक्त्रान्गोरवानिन्द्रियाणि सज्ञानदान् रागद्वेषाश्च ॥१८२२॥

असयमका स्वरूप कहते हैं—

गा०—हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह इन पांच दोषोंको असयम कहते हैं । कषाययुक्त आत्मपरिणामके योगसे प्राणोंके घातको हिंसा कहते हैं । प्राणि षोडशकारक अप्रगस्त वचन बोलनेको असत्य कहते हैं । त्रिना दो हुई वस्तुके ग्रहणको चोरी कहते हैं । मंथुन कर्मको अब्रह्म कहते हैं और ममत्व भावको परिग्रह कहते हैं । ये सब परिणाम असयम कहे जाते हैं । इन सबसे निवृत्तिको सयम कहते हैं । और प्रवृत्तिरूप हिंसादि परिणाम असयम हैं । तथा राग-द्वेषमय चार कषाय हैं । अर्थात् हिंसादिरूप परिणाम असयम हैं और क्रोधादि कषाय हैं इनमेंसे क्रोध और मान द्वेषरूप हैं और माया, लोभ रागरूप हैं ॥१८२०॥

राग और द्वेषका माहात्म्य बतलाते हैं—

गा०-टी०—यह शरीर अनुचि है । रागके अयोग्य है । यह राग शरीरकी अशुचित्ताको जाननेवाले अज्ञानीको उमने अनुरक्त करता है सारवान् वस्तुमें मनुष्यको अनुरक्त नहीं करता । इसमें कोई आश्चर्य नहीं है । आश्चर्य इसमें है कि यह जाननेवालेको भी अस्मर शरीरमें अनुरक्त करता है । तथा द्वेष क्षणमात्रमें बन्धु मनुष्यको भी द्वेषका पात्र बनाता है । इससे द्वेषका माहात्म्य कहते हैं कि जो बन्धु राग करने योग्य हैं उन्हें भी वह द्वेषका पात्र बनाता है ॥१८२१॥

गा०—तत्त्वोंके ज्ञान और प्रदानमें युक्त मनुष्य भी अर्थात् मय्यष्टुटी मनुष्य भी जिनके

जो अभिलासो विसएसु तेण ण य पावए सुह पुरिमो ।
पावदि य कम्मबंधं पुरिमो विसयाभिलासेण ॥१८२३॥

‘जो अभिलासो विसएसु’ यो अभिलासो विषयेषु स्पर्शादियुः । ‘तेण विषयाभिलासेण ण य पावदे सुह पुरिमो’ प्राप्नोति नैव सुखं पुरुषः । ‘पावदि य कम्मबंधं’ प्राप्नोति च कर्मबंधं, पुरिमो विसयाभिलासेण’ पुरयो विषयाभिलासेण निमित्तेन । एतेन विषयाभिलासपरिणामस्य प्राप्तिनामसदृशं प्रवर्तमानस्याहितता निवेदिता, सुखं न प्रदच्छति कर्मबंधकारणं तु भवतीति विषयाभिलासस्यासत्त्वस्य स्वरूपं कथितं ॥१८२३॥

विषयाभिलासस्य दुष्टता प्रकारान्तरेणाचष्टे—

कोई डहिज्ज जह चदण णरो दारुग च बहुमोल्ल ।
णासेइ मणुस्सभव पुरिमो तह विसयलोहेण ॥१८२४॥

‘कोई डहिज्ज जह चदण’ कश्चिद्यथा दहेच्चन्दन । ‘बहुमोल्ल’ महामूल्य । ‘दारुग च’ अगुर्वादिदारु च, यथा दहति भस्मादिकं स्वल्पं समुद्दिश्य । ‘तहा णासेइ मणुस्सभव’ तथा नागयति मानुषभव अतीन्द्रियानन्त-सुखकारण । ‘पुरिमो तह विसयलोहेण’ अतितुच्छविषयमाद्येन ॥१८२४॥ उक्तं च—

विषया अनितेन्द्रियोत्सवा बहुभिन्नापि समन्विता रते ।
विषयमसुखसृष्टान्नवत परिमुक्ता परिणामशरणा ॥
विषयसुखप्रतिबद्धलोलचित्तो विषयनिमित्तमनिष्टकम हृत्वा ।
विषयसुखप्रविहीणजातिजातो विषयसुख लभते न ना विपुष्य ॥

दोषसे पाप करता है उन गारवोको, इन्द्रियोको, सज्ञामदोको और राग द्वेषको धिक्कार हो ॥१८२२॥

गा०—विषयोमे जो अभिलासा है उसके कारण पुरुष सुख नहीं पाता विषयोंकी चाहके निमित्तसे पुरुष कर्मबंध करता है ॥१८२३॥

टी०—इससे प्राणियोमे निरन्तर प्रवर्तमान विषयोंकी चारुरूप परिणामको अहितकारी बतलाया है । उसमें सुख तो नहीं होता, किन्तु कर्मबंध होता है । अतः विषयोंकी अभिलासाको आसवरूप कहा है ॥१८२३॥

गा०-टी०—अन्य प्रकारमें विषयोंकी अभिलासाकी दुष्टता बतलाते हैं—जैसे कोई मनुष्य राख आदिके लिये बहुमूल्य चन्दनकी लकड़ीको जला देना है । वैसे ही मनुष्य अति तुच्छ विषयोंके लोभमें उम मनुष्य भवको नष्ट कर देता है जिसके द्वारा अतीन्द्रिय अनन्त सुख प्राप्त हो सकता है । कहा भी है—ये विषय इन्द्रियोंके लिये आनन्द उत्पन्न करते हैं तो बहुतसे उन विषयोंमें रहते हैं । किन्तु विषये मस्कार किये गये अन्नकी तरह उनको भोगनेपर अत्यन्त भयकर परिणाम होता है । जिसका चंचल चित्त विषय मुखमें अत्यामक होना है वह विषयोंकी प्राप्तिके लिये अनिष्ट कार्य करके ऐसी पर्यायमें जन्म लेता है जहाँ उसे विषयसुख मिलता ही नहीं । ठीक ही है, पुष्यहीन मनुष्य विषयसुखको नहीं पाता ॥१८२४॥

छड्डिय रयणाणि जहा रयणदीवा हरेज्ज कट्ठाणि ।

माणुसभवे वि छड्डिय धम्म भोगे मिलसदि तथा ॥१८२५॥

‘छड्डिय रयणाणि जहा’ रत्नानि त्यक्त्वा यथा, ‘रयणदीवा हरेज्ज कट्ठाणि’ रत्नद्वीपात्काष्ठान्या-
हरति । ‘तथा माणुसभवे वि मनुष्यभवेऽपि, ‘छड्डिय धम्म’ धम विहाय । ‘भोगे मिलसदि’ भोगान्वाञ्छति ।
एतदुक्तं भवति—अनेकमाररत्नास्पद रत्नद्वीपं सुदुर्लभं प्राप्य मुषा लज्जान्यपि रत्नान्यनुपादाय असारमिन्वन
मुलभं सारबुद्ध्या यथा कश्चिदाहरति जड । तयानेकगुणरत्नाकरं मनुष्यमव दुरवापमवाप्य अतर्पकं पराधीन
अल्पकालिकं विषयमुखमभिलषति ॥१८२५॥

गत्तूण णटणवण अमय छड्डिय विस जह पियड ।

माणुसभवे वि छड्डिय धम्मं भोगे मिलसदि तथा ॥१८२६॥

‘गत्तूण णटणवण’ गत्वा तन्दनवन । ‘अमय छड्डिय’ अमृतं त्यक्त्वा । ‘विस जहा पियड’ विष यथा
पिबति कश्चिन् । ‘माणुसभवे वि छड्डिय मनुष्यभवेऽपि त्यक्त्वा । ‘धम्म’ धर्म । ‘भोगेमिलसदि तहा’
भोगानामिलषति तथा ॥१८२६॥

योगशब्दायमाचष्टे—

पावपओगा मणवचिकाया कम्मासव पकुव्वति ।

भुज्जतो दुग्भत्त वणम्मि जह आमव कुणइ ॥१८२७॥

‘पावपओगा’ पापं प्रमुञ्च्यते प्रवर्त्यते एभिरिति पापप्रयोगः । ‘मणवचिकाया’ मनोवाक्काया, ‘कम्मा-
सव पकुव्वति’ कर्मत्वपर्यायागमं पुद्गलानां कुर्वन्ति । ‘भु जतो दुग्भत्त’ भुञ्जमानो दुराहारः । ‘वणम्मि जह
आसव कुणइ’ व्रणे यथा आम्रव च्युतिं पूतीनां करोति ॥१८२७॥

गा०—टी०—जैसे कोई मनुष्य रत्नद्वीपमें जाकर रत्नोंको छोड़ लकड़ी वीनता है वैसे ही
मनुष्यभवमें धमको छोड़ भोगोंकी अभिलाषा करता है । इसका अभिप्राय यह है कि जैसे कोई
मूर्ख अनेक बहुमूल्य रत्नोंसे भरे तथा अतिदुर्लभ रत्नद्वीपमें जाकर बिना प्रयत्नके ही प्राप्त भी
रत्नोंको ग्रहण न करके अमार और सुलभ ईंधनको ही सारभूत मानकर ग्रहण करता है, उसी
प्रकार जो मनुष्यभव अनेक गुणरूपी रत्नोंकी खान है, जिसका मिलना बहुत कठिन है उसे प्राप्त
करके भी अज्ञानी ऐसे विषयमुखको अभिलाषा करता है जो तृप्ति प्रदान नहीं करता तथा पराधीन
है और अल्प काल ही रहता है ॥१८२५॥

गा०—जैसे कोई पुरुष तन्दन वनमें जाकर भी अमृतको छोड़ विष पीता है । वैसे ही
मनुष्यभवको पावर भी मनुष्य धर्मको छोड़ भोगोंकी अभिलाषा करता है ॥१८२६॥

योगशब्दका अर्थ कहने हैं—

गा०—जिनके द्वारा पापमें प्रवृत्ति की जाती है वे मन, वचन, काय, पुद्गलोंको बर्माण्णमें
परिणामाने हैं । जैसे अपच्य सेवन करनेवाला अपने धावमें पीव पैदा करता है । अर्थात् जैसे
अपच्य सेवन करनेमें धावमें पीव आता है वैसे ही मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिमें बर्माँ का आसव
होता है ॥१८२७॥

कर्मोपि शुभाशुभरूपाणि द्विविधानि, तत्र वक्ष्ये कर्मणः क आत्मव इत्यन्तह—

अणुकपासुद्धुवओगो वि य पुण्यस्त आमवदुवारं ।

त विवरीद आसवदार पावस्त कम्मस्स ॥१८२८॥

'अणुकपा' अणुकम्पा । 'सुद्धुवओगो' शुद्धश्च प्रयोग परिणाम, 'पुण्यस्त आसवदुवार' पुद्गलात्वा पुण्यत्वपर्यायागमनमुख मद्देह सम्बन्ध रतिहास्यपुवेदा शुभे नामगात्रे शुभ चायुः पुण्य एनेम्योऽप्यानि पापाणि । अनुकम्पा विप्रकारा । धर्मानुकम्पा मिथ्यानुकम्पा सर्वानुकम्पा चेति । तत्र धर्मानुकम्पा नाम परित्यक्तसयमेव मानावमानमुखदुःखलाभालाभानुसुवर्णादिषु ममानचित्सेषु दान्तेन्द्रियान्तकरणेषु जन्तुमीमिव मुक्तिमाश्रितेषु परिहृतोत्पन्नविषयविषयेषु दिव्येषु भोगेषु दोषान्वित्चित्त्य विरागतात्मगुणनेषु ससारमहानमुद्राद्भवेन निरास्वप्ननिद्रेषु, अज्ञोदृष्टनिस्सङ्गत्वेषु, क्षमादिदशविषयधर्मपरिणतेषु यानुकम्पा ना धर्मानुकम्पा, यया प्रयुक्तो जनो विवेकी तद्योग्याल्पपानावमर्षपणादिक सयमसाधन यतिभ्यः प्रयच्छति । स्वधर्मविनिगुह्य र्शक्ति उपसर्ग-दोषावपसारयति आशान्दतामिति सेवा करोति भ्रष्टमार्गाणां पन्थानमुपदर्शयति । सैः प्रमथोगमवाप्य अहो मपुण्या वयमिति हृष्यति, सभामु सेवा गुणानुकीर्तयति, तान् गुरामिव पश्यति । तेषां गुणानामाभोग्य स्मरति, महात्मनि वदा नु मम ममागम इति । तैः सयोग नमोऽर्पति, तदीयान् गुणान् परैरभिवर्ष्यमानान्निगम्य तुष्यति । इत्यमनुकम्पापर साधुगुणानुमननानुकारी भवति । त्रिधा च सन्तो बन्धमुपदिरन्ति, स्वयं कृते, कारणया, परैः कृतम्यानुमतेद्व । तत्रा महागुणराशिगतहर्षात् महान् पुण्यात्त्व ।

कर्म शुभ और अनुभके भेदसे दो प्रकारके हैं । किसने किस कर्मका आस्त्व होता है यह कहते हैं—

शा०—अनुकम्पा और शुद्ध उपयोग पुण्य कर्मके आस्त्वके द्वार है । और अनुकम्पा तथा शुद्ध उपयोगसे विपरीत परिणाम पाप कर्मके आस्त्वके द्वार है ॥१८२८॥

टी०—अनुकम्पाके तीन भेद हैं—धर्मानुकम्पा, मिथ्यानुकम्पा, सर्वानुकम्पा । जिन्होंने अत्ययमका त्याग कर दिया है, मान, अपमान, सुख-दुःख, लाभ-अलाभ तथा तृष्ण-सुवर्ण आदिमें जितना समभाव है, इन्द्रिय और मनका जिन्होंने दमन किया है, जो माताके समान मुक्तिके आश्रित हैं, जिन्होंने उग्र कषाय विषयोका परित्याग किया है, दिव्य भोगोंमें दोषोंका विचार करके विरागताको अपनाया है, ससाररूपी महासमुद्रके भयसे रात्रिमें भी जो बल्य निद्रा लेंते हैं, जिन्होंने नि सगताको स्वीकार किया है और जो उत्तम क्षमा आदि दम प्रकारके धर्मों में लौन हैं उनमें जो अनुकम्पा है उमें धर्मानुकम्पा कहते हैं । उस धर्मानुकम्पामें प्रेरित होकर विवेकी जन उन मुनियोंके योग्य अन्नपान, वस्त्रिका आदि सममके साधन प्रदान करते हैं । अपनी शक्तिको न छिपाकर उपसर्ग और दोषोंको दूर करते हैं । 'हमें आज्ञा कीजिये' इस प्रकार निवेदन करके सेवा करते हैं । जो मार्गमें भ्रष्ट हो जाते हैं उन्हें सन्मार्ग दिखलाते हैं । उन मुनियोंका सयोग प्राप्त होनेपर 'अहो हम बड़े पुण्यशाली हैं ।' इस प्रकार विचार कर प्रसन्न होते हैं । नमालोमें उनमें गुणोंका वसान करने हैं । उनको गुरके समान मानते हैं । उनके गुणोंका सदा स्मरण करते हैं कि कब उनका ममागम हो । उनमें भयोंकी अभिलाषा रखते हैं । दूसरे द्वारा उनके गुणोंकी प्रशंसा सुनकर मन्तुष्ट होते हैं । इस प्रकार अनुकम्पामें तत्पर साधु गुणोंको अनुमोदना करनेवाला

मिथ्यानुकम्पोच्यते—पुण्यपापकर्ममूलेभ्यो हिंसादिभ्यो भ्यावृत्ताः सतोपवराग्यपरता विनीता दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदण्डविरति चोपगतास्मरेत्रदोषाद् भोगोपभोगान्निवृत्त्य शेषे च भोगे कृतप्रमाणा पापात्परि-
भीतचित्ता, विशिष्टदेशे काले च विवर्जितमर्वसावधा पर्वस्वारम्भयोग सकल विमुज्य उपवास ये कुर्वन्ति तेषु
सयतामयतेषु क्रियमाणानुकम्पा मिथ्यानुकम्पेत्युच्यते । जीवामि जीवेषु दया च कृत्वा कृत्स्नामबुध्यमाना जिन-
सूत्राद्वाह्या येऽप्यपावण्डरताविनीता कष्टानि तपासि कुर्वन्ति, तेषु क्रियमाणानुकम्पा तथा सर्वोपि कर्मपुण्य
प्रचिनोति ।

देश प्रवृत्तिर्गृहिणामकृत्स्नात् मिथ्यात्वदोषोपहतोन्मथम् ।

इत्येषु मिथो भवतीति धर्मो मिथ्यानुकम्पामवगच्छेच्चञ्चुः ॥

सदृष्ट्यो वापि कुदृष्ट्यो वा स्वभावतो मार्दवंसप्रमुक्ताः ।

यां कुचते सर्वशरीरवर्गो सर्वानुकम्पेत्यभिधीयते सा ॥

ठिन्नान् बद्धान् दृढान् प्रहृष्टान् विलुप्यमानाश्च मर्त्यान्, सहैन्सो निरैन्सो वा परिदृश्य मृगान्बिहृष्टान्
सरीसृपान् पन्थुश्च मासादिनिमित्तं प्रहृष्टमानान् परलोकं परस्पर वा तान् हिंस्रतो भक्षयतश्च दृष्ट्वा
सूक्ष्माननेकान् कुन्धुषिपीलिकाप्रभृति प्राणभृतां मनुजकरभक्षरभारभक्तिरितुरगादिभिः समुद्यमानानभिबोध्य
असाध्यरोमोरगदशान् परितप्यमानान् मृनोर्म्मि नप्योस्म्यभिधावतेति रोगानुभूयमानान्, गुरुपुत्रकलत्रादिभिर-

होता है । पूर्व ज्ञानियोने वन्धको तीन प्रकारमे कहा है । स्वय करनेमे, दूसरोमे करानेसे और
दूसरोके करने पर उमकी अनुमोदना करनेसे । अत महागुणशाली मुनियोको देखकर हर्ष प्रकट
करनेसे महान् पुण्यान्व होता है ।

अब मिथ्यानुकम्पा कहते हैं । जो महान् पाप कर्मके मूल हिंसा आदिसे निवृत्त है, सन्तोप
और वैराग्यमे तत्पर है, विनीत है, दिग्विरति, देशविरति और अनर्थदण्डविरतिको धारण किये
हुए है, तीव्र दोषवाले भोग उपभोगोका त्याग करके शेष भोगोका जिन्होने परिमाण कर लिया
है, जिनका चित्त पापसे भीत रहता है, जो विशिष्ट देश और कालमे सब सावधका त्याग करते हैं
अर्थात् त्रिकाल सामायिक करते हैं, पर्वके दिनोमे समस्त आरम्भको त्याग उपवास करते हैं उन
सयमानयमियोमे जो अनुकम्पा की जाती है वह मिथ्यानुकम्पा है । मैं जिलाता हूँ ऐसा मान जो
जीवोपर दया तो करते हैं किन्तु पूर्णरूपसे दयाको नहीं जानते । ऐसे जो जिनागममे बाह्य अन्य
धर्मोको माननेवाले विनयो तपस्वी हैं कष्टदायक तपस्या करते हैं उनमे अनुकम्पा भी मिथ्यानुकम्पा
है । उनमे सब जीव पुण्य कर्मका सबय करते हैं । वहा भी है—

गृहस्थ एकदेशमे प्रवृत्तिशील होनेमे पूर्ण सयमका पालक नहीं होता । तथा मिथ्यात्वके
दोषमे सदोप अन्य धर्मवालोमे अनुकम्पा मिथ्यानुकम्पा है । सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जो
स्वभावमे ही मार्दवं भावमे यत्तु है वे जो समस्त प्राणियोमे अनुकम्पा करते हैं उसे सर्वानुकम्पा
कहते हैं । जिनके अवयव बट गये हैं, जो बाधे गये हैं, रोके गये हैं, पीटे गये हैं, खोये गये हैं ऐमे
निरपराधी अथवा अपराधी मनुष्योको देखकर तथा मृगों, पक्षियो, सरीसृपो और पशुओंको मान
के लिये दूरे लागेके द्वाग माग जाना अथवा उन्हे परस्परमे ही एक दूसरेको हिंसा करते और
एक दूसरेका भक्षण करते देखकर, तथा कुपु चीटी आदि अनेक छोटे जन्तुओंको मनुष्य, ऊँट,
गधा, शरभ, हाथी, घोड़े आदिके द्वाग कुचले जाते देखकर, तथा अमाध्य गेगरूपी सर्पके द्वारा

प्राप्तकाल महमा विपुज्य ऊर्ध्वमुजान् विकीर्णतः, स्वाङ्गानि घनश्च शोकेन, उपाजितद्रविणैर्विपुज्यमानान्
कृपणान् प्रनष्टवन्मून् धर्मशिल्पविद्याव्यवसायहोनान् यांन् प्रज्ञाप्रसवित्या वराकान् निरीक्ष्य तद् दुःखमात्मन्पमिव
विचिन्त्य स्वास्थ्यमुपगमनमनुकम्पा ।

सुदुर्लभ मानुषजन्म लब्ध्वा मा बलेगायात्राणि धर्षैव भूत ।
धर्मं शुभे भूतहिते यतष्वमित्येवमाद्यैरपि चोपदेशे ॥

कृतकरिष्यमाणोपकारयतपैरनुकम्पा कृता भवति ।

पुण्यान्व सा त्रिविद्यानुकम्पा सुतेषु पुत्रं जननी शुभेव ।
श्वेतानुकम्पा प्रमवाद्रिपुष्यान्ताके मृता अन्वुपपत्तिमीषुः ॥

शुद्धप्रयोगो निरूप्यते स च द्विप्रकार यतिगृहिणांवरभेदेन । यतं शुद्धोपयोग इत्यम्बूव—

जीवान् हन्यां न मृषा वदेय चौर्यं न क्रूरान् भजेय भोगान् ।
घन न सेवेय न च क्षपासु भुञ्जीथ कृच्छ्ररूपि शरीरतापे ॥१॥
रोषेण मानेन च मायया च लोभेन चाह बहुदोषकेन ।
शुद्धेय नारम्भपरिग्रहेश्च दीक्षा शुभानन्वुपगम्य भूय ॥२॥
यथा न भाषाञ्चलमौलिमालो भिक्षा धरन्कामुश्चबाणपाणि ।
तथा न भाषां यदि दीक्षितः सन् बहुय दोषानवष्टाय लज्जाम् ॥३॥

इसे जानेसे पीड़ित मैं मर गया, मैं नष्ट हो गया इत्यादि चिल्लातेवाले रोगियोंको देख तथा जिनकी
अवस्था अभी मरनेकी नहीं है ऐसे गुरु, पुत्र, स्त्री आदिका सहसा वियोग हो जानेसे चिल्लाते हुए,
अपने अंगोंको शोकसे पीटते हुए, कमाये हुए धनके नष्ट हो जानेसे दोन हुए तथा धर्म, शिल्प,
विद्या और व्यवसायसे रहित गरीब प्राणियोंको देख उनके दुःखको अपना ही दुःख मानकर
उसको शान्त करना अनुकम्पा है। 'अति दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर वृथा ही कलेशके पात्र मत
बनो। प्राणियोंके लिये कल्याणकारी धर्ममें मन लगाओ' इत्यादि उपदेशोंके द्वारा किये गये
अथवा भविष्यमें किये जानेवाले उपकारको अपेक्षाके बिना अनुकम्पा करना चाहिये।

ये तीनों प्रकारकी अनुकम्पा पुण्य कर्मका आन्वव करती है। वह जैसे माता पुत्रके
लिये शुभ होती है उसी प्रकार शुभ है। उस अनुकम्पासे हुए पुण्यके विपाकसे मरकर स्वर्गमें देव
होते हैं।

अब शुद्ध प्रयोगका स्वरूप कहते हैं—उसके दो भेद है—एक यति सम्बन्धी शुद्धनप्रयोग और
दूसरा गृहस्थ सम्बन्धी शुद्ध सप्रयोग। यतिका शुद्ध प्रयोग इन प्रकार है—मैं जीवोका घात नहीं
करूंगा। झूठ नहीं बोलूंगा। चोरी नहीं करूंगा। भोगोंको नहीं भोगूंगा। धनका सेवन नहीं करूंगा।
शरीरमें अत्यन्त कष्ट होनेपर भी रात्रिमें भोजन नहीं करूंगा। शुभ दीक्षा लेकर बहुदोषपूर्ण
क्रोध माना माया लोभसे आरम्भ और परिग्रहसे सम्बन्ध नहीं रखूंगा। जैसे कोई मनुष्य निरपण
मुकुटमाला धारण करके और हाथमें धनुष बाण लेकर भिक्षा मागे तो गोभा नहीं देता। उसी
प्रकार यदि मैं दीक्षा लेकर लज्जा त्याग दोषोंको बहन करूँ तो गोभा नहीं देता। महान्

लिङ्ग गृहीत्वा महतामृषीणा, अङ्ग च विप्रत्परिकर्महीनम् ।
 भङ्ग व्रतानामविचित्य कष्ट सङ्ग कथ कामगुणेषु कुर्यान् ॥४॥
 चर्यामनार्याचरितामधैर्या धैर्येण हीन कृपणत्वमेत्य ।
 कथ ध्यामृण्डशिरादचरेय लिङ्गीभवन्तङ्गविकारयुक्त ॥५॥
 इत्येवमादि शुभकर्मचिन्ता सिद्धार्हवाचार्यबहुभूतेषु ।
 चेत्येषु सधे जिनशासने च भक्तिविरक्तिगुणरागिता च ॥

विनीतना सयमो अप्रमत्तता, मृदुता, क्षमा, आर्जव सतोप, सज्ञासत्यगौरवविजय, उपसर्ग-
 परीपहृजय, सम्यग्दर्शन, तत्त्वज्ञान, सरागमयम, दसविधधर्मध्यान, जिनेन्द्रपूजा, पूजोपदेश नि शक्तिस्वा-
 दिगुणाष्टक, प्रशस्तरागसमेता तपोभावना, पञ्चममिषय, तिस्त्रो गुप्तय इत्येवमाद्या शुद्धप्रयोगा । गृहिणा
 शुद्धोपयोग उच्यते—गृहीतव्रताना धारणपालनयोरिच्छा क्षणमपि व्रतमङ्गोनिष्ट, अभीक्ष्ण यतिमप्रयोग
 अन्नादिदान श्रद्धादिविधिपुरस्सर श्रमनोदनाय भोगान् भुक्त्वापि स्वमित्तसक्तिविगर्हण, सदा गृहप्रमोक्षप्रार्थना,
 धर्मश्रवणोपलम्भात्मनमोऽतिनुष्टि, भक्त्या पञ्चगुहस्तवनप्रणमने सत्पूजा, परेषा च स्थिगेकरणमुपवृहण,
 वात्सल्य, जिनेन्द्रभक्तानामुपकारकरण, जिनेन्द्रशास्त्राभिगम, जिनगामनप्रभावना इत्यादिक । 'तदिववरीद'
 अनुकम्पाशुद्धप्रयोगाभ्या विपरीत परिणाम । 'आसन्नद्वार' आसन्नद्वार, 'पापसत कम्मसत' अशुभस्य
 कर्मण । आसन्न । ॥१८२८॥

ऋषियोका लिंग स्वीकार करके और स्नान आदिके बिना शरीर धारण करके व्रतोंके भगका
 विचार न करते हुए काम सेवन आदिका ससर्ग में कैसे कर सकता है । मैं धैर्य हूँ, दीन बनकर
 अनार्योंके द्वारा आचरण करके योग्य चर्या कैसे कर सकता हूँ । शरीरमे विकार युक्त होकर धूमने
 पर साधु होकर सिर मुडाना व्यर्थ है । इत्यादि प्रकारसे शुभ कर्मकी चिन्ता करना, सिद्ध, अर्हन्त,
 आचार्य, उपाध्याय, प्रतिमा, सध और जिनशासनमे भक्ति, वैराग्य, गुणोमे अनुराग, दिनययुक्त
 प्रवृत्ति, सयम, अप्रमादीपना, परिणामोमे कोमलता, क्षमा, आर्जव, सन्तोप, आहारादि सज्ञा
 मिथ्यात्व आदि शल्य और ऋद्धि आदिके मदको जीतना, उपसर्ग और परीपहृको जीतना, सम्य-
 ग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सरागसयम, दस प्रकारका धर्मध्यान, जिनपूजा, जिनपूजाका उपदेश,
 नि शक्ति आदि आठ गुण, प्रशस्तराग, तपोभावना, पांच समिति, तीन गुप्ति इत्यादि शुद्ध
 प्रयोग है ।

अथ गृहस्थोका शुद्ध प्रयोग कहते हैं—ग्रहण किये हुए व्रतोंके धारण और पालनको इच्छा,
 एक क्षणके लिये भी व्रतभगको इष्ट न मानना, निरन्तर यतियोंको दान देना, श्रद्धा आदि विधि-
 पूर्वक अन्न आदि देना, भोगोंको भोगकर भी यज्ञान दूर करनेके लिये अपनी भोगासक्तिको निन्दा
 करना, सदा घर छोडनेकी भावना करना, धर्मका श्रवण करनेको मिले तो मनका अतितुष्ट होना,
 भक्तिपूर्वक पंचपरमेष्ठोका स्तवन और प्रणाम करना, उनकी पूजा करना, दूसरोंको धर्ममे स्थिर
 करना, धर्मका बढ़ाना साधर्मिवात्सल्य, जिनेन्द्रदेवके भक्तोंको उपकार करना, जिन शास्त्रोंका
 अभ्यास करना, जिनशासनको प्रभावना करना आदि श्रावकोका शुद्ध प्रयोग है । अनुकम्पा और
 शुद्ध प्रयोगमे विपरीत परिणाम अशुभ कर्मके आसन्नके द्वार है ॥१८२८॥

सवरानुप्रेक्षा कथ्यते । सन्नियन्ते निरुध्यन्तेऽप्रिनवा कर्मपर्याया पुद्गलाना येन जीवपरिणामेन । मिथ्यात्वादिपरिणामो वा निरुध्यते न संवर । तत्राय सूरिमिथ्यात्वादिपरिणामसवरान् सम्यक्त्वादीनां सवरतामाचष्टे—

मिच्छत्तासवदार रुंभइ सम्मत्तदिदकवाडेण ।

हिंसादिदुवाराणि वि ददवदफलहेहिं रुंभति ॥१८२९॥

‘मिच्छत्तासवदार’ तत्त्वाश्रद्धानमात्रवद्धार । ‘रुंभति’ रुन्धते, ‘सम्मत्तदिदकवाडेण’ तत्त्वश्रद्धान् क्वाटेन । ‘हिंसादिदुवाराणि वि’ हिंसादिद्वाराभ्यपि, ‘ददवदफलहेहिं रुंभति’ दृढव्रतपरिष् स्पग-यन्ति ॥१८२९॥

उवसमदयादमाउहकरेण रक्खा कमायचोरेहिं ।

सक्का काउं आउहकरेण रक्खाव चोराण ॥१८३०॥

‘उवसमदयादमाउहकरेण’ उपसम कपायवेदनीयस्य कर्मणस्तिरोमवन, दया सर्वप्राणिविषया, दम-कपायदोषभावनया चित्तनिग्रह । एते त्रय आयुषा करे सम्य तेन । ‘कमायचोरेहिं’ कपायचोरेभ्य । ‘रक्खा सक्का काउं’ रक्षा सक्का कर्तुं, ‘आयुषकरेण रक्खाव चोरेहिं’ आयुषहस्तेन चोरेभ्यो रक्षेव, कपायदोषपरिणाने-नानदृत् प्रवृत्तेन क्रोधादिनिमित्तवस्तुपरिहारेण तत्प्रतिपक्षभादिपरिणामेन च कपायनिवारण । उक्तं च—

जयेत्सदा क्रोधमुपाश्रितः क्षमां जयेच्च मानं समुपेत्य मार्दवं ।

तथैव मायामपि धार्जंवाग्जयेत्, जयेच्च सन्तोषवदो न लुब्धतां ॥

निता कपाया यदि किन् तैजित कपायमूल सखल हि बन्धनमिति ॥१८३०॥

मिथ्यात्वसवर कपायसवर च निरुप्य इन्द्रियसवर व्याचष्टे—

इदियदुद्दं तस्सा णिधिष्पति दमणाणखलिणेहिं ।

उप्पहगामी णिधिष्पति हु खलिणेहिं जह तुरया ॥१८३१॥

अथ सवर अनुप्रेक्षा कहते हैं । जिस जीव परिणामसे पुद्गललोक नवीन कर्म पर्याय अथवा मिथ्यात्वादि परिणाम रकते हैं उसे सवर कहते हैं । उनमेंसे ग्रन्थकार मिथ्यात्व आदि परिणामोका सवर करनेसे सम्यक्त्व आदिको सवर कहते हैं—

गा०—मिथ्यात्व अर्थात् तत्त्वके अश्रद्धानरूप आसवका द्वार सम्यक्त्व अर्थात् तत्त्वके श्रद्धान रूप दृढ कपाटके द्वारा रोका जाता है और हिंसा आदि आश्रव द्वाराको दृढ व्रतरूपी अर्गलाओसे रोका जाता है ॥१८२९॥

गा०—टी०—कपायवेदनीय कर्मके तिरोभाव अर्थात् उदय अवस्थाको प्राप्त न होनेको उपसम कहते हैं । सब प्राणियोपर दयाभाव होना दया है । कपायके दोषोका विचार करके चित्तका निग्रह करना दम है । ये तीन अस्त्र जिसके पास हैं वह कपायरूप चोरसे अपनी रक्षा कर सकता है । जैसे जिसके हाथमें अस्त्र होता है वह चोरसे अपनी रक्षा कर सकता है उसी प्रकार कपायके दोषोको जाननेसे, क्रोध आदिमे निमित्त वस्तुसे ध्वनेसे और कपायोके विरोधी क्षमा आदि परिणामोसे कपायको दूर किया जा सकता है । कहा भी है—सदा क्षमाकी उपासना करके क्रोधको जीतना चाहिये । मार्दवको धारण कर्के मानको जीतना चाहिये । तथा आर्जवभावसे मायाको जीतना चाहिये और सन्तोषसे लोभको जीतना चाहिये । जिसने कपायोको जीत लिया उन्हेंने क्या नहीं जीता । अर्थात् सबको जीत लिया । क्योंकि सब बन्धनका मूल कपाय है ॥१८३०॥

‘इन्द्रियदुर्दृष्टता’ इन्द्रियदुर्दान्तादवा । ‘निगिधत्पति’ निगृह्यन्ते निरुध्यन्ते । केन ? ‘दमपानस्रल्लिगेहि’ दमपानानि दमज्ञानानि, तान्येव खलिनानि तै । शब्दादिषु वर्तमानानि इन्द्रियज्ञानानि रागद्वेषमूलानि तानी-
हेन्द्रियस्रन्तेनोच्यन्ते । तेषा चास्रदाना निरोषस्तत्त्वज्ञानभावनया भवति । द्वयो रूपयोर्युगपदेकस्मिन्नात्मन्य-
प्रवृत्ते । ‘उप्ययगामी’ उच्चारणयामिन । ‘जह तुरगा निगिधत्पति’ यथादवा निगृह्यन्ते । ‘स्रल्लिगेहि’ स्र-
खलिनं ॥१८३१॥

अग्निह्रुदमणमा इन्द्रियमप्पाणि निगिधत्पिदु ण तीरति ।

विज्जामतोसघहीणेण व आसीविसां सप्पा ॥१८३२॥

‘अग्निह्रुदमणसा’ ज्ञानेन अनिमृत्चेतसा । ‘इन्द्रियमप्पाइ’ इन्द्रियमर्षा । ‘निगिधत्पिदु’ निग्रहीतु ।
‘ण तीरति’ न शक्यन्ते । ‘विज्जामतोसघहीणेण व’ विद्यया मन्त्रेण औपधेन वा हीनेन, ‘आसीविसा सप्पा’
आसीविषा सर्पा यथा न गृह्यन्ते ॥१८३२॥

प्रमादसवर कथयत्युत्तरगाथा—

पावपयोगासवदारणिरोधो अप्रमादफलगेण ।

कीरड फलिगेण जहा पावाए जलासवणिरोधो ॥१८३३॥

‘पावपयोगासवदारणिरोधो’ अशुभपरिणामस्रवदारनिरोध । विक्रयादय पञ्चदशप्रमादपरिणामा
‘पावपयोगा’ इत्युच्यन्ते । तेषा निरोध ‘अप्रमादफलगेण’ अप्रमादफलकेन । केन फलनेन क ‘प्रमाद उच्यते
सत्यासत्यमृषाभाषा विक्रया निरुगदि, स्वाध्यायो ध्यान एकाग्रतेति चेति एते प्रमादविक्रयाप्रतिपक्षमृता ।

मिथ्यात्व और कपायके मवरका कथन करके इन्द्रिय सवर कहते हैं—

गा०—टी०—जैसे कुमारीमें जानेवाले दुष्ट घोडोंको कठोर लगामके द्वारा बशमें किया
जाता है । वैसे ही दमप्रधान ज्ञानके द्वारा इन्द्रियरूपी दुर्दान्त घोडोंको बशमें किया जाता है ।
यहाँ इन्द्रिय शब्दमें शब्द आदि विषयोंमें प्रवर्तमान इन्द्रिय ज्ञानको कहा है जिसका मूल राग
और द्वेष है । उनमें हानेवाले आस्रवोंका निरोध तत्त्वज्ञानकी भावनाने होता है क्योंकि एक
आत्मामें एक साथ दो रूप—तत्त्वज्ञान भी और इन्द्रिय विषयोंमें प्रवृत्ति भी नहीं हो सकते ॥१८३१॥

गा०—जैसे जिसके पाम विद्या, मत्र और औपध नहीं है वह सर्पों को बशमें नहीं कर
सकता । उसी प्रकार जिसका मन चंचल है वह इन्द्रियरूपी सर्पों को बशमें नहीं कर सकता ॥१८३२॥

आगे प्रमादके मवरको कहते हैं—

गा०—जैसे लकड़ीके पाटिये में नावमें जलवा आना रोका जाता है । वैसे ही अप्रमादरूपी
पाटियेमें अशुभ परिणामोत्पत्ती आस्रव द्वारको रोका जाता है ॥१८३३॥

टी०—किस पाटियेमें किस प्रमादको रोका जाता है यह बटते हैं—सत्य और अनुभयरूप
बचन विक्रया नामक प्रमादको रोकते हैं । स्वाध्याय, ध्यान, एकाग्रता ये विक्रया नामक प्रमादके
प्रतिपक्षी हैं । इनमें लगे रहनेमें सौटी क्याका अवसर ही नहीं मिलता । शमा, मार्दव, आर्जव

क्षमामार्दवार्जवसतीया, कपायप्रमादस्य प्रत्यनीकभूता । ज्ञानभावना, रागद्वेपेन्द्रियविषयविविक्तदेशाव-
स्थान ज्ञानेन मन प्रणिधान, इन्द्रियविषयरागद्वेपजदोषाणामनुस्मरण, विषयोपलब्धावनादररचेति एते इन्द्रिय-
प्रमादप्रतिपक्षा । तथा चोक्त—

वराङ्गनाङ्गानि च रागचोदितो यदुच्छया वा न निरोक्ष्य रज्यति ।
तथैव वृषाभ्यशुभानि घोक्षितु, न नेच्छति द्वेषवशप्रचोदित ॥१॥
निरोक्ष्य न द्वंष्टि यदुच्छयापि च भवेत्स जेता पुण्य स्वचक्षुष ।
सुगीतवादित्रभवान्मनोहरान् स्वरान्मनोत्तान्मुवतीरितानपि ॥२॥
न वाञ्छति ध्योतुमिहादरेण यो यदुच्छया वा न निशाम्य रज्यति ।
स्वराननेकानमनोहरानपि न नेच्छति द्वेषवशेन सेवितु ॥३॥
निशाम्य न द्वंष्टि यदुच्छयापि च भवेत्स जेता श्रवणेन्द्रियस्य च ।
तुरष्ककालागुणकुण्डकुमान् तमालपत्रोत्पलचम्पकादिकान् ॥४॥
शुभ न जिद्रासति गन्धमादरात् यदुच्छयाघ्राप्य न चापि रज्यति ।
तथैव गन्धानशुभानपीह यो न नेच्छति प्रातुमसूतद्विपान् ॥५॥
नियेष्य न द्वंष्टि यदुच्छयापि च भवेत्स मासेन्द्रियजिन्नरोत्तम ।
न यो महामूढविशिष्टभोजनप्रियापलेहापि मनोहरान् रसान् ॥६॥
नियेषितु रागवशेन काङ्क्षति यदुच्छया या न नियेष्य रज्यति ।
रसाननेकानमनोहरानपि न नेच्छति द्वेषवशेन सेवितु ॥७॥
नियेष्य न द्वंष्टि यदुच्छयापि च भवेत्स जेता रसनेन्द्रियस्य च ।

कपायनामक प्रमादके विरोधी है । ज्ञानकी भावना, रागद्वेषके कारण इन्द्रिय विषयोसे रहित
देशमें रहना, ज्ञानके द्वारा मनको एकाग्र करना, इन्द्रियोके विषयोसे रागद्वेषमें उत्पन्न हुए
दोषोका स्मरण करना, और विषयोकी उपलक्ष्यमें आदरभाव न होना, ये इन्द्रिय नामक प्रमादके
विरोधी हैं । कहा भी है—

रागसे प्रेरित होकर अथवा स्वेच्छासे सुन्दर स्त्रीके अगोकी देखकर राग नहीं करता ।
तथा द्वेषसे प्रेरित होकर अशुभ रूपको देखनेकी इच्छा नहीं करता । जो यहच्छासे देखकर भी
द्वेष नहीं करता वह पुरुष अपनी आँखोका विजेता है । अच्छे गीत, और वादियोंके मनोहर
स्वरोको तथा युवती स्त्रियोंके द्वारा कहे गये शब्दोको भी जो आदरपूर्वक सुनना नहीं चाहता
और अचानक सुनकर भी उनमें अनुराग नहीं करता । तथा द्वेषवश अनेक अमनोहर स्वरोको
भी सुननेकी इच्छा नहीं करता । अचानक अमनोज्ञ स्वर सुनाई पड़ जाये तो उससे द्वेष नहीं
करता, वह श्रवणेन्द्रियका जेता है । लोभान, काला अगर, कुण्ड, कुकुम, तमालपत्र, कमल, चम्पक
आदिकी सुगन्धको आदरभावमें जो नहीं सूँघता, और अचानक सूँघनेमें आ जाये तो उसमें राग
नहीं करता । उसी प्रकार जो अनुभूत गन्धको भी सूँघनेसे द्वेष नहीं करता । और अचानक
दुर्गन्ध सूँघ ले तो उससे द्वेष नहीं करता वह श्रेष्ठ पुरुष नासा इन्द्रियको जीतनेवाला है । जो
अत्यन्त मोठे विशिष्ट भोजनको और मनोहर रसको रागवश सेवन करना नहीं चाहता, अचानक
सेवनमें आ जाये तो उसमें राग नहीं करता । तथा द्वेषवश अनेक अमनोहर रसोकी भी सेवन

मनोज्ञशय्यासनकान्तयोपि ता, शुभाश्च य स्पर्शविधौ न मनोहरान् ॥८॥
 न सेविन्तु रागवशेन वाञ्छति यदृच्छया वा न निषेव्य रज्यति ।
 प्रमद्वृत्ताच्छादनमार्जनानि वा विलेपनाभ्यञ्जनमर्चनानि च ॥९॥
 शरीरसौख्याय न यश्च सेवते विबुद्धवैराग्ययुतो महायति ।
 हिभोष्णभूतशिलातृणादिजानशोभकान् स्पर्शविधौश्च सर्वदा ॥१०॥
 न नैच्छति द्वेष्टि न वाप्सुपायतात् त्वगिन्द्रियस्यैव भङ्गेद्विभ्रष्टता ।
 रणे रिपूणादिव निर्भयो जयेत धर्मोन्द्रियाणा जयमास्थितो यतिरिति ॥११॥

निद्राया प्रतिपन्नभूतोऽप्रमाद, अनजानमवमोदयं, रत्नपरित्याग, ससाराद्धीतिनिद्रादोषचिन्ता रत्न-
 द्रयेऽनुराग स्वदुश्चरितानां स्मरणेन शोक इत्येवमादिकं । स्नेहप्रमादप्रतिपक्षभावन्नोच्यते—बन्धुताया अनवस्थि-
 तत्वभावना, तदयनिकारम्भपरिग्रहप्रवृत्तिचिन्ता, धर्मविघ्नता, दोषापेक्षामित्यादिकं । एवभूतेनाप्रमादभङ्गनेन
 प्रवर्तता निरुध्यते । 'कोरिद फलमेण जहा' क्रयते फलञ्च न यथा । 'शावाए जलासवनिरोधो' नाव जलासव-
 निरोध ॥१८३३॥

गुत्तिपरिखाड हि गुत्त सजमणयर ण कम्मरिउसेणा ।

यधेड^३ मत्तुसेणा पुग व परिखादिहि सुगुत्त ॥१८३४॥

'गुत्तिपरिखाडिगुत्त' गुत्तिपरिखाभिगुत्त, सयमनगर कर्मरिपुनेना न भन्तु नक्कोति । परिखादि-
 भिगुत्त सन्तुनेवेति । गुत्त मवरताख्याता ॥१८३४॥

न करनेकी इच्छा नहीं करता । और अचानक सेवनमें आ जाय तो द्वेष नहीं करता, वह रसना
 इन्द्रियका जेना होता है । जो मनोज्ञ शय्या, मनोज्ञ आसन, सुन्दर स्त्री, तथा मनोहर शुभ
 स्पर्शवाली वस्तुओंको रागके बशीभूत हो सेवन करनेकी इच्छा नहीं करता । अचानक सेवनमें
 आनेपर उनसे राग नहीं करता । तथा जो बड़े हुए वैराग्यमें शोभित महायती शारीरिक सुखके
 लिये शरीरका दबाना, आच्छादन, मार्जन, लेपन, तेल, स्नान आदिका सेवन नहीं करता । तथा
 सर्वदा अतिमीतल या अतिउष्ण पृथ्वी, पहाड़, पत्थर, तृण आदि जन्य अप्रिय स्पर्शों को सेवन न
 करनेकी इच्छा नहीं करता और ऐसे अप्रिय स्पर्श प्राप्त होनेपर उनसे द्वेष नहीं करता वह स्पर्शन
 इन्द्रियका जीननेवाला होता है । जैसे युद्धमें निर्भय व्यक्ति शत्रुओंको जीतता है । उन्ही प्रकार
 वह यति इन्द्रियोंको जीतता है । निद्राका विरोधी है अप्रमाद, अनजान, अवमोदय, रत्नपरित्याग,
 ससारासे भय, निद्राके दोषोका चिन्तन, रत्नद्रवमें अनुराग, अपने बुरे आचरणोका स्मरण करके
 शोक करना आदि । स्नेह नामक प्रमादकी विरोधी भावना कहते हैं—बन्धुता अस्थिर है ऐसा
 विचारना जिनके प्रति स्नेह होता है उनके लिये अनेक आरम्भ परिग्रह आदिकी चिन्ता करना
 होती है । धर्म साधनमें विघ्न होता है । इत्यादि दोषोका चिन्तन स्नेहका प्रतिपक्षी है । इन
 प्रकारके अप्रमादरूप पाटियेसे प्रमादजन्य आश्रवका सवर होता है ॥१८३३॥

गा०—जैमे शत्रुकी सेना परिखा आदिसे सुरक्षित नगरको नष्ट नहीं कर सकती ।
 वैसे ही कर्मरुही शत्रुकी सेना गुस्तिरूपी परिखा आदिसे युक्त सयमरूपी नगरको नष्ट नहीं कर
 सकती ॥१८३४॥

गुप्तोना सवरतामाख्याति—

समिदिदिद्विणावमारुहिय अप्पमत्तो भवोदधि तरटि ।

छज्जीवणिकायवधादिपावमगरेहि अचिच्छतो ॥१८३५॥

‘समिदिदिद्विणावमारुहिय’ समितिनजिता दूढनावमारुह्य । ‘अप्पमत्तो’ अप्रमत्तो भवोदधि तरति पद्मजीवणिकायवधादिपापमकरैरस्पृष्ट । एतेन समिते सवरताख्याता ॥१८३५॥

दारैव दारवालो हिदये सुप्पणिहिदा सदी जस्त ।

दोसा घसति ण त पुर सुगुत्त जहा सन् ॥१८३६॥

‘दारैव दारवालो’ द्वारे द्वारपाल इव । हृदये सम्यक्प्रणिहिता वस्तुतत्त्वाना स्मृतिवस्य त दोषा नाऽभिभवन्ति पुर सुगुप्त पात्रव इव ॥१८३६॥

जो हु सटिविप्पट्टणो मो दोसरिऊण गेज्झओ होड ।

अधल्लगो व चरतो अरीणमविदिज्जओ चैव ॥१८३७॥

‘जो खु सटिविप्पट्टणो’ य स्मृतिहीन । ‘सो दोसरिऊण गेज्झओ होड’ असौ दोपरिपुमिर्माह्यो भवति । अरीणा मध्ये असहायोऽप्य शत्रुप्राह्यो यथा ॥१८३७॥

अमुयतो सम्मत्त परीसहचमुक्करे उदीरतो ।

णेव मदी मोत्तव्वा एत्थ दु आराधणा भणिया ॥१८३८॥

‘अमुयतेण’ अमुञ्जता । ‘सम्मत्त’ रत्नत्रय । ‘परीसहसमोगरे’ परीपहप्रकरे अभिभवत्यपि नैव स्मृति-मोक्तव्या । अत्राराधना कथिता । सवर । ॥१८३८॥

इससे गुप्तिको सवरका कारण कहा है—

गा०—प्रमादरहित साधु समितिरूपी दृढ नावपर आट्ट होकर छह कायके जीवोंके घातसे होनेवाले पापरूपी मगरमच्छोंसे अछूता रहकर ससार समुद्रको पार करता है ॥१८३५॥

इससे समितिको सवरका कारण कहा है—

गा०—जैसे सुरक्षित नगरका शत्रु ध्वंस नहीं कर सकते, उसी प्रकार द्वारपर खड़े द्वारपालकी तरह जिसके हृदयमें वस्तु तत्त्वोंकी स्मृति बनी रहती है, दोष उसका अनिष्ट नहीं कर सकते ॥१८३६॥

गा०—जैसे शत्रुओंके मध्यमें असहाय अन्धा व्यक्ति शत्रुओंके द्वारा पकड़ा जाता है । वैसे ही जिसे वस्तु तत्त्वोंका सतत स्मरण नहीं रहता, वह दोषरूपी शत्रुओंसे पकड़ा जाता है ॥१८३७॥

गा०—परीपहोंके समूहसे पीड़ित होते हुए भी माधुको रत्नत्रयको न छोड़ते हुए तत्त्वोंका स्मरण नहीं छोड़ना चाहिये । मदा तत्त्वका स्मरण करते रहना चाहिये । इसीको यहाँ आराधना कहा है ॥१८३८॥

सवर अनुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ ।

निर्जरानुप्रेक्षोच्यते—

इयं सव्वत्थविं सवरसवुडकम्मामवो भवित्तु मुणी ।

कुच्चंति तवं विविह सुत्तुत्त णिज्जराहेदु ॥१८३९॥

‘इयं’ एव । ‘सव्वत्थविं’ उक्तं सवरप्रकारं । ‘सवुडकम्मामवो भवित्तु मुणी’ मवृत्तकर्मालवो भूत्वा मुनि करोति विविध तप सूत्रोक्त निर्जराहेतु ॥१८३९॥

तवसा विणा ण मोक्खो सवरमित्तेण होड कम्मस्स ।

उवमोगादीहिं विणा धण ण हु खीयदि सुगुत्त ॥१८४०॥

‘तवसा विणा’ तपसोऽन्तरेण न कर्ममोक्षो भवति सवरमात्रेण । सुरक्षितमपि घन नैव हीयते उपभोग-मन्तरेण तथा । तस्मान् तपोनुष्ठानव्य निर्जराय । का सा निर्जरा नाम ? पूर्वकृतकर्मशातन तु निर्जरा ॥१८४०॥

पुव्वकदकम्मसडण तु णिज्जरा मा पुणो हवे दुविहा ।

पडमा विवागजादा विटिया अविवागजाया य ॥१८४१॥

‘पुव्वकदकम्मसडण पूर्वकृतकर्मपुद्गलस्व धावृत्तानामवयवाना जीवप्रदेशोऽप्यगमन निर्जरा । तथा चोक्तं ‘एकदेशकर्मसक्षय-लक्षणा निर्जरेति’ । निर्जरा द्विविधा द्रव्यनिर्जरा भावनिर्जरा चेति । द्रव्यनिर्जरा नाम गृहीतानामज्ञानपानादिद्रव्याणा एकदेशापगमन वमनादिव । भावनिर्जरा नाम कर्मत्वपर्यायविषय पुद्गलाना । सा पुनर्द्विविधा, आद्या विपाकजाता दत्तफलाना कर्मणा गलन विपाकजा निर्जरा । द्वितीयाऽविपाक-जाता ॥१८४१॥

अब निर्जरा अनुप्रेक्षाको कहते हैं—

गा०—इस प्रकार सवरके उक्त भेदोंके द्वारा मुनि कर्मों का आलव रोककर भागममे कहे अनेक प्रकारके तपोंको करता है जो निर्जराके कारण हैं ॥१८३९॥

गा०—जैसे सुरक्षित भी घन उपभोग किये बिना नहीं घटना, उसी प्रकार तपके बिना कर्मों के सवरमात्रसे कर्मों का क्षय नहीं होता । अतः निर्जराके लिये तप करना चाहिये । पूर्वमें बद्ध कर्मों के क्रमसे क्षयको निर्जरा कहते हैं ॥१८४०॥

गा०—टी०—पूर्वमें वापे हुए पौद्गलिक कर्मस्कन्धोंके अवयवोंका जीवके प्रदेशोंमें अलग होना निर्जरा है । कहा भी है—‘कर्मों के एकदेशका क्षय निर्जराका लक्षण है । निर्जराके दो भेद हैं—द्रव्यनिर्जरा और भावनिर्जरा । खाये हुए भोजन पान आदि द्रव्योंके एकदेशका वमन आदिके द्वारा बाहर निकलना द्रव्यनिर्जरा है । और पुद्गलोंका कर्मरूप पर्यायको त्यागना भावनिर्जरा है । भावनिर्जराके भी दो भेद हैं—मविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा । जो कर्म अपना फल दे चुके हैं उनकी निर्जरा मविपाक निर्जरा है और जिन कर्मों का विपाक काल नहीं आया है उन्हें तप आदिके द्वारा बलान् उदयमें लाकर खरेना अविपाक निर्जरा है ॥१८४१॥

विशेषार्थ—द्रव्यमग्रह आदिमें भी निर्जराके उक्त भेदोंका कथन है किन्तु उनमें फल दे चुकने वाले कर्म पुद्गलोंका जीवसे पृथक् होना द्रव्यनिर्जरा है और जीवके जिन भावसे यह द्रव्यनिर्जरा होती है उस भावको भावनिर्जरा कहा है ॥१८४१॥

अत्र दृष्टान्तमाचष्टे द्विविधा निर्जंरामवगमयितु—

कालेण उवायेण य पच्वति जहा वणप्फदिफलाड ।

तह कालेण तवेण य पच्वति कदाणि कम्माणि ॥१८४२॥

'कालेण उवाएण य' यथा कालेनोपायेन च वनस्पतीना फलानि पच्यन्ते तथा बालेन तपसा पच्यन्ते वृत्तानि कर्माणि ॥१८४२॥

तयोर्निर्जंरयो का कस्य भवतीत्याशङ्क्यामाचष्टे—

मव्वेसिं उदयमा गदस्म कम्मस्म णिज्जरा होड ।

कम्मस्स तवेण पुणो सव्वस्म वि णिज्जरा होइ ॥१८४३॥

'सव्वेसिमुदयसमयागदस्स' सर्वेषा समयपूर्वके तपनि वृत्ताना अवृत्ताना च अपवा मिथ्यादृष्ट्यादीना सम्यग्दृष्ट्यादीना वा उदयावलिक्वाप्रविष्टस्य दत्तस्य फलस्य कर्मणो निर्जंरा भवति । एतेन विपाकनिर्जंरा स्वल्पेत्याख्यात भवति । क्य न सर्वाणि कर्माणि गलन्तीति चेदुच्यते—नर्वाणि कर्माणि भिन्नस्थितिकानि सहकारिकारणाना द्रव्यक्षेत्रादीना 'युगपदसान्निध्यादुदय सर्वस्य नोपपन्नन्ति, ततो वृद्धयप्राप्त तदेवागच्छति नेतरदिति । 'तवेण पुणो' तपसा पुन । 'कम्मस्स सव्वस्स वि' कर्मण सर्वस्यापि निर्जंरा भवति ॥१८४३॥

ण हु कम्मस्स अवेदिदफलस्स कस्सइ हव्वेज्ज परिमोक्खो ।

होज्ज व तस्स विणासो तवग्गिणा डज्झमाणस्स ॥१८४४॥

दोनो प्रकारकी निर्जंराको समझानेके लिये दृष्टान्त कहते हैं—

गा०—जैसे वनस्पतियोंके फल अपने समयपर भी पकते हैं और उपाय करनेसे समयसे पहले भी पक जाते हैं, उसी प्रकार पूर्वबद्ध कर्म भी अपनी स्थिति पूरी होनेपर अपना फल देते हैं और तपके द्वारा स्थिति पूरी होनेमें पूर्व ही फल देकर चले जाते हैं ॥१८४२॥

उक्त दोनों निर्जंराजोमेसे किमके कौन निर्जंरा होती है, यह कहते हैं—

गा०-टी०—सभी जीवोंके जो तप करते हैं या तप नहीं करते, अथवा सम्यग्दृष्टी हो या मिथ्यादृष्टी हो उन सब जीवोंके उदयावलीमें प्रवेश करके अपना फल देनेवाले कर्मों की निर्जंरा होती है अर्थात् सविपाक निर्जंरा तो सभी जीवोंके सदा हुआ करती है क्योंकि सभी जीव सदा कर्म करते हैं और सदा उनका फल भोगते हैं । इससे सविपाक निर्जंरा छोड़े ही कर्मकी होती है यह सूचित होता है ।

शका—सब कर्मों की निर्जंरा क्यों नहीं होती ?

समाधान—सब कर्मोंकी स्थिति भिन्न-भिन्न होती है । तथा सबके सहकारी कारण द्रव्य क्षेत्र आदि एक साथ नहीं मिलते अतः सब कर्म एक साथ उदयमें नहीं आते । अतः जिस कर्मका उदय होता है उसीकी निर्जंरा होती है । शेषकी निर्जंरा नहीं होती । किन्तु तप करनेसे सब कर्मों की निर्जंरा होती है ॥१८४३॥

‘कम्मस्स ण ह्वेज्ज परिमोक्खो’ धननुभूतफणस्य कर्मणो नैव कस्यपिन् मोक्षो भवति इति । तत फल प्रदायापयाति । एतेन विपाकनिर्जरोक्ता ‘होञ्ज व तस्स कम्मस्स विणासो’ भवेद्वा तस्य कर्मणो विनाशः । ‘तवगिणा इज्जमाणस्स’ तपोऽग्निना दह्यमानस्य । एतेन कृतं कर्म तत्फलमदत्त्वा न निवर्तत इत्येतन्निरन्त ॥१८४४॥

डहिऊण जहा अग्गी विद्धमदि सुवहुगपि तणरासी ।

विद्धसेदि तवग्गी तह कम्मतण सुवहुगपि ॥१८४५॥

‘डहिऊण जहा अग्गी’ यथाग्निदंष्ट्वा नाशयति महातमपि तृणराशिं तथा तपोऽग्निं सुमहदपि कर्मतृणं विनाशयति ॥१८४५॥

तपम कर्मविनाशनक्रममुपदर्शयत्युत्तरगाथा—

कम्म पि परिणमिज्जड सिणेहपरिसोमएण सुतवेण ।

तो त सिणेहमुक्क कम्म परिसडदि धूलिच्च ॥१८४६॥

‘कम्म पि परिणमिज्जडि’ कर्माण्यपि अभाव नीयन्ते, वेण ? ‘सुतवेण’ ज्ञानदर्शनचरणसहभाविना तपना । ‘सिणेहपरिसोमएण’ कर्मपुद्गलागतस्नेहपरिणामविशोषणकारिणाः । ‘तो’ पश्चात् । स्नेहपरिणामविनाशोत्तरकालः । ‘कम्म परिसडदि’ कर्म परितोऽपयाति, ‘सिणेहमुक्क’ स्नेहमुक्त धूलिव । दृश्यते हि स्नेहाद्वन्ध-मुपागतानां तनक्षते परस्परतो वियोग यथा जलेनैव पिण्डतापनानां मिक्तानां शुके जले वियोगमापद्यमानता ॥१८४६॥

गा०-टी०—जिस कर्मका फल नहीं भोगा गया है उसका विनाश नहीं होता । अतः कर्म फल देकर जाता है । इससे सविपाक निर्जराका स्वरूप कहा । सविपाक निर्जरा उन्हीं कर्मोंकी होनी है जो अपना फल दे चुकते हैं । किन्तु तपकी अग्निमें जलकर ऐसे कर्मों का भी विनाश होता है जिन्होंने फल नहीं दिया है । इसमें जो मत ऐसा म नते हैं कि किया हुआ कर्म विना फल दिये नहीं जाता, उनका खण्डन होता है ॥१८४४॥

गा०—जैसे आग महान् भी तृणराशिकी जलाकर खाक कर देती है । उसी प्रकार तपरूपी आग महान् भी कर्मरूपी तृणोंके ढेरको जलाकर नष्ट कर देती है ॥१८४५॥

आगे तपमें कर्मों के विनाशका क्रम दिखलाते हैं—

गा०-टी०—ज्ञान, दर्शन और चारित्रिके साथ होनेवाला तप कर्म-पुद्गलोंमें रहनेवाले स्नेह परिणामको सोख लेता है । अतः उससे कर्मों का अभाव होता है । क्योंकि कर्मों में रहनेवाले स्नेहपरिणामका विनाश होनेके पश्चात् स्नेहरहित धूलकी तरह कर्म नष्ट हो जाते हैं । देखा जाता है जो वस्तुएँ चिककणता गुणके कारण परस्परमें बँधी होनी हैं, उनकी चिककणता नष्ट होनेपर वे परस्परमें अलग हो जाती हैं जैसे जलके सयोगसे धूल बँध जाती है और जलके मूम्ने पर अलग-अलग हो जाती है । इसी प्रकार कपाय आदि रूप स्नेहके कारण जो कर्मपुद्गल जीवके माय एकरूप होते हैं, तपके द्वारा कपायके चत्रे जानेपर वे जीवमें पृथक् हो जाते हैं ॥१८४६॥

१ कर्माणि सुतवेण गोमनेन तपमाऽप्यभावात् नीयन्ते । वेण ? ज्ञान आ० ।

घादुगद जह कणय सुज्झइ घम्मंतमग्गिणा महदा ।

सुज्झइ तवग्गि'घतो तह जीवो कम्मधादुगदो ॥१८४७॥

'घादुगद' यथा सुवर्णपापाणगत वनक महताग्निना दह्यमान शुष्यति, मलान् पृथग्भवति तथा जीव कर्मधातुगतस्तपोऽग्निना दह्यमान शुष्यति ॥१८४७॥

यद्येव तप एवानुष्ठातव्य कि मकरेणेति शब्दा निराकरोति—

तवसा चेव ण मोक्खो सवरहीणस्स होइ जिणवयणे ।

ण हु सोत्ते पविसते किसिणं परिसुस्सदि तलाय ॥१८४८॥

'तवसा चेव ण मोक्खो' तपसैव न सर्वकर्मामो भवति, सवरहीणस्य जिनवचने । सोऽपि प्रविशति न जलादिकं कृत्स्न परिशुष्यति ॥१८४८॥

एवं पिणद्धसवरवम्मो सम्भत्तवाहणारूढो ।

सुदणायमहाघणुगो ज्ञाणादित्तवोमयसरेहि ॥१८४९॥

'एव पिणद्धसवरवम्मो' एव पिणद्धसवरवचच, सम्यक्त्ववाहणारूढ, श्रुतज्ञानचापधर, ध्यानादित्त-
पोमयशरि ॥१८४९॥

सजमरणभूमिए कम्मारिचमू पराजिणिय सव्वं ।

पावदि मजमजोहो अणोवम मोक्खरज्जसिणिं ॥१८५०॥

'सजमरणभूमिए' मयमयुद्धाज्ञणे कर्मारिचमू सर्वाग्निभूय प्राप्नोति सयतयोध अनुपमा मोक्षराज्य-
धिय । निर्जरा ॥१८५०॥

गा०—जैसे सुवर्ण पापाणको महान् अग्निमें फूँकने पर उसमेंसे सोना अलग हो जाता है । उसी प्रकार तपस्वियों आगसे तपानेपर कर्मरूपी धातुमें घिरा हुआ जीव शुद्ध हो जाता है ॥१८४७॥

इस परसे कोई शका करता है कि यदि तपमें जीव शुद्ध होता है तो तप ही करना चाहिए, सवरकी क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०—जिनागममें सवरके बिना केवल तपसे ही सब कर्मों का विनाश नहीं कहा है । क्योंकि यदि तालानमें जल आता रहता है तो तालावको पूर्णरूपमें सुखाया नहीं जा सकता ॥१८४८॥

गा०—अतः जिसने सवररूप कवच धारण किया है, जो सम्यक्स्वरूपी रथपर सवार है, और श्रुतज्ञानरूपी धनुष लिये हुए है वह मयमरूपी योद्धा मयमरूपी रणभूमिमें ध्यान आदि तपोमय वाणोंके द्वारा समस्त कर्मरूपी शत्रुओंकी सेनाको पराजित करके मोक्षरूपी अनुपम राज्य-
लक्ष्मीको प्राप्त करता है ॥१८५०॥

निर्जरानुप्रेक्षावा कथन ममाप्त हुआ ।

धर्मगुणानुप्रेक्षणापोष्यते—

जीवो मोक्षपुरवकडकल्लाणपरपरस्स जो भागी ।

भावेणुववज्जदि मो धम्म त तारिसमुदार ॥१८५१॥

'जीवो मोक्षपुरवकडकल्लाणपरपरस्स जो भागी' यो जीव मोक्षावमानकथाणपरपरगया भ्राजनभूत ।
म धम भावेन प्रतिपद्यते, त तादृशमुदार सक्कमुत्तमपादनमम महान्त धम ॥१८५१॥

धम्मणेण होदि पुज्जो विस्समणिज्जो पिओ जममी य ।

सुहसज्जो य णराण धम्मो मणाणिव्वुदिकरो य ॥१८५२॥

'धम्मणेण होदि पुज्जो' धर्मेण पूज्यो भवति । विश्वसनीय प्रियो यमन्वो च भवति, सुप्तेन च साध्यो
नराणा धर्म । उक्त च—दृष्टे श्रुते च विदिते स्मृते च धर्मे फलागमो भवतीति, मनसा निवृत्ति च
करोति ॥१८५२॥

जावदियाइ कल्लाणाइ 'माणुस्म-देवलोगे य ।

आवहदि ताण सव्वाणि मोक्ख मोक्खं च वरधम्मो ॥१८५३॥

'जावदियाइ कल्लाणाइ' यावति कल्याणानि स्वर्गे मनुष्यलोके च तानि सर्वाण्यप्यपि धर्मो भोग
सुख च ॥१८५३॥

ते धण्णा जिणधम्म जिणदिट्ठं सव्वदुक्खणामयर ।

पडिचण्णा दिट्ठधिदिया विसुद्धमणमा णिगवेस्सा ॥१८५४॥

'ते धण्णा' पुण्यवन्त । जिनदृष्ट धम सर्वदुःखनाशकर प्रतिपन्ना मुक्तेन मनसा दृढप्रविका,
निर्वाणुला ॥१८५४॥

अथ धर्मानुप्रेक्षाका कथन करते हैं—

गा०—जो जीव सुदेवत्व सुमानुषत्व आदि कल्याण परम्पराके माय अन्तमे मोक्षको प्राप्त
करता है वही ममस्त मुख सम्पादनमे समर्थ महान् धर्मको भावपूर्वक धारण करता है । अर्थात्
भावपूर्वक धर्मका पालन करनेमे सासारिक सुखने साथ मोक्षसुख प्राप्त होता है ॥१८५१॥

गा०—धर्ममे मनुष्य पूज्य होता है, मवका विश्वासपात्र होता है, मवना प्रिय और
यशस्वी होता है । मनुष्य धर्मको मुखपूर्वक पालन कर सकते हैं । कहा भी है—धर्मको श्रद्धा
करनेपर, धर्मको मुननेपर, धर्मको जानने और धर्मका स्मरण करनेपर फरकी प्राप्ति होती है ।
तया धर्ममे मनको शान्ति मिलती है ॥१८५२॥

गा०—मनुष्यलोक और देवलोकेमे जितने कथाएँ हैं उन मरणो उत्तममर्म लयता है और
अन्तमे मोक्षसुखको भी लाता है ॥१८५३॥

गा०—जिन्होंने जिन भगवान्के द्वारा कहे गये और मय दृष्टोपा नाश करनेवाले जिन
धर्मको हृद धैर्यके साथ निर्मल मनसे और जिना किसी प्रकारकी अपेक्षाके धारण किया वे पुण्य-
शाली हैं ॥१८५४॥

१ २ मर्गे य मनुष्यों मे -म० ।

१०८

विसयाडवीए उम्मगगविहरिदा सुचिरमिदियस्सेहिं ।

जिणदिद्विणिव्वुदिपह घण्णा ओदरिय गच्छति ॥१८५५॥

‘विसयाडवीए’ विषयादव्या उन्मागविहारिण सुचिरमिन्द्रियाद्वर्वला नीता मन्त ये च जिनदृष्ट-
निवृत्तिमार्गं गच्छन्ति तं घन्या इन्द्रियास्वेभ्योऽवराह्य ॥१८५५॥

रागेण य दोसेण य जगे रमतम्मि वीदरागम्मि ।

धम्मम्मि णिरासादम्मि रदी अदिदुल्लहा होइ ॥१८५६॥

‘रागेण य दोसेण य जगे रमतम्मि’ रागद्वेषाभ्या सह जगति क्रीडति । वीतरागे धर्मे निरगस्वादे रति-
रतीव दुर्लभा भवति । उक्तं च—

कुल च रूप च यज्ञश्च कीर्तिर्धनं च विद्या च सुखं च लक्ष्मी ।

आरोग्यमाज्ञे पित्तसंप्रयोगो द्वेष्यवियोगोऽपि च दीर्घमायु ।।

स्वर्गश्च मोक्षश्च मयोपदिष्टा भावा इमेऽन्ये च जगत्प्रशस्तौ ।

धर्मेण शक्यं जगतीह लक्ष्यु, हिताय तं कर्तुं मतोऽर्हसि त्व’ ॥ [॥१८५६॥]

सहल माणुमजम्मं तस्स हवदि जस्स चरणमणवज्जं ।

ससारदुवखकारयकम्मागमदारसरोध ॥१८५७॥

‘सहल माणुसजम्म’ तस्य मनुष्यस्य जन्म सफलं भवति यस्य चरणमनवद्य । वीदरा ? ससारदुख-
सपादनोद्यनरुमागमद्वारनिरोधकारी । अनेन चारित्र्यमिह शब्दो धर्मत्वेनोच्यत इत्याख्यातं भवति ॥१८५७॥

जह जह णिव्वेदमम वेरगगदयादमा पवड्ढंति ।

तह तह अन्भासयर णिव्वाण होइ पुरिसस्म ॥१८५८॥

गा०—जो विषयरूपी वनमे इन्द्रियरूपी घोडोके द्वारा बलपूर्वक ले जाये जाकर चिरकालमे
कुमार्गमे विहार करते हैं और एक दिन उन इन्द्रियरूपी घोडेसे उतरकर जिन भगवान्के द्वारा
कहे मोक्षमार्गमे चलने लगते हैं वे घन्य हैं ॥१८५५॥

गा०—दो०—जो राग और द्वेषपूर्वक ससारके भोगोमे फँसे हैं, स्वादरहित वीतराग धर्ममे
उनकी रचि होना अतिदुर्लभ है । कहा भी है—जिनेन्द्रदेवने कुल, रूप, यज्ञ, कीर्ति, धन, विद्या,
सुख, लक्ष्मी, आरोग्य, इष्टसंयोग, अनिष्ट वियोग, दीर्घ आयु, स्वर्ग, मोक्ष तथा अन्य भी जगत्मे
प्रशस्त भाव कहे हैं । इम जगत्मे उन्हे धर्मके द्वारा प्राप्त करना शक्य है । अतः तुम अपने हितके
लिये धर्माचरण करो ॥१८५६॥

गा०—ससारके दुखोको करनेमे समर्थ कर्मों के आनेके द्वारको रोवनेवाला चारित्र्य
जिसवा निदोष है उसका मनुष्य जन्म सफल है । यहाँ धर्म शब्दमे चारित्र्य कहा है, इनमे यह
प्रकट होता है ॥१८५७॥

गा०—जैसे-जैसे मनुष्यमे वैराग्य, निर्वेद, उपशम, दया और चित्तवा निग्रह बढ़ता है
वैसे-वैसे मोक्ष निकट आता है ॥१८५८॥

यथा यथा निर्वेद उपशमो वैराग्य दया चित्तनिग्रहश्च प्रवर्तते तथा तथा समीपतर भवति निर्वाण
पुरुषस्य ॥१८५८॥

धर्मं स्तौति—

मम्मद्दृसणतुंय दुवालसगारय जिणिंटाण ।

वयणेमिय जगे जयड धम्मचक्रक तत्रोषार ॥१८५९॥

‘सम्मद्दृसणतुंय’ मम्यग्दर्शनतुम्ब द्वादशाङ्गारक व्रतनेमिक तपोषार जिनेन्द्राणा धर्मचक्र जगति
जयति ॥१८५९॥ धम्म ।

बोधिदुर्लभानुप्रेशा कथ्यते—

दमणसुदतवचरणमडयम्मि धम्मम्मि दुल्लहा बोही ।

जीवस्स कम्मसत्तस्म ससरतस्स ससारे ॥१८६०॥

दमणसुदतवचरणमडयम्मि’ दशनश्रुततपश्चरणमये धर्मं दुर्लभा बोधिर्जीवस्य कमसत्तस्य मसारे
ससरत ॥१८६०॥

तस्या दुर्लभता प्रकटयन्त्युत्तरप्रबन्धेन—

मसारम्मि अणते जीवाण दुल्लह मणुस्सत्त ।

जुगममिलाम जोगो जह लवणजले समुदम्मि ॥१८६१॥

‘ससारम्मि अणते’ अनन्तमसारे जीवाना मनुष्यत्व दुर्लभं पूर्वपिरस्समुदनिशितयुगतन्तवधिकाष्ठ-
सयोग इव ॥१८६१॥

गा०—जिनेन्द्रका धर्मचक्र जगत्मे जयशील होता है । सम्यग्दर्शन उसकी नाभि है,
द्वादशांग उसके अर हैं, व्रत नेमि है और तप धारा अर्थात् दूसरी नाभि है ॥१८५८॥

विशेषार्थ—जैसे गाड़ीके चक्केमे अर होने हैं, वीचमे उसकी नाभि होती है । उसी प्रकार
जिनेन्द्रके धर्मचक्रकी नाभि सम्यग्दर्शन है । द्वादशांगवाणी या दारह तप उसके अण्डे हैं । और
व्रत नेमि है । इनके आधारपर वह धर्मचक्र गतिशील होता है ॥१८५९॥

धर्मानुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ ।

अब बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षाका कथन करने हैं—

गा०—मगारमे भटकते हुए कर्मलिप्त जीवके मम्यग्दर्शन, मम्यग्ज्ञान और मम्यक् तपश्च-
रणमयी धर्ममे बोधि अर्थात् ग्लानकी प्राप्ति दुर्लभ है ॥१८६०॥

जागे उसकी दुर्लभता बतलाते हैं—

गा०—जैसे लवणमयुक्तके पूर्व भागमे जुआ और पश्चिम भागमे उसकी लकड़ी डाठ देनेपर
दोनोंका मयोग दुर्लभ है । उसी प्रकार अनन्त सनारमे मनुष्य भवका पाना दुर्लभ है ॥१८६१॥

मनुजनाया दुर्लभत्वे कारणमाह—

असुहपरिणामबहुलक्षण च लोगस्स अदिमहल्लत्त ।

जोणिवहुत्त च कुणदि सुदुल्लह माणुस जोणी ॥१८६२॥

'असुहपरिणामबहुलक्षण च' अशुभपरिणामाना मिथ्यात्वात्सत्यमवपायप्रमादाना परिणामाना बहुत्व मनुजयोनिदुर्लभता कराति । मनुजरहितलोकस्स्यानिमहत्त्व च तत् दुर्लभता करोति । अस्त्येया हि द्वीपममुद्रना नारकावासा, स्वर्गपटलानि, इतरश्च लोकाकाशमतिमहत् । योनीना बहुत्व चेतारासा निबन्धन तद्दुर्लभताया ॥१८६२॥

अपरामपि दुर्लभतापरम्परा दर्शयत्युत्तराया—

देसकुलरूपमारोगमाउग बुद्धिसवणगहणाणि ।

रुद्धे वि माणुसत्ते ण हुति सुलभाणि जीवस्स ॥१८६३॥

देसकुलरूपमारोग' देशकुलरूपमारोग्य । आयुगमायुष्क । 'बुद्धिसवणगहणाणि' बुद्धिश्रवणग्रहणानि । लब्धेऽपि मनुष्यत्वे मनुष्यगतिनामकमौदयात्, जिनप्रणीतधर्मप्रगल्भमानवबहुलो देशो दुर्लभ । अन्तर्द्वीपाना सक्थवनकिरातबबरपारसीकसिंहलादिदेशाना धर्मज्ञमानवरहितानामतिबहुलत्वात् । लब्धेऽपि देशे सुजनावासे

मनुष्य पर्यायकी दुर्लभताका कारण कहते हैं—

गा०—टी०—मिथ्यात्व, असयम, कपाय और प्रमादरूप अशुभ परिणामोकी बहुतायतक कारण मनुष्य योनि दुर्लभ है । तथा मनुष्य रहित लोक अतिमहान् है इससे भी मनुष्ययोनि दुर्लभ हो क्योंकि असम्यात् द्वीप समुद्रो तक तो नरकावास है, ऊपर स्वर्गपटल । शेष लोकनवाश भी महान् है । तथा जीवोकी योनिया बहुत हैं । इससे भी मनुष्य योनि दुर्लभ है ॥१८६२॥

विशेषार्थ—लोकके मध्यमे पैतालीम लाख योजन प्रमाण क्षेत्र ही मनुष्य लोक है । अडाई द्वीपकेचाहर सत्र तिर्यञ्च ही रहते हैं । नारकी रहते हैं । ऊपर देव रहते हैं । तथा जीवोका योनिया भी बहुत हैं इसके साथ ही अशुभ परिणामोकी भी बहुलता है । शुभ परिणाम होनेसे ही मनुष्यगतिमे अच्छा क्षेत्र, जाति, कुल आदि उपलब्ध होते हैं तभी तो मनुष्य होकर धर्मलाभ हो सकता है । मनुष्य पर्याय भी पाई किन्तु देश, कुल, जाति ठीक नहीं मिले तो मनुष्य पर्याय पाकर भी क्या लाभ हुआ । अत धर्मसाधनके योग्य मनुष्य पर्याय दुर्लभ है ॥१८६२॥

आगे और भी दुर्लभताके कारण कहते हैं -

गा०—जीवके मनुष्य पर्याय प्राप्त करने पर भी देश, कुल, रूप, आरोग्य, आयु, बुद्धि, श्रवण, ग्रहण सुलभ नहीं हैं ॥१८६३॥

टी०—मनुष्यगति नाम धर्मके उदयसे मनुष्यपर्याय पानेपर भी जिन भगवान्के द्वारा कहे गये धर्ममे दक्ष मनुष्योमे भरा हुआ देश प्राप्त होना दुर्लभ है । क्योंकि धर्मके ज्ञाता मनुष्योसे रहित अन्तर्द्वीप तथा सक्, यवन, किरात, बबर, पारसीक और सिंहल आदि देश अनेक हैं ।

१ 'देसकुल जाइ रूप, आरोग्य आउग च पुण्य च ।

बुद्धिसवणगहणाणि रुद्धे णस्सोहि दुल्लह होई ॥'—आ० ।

ब्राह्मणशत्रियवैश्यादिक कुल दुरधिगमनीय सुकुलानामल्पत्वात् असङ्गन्मीर्षात्रयवन्धानात् । मिथ्यात्वोदयात् प्रायेण प्राणिनो गुणान् गुणिजन च निन्दन्त्याक्रोशन्ति, निर्गुणोऽपि कुलाभिमानमतिमहदुद्वहति, तेन नीचर्षात्रमुप-
चिनोति, गुणे गुणिजने धानुराग कुलाभिमानतिरस्करण वा कदाचिदेव भवति इति शोभन कृत कदाचिदेव
लभ्यते । चारित्र्यमोहोदयान पद्मजीवनिकायवाधाकरणे सततमुद्यत तदीयरूपशोभोन्मूलनमादात्तेनोपाजितेनानुभ-
रूपनामकर्मणा विरूपो बहुतो भवति । जीवदया कदाचिदेव क्वचिदेव करोति । प्ररास्तरूपनामवर्मलभ्य मौरूप्यमपि
केशेन लभ्यते । परजीवमतापकरणे कृतोन्माह भवदैवेति रोगो भवति बहुज्ञ, परमतापपरिहार वैयावृत्य च
कदाचिदेव करोति । इति नीरोगतापि कादाचिली दुर्लभा । परेषा प्रायेणामुनिहन्तीति स्वल्पायुर्वेवाय जनी
जायते । कदाचिदेवाहिमाव्रतपरिपालनाच्चिरजीविता सदा न लभ्यते । समीचीनज्ञानिजनदूषणान् तन्मात्सर्यान्
तद्विघ्नकरणात्तन्नासादनाच्चक्षुरादीन्द्रियोपघातकरणाच्च मतिश्रुतज्ञानावरणे वराको घण्णातीति दुर्मेधा
भवति । बहुपु जन्मज्ञानमहत्सुपे मतिश्रुतज्ञानावरणक्षयोपघातान शुभपरिणामोपनीतान कदाचिदेव विवेक-
कारिणी वृद्धिभवति । सत्यमपि वृद्धी हेताहितविचारणक्षम धर्मश्रवणमतिदुर्लभ, यतीना विरागद्वेषाणा,
समीचीनज्ञानप्रकाशनाम्मुलितदुर्भेद्यमोहान्प्रताना, असौपजीवनिकायदयाक्रिपोजानाना अमोलम्यान्, तीव्रमिथ्या-
दशानोपनीतगुणिजनद्वेषेण मिथ्याज्ञानलवलाभदुर्विदग्धतया स्वगृहीततत्त्वपरवधानया आलभ्येन वा यतीना

धर्मज्ञानोमे वसा हुआ देग मिलनेपर भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि कुल मिलना कठिन है
क्योंकि अच्छे कुल बहुत कम हैं । और इसका कारण यह है कि जीवोंके निरन्तर नीच गोत्रका
बन्ध हुआ करता है । मिथ्यात्वके उदयसे प्राय प्राणी गुणा और गुणीजनोकी निन्दा करते हैं, उनके
सम्बन्धमें दया करते हैं । गुणहीन भी अपने कुलका नव अभिमान रखते हैं । उससे वे नीच
गोत्रका वन्द्य करते हैं । गुणोंमें और गुणीजनोमें अनुराग तथा कुलके अभिमानका निरस्कार कम
ही देखा जाता है । इसलिये जीवोंको अच्छा कुल ही मिलता है । चारित्र्यमोहके उदयमें जीव
छह कायके जीवोंको वाधा देनेमें निरन्तर लगे रहते हैं वे उनके रूपको शोभाको विनष्ट करते
हैं । उसमें उपाजित अशुभ नामकर्ममें जीव अधिकतर विरूप होते हैं । जीवोंपर दया कम ही
लोग करते हैं । अतः प्रशस्त रूपनामकर्मके द्वारा प्राप्य सुन्दर रूप भी दहे कष्टमें प्राप्त होता है ।
प्राणी सर्वदा दूमरे जीवोंको मताप देनेका उत्साह रखते हैं । इसलिये अधिकतर रोगी होते हैं ।
दूमरोका कष्ट दूर करनेवालो वैयावृत्य कम ही करते हैं । इसलिये नीरोगता भी दुर्लभ है । प्राणी
प्राय दूमरोकी आयुका घात करते हैं उन्हें मार देते हैं । इसमें वे अल्प आयुवाले होते हैं ।
कदाचिन् ही अहिमाव्रतका पालन करनेमें चिरजीवि हाते हैं, सदा चिरजीवी नहीं होते । मच्चे
ज्ञानिजनोको दूषण लगानेसे, उनमें डाह करनेसे, उनके ज्ञानाग्नमें विघ्न डालनेमें, उनकी
आनादना करनेमें तथा चक्षु आदि इन्द्रियोका घात करनेसे प्राणी मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञाना-
वरण कर्मों का वन्द्य करनेसे वृद्धिहीन होते हैं । लाखो जन्मोंमें कुछ ही जन्मोंमें शुभपरिणामवश
मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपनाम होनेमें विवेकशील वृद्धि प्राप्त होती है । वृद्धि
प्राप्त होनेपर भी हिन अहिनके विचारमें समर्थ धर्मका सुनना दुर्लभ है । क्योंकि गगद्वेषसे
रहित, मच्चे ज्ञानके प्रकाशमें दुर्मेध मोहान्यकारका उन्मूलन करनेवाले और ममस्त जीवोंपर
दया करनेवाले मुनिगण दुर्लभ हैं । तथा तीव्र मिथ्यादर्शनके कारण गुणीजनोमें द्वेष करनेवाले
या थोडा-ना मिथ्याज्ञान प्राप्त कके अपनेको बडा विद्वान् माननेवाले या अपने जाने हुए तत्त्वके

स्वपरोद्धरणप्रवीणतापरिज्ञानाच्च न ढीकते यतिजनमिति धर्मश्रवणस्य दुर्लभता । कदाचिदेव पापोपशमायनि-
जनानु'ढीकनेऽपि नयप्रस्सरे सप्रश्ने प्रशस्तवाग्नुयायिनि गुरुजने चाभिमूर्खे सति श्रवण भवतीति दुर्लभता
श्रवणस्य । किञ्च यतिजननिकैतनमुपगतोऽपि यदुच्छ्रया निद्राति, स्वय परेषा यत्किञ्चिदसार वदति, मुग्धाना
वा वचन श्रुणोति न विनयेन ढीकत इति वा दुर्लभ श्रवण । श्रुतेऽपि धर्मो तत्परिज्ञानमतिदुर्लभ श्रुतज्ञाना-
वरणोदयात् । दु करत्व मन प्रणिधानस्य कदाचिदप्यभ्युत्पूर्वत्वात्, सूभत्वाच्च जीवादिदित्त्वस्य । श्रुतज्ञाना-
धिकरणे क्षयोपशमे मन प्रणिधान वक्तुर्वचनसौष्ठव चेति सकलमिदमसुलभमिति धर्मज्ञान दुर्लभ । ज्ञातेऽपि
धर्मो अस्ति धर्मो जीवपरिणामसम्यक्त्वज्ञानचरणतपोदानपूजात्मनोऽभ्युदयनिश्चयेसकलदायी जिनैव्यखिणितरूप-
इति श्रद्धान न सुखेन लभ्यते, दर्शनमोहोदियात् । उपदेशकालकरणलब्धमश्च कदाचित्का इति ॥१८६३॥

लद्धेसु वि तेसु पुणो बोधी जिणसामणम्मि ण ह्य सुलहा ।

कुपघाकुलो य लोगो ज बलिया रागदोसा य ॥१८६४॥

'लद्धेसु वि तेसु पुणो' लब्धेष्वपि तेषु मनुजभवादिषु बोधिर्दोषाभिमुता वृद्धिनं सुलभा प्रबलत्वात्म-
यमघातिकमण । कुमागकुलत्वात् लोकस्य बहूनामाचरणमेव प्रमाणदन् यत्किञ्चनाचरति, बलवन्तश्च रागद्वया
ज्ञानश्रद्धानोपेतमपि न सन्धाय ढीकितु ददति ॥१८६४॥

परवश मनुष्योके कारण या यतिगणके आलस्यसे अथवा अपना और दूसरोका उद्धार करनेमें
दक्ष न होनेसे यतिजन भी नहीं आते हैं इससे भी धर्मश्रवणकी दुर्लभता है । कदाचित् पापका
उपशम होनेसे यतिजनके पधारनेपर भी विनयपूर्वक प्रश्न करनेपर और प्रशस्त वचन बोलनेवाले
गुरुके मन्मुख होनेपर धर्म सुननेको मिलता है इसलिये धर्मश्रवणकी दुर्लभता है । अथवा मुनिगणके
वास स्थानपर जाकर भी सोता है स्वय जो कुछ असार वचन बोलता है या मूर्खों के वचन
सुनता है, विनय पूर्वक वार्ता नही करता । इससे भी धर्म श्रवण दुर्लभ है ।

धर्म सुननेपर भी श्रुतज्ञानावरणका उदय होनेसे उसको समझना अतिदुर्लभ है । तथा
ममज्ञानेपर भी उसमें मन लगाना दुष्कर है क्योंकि पहले कभी नहीं सुना था । तथा जीवादि तत्त्व
भी सूक्ष्म है । श्रुतज्ञानका क्षयोपशम, मनका लगना, वक्ताका वचन सौष्ठव ये सब दुर्लभ होनेसे
धर्मज्ञान दुर्लभ है, धर्मका ज्ञान होनेपर भी 'जिन भगवान्के द्वारा कहा हुआ स्वर्ग और मोक्षरूप
फलको देनेवाला जीवके सम्यक्त्व, ज्ञान चारित्र्य तप दान पूजा भावरूप धर्म है' ऐसा श्रद्धान
दुर्लभ है क्योंकि जीवोके दर्शनमोहका उदय रहता है । उपदेशलब्धि, काललब्धि और करणलब्धि
भी सदा नहीं होती, कदाचित् ही होती है ॥१८६३॥

गा०—टी०—मनुष्यभव आदिके प्राप्त होनेपर भी 'बोधि' अर्थात् जिन दोषाकी ओर
अभिमुख वृद्धिका होना सुलभ नहीं है क्योंकि जीवोके समयको धातनेवाला धर्म प्रजल होता है ।
तथा यह लोक मिथ्यामतोसे भरा है । अत बहूत लोग जिम धर्मका आचरण करते हैं उमे ही
प्रमाण मानकर जो कुछ मनमें आता है, करते हैं । रागद्वेषके बलवान होनेसे ज्ञान और श्रद्धानसे
युक्त भी मनुष्य सन्मार्गपर नहीं चलता ॥१८६४॥

इय दुल्लहाए बोहीए जो पमाइज्ज कइ वि लद्धाए ।
मो उल्लड्डइ दुक्खेण रदणगिरिसिहरमारुहिय ॥१८६५॥

‘इय दुल्लहाए बोहीए’ उक्तेन क्रमेण दुर्लभाया दीक्षाभिमुखाया बुद्धो लब्धायापि य प्रमाद्यत्पत्तौ रत्नगिरिशिखरमारुह्य तत पतति प्रमादी ॥१८६५॥

फिडिदा सती बोधी ण य सुलहा होइ ससरतस्स ।
पडिद समुद्धमज्जे रदण व तमघयारम्मि ॥१८६६॥

‘फिडिदा सती’ बोधिबिन्दुटा सती दीक्षाभिमुखा बुद्धि पुनर्न सुलभा भवति ससरत । अन्धकारे समुद्रमध्ये पतित रत्नमिव ॥१८६६॥

ते धण्णा जे जिणवरदिट्ठे घम्मम्मि होति सबुद्धा ।
जे य पवण्णा घम्म भावेण उवट्ठिदमदीया ॥१८६७॥

स्पन्दोत्तरा माया । बोधिति ॥१८६७॥

प्रस्तुतमयमुपसहरति—

इय आलवणमणुपेहाओ घम्मस्स होति ज्झाणस्स ।
ज्झायतो ण वि णस्मदि ज्झाणे आलवणेहिं मुणी ॥१८६८॥

‘इय आलवण’ एवमालम्बन भवन्त्यनुप्रेक्षा धर्मध्यानस्य । ध्याने प्रवृत्तो न विप्रणश्यति ध्याननिमित्ता-
लम्बनेभ्यो यति । यो हि यद्वस्तुस्वरूपे प्रणिहितचित्त सतत वस्तुयायात्मान्यन प्रच्यवते तस्याविस्मर-
णान् ॥१८६८॥

गा०—इस प्रकार उक्त क्रमानुसार दीक्षाके अभिमुख दुर्लभ बुद्धि प्राप्त होनेपर भी जो प्रमाद करता है वह प्रमादी सुमेरुके शिखरपर चढ़कर भी उससे गिरता है ॥१८६५॥

गा०—जैसे अन्धकारमें समुद्रके मध्यमें गिरा रत्न पाना दुर्लभ है वैसे ही एक बार प्राप्त होकर नष्ट हुई दीक्षाभिमुख बुद्धिरूप बोधि मसारमें भ्रमण करनेवाले जीवको प्राप्त होना दुर्लभ है ॥१८६६॥

गा०—जो जिन भगवान्‌के द्वारा उपदिष्ट धर्ममें प्रवृद्ध होते हैं वे धन्य हैं । तथा जो दीक्षाभिमुख बुद्धिको प्राप्त करके भावपूर्वक धर्मको अपनाते हैं वे तो महाधन्य हैं ॥१८६७॥

बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ ।

प्रस्तुत चर्चाका उपसंहार करते हैं—

गा०—इस प्रकार अनुप्रेक्षा धर्मध्यानका आलम्बन होती है । ध्यान करनेवाला माधु ध्यानमें निमित्त आलम्बनोका आश्रय लेनेसे ध्यानसे च्युत नहीं होता । जो जिस वस्तुके स्वरूपमें अपने मनको लगाता है वह उस वस्तुके यथार्थस्वरूपमें च्युत नहीं होता, क्योंकि वह उसे भूता नहीं है ॥१८६८॥

ध्यानुरालम्बनवाहुष्य दर्शयत्युत्तरा गाथा—

आलवण च वायण पुच्छणपरिवट्टणाणुपेहाओ ।
धम्मस्स तेण अविस्सुद्धाओ सव्वाणुपेहाओ ॥१८६९॥
आलवणेहि भरिदो लोगो झाइदुमणस्स खवयस्स ।
जं ज मणसा पिच्छदि त तं आलवण हवइ ॥१८७०॥

‘धम्मस्स आलवणेहि भरिदो’ ध्यानस्यालम्बने पूर्णो लोको ध्यातुकामस्य क्षपकस्य यद्यन्मना पश्यति तत्तदालम्बन भवति ॥१८६९॥१८७०॥

धर्मध्यान व्याख्याय ध्यानान्तर व्याख्यातुमुत्तरप्रबन्ध —

इच्छेवमदिकक्तो धम्मज्झाणं जदा हवइ खवओ ।
सुक्कज्झाणं ज्ञायदि ततो सुविसुद्धलेस्साओ ॥१८७१॥

‘इच्छेवमदिकक्तो’ धर्मध्यानमेव ध्यायणितरूपमतिब्रान्तो यदा भवेत् क्षपक शुक्लध्यानममो ध्याति सुविशुद्धलेस्याममन्वित । परिणामधेय्या हि उत्तरोत्तरानुगुणतया स्थित क्रमेणैव प्रवर्तते । न हि प्रथमे सोपानेऽध्यापितवरण द्वितीयादिक सोपातमारोडु प्रभवति । एवमप्रमत्तो धर्मध्याने प्रवृत्त एव शुक्लध्यान-महतीति मूर्धेणानेन ज्ञापित ॥१८७१॥

चतुर्विधधनुक्कध्यात नामतो दर्शयति गाथाद्वयम्—

ज्झाणं पुधत्तमवितक्कसवीचार हवे पढमसुक्क ।
सवितक्केक्कत्तावीचार ज्झाण विदियसुक्क ॥१८७२॥

आगेकी गायामे ध्यान करनेवालेके अनेक आलम्बन बतलाते हैं—

गा०—वाचना, पृच्छना, परिवर्तना तथा अनुप्रेक्षाएँ नामक स्वाध्याय धर्मध्यानके आलम्बन है । अतः सब अनुप्रेक्षा धर्मध्यानके अनुकूल आलम्बन है अर्थात् उनको लेकर धर्मध्यान किया जाता है ॥१८६९॥

ध्यान करनेके इच्छुक क्षपणके लिये यह लोक आलम्बनोमे भरा हुआ है । वह मनको जिम ओर लगाता है वही आलम्बन हो जाता है ॥१८७०॥

धर्मध्यानका कथन करके शुक्लध्यानका कथन करते हैं—

गा०—टी०—इस प्रकार ऊपर कहे धर्मध्यानको जब क्षपक पूर्ण कर लेता है तब वह अति विशुद्ध लेस्याके साथ शुक्लध्यानको ध्याता है । क्योंकि परिणामोको पक्ति उत्तरोत्तर निर्मलताको लिये हुए स्थित है अतः वह क्रममे ही होता है । जिसने पहली सीढ़ीपर पैर नहीं रखा वह दूसरी सीढ़ीपर नहीं चढ़ सकता । अतः धर्मध्यानमे परिपूर्ण हुआ अप्रमत्त भयमी ही शुक्लध्यान करनेमे समर्थ होता है, यह बात इस गायामे द्वारा कही है ॥१८७१॥

आगे दो गायामोके द्वारा चार प्रकारके शुक्लध्यानोके नाम कहते हैं—

गा०—पहला शुक्लध्यान पृथक्त्व सवितकं सविचार नामक है । दूसरा शुक्लध्यान सवितकं एकत्व अविचार नामक है ॥१८७२॥

'ज्ञान पुनस्तसविनक्तमवीचार' ध्यान पृथक्त्वसवितर्कसवीचार प्रथमशुक्ल भवति । 'सविनक्तकेकता-
वीचार' मन्त्रिनक्तैकरवावीचार द्वितीय शुक्लज्जान ॥१८७२॥

सुहृमकिरिय तु तदिय सुक्कज्झाणं जिणेहिं पण्णत्त ।

वेति चउत्थ सुक्क जिणा समुच्छिण्णकिरियं तु ॥१८७३॥

'सुहृमकिरिय तु तदिय तृतीय शुक्लज्जान त्रिणं प्रज्ञप्त सूक्ष्मक्रियमिति । 'वेति चउत्थ सुक्क' वृत्ते
चतुर्थं शुक्ल जिना समुच्छिण्णक्रिय ॥१८७३॥

पृथक्त्वमविनक्तमवीचार व्याचष्टे गायात्रयेण—

दव्वाड अणेयाड तीहिं वि जोगेहिं जेण ज्ञायति ।

उवमतमोहणिज्जा तेण पुघत्तत्ति त भणिया ॥१८७४॥

'दव्वाड अणेयाड तीहिं वि जोगेहिं जेण ज्ञायति' द्रव्याभ्यन्तेकानि त्रिभिर्योगैः परावर्तमाना येन
चिन्तयन्तुपुनःपान्तमोहनीयान्तेन पृथक्त्वमिति प्रथमध्यानशुक्लम्, एतदर्थं कथयति—अन्यदन्त्यद्रुद्ध्यमवलम्ब्य
प्रवृत्तेवान्येनान्येन योगेन प्रवृत्तस्यात्मनो भवतीति पृथक्त्वमप्यपदेशो ध्यानस्येति ॥१८७४॥

अम्हा सुदं वितक्कं जम्हा पुव्वगदअत्थकुसलो य ।

ज्ञायदि ज्ञाणं एद सवितक्कं तेण त ज्ञाण ॥१८७५॥

'अम्हा सुद वितक्कं' यस्मान् श्रुत वितर्कं यस्मान् पूर्वगतात्यकुसलो ध्यानमेतत्परावर्तयति । तेन तन्
ध्यान मवितर्कं । चतुर्दशपूर्वाभा श्रुतस्यातत्तुद्विन्दोर्गं साहचर्यान् वितर्कशब्देनोच्यते । तेन वितर्कपापश्रुतेन

गा०—जिन भगवान्ने तीसरा शुक्लध्यान सूक्ष्मक्रिय कहा है और चतुर्थं शुक्ल समुच्छिन्न-
क्रिय कहा है ॥१८७३॥

आगे तीन गायात्रोमे पृथक्त्व मवितर्कं सविचारका कथन करते हैं—

गा०—जपान्त मोहनीय गुणस्थानवाले यन तीन योगोंके द्वारा अनेक द्रव्योंको बदल
बदलकर ध्यान करने हैं इनमे इमे पृथक्त्व कहते हैं ॥१८७४॥

विशेषार्थ—प्रथम शुक्लध्यानका नाम पृथक्त्व है क्योंकि इसमे योगपरिवर्तनके माथ ध्येयका
भी परिवर्तन होता रहना है इसलिए इसको पृथक्त्व कहते हैं । धर्मध्यान और शुक्लध्यानके
स्वामिदोक्तो लेकर मनमेद पाया जाता है । तत्त्वार्थमूत्रमे श्रेणीमे नीचे धर्मध्यान और श्रेणीमे
शुक्लध्यान कहा है । श्रेणी आठवें गुणस्थानमे प्राग्म्भ होती है । अत आठवेंसे ही पृथक्त्व शुक्ल-
ध्यान कहा है । किन्तु यहाँ ग्याग्हवै गुणस्थानमे पृथक्त्व शुक्लध्यान कहा है । स्वनाम्बर परम्परा-
मे भी ऐसा ही माना गया है । बीरमेन स्वामीने धवला टीका (१३, पृ० ७४) मे भी ऐसा ही
लिखा है । उनका कथन है कि कपायमहित जीवोंके धर्मध्यान होता है और कपायग्रहित जीवोंके
शुक्लध्यान होता है । क्योंकि कपायका अभाव होनेमे ही उमका नाम शुक्लध्यान है । इस प्रथम
शुक्लध्यानमे योगका और ध्येयका परिवर्तन होते रहनेमे इमे पृथक्त्व नाम दिया है ॥१८७४॥

गा०—टी०—यन धुनज्ञानको वितर्क कहते हैं और यन चौदह पूर्वों मे आये अर्थमे कुशल
१०५

ध्येयेन सह वर्तत इति श्रुतज्ञानमेवावलम्ब्य सवितर्कमित्युच्यते । अथवा वितर्कान् श्रुत तद्वदेतुत्वात् । श्रुतज्ञान ध्यानसंज्ञित सह कारणेन श्रुतेन वर्तत इति सवितर्क ॥१८७५॥

अत्याण वजणाण य जोगाण य सकमो हु वीचारे ।
तस्स य भावेण तयं सुत्ते उच्चं सवीचारं ॥१८७६॥

'अत्याण वजणाण य जोगाण य सकमो हु वीचारे' अर्थात् ये व्यञ्जना शब्दान्तेपरिमिति, वियधिकरण्येन सम्बन्ध, न पुनरर्थाना व्यञ्जनाना चेति समुच्चय । अर्थपृथक्त्वस्य पृथक्त्वशब्दान्तेनोपादानात् । योगाना च सकमो वीचार 'तस्स य भावेण' वीचारस्य सद्भावेन । 'तयं' तद्वि शुकलध्यान मूत्रे सवीचारमित्युक्त । 'अजीवकाया धर्माधर्मिकाशपुद्गला' इत्येवमादिपरिमितानेकद्रव्यप्रत्ययपरमश्रुतवाक्योद्भूत ध्यानमिति पृथग्भूतद्रव्यालम्बनत्वेन रूपेण एकद्रव्यालम्बनान् एकत्ववितर्काद्भिद्यते योगनयसहायत्वादेकयोगादविचाराद्वितीयध्यानाद्भिद्यते । उपरान्तमोहनीयस्वामिकत्वान् क्षीणकपायस्वामिकाद्विधानाद्भिद्यते । सवितर्कत्वेन अद्वितर्काम्या तृतीयश्रुत्याम्या विलक्षण । अत एव नामनिर्देशनैव ध्यानान्तरविलक्षण पृथक्त्वमवितर्कसवीचारमिति लक्षणमुक्त ॥१८७६॥

अर्थात् चौदह पूर्वों का ज्ञाता साधु ही इस शुकलध्यानको घ्याता है इससे इस प्रथम शुकलध्यानको सवितर्क कहते हैं । अर्थात् चौदह पूर्व श्रुतरूप होनेसे उनमें जो वस्तुविवेचन है उसको भी वितर्क शब्दसे कहते हैं । प्रथम शुकलध्यानमें उस अर्थश्रुतरूप वितर्कका ध्यान किया जाता है इससे उसे सवितर्क कहते हैं । अथवा श्रुतका कारण होनेसे वितर्क शब्दका अर्थ श्रुत है । ध्यान श्रुतज्ञानकी सजा है उसका कारण श्रुत है । तो अपने कारण श्रुतके साथ रहनेसे उसे सवितर्क कहते हैं ॥१८७५॥

गा०—टी०—तथा अर्थोके वाचक जो शब्द है उनके मक्रम अर्थान् परावर्तन को और योगोके परिवर्तनको विचार कहते हैं । 'अत्याण वजणाण य' का अर्थ अर्थों के और व्यजनोंके परिवर्तनको वीचार कहते हैं इस प्रकारसे समुच्चयरूप नहीं लेना चाहिये क्योंकि पृथक्त्व शब्दसे अर्थका पृथक्त्व ग्रहण किया है । इस वीचारके होनेसे इस शुकलध्यानको आगममें सवीचार कहा है ।

'अजीवकाया धर्माधर्मिकाशपुद्गला' इत्यादि परिमित अनेक द्रव्योका ज्ञान करानेमें समर्थ श्रुतके वचनोसे उत्पन्न हुआ यह ध्यान भिन्न-भिन्न द्रव्योका आलम्बन करना है अत एक ही द्रव्यका आलम्बन करनेवाले एकत्व वितर्क शुकलध्यानमें भिन्न होता है । तथा पृथक्त्व वितर्क शुकलध्यान तीनों योगोंकी सहायतासे होता है और एकत्ववितर्क एक ही योगकी सहायतामें होता है । इससे भी वह इसमें भिन्न पडता है । पृथक्त्ववितर्क शुकलध्यानका स्वामी उपशान्तमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती होता है और एकत्ववितर्कका स्वामी क्षीणकपाय गुणस्थानवर्ती होता है । इसमें भी वह इससे भिन्न है । पृथक्त्ववितर्क वितर्क सहित होता है और तीमरा तथा चतुर्थ शुकलध्यान वितर्क रहित होते हैं । अत वह तीसरे और चतुर्थ शुकलध्यानसे विलक्षण है । अत पृथक्त्ववितर्क सवीचार नामसे ही अन्य ध्यानोंमें इसकी विलक्षणता प्रकट होती है । इस प्रकार प्रथम शुकलध्यानका लक्षण कहा है ॥१८७६॥

जेणेगमेव द्रव्य जोगेणेगेण अण्णदरगेण ।

क्षीणकमाओ ज्ञायदि तेणेगत्त तय भणिय ॥१८७७॥

‘जेणेगमेव द्रव्य जोगेणेगेण अण्णदरगेण’ येनैकमेव द्रव्य अन्यतरण योगेनेकेन सह वृत्त, क्षीणकपायो ध्याति तेनैकेत्वं तद्गणित एकद्रव्यालम्बनत्वात् । अन्यतरणयोगवृत्तरेवात्मन उत्पत्तरेकत्वं ध्यान क्षीणकपाय-स्वामिक भवेत् ॥१८७७॥

जम्हा सुद वितक्क जम्हा पुव्वगदअत्थकुमलो य ।

ज्ञायदि ज्ञाणं एव सवितक्क तेण त ज्ञाणं ॥१७७८॥

अत्थाण वज्जाण य जोगाण सकमो हू वीचारो ।

तस्म अभावेण तय ज्ञाण अविचारमिति वुत्त ॥१८७९॥

एकद्रव्यालम्बनत्वेन परिमितानेकसवपर्यायद्रव्यालम्बनान् प्रथमध्यानान्तमस्तवस्तुविषयाम्ना तृतीय-चतुर्थीय्या च विलक्षणता द्वितीयस्यानया गायया निबन्दिता । क्षीणकपायग्रहणेन उपशान्तमोहस्वामि-त्वान् । सयोग्ययोगवेदलिम्बामिकास्या च भेद । सवितक्ता पूर्ववदेव । पूर्वव्यावृत्तवोचाराभावाद्-वोचारत्वं ॥१८७८-७९॥

विशेषार्थ—महापुराणके इक्कीमवे पदमे ध्यानका वर्णन करते हुए कहा है—अनेकपनेको पृथक्त्व कहते हैं और श्रुतको वितकं कहते हैं । तथा अर्थ, व्यजन और योगोंके परिवर्तनको वीचार कहते हैं । इन्द्रियोको बधने करनेवाला मुनि एक अर्थसे दूसरे अर्थको, एक वाक्यसे दूसरे वाक्यको और एक योगसे दूसरे योगको प्राप्त होता हुआ इन ध्यानको ध्याता है । यत सीनो योगोंके धारक और चौदह पूर्वोंके ज्ञाता मुनिराज इस ध्यानको करते हैं अतः प्रथम शुक्लध्यान सवितकं और सवीचार होता है । श्रुतस्वन्यरूपी समुद्रमे जितना वचन और अर्थका विस्तार है वह इम शुक्लध्यान मे ध्येय होता है और इसका फल मोहनीय कर्मका उपशम या क्षय है । यह ध्यान उपशान्त मोह और क्षीणमोह गुणस्थानमे तथा उपशमश्रेणि और क्षयकश्रेणिके शेष गुण-स्थानोंमे माना गया है ॥१८७६॥

गा०-टी०—दूसरे शुक्लध्यानका नाम एकत्ववितकं है क्योंकि इममे एक ही योगका अवलम्बन लेकर एक ही द्रव्यका ध्यान किया जाता है । अतः एक द्रव्यका अवलम्बन करनेसे इने एकत्व कहते हैं । यह ध्यान किसी एक योगमे स्थित आत्माके ही होता है । इमका स्वामी क्षीण कपाय गुणस्थानवर्ती मुनि होता है ॥१८७७॥

विशेषार्थ—यहाँ एक शब्दका अर्थ है ‘प्रधान’ और समस्त छह द्रव्योंमे प्रधान एक आत्मा ही है । सोमदेव उपानकाध्ययन (श्लोक ६२३) मे कहा है—मनमे किसी विचारके न होने हुए जब आत्मा आत्मामे लीन होना है उसे निर्जीध्यान कहते हैं । यह निर्जीध्यान एकत्ववितकं ही है । अतः एक द्रव्य और एक योगका अवलम्बन करनेसे प्रथम शुक्लध्यानमे भिन्न है ॥१८७७॥

गा०—यत श्रुतको वितकं कहते हैं और यत चौदह पूर्वगत अर्थमे शुक्ल मुनि ही इम ध्यानका ध्याता है । इममे दूसरा शुक्लध्यान सवितकं है । तथा अर्थ, व्यजन और योगोंके परि-

तृतीयध्यानमाचष्टे—

अवितक्कमवीचार सुहृमकिरियत्तघण तदियसुक्क ।

सुहमम्मि कायजोगे भणिद त सच्चभावगद ॥१८८०॥

‘अवितक्कमवीचार’ श्रुतानालम्बनत्वादवितक स्वयं श्रुतज्ञान भवतीति वा अवितक । पूर्वमालम्बो-
वृतादर्थादर्थान्तरालम्बनत्वं नाम वीचारो नास्तौत्यविचार । ‘सुहृमकिरियत्तघण’ सूक्ष्मक्रियाम्येति सूक्ष्मक्रिय
आत्ममन्वन्धनमाश्रयोऽप्येति सूक्ष्मक्रियाबन्धन तृतीयशुक्ल । ‘सुहृमम्मि कायजोगे’ सूक्ष्मवाययोगे सति प्रवृत्ते
भणित सूक्ष्मक्रियमिति । ‘त सच्चभावगद’ तृतीय शुक्लध्यान त्रिकालगोचरानन्तसामान्यविनोपात्मकद्रव्यपटक-
युगपत्प्रकाशनस्वरूप, द्रव्यपटकसमस्तस्वरूपयुगपत्प्रकाशनमेकमत्र मुखमस्येति एवमुक्ततापि विद्यत इति
ध्यानशब्दस्वार्थोऽभिमुखे विद्यते । ‘एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमित्यत्र’ मूये चिन्ताशब्दो ज्ञानसामान्यवचन । तेन
श्रुतज्ञान क्वचिद्धान्यमित्युच्यते, क्वचित्केवलज्ञान क्वचिच्छ्रुतज्ञान क्वचिन्मतिज्ञान मत्प्रज्ञान वा, यतोऽविव-
लत्वमेव ध्यान, ज्ञानस्य तस्याविवलत्व साधारण सर्वज्ञानोपयोगाना ॥१८८०॥

वर्तनको वीचार कहते हैं । उसके न होनेसे दूसरा शुक्लध्यान अवीचार कहा है ॥१८७८७९॥

विशेषार्थ—प्रथम शुक्लध्यान परिमित अनेक द्रव्यों और पर्यायोंका अवलम्बन लेता है
और दूसरा शुक्लध्यान एक ही द्रव्यका अवलम्बन लेता है । तथा तीसरे और चतुर्थ शुक्लध्यानोका
विषय समस्त वस्तु है क्योंकि केवलज्ञानका विषय सब द्रव्य और सब पर्याय है । अतः दूसरा
शुक्लध्यान शेष तीनोंमें विलक्षण है । प्रथम शुक्लध्यानका स्वामी उपशान्तमोह होता है और
दूसरेका क्षीणकपाय होता है तथा तीसरेका स्वामी सयोग केवली और चतुर्थका स्वामी अयोग
केवली होता है । अतः स्वामीकी अपेक्षा भी दूसरा शुक्लध्यान शेष तीनोंसे भिन्न है । किन्तु प्रथम
शुक्लध्यानकी तरह दूसरा भी सवितक है । और पूर्व कथित वीचारका अभाव होनेसे अवीचार
है ॥१८७८-७९॥

अब तीसरे शुक्लध्यानका स्वरूप कहते हैं—

गा०—टी०—तीसरे शुक्लध्यानका आलम्बन श्रुत नहीं है अथवा वह स्वयं श्रुतज्ञानरूप
होता है इसलिये वितकसे रहित होता है । पूर्वमें आलम्बन किये हुए अर्थको छोड़कर अर्थान्तरके
आलम्बन करनेको वीचार कहते हैं । वह भी इसमें नहीं होता । अतः यह अवीचार है । इसमें
श्वामोच्छ्रवामादिक्रिया सूक्ष्म हो जाती है । तथा यह सूक्ष्मकाययोगके होनेपर होता है इसलिये इसे
सूक्ष्मक्रिय कहते हैं । यह तीसरा शुक्लध्यान त्रिकालवर्ती अनन्त सामान्यविनोपात्मक वशों से
युक्त छह द्रव्योंको एक साथ प्रवणन करता है अतः सर्वगत है । एक साथ समस्त छह द्रव्योंके
समस्त स्वरूपको प्रकाशन करना ही इसका एकमात्र मुख होनेसे ध्यानका लक्षण ‘एकाग्रचिन्ता
निरोध’ इसमें रहता है । एकाग्रचिन्तानिरोधमें चिन्ता शब्द ज्ञान सामान्यका वाचक है । अतः
कही श्रुतज्ञानको ध्यान कहते हैं, कही केवलज्ञानको ध्यान कहते हैं, कही श्रुतअज्ञानको ध्यान
कहते हैं वही मतिज्ञान या मतिअज्ञानको ध्यान कहते हैं । क्योंकि निश्चलनाका ही नाम ध्यान
है । अतः ज्ञानकी निश्चलता सब ज्ञानोपयोगोंमें साधारण है । आशय यह है कि ज्ञानकी निश्च-
लताका ही नाम ध्यान है । अतः ध्यानका यह लक्षण सब निश्चल ज्ञानोपयोगोंमें घटित होना है ।
केवलीका ध्यान केवल ज्ञान मूलक होता है । अतः वह तो सर्वथा निश्चल ही होता है । इससे
सूक्ष्मक्रिय नामक ध्यानमें भी ध्यानका लक्षण घटित होता है ॥१८८०॥

सुहुमम्मि कायजोगे वट्टतो केवली तदियसुक्क ।

झायदि गिरुभिदु जे सुहुमत्त कायजोगपि ॥१८८१॥

‘सुहुमम्मि कायजोगे’ सूदमे काययोगे प्रवर्तमान केवली तृतीय शुक्ल ध्याति निरोद्धु तमपि सूक्ष्म वा काययोग ॥१८८१॥

अवियक्कमवीचार अणियट्टिमकिरिय च सीलेसिं ।

ज्झाण गिरुद्धयोग अपच्छिम उत्तम सुक्क ॥१८८२॥

‘अविदक्कमवीचार’ पूर्वोक्तवितर्कवीचाररहितत्वात् अवितर्कमवीचार, ‘अणियट्टि’ सफलकर्ममातनम-
कृत्वा न निवर्तत इत्यनिवर्तित। अकिरिय’ समुच्छिन्नप्राणोपानप्रचारमर्वकायवाङ्मनोयोगपरिस्फन्दनक्रियाव्यापा-
रत्वान् अक्रिय । ‘सीलेसिं’ शीलानामोश शीलेश यथान्यातचारित्र । शीलेशस्य भाव शैलेश्य, तत्सहचारि
ध्यानमपि शैलेश्य । ‘निरुद्धयोग’ अपश्चिम न विद्यते पश्चाद्भाविव्यानमस्मादित्यपश्चिम । ‘उत्तम सुक्क’
परम शुक्ल ॥१८८२॥

त पुण गिरुद्धजोगो सरीरतियणामण करेमाणो ।

सवणहु अपडिवादी ज्झायदि ज्झाण चरिमसुक्क ॥१८८३॥

‘त पुण’ तच्चतुर्थं शुक्लध्यान । निरुद्धयोग सर्वत्र अप्रतिपातिध्यान ध्याति ‘शरीरत्रिकनाश कुर्वन्,

गा०—अत सूक्ष्मकाययोगमे स्थित केवली उस सूक्ष्म भी काययोगवो रोकनेके लिये तीसरा शुक्लध्यान ध्याता है ॥१८८१॥

गा०—टी०—यह तीसरा शुक्लध्यान पूर्वोक्त वितर्क और वीचारमे रहित होनेसे अवितर्क और अवीचार होता है। समस्त कर्मों को नष्ट किये बिना समाप्त नहीं होता इसलिये अनिवर्तित है। इसमे प्राण अपान श्वास उच्छ्वासका प्रचार, समस्त काययोग मनोयोग वचन योगरूप हलन-चलन क्रियाका व्यापार नष्ट हो जाता है। इसलिये यह अक्रिय है। शीलेशे स्वामीको शीलेश कहते हैं। उसके भावको शैलेशीभाव कहते हैं वह है यथाख्यात चारित्र। उसके साथ होनेवाले ध्यानको भी शैलेशी कहा है। उनसे सब कर्मों का आसव टक जाता है अत उसे निरुद्धयोग कहा है। इसके अनन्तर कोई ध्यान नहीं होता इससे इसे अपश्चिम कहा है। तथा यह परम शुक्लध्यान है ॥१८८२॥

विशेषार्थ—शीलेशीभाव से यथाख्यात चारित्र लिया है किन्तु यथान्यात चारित्र तो ग्यारहवें बारहवें गुणस्थानमे भी होता है किन्तु उसे शैलेशी नहीं कहा। क्योंकि शैलेशीपना तीसरे शुक्लध्यानकी अवस्थासे पहले नहीं होता, इसका कारण है कर्मोंका आसव होना। तथा तीसरेके पश्चात् भी चतुर्थं शुक्लध्यान होता है फिर भी तीसरेकी विवशा भेदमे अपश्चिम कहा है ॥१८८२॥

गा०—काययोगवा निरोध वरके अयोग केवली औदारिक तैजस और कामण शरीरे

अयोगात्मपरिणाम केवलज्ञान चतुर्थशुक्ल, तृतीय तु सूक्ष्मकाययोगात्मपरिणाम केवलमिति भेदस्तृतीय-
चतुर्थया ॥१८८३॥

इय सो खवओ ज्ञाण एयग्गमणो स'मस्मिदो सम्म ।
विउलाए णिज्जराए वड्ढदि गुणसेट्ठिमारूढो ॥१८८४॥

'इय सो खवओ' एवमतौ क्षपक, एकाग्रचित्त सम्यग्ध्यान समाधित्य विपुलाया कर्मनिर्जराया वर्तते
'गुणसेट्ठिमारूढो' गुणश्रेणीमारूढ उपशान्तकपायादिका ॥१८८४॥

ध्यानमहात्म्यस्तवनाथं उत्तरप्रबन्ध —

सुचिर वि सक्किल्लिड्ढ विहरत ज्ञाणसवरविहूण ।
ज्झाणेण सवुडण्णा जिणदि अतोमुहुत्तेण ॥१८८५॥

'सुचिरमवि सक्किल्लिड्ढ विहरत' पूर्वकोटिकाल दशान क्लेशसहितचारिभोद्यत 'ज्ञाणसवरविहूण'
ध्यानारब्धेन सवरेण विहीन । 'जिणदि' जयति । क ? 'अहोरात्रमेतेण ज्ञाणेण सवुडण्णा' अहारात्रमात्रेण
ध्यानेन मवृतात्मा ॥१८८५॥

एव कसायजुद्धमि हवदि खवयस्स आउधं ज्ञाण ।
ज्झाणविहूणो खवओ 'रगेव अणाउहो मल्लो ॥१८८६॥

का नाश करता हुआ अन्तिम शुक्ल ध्यानको ध्याता है । सूक्ष्मकाय योग रूप आत्म परिणाम
वाला अयोगकेवली तीसरे शुक्ल ध्यानको ध्याता है और अयोगरूप आत्मपरिणाम वाला
अयोगकेवली चतुर्थ शुक्ल ध्यानको ध्याता है । यह तीसरे और चतुर्थ शुक्ल ध्यान में भेद
है ॥१८८३॥

विशेषार्थ—महापुराणमें कहा है—तीसरेके पश्चात् योगका निरोध करके आश्रव से रहित
अयोगकेवली समुच्छिन्न क्रिय अनिवृत्ति नामक चतुर्थ शुक्ल ध्यानको ध्याता है । एक अन्तमुहूर्त
काल तक अनिनिर्मल उम ध्यानको करके शेष चार अघातिकर्मोंका विनाशकर मोक्षको प्राप्त
होता है । अयोगकेवलीके उपान्त्य समय में वासठ और अन्तिम समय में तेरह प्रकृतियाँ नष्ट हो
जाती हैं । उसके पश्चात् वह शुद्धात्मा ऊर्ध्वगमन स्वभावके कारण एक ही समयमें लोकके अन्त
पर्यन्त जाकर सिद्धालयमें विराजमान हो जाता है ॥१८८३॥

गा०—इस प्रकार वह क्षपक एकाग्रमन से सम्यक् ध्यान को ध्याकर उपशान्त कपाय
आदि गुण स्थानों की श्रेणि पर आरूढ होकर विपुल कर्म निर्जरा करता है ॥१८८४॥

आगे ध्यानके महात्म्यको कहते हैं—

गा०—एक अन्तमुहूर्त मात्र या एक दिन रात मात्र ध्यान रूप सवरेमें युक्त मुनि, कुछ
काम एक पूर्व कोटि काल तक ध्यानरूप सवरेमें रहित तथा सकलेशमहित चारित्र्य का पालन करने
वाले नाघुमें श्रेष्ठ है ॥१८८५॥

१ समण्णियो—अ० । २ अहोरत्तमित्तेण अन्तोमुहूर्तेन कर्म जयति । अहारात्रमात्रेण ज्ञाणेण सवुडण्णा
ध्यानेन मवृतात्मा कर्मकाण्डकोर्षेण न जयति—आ० । ३ रणगावअ—आ० । जुदेव णिरावुघा होदि—म० ।

‘एव कसायबुद्धि’ कपायसंप्रहारे ध्यानमायुः क्षपकस्य भवति । ध्यानहीन क्षपक युद्धे निरायुष इव न प्रतिपन्न प्रहृत्युमल । कपायविनाशकारित्वं ध्यानस्थानया कथित ॥१८८६॥

रणभूमीए क्वच व कसायरणे तय हवे क्वचं ।

जुद्धे व गिरावरणो ज्ञाणेण विणा हवे खवओ ॥१८८७॥

‘रणभूमीए’ युद्धभूमी क्वचवत्कपाययुद्धे ध्यान क्वचो भवति । एतेन कपायपीडारक्षा करोति ध्यान-मित्वाव्यान । ध्यानाभावे दापमाचष्टे । ‘जुद्धे व गिरावरणो’ युद्धे निरावरण इव भवति ध्यानेन विना क्षपक ॥१८८७॥

ज्झापण करेइ खवयस्मोवडुमं गु हीणचेडुस्म ।

थेरस्स जहा जतरस्स कुणदि जट्टी उवट्टंभ ॥१८८८॥

‘ज्ञापण करेदि’ ध्यान करोति क्षपकस्योपष्टम्भ हीनचेष्टस्य स्वविरस्य गच्छतो यथा करोति यष्टि-स्पष्टम्भ ॥१८८८॥

मल्लस्स गेहपाण व कुणइ खवयस्स दढवल ज्ञाणं ।

ज्ञाणविहीणो खवओ रगे व अपोसिओ मल्लो ॥१८८९॥

‘मल्लस्स गेहपाण व’ मल्लस्य स्नेहपानमिव क्षपकस्य ध्यान करोति । ध्यानहीन क्षपको रङ्गे अपोपितो मल्ल इव न प्रतिपन्न जयति ॥१८८९॥

वड्ढर रदणैसु जहा गोमीसं चटण व गन्धेसु ।

वेहलिय व मणीणं तह ज्झाणं होइ खवयस्म ॥१८९०॥

गा०—टी०—इम प्रकार कपायोंके साथ युद्ध करनेमें अर्थात् कपायोंका महार करनेमें ध्यान क्षपकके लिये आयुष होना है । अर्थात् ध्यानके द्वारा कपायोंका विनाश किया जाता है । जैसे विना अस्त्रके युद्धमें शत्रुका घात करना मभव नहीं है, उसी प्रकार ध्यान हीन क्षपक कपायों को नहीं जीत सकता । इसमें ध्यानको कपायोंका विनाश करने वाला कहा है ॥१८८६॥

गा०—टी०—जैसे युद्ध भूमिमें क्वच होता है वैसे ही कपायोंसे युद्ध करनेमें ध्यान क्वचके समान है । इसमें कहा है कि ध्यान कपायसे रक्षा करता है । ध्यानके अभावमें दोष कहते हैं । जैसे युद्ध में क्वचके विना योद्धा होता है वैसे ही ध्यान के विना क्षपक होता है । अर्थात् युद्धमें विना क्वचके योद्धाको जो स्थिति है वही स्थिति ध्यानके विना क्षपक की होती है । वह भी उसी की तरह मारा जाता है ॥१८८७॥

गा०—जैसे चलनेमें अममर्थं वृद्ध पुत्र्यको गमन करते समय लाठी महायक होती है वैसे ही अममर्थं क्षपकका महायक ध्यान होना है ॥१८८८॥

गा०—जैसे दुग्धपान मल्ल पुरुषके बलको दृढ करता है वैसे ही ध्यान क्षपककी शक्ति को दृढ करता है । जैसे अयुष्ट मल्ल अन्धाडैमें हार जाता है वैसे ही ध्यानमें रहिन क्षपक कपायोंमें हार जाता है ॥१८८९॥

'वैर रदणेषु जथा' यथा रत्नेषु वज्र गन्धद्रव्येषु गोशीर्षं चन्दन । भणियु वैडूर्यमिव क्षपकस्य ध्यान सर्वेषु दर्शनचरित्रतपस्तु सारभूत ॥१८९०॥

ज्ञाणं किलेमसावदरक्खा रक्खाव भावदभयम्मि ।

ज्ञाण किलेसवसणे मित्त मिच्चेव वसणम्मि ॥१८९१॥

'ज्ञाणं किलेससावदरक्खा' ध्यान दु खस्वापदानां रक्षा, स्वापदभये रक्षेव ध्यान क्लेशान्यसने मित्र, व्यसने मित्रमिव ॥१८९१॥

ज्झाण कसायवादे गब्भधरं मारुदेव गब्भधरं ।

ज्ञाण कसायउण्हे छाही छाहीव उण्हम्मि ॥१८९२॥

ज्ञाण कसायडाहे होदि वरदहो दहोव डाहम्मि ।

ज्ञाण कमायसीदे अग्गी अग्गीव सीदम्मि ॥१८९३॥

ज्ञाण कमायपरचक्कभए बलवाहणङ्गओ राया ।

परचक्कभए बलवाहणङ्गओ होइ जह राया ॥१८९४॥

ज्ञाण कसायरोगेसु होदि वेज्जो तिगिच्छदे कुसलो ।

रोगेसु जहा वेज्जो पुरिमस्स तिगिच्छओ कुसलो ॥१८९५॥

ज्ञाण विसयच्छुहाए होइ य छुहाए अण्णं वा ।

ज्ञाण विसयतिसाए उदय उदयं व तण्हाए ॥१८९६॥

स्पष्टार्थोत्तरयाथा ॥१८९२॥१८९३॥१८९४॥१८९५॥१८९६॥

गा०—जैसे रत्नोमें हीरा, सुगन्धित द्रव्योमें गोशीर्षं चन्दन और भणियोमें वैडूर्यमणि सारभूत है । वैसे ही क्षपकके दर्शन चारित्र और तपमें ध्यान सारभूत है ॥१८९०॥

गा०—जैसे हिमक जन्तुओंसे भय होने पर उनसे रक्षा वचाव करती है वैसे ही ध्यान दु खरूपी हिमक जन्तुओंसे रक्षा करता है । तथा जैसे सकट में मित्र सहायक होता है वैसे ही दु खरूपी सकटमें ध्यान महायक होता है ॥१८९१॥

गा०—जैसे गर्भगृह वायुसे रक्षा करता है वैसे ही ध्यान कपायरूपी वायुके लिये गर्भगृह है । जैसे घामसे बचनेके लिये छाया है वैसे ही कपायरूपी घामसे बचावके लिये ध्यान छायाके समान है ॥१८९२॥

गा०—जैसे दाहके लिये उत्तम सरोवर है वैसे ही कपायरूप दाहके लिये ध्यान उत्तम सरोवर है । जैसे शीतमें बचावके लिये आग है वैसे कपायरूपी शीतसे बचावके लिये ध्यान आग के समान है ॥१८८३॥

गा०—जैसे मेना और वाहनोसे समृद्ध राजा शत्रु मेनाके आक्रमणके भयसे रक्षा करता है वैसे ही कपायरूपी शत्रु मेनाका भय दूर करनेके लिये ध्यान बल वाहनमें समृद्ध राजाके समान है ॥१८९४॥

इय ज्ञायतो खवओ जइया परिहीणवापिओ होइ ।

आराधणाए तइया इमाणि लिगाणि ढंसेई ॥१८९७॥

‘इय ज्ञायतो खवओ’ एव ध्यानेन प्रवर्तमान क्षपक । यदा वक्तुमसमर्थो भवति तदा ‘आराधणाए’ रत्नत्रयपरिणतेरात्मनो लिङ्गानीमानि दर्शयति ॥१८९७॥

हुकारजलिभमुहगुलीहिं अञ्छीहिं वीरमुट्टीहि ।

सिचरालणेण य तहा सण्ण दावेदि सो खवओ ॥१८९८॥

‘हु कारजलिभमुहगुलीहिं अञ्छीहिं’ हुकारेण वा अञ्जलिरचनया, भ्रूक्षणेण, अञ्जुलिपञ्चकदर्शनेन उप-
देष्टार प्रति प्रसन्नतया(त्रया) दृष्टया किं समाहितचित्तोऽमीत्युक्ते गिर कम्पनेन सज्ञा दर्शयति क्षपक ॥१८९८॥

तो पडिचरया खवयस्स दिति आराधणाए उवओग ।

जाणति सुदरहस्सा कदसण्णा कायसवएण ॥१८९९॥

‘तो पडिचरया’ तत प्रतिचारकास्तस्य क्षपकस्याराधनायामुपयोग जानन्ति श्रुतरहस्या क्षपकेण वृतसक्तेता । ज्ञाणति ॥१८९९॥

लेश्याया सबन्ध करोति—

इय समभावमुवगदो तह ज्ञायतो पसत्तज्ञाण च ।

लेस्साहिं विसुज्झंतो गुणसेटिं सो समारुहदि ॥१९००॥

गा०—जंमे वैद्य पुरूपके रोगो की चिकित्सा मे कुशल होता है वैसे ही ध्यान कपायटपी रोग की चिकित्सा करने मे कुशलवैद्य है ॥१८९५॥

गा०—जैसे अन्न भूखको दूर करता है वैसे ही विषयोकी भूख दूर करनेके लिये ध्यान अन्नके समान है । तथा जैसे प्यास लगने पर पानी उमे दूर करता है वैसे ही विषयरूपी प्यासके लिये ध्यान पानीके समान है ॥१८९६॥

गा०—इस प्रकार ध्यानमे सलग्न क्षपक जब बोलनेमे असमर्थ होता है तब मैं रत्नत्रयमे मलग्न हूँ यह बात आगे कहे चिन्होमे प्रकट करता है ॥१८९७॥

गा०—निर्यापकाचार्यके पछनेपर कि तुम्हारा चित्त सावधान है, वह क्षपक हुकारसे, हाथों की अजुलि द्वारा, या भाँ के सचालनसे अथवा पाँचों अँगुलियोकी मुट्टी बनाकर या गिर हिलाकर प्रसन्न दृष्टिसे सकेत करता है ॥१८९८॥

गा०—तब क्षपकके द्वारा पहलेमे ही सकेत ग्रहण करने वाले और आगमक रहस्यको जानने वाले परिचारक मुनिगण यह जान लेते हैं कि क्षपकका उपयोग आराधनामे है ॥१८९९॥

विशेषार्थ—क्षपक पहले ही बह रखता है या परिचारक पहले ही क्षपकसे कह देते हैं कि बोलनेमे असमर्थ होनेपर मैं अपनी परिणतिको हुकार आदि मक्केनामे बह दूंगा ॥१८९९॥

आगे क्षपककी लेश्याविशुद्धिका कथन करते हैं—

गा०—इस प्रकार समताभावको प्राप्त वह क्षपक प्रगस्त ध्यान ध्याना है और विशुद्ध

‘इयं समभावमुबगदो’ एव समचित्तता गतं प्रगस्तध्यानं “वर्तयेन्, लेश्यानिर्विगुडगुणश्रेणी-
मारोहति ॥१९००॥

जह बाहिरलेस्साओ किण्हादीओ इवति पुरिसस्म ।

अभंंतरलेस्साओ तह किण्हादी य पुरिसस्स ॥१९०१॥

किण्हा णीला काओ लेस्साओ तिण्णि अप्पसत्थाओ ।

पजहइ विरायकरणो सवेगमणुत्तरं पत्तो ॥१९०२॥

जह बाहिरलेस्साओ’ वृष्णनीलकापोतास्वेति तित्त अग्रस्तथा प्रजहाति ईराग्यभावतावान् ससार-
भोक्ता परामुपागत ॥१९०१-१९०२॥

लेश्यापूर्वक अर्थात् क्रमसे पीत, पद्म और शुक्ल लेश्यारूप परिणमन करता हुआ गुणश्रेणिपर
अर्थात् उपशम या क्षपक श्रेणिपर आरोहण करता है ॥१९००॥

गा०—जैसे पुरुषके शरीरमें कृष्ण वादि द्रव्य लेश्या—शरीरका रंग काला गोरा होता
है । वैसे ही अभ्यन्तरमें कृष्ण वादि भावलेश्या होती है ॥१९०१॥

विशेषार्थ—लेश्याके दो भेद हैं—द्रव्यलेश्या और भावलेश्या । मिथ्यात्व आदिके कारण
जीवके जो तीव्रतम आदि भाव होते हैं वह भावलेश्या है । आगममें कहा है कि मिथ्यात्व, अवि-
रति, कपाय और योगसे प्राणियोंके जो संस्कार होते हैं वह भावलेश्या है । लेश्या छह हैं—कृष्ण,
नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल । इनमेंसे प्रारम्भकी तीन लेश्या अशुभ हैं और शेष तीन शुभ हैं ।
अशुभ लेश्याओंमें तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम रूपमें तथा शुभलेश्याओंमें मन्द, मन्दतर और
मन्दतमरूपसे हानिवृद्धि होती रहती है । जैसे अशुभ लेश्याओंमें कापोत लेश्या तीव्र है, नीललेश्या
तीव्रतर है और कृष्णलेश्या तीव्रतम है । इसी तरह शुभलेश्याओंमें पीतलेश्या मन्द, पद्मा मन्दतर
और शुक्ला मन्दतम है । उदाहरणके रूपमें जो व्यक्ति फलसे भरे वृक्षको जड़में काटकर फल
खाना चाहता है उसके कृष्णलेश्या है । जो जड़को छोड़ केवल तना काटकर फल खाना चाहता
है उसके नीललेश्या है । जो एक शाखा काटकर फल खाना चाहता है उसके कापोत लेश्या है ।
जो एक उपशाखा तोड़कर फल खाना चाहता है उसके पीतलेश्या है । जो केवल फल ही तोड़कर
खाना चाहता है उसके पद्मलेश्या है । और जो जमीनपर गिरे हुए फलोंको ही उठाकर खाना
चाहता है उसके शुक्ललेश्या होती है । जो रागी, द्वेषी, अनन्तानुदन्धी क्रोध मान माया लोभसे
युक्त है, निर्दय है, कलहप्रिय है, मद्य मासके भवनमें आसक्त है वह कृष्णलेश्या वाला होता है ।
जो घमण्डी, मायावी, विषयलम्पट, अनेक प्रकारकी परिग्रहमें आसक्त प्राणी है वह नीललेश्यावाला
होता है । जो परकी निन्दा और अपनी प्रशंसा करता है, अपनी प्रशंसासे प्रसन्न होता है, फिर
हानि लानेको भी नहीं देखना, लडाई होनेपर मरने मारनेको तैयार रहता है वह कापोतलेश्या
वाला है । जो सर्वत्र समदृष्टि है कृत्य अकृत्य, हित अहितको जानता है दयादानका प्रेमी है वह
पीतलेश्यावाला होता है । जो त्यागशील, क्षमाशील, भद्र और माधुजनीवी पूजामें तत्पर रहता
है वह पद्मलेश्यावाला होता है । जो माया और निदान नहीं करता, गार्हस्थ्य नहीं करता वह
शुक्ल लेश्यावाला है ॥१९०१॥

तेओ पम्मा सुक्का लेस्माओ तिण्णि वि दु पसत्थाओ ।

पडिवज्जेइ य कममो सवेगमणुत्तर पत्तो ॥१९०३॥

‘तेओ पम्मा सुक्का’ तेज पञ्चगुल्लेश्या प्रतिपद्यते परिपाटथा ॥१९०३॥

एदेमि लेस्साण विसोघण पडि उवकमो इणमो ।

सन्वेसिं सगारणं विवज्जणं सन्वहा होइ ॥१९०४॥

‘एदेसिं लेस्साण’ एतामा गुमलेस्याना शुद्धिं प्रत्ययमुपक्रमं बाह्याभ्यन्तरसर्वपरिग्रहत्याग ॥१९०४॥

लेस्सासोधी अज्झवमाणविसोधीए होइ जीवस्म ।

अज्झवमाणविसोधी मदकसायस्म णादन्वा ॥१९०५॥

‘लेस्सासोधी’ लेश्याना शुद्धि । ‘अज्झवमाणविसोधीए होइ’ परिणामविशुद्धया भवति । ‘अज्झव-
माणविसुद्धो’ परिणामविशुद्धिश्च । ‘मदकसायस्स’ मन्दकपायस्य भवतीति ज्ञानव्या ॥१९०५॥

कपायाणा मन्दता कथमित्यात्राह—

मदा हुति कमाया वाहिरसगविजडस्म सन्वस्स ।

गिणहड कसायणुह्लो चेव हु सन्वपि गथकलिं ॥१९०६॥

‘मदा हु ति कसाया’ कपाया मन्दा भवन्ति, वृत्तवाह्यभगपरित्यागस्य । कपायबहुल एवाय सर्वो जीव
सर्वे ग्रन्थकलिं गृह्णाति ॥१९०६॥

जह इघणेहिं अग्गी वट्टइ विज्झाइ इधणेहिं विणा ।

गधेहिं तह कसाओ वट्टइ विज्झाइ तेहिं विणा ॥१९०७॥

वही कहते हैं—

गा०—क्षपक कृष्ण, नील, कापोत, इन तीन अग्रदास्त लेश्याओको त्यागकर वीरग्य
भावनासे युक्त होता है और ससारसे अत्यन्त भयभीत रहता है ॥१९०३॥

गा०—तथा पीत, पद्म, गुकल, इन तीन प्रदास्त लेश्याओको क्रमसे स्वीकार करके उत्तृष्ट
सवेगभावको धारण करना है ॥१९०३॥

गा०—इन लेश्याओकी विशुद्धिका उपक्रम यह है कि समस्त परिग्रहोंका सर्वथा त्याग
होता है अर्थात् परिग्रहके त्यागसे लेश्यामे विशुद्धि आती है ॥१९०४॥

गा०—परिणामोंकी विशुद्धि होनेसे लेश्याकी विशुद्धि होती है । और जिसकी कपाय मन्द
है उसके परिणामोंमे विशुद्धि होती है ॥१९०५॥

गा०—कपायोंकी मन्दता कैसे होती है, यह बतलाते हैं—

जो बाह्य परिग्रहका त्याग करता है उसकी कपाय मन्द होती है । जिसकी कपाय तीव्र
होती है वही सप्त परिग्रहरूप पापको स्वीकार करता है ॥१९०६॥

'जह इधणेह् अगो' इन्धनैर्ययाग्निर्वद्धंते तैविना प्रशाम्यति । प्रन्धैस्तथा कपायो वद्धंते, तैविना मन्दो भवति ॥१९०७॥

जह पत्थरो पडंतो खोमेड दहे पसण्णमवि पक ।

खोमेड पसण्णमवि कमाय जीवस्म तह गथो ॥१९०८॥

'जह पत्थरो पडंतो' यथा पापाण पतन् हृदे प्रशान्तमपि पक्कं क्षीभयति, तथा जीवस्य कपाय प्रन्धा क्षीभयन्ति ॥१९०८॥

अब्भतरसोधीए गधे णियमेण वाहिरे चयदि ।

अब्भतरमइलो चेव वाहिरे गेण्हदि हु गधे ॥१९०९॥

'अब्भतरसोधीए' अभ्यन्तरगुद्धया नियमेन बाह्यान्परिग्रहास्त्यजति, अभ्यन्तरमलिन एव बाह्यान् गृह्णाति परिग्रहान् ॥१९०९॥

अब्भतरसोधीए वाहिरसोधी वि होदि णियमेण ।

अब्भतरदोसेण हु कुणदि णरो वाहिरे दोसे ॥१९१०॥

'अब्भतरसोधीए' अभ्यन्तरगुद्धया बाह्यगुद्धिनियमेन भवति । अभ्यन्तरदोषेणैव बाह्यान्नायगतान् दोषान् करोति ॥१९१०॥

जध तडुलस्स कोण्डयसोधी सतुसस्स तीरदि ण कादु ।

तह जीवस्म ण मक्का लिस्सासोधी ससगम्स ॥१९११॥

'जह तडुलस्स' यथा तन्दुलस्य अभ्यन्तरमलगुद्धि कर्तुं न शक्यते बाह्यतुपसहितस्य । तथा जीवस्य न शक्या विदग्धाशुद्धि नतु सपरिग्रहस्य ॥१९११॥

इत उत्तर लेखाश्रयेणाराधनाविकल्पो निरूप्यते—

सुक्काए लेस्साए उक्कस्स अंसय परिणमिच्चा ।

जो मरदि सो हु णियमा उक्कस्साराधओ होई ॥१९१२॥

गा०—जैसे ईंधनसे आग बढ़ती है और ईंधनके अभावमें बुझ जाती है वैसे ही परिग्रहसे कपाय बढ़ती है और परिग्रहके अभावमें मन्द हो जाती है ॥१९०७॥

गा०—जैसे जलमें पत्थर फेंकनेसे नीचे बैठे हुए कोचड़ ऊपर आ जाती है । वैसे ही परिग्रहसे जीवकी दबी हुई कपाय उदयमें आ जाती है ॥१९०८॥

गा०—अन्तरगमें कपायकी मन्दता होनेपर नियमसे बाह्य परिग्रहका त्याग होता है । अभ्यन्तरमें मलिनता होनेपर ही जीव बाह्य परिग्रहोंको ग्रहण करना है ॥१९०९॥

गा०—अभ्यन्तरमें विगुद्धि होनेपर बाह्य विगुद्धि नियमसे होती है । अभ्यन्तरमें दोष होनेसे ही मनुष्य शारीरिक दोष करेगा है ॥१९१०॥

गा०—जैसे बाह्यमें तुप (छिलका) रहते हुए चावलकी अभ्यन्तर गुद्धि मभव नहीं है । वैसे ही परिग्रही जीवके लेखाकी विगुद्धि मभव नहीं है ॥१९११॥

'सुक्काए लेस्साए' शुक्ललेश्याया उत्कृष्टाण परिणतो यो मृतिमुपैति स नियमादुत्कृष्टाराधको भवति ॥१९१२॥

खाइयदसणचरण खओवसमियं च णाणमिदि मग्गो ।
तं होड खीणमोहो आराहिता य जो हु अरहत्तो ॥१९१३॥
जे सेमा सुक्काए दु असया जे य पम्मलेस्साए ।
तन्लेस्सापरिणामो दु मज्झिमाराधणा मरणे ॥१९१४॥

'जे सेमा सुक्काए दु असया' उत्कृष्टाशादन्ये ये शुक्ललेश्याया अशा ये चापि पद्मलेश्याया अशा तत्र परिणामो मरणे मध्यमाराधना ॥१९१३॥१९१४॥

तेजाए लेस्साए ये असा तेसु जो परिणमित्ता ।
काल करेड तस्स हु जहणियागघणा भणिदा ॥१९१५॥

'तेजोए लेस्साए' तेजोलेश्याया ये अशास्तेषु परिणतो यदि काल क्षुर्यात् तस्य जघन्याराधना भवति ॥१९१५॥

जो जाए परिणमित्ता लेस्साए सजुदो कुणड काल ।
तन्लेमो उववज्जइ तन्लेसे चैव सो सग्गे ॥१९१६॥

'जो जाए' यो यथा लेश्याया परिणतः कालं करोति, स तल्लेश्य एवोपजायते, तल्लेश्यासमन्विते स्वर्गे ॥१९१६॥

अध तेउपउमसुक्कं अदिच्छिदो णाणदसणममग्गो ।
आउक्खया दु सुद्धो गच्छदि सुद्धिं चुपकिलेमो ॥१९१७॥

आगे लेश्या के आश्रयसे आराधनाके भेद कहते हैं—

गा०—जो क्षपक शुक्ललेश्याके उत्कृष्ट अंश रूपसे परिणत होकर मरण करता है वह नियममे उत्कृष्ट आराधक होता है ॥१९१२॥

गा०—क्षाधिक सम्पत्त्व, यथाख्यात चारित्र और क्षायोपगमिक ज्ञानकी आराधना करके क्षीणमोह होता है और वह बारहवें गुणस्थानवर्ती क्षीणमोह तदनन्तर अरहत्स होता है ॥१९१३॥

गा०—शुक्ललेश्याके दोष मध्यम और जघन्य अंश तथा पद्मलेश्याके उत्कृष्ट मध्यम और जघन्य अंश रूपसे परिणत होकर मरण करने वाला क्षपक मध्यम आराधक होता है ॥१९१४॥

गा०—तेजोलेश्याके अंशरूपसे परिणत होकर यदि मरण करता है तो वह जघन्य आराधक होता है ॥१९१५॥

गा०—जो क्षपक जिन लेश्यारूपसे परिणत होकर मरण करता है वह उसी लेश्यावाले स्वर्गमे उसी लेश्यावाला ही देव होता है ॥१९१६॥

गा०—जो पीत पद्म और शुक्ललेश्याको भी छोड़कर लेश्यारहित अयोग अवस्थाको प्राप्त होना है वह सम्पूर्ण केवलज्ञान और केवल दर्शनसे युक्त होकर आयुका क्षय होनेपर मोक्ष प्राप्त

'अथ तेजपुत्रमुक्त्वा' अथ तेज पद्यशुक्ललेइया अतिक्रान्त अल्पेभ्यतामुपगत ज्ञानदर्शनसमग्र आयुष
शयात् सिद्धिं गच्छति कर्मलेपापगमाद्विसुद्धो निरस्तारोपक्लेशः । लेस्मेति ॥१९१७॥

एवं सुभाविदप्पा ज्ञाणोवगओ पसत्थलेस्साओ ।

आराधणापढाय हरइ अविग्घेण सो खवओ ॥१९१८॥

'एव सुभाविदप्पा' एव सुष्ठु भावितात्मा ध्यानमुपगत प्रशस्तभेद्यापरिणत आराधनापताका
हरत्यविघ्नेन ॥१९१८॥

तेलोक्कमव्वसारं चउगइससारदुक्खणासयर ।

आराहण पवण्णो सो भयव मुक्खपडिमुल्ल ॥१९१९॥

'तेलोक्कमव्वसार' श्र्लोक्ये सर्वस्मिन्मारभूता चतुर्गतिस्सारदु खनाशरणीमाराधना प्रपन्नोऽग्नी
भगवान् मोक्षप्रतिमौल्य ॥१९१९॥

एवं जथाक्खादविधिं यपत्ता सुद्धदमणचरिणा ।

केइ खवति खवया मोहावरणतरायाणि ॥१९२०॥

'एव जथाक्खादविधिं' एव यथाख्यातविधिं संप्रप्ता शुद्धदर्शनचारित्र्या नेचित्क्षपका पातित्कर्माणि
क्षपयन्ति ॥१९२०॥

केवलकप्प लोमं सपुण्णं द्रव्यपज्जयविधीहिं ।

ज्जायता एयमणा जहति आराहया देह ॥१९२१॥

'केवलकप्प' केवलज्ञानस्य परिच्छेद्यत्वेन योग्य लोक सपूर्णं द्रव्यपर्यायविकल्पं परिच्छिन्दन्त जहति ते
स्वदेह ॥१९२१॥

करता है । वह समस्त कर्मलेपके चले जानेसे विशुद्ध होता है तथा समस्त क्लेशोसे छूट जाता
है ॥१९१७॥

गा०—इस प्रकार वह क्षपक अच्छी तरहसे आत्माकी भावना भाकर प्रशस्त लेइयापूर्वक
ध्यान करके, किमी किधन वाघाके बिना आराधना पताकाको धारण करता है ॥१९१८॥

गा०—वह भगवान् सीने लोकोमे सारभूत तथा चार गतिरूप ससारके दु खोका नाश
करनेवाली आराधनाको प्राप्त करता है जो उस मोक्षका प्रतिमूल्य है अर्थात् आराधनारूपी मूल्य
प्रदान करके ही मोक्षको खरीदा जा सकता है ॥१९१९॥

गा०—इस प्रकार कोई-कोई चरमशरीरी क्षपक यथाख्यात चारित्रकी विधिके द्वारा शुद्ध
सम्यग्दर्शन और चारित्रको प्राप्त करके मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मोका
क्षय करते हैं ॥१९२०॥

गा०—केवलज्ञानके द्वारा जाननेके योग्य सम्पूर्ण लोकको द्रव्य पर्यायोंके भेदोंके साथ
एकाग्रमनमे जानते हुए आराधक अपना शरीर छोडते हैं ॥१९२१॥

सञ्चुककम जोग जुजता दसणे चरित्ते य ।

कम्मरयविप्पमुक्का हवति आराधया मिद्धा ॥१९२२॥

‘सञ्चुककस्स’ सर्वोत्कृष्ट दर्शनचारित्रयोयोग प्रतिपद्यमाना कर्मरजोभ्यो विप्रमुक्ता आराधका सिद्धा भवन्ति ॥१९२२॥

इयमुक्कस्मियमाराधणमणुपलित्तु केवली भविया ।

लोगग्गसिहरवासी हवति सिद्धा धुयकिलेमा ॥१९२३॥

‘इय उक्कस्सिय’ एवमुत्कृष्टामाराधनामनुपाल्य केवलिनो भूत्वा निरस्तकलेगा लोकाप्रणिखरधासित सिद्धा भवन्ति ॥१९२३॥

अह सावसेसकम्मा मलियकमाया पणट्टमिच्छता ।

हासरइअरइभयसोगदुगुछावेयणिम्महणा ॥१९२४॥

‘अह सावसेसकम्मा’ अप मादशेषकर्माणो मयितकपाया’ प्रणष्टमिष्यात्वा हास्यरत्तरतिमयशोकजुगुप्सा-
वेदविकमपना ॥१९२४॥

पचसमिदा तिगुत्ता सुसवुडा मव्वमगउम्मुक्का ।

धीरा अदीणमणसा समसुहदुक्खा असंमूढा ॥१९२५॥

‘पचसमिदा’ समितिपचकोपेता गुप्तित्रयोपेता सुसवुता अपाहृतसर्वमगा धीरा अशीनमनन’ ममसुख-
दुःखा असमूढा ॥१९२५॥

सव्वसमाघाणेण य चरित्तजोगो अधिद्धदा मम्मं ।

धम्मं वा उवजुत्ता ज्झाणे तह पढमसुक्के वा ॥१९२६॥

‘सव्वसमाघाणेण’ सर्वेण समाधानेन चारित्र्ये सम्यग्बन्धिता धर्मध्याने प्रथमसुक्के वा
उपमुक्ता ॥१९२६॥

गा०—सर्वसे उल्लूष्ट अर्थात् क्षायिक सम्पद्गर्भं और क्षायिक सम्पद् चारित्र्यको प्राप्त करके वे आराधक कर्मरूपी रज्जमे अर्थात् शेष चार अघाति कर्मोंमें छूटकर सिद्ध हो जाते हैं ॥१९२२॥

गा०—इस प्रकार उल्लूष्ट आराधनाका पालन करके केवलज्ञानी होकर सम्पूर्ण क्लेशोंमें छूट जाते हैं और लोकके शिखर पर विराजमान होते हैं ॥१९२३॥

गा०—जिन्नु जिनके कर्मबन्धन शेष रहना है वे मिष्यात्वको नष्ट करके तथा वपायोका और हास्य रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, तीनों वेदोका भयन करके, पाँच ममिति और तीन गुणियोंके द्वारा सम्यक् रूपमें स्वर करके समस्त परिश्रममें रहित होकर धीरतापूर्वक, मनमें दोनताका भाव नहीं लाते । मोहरहित होकर मुख और दुःखमें ममभाव रमते हैं । मन, वचन, वायको ममाहित करके चारित्र्यमें सम्यक्निष्ठ रहते हैं तथा धर्मध्यान या प्रथम सुबलध्यानमें उपयोग लगाने हैं ॥१९२४-२६॥

इय मज्झिममाराधणमणुपालित्ता सरीरपजहित्ता ।

हुति अणुत्तरवामी देवा सुविमुद्धलेस्सा य ॥१९२७॥

'इय मज्झिम' एव मध्यमाराधनामनुपाल्य शरीर त्यक्त्वा विशुद्धलेद्याधरा अनुत्तरवामिनो देवा भवन्ति ॥१९२७॥

दसणणाणचरित्ते उक्किट्ठा उत्तमोपघाणा य ।

इरियावहपट्टिवण्णा हवति लवसत्तमा देवा ॥१९२८॥

'दसणणाणचरित्ते' सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्येषु उत्कृष्टा उत्तमाभिग्रहा ईर्ष्यापथ प्रपन्ना लवसत्तमा देवा भवन्ति ॥१९२८॥

कल्पोवगा सुरा ज अचछरसहिया सुह अणुहवति ।

तत्तो अणतगुणिद सुह दु लवमत्तमसुराण ॥१९२९॥

'कल्पोवगा सुरा ज' कल्पोपपन्ना सुरा अप्मरोभिस्सहिता यत्सुखमनुभवन्ति ततोऽप्यनन्तगुणित लवसत्तमदेवाना ॥१९२९॥

णाणम्मि दसणम्मि य आउत्ता सजमे जहक्खादे ।

वड्ढिटतवोवघाणा अवहियलेस्सा सददमेव ॥१९३०॥

'णाणम्मि दसणम्मि य' ज्ञानदर्शनयोर्घोर्यास्याते च सयमे आयुक्ता वड्ढिततपोऽभिग्रहा सतत विशुद्धलेद्या क्षपका ॥१९३०॥

पजहिय सम्म देह सदद सब्वगुणावड्ढिटिदगुणड्ढा ।

देविदचरमठाण लहति आराधया खवया ॥१९३१॥

'पजहिय देह' विहाय देह सम्यक्प्रदा सर्वगुणवर्धितगुणाढ्या देवेन्द्रचरपस्थान लभन्ते ॥१९३१॥

गा०—इस प्रकार मध्यम आराधनाका पालन करके शरीर त्याग कर विशुद्ध लेद्याके धारक अनुत्तरवामी देव होते हैं ॥१९२७॥

गा०—वे मध्यम आराधनाके पालक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और मन्मक्चारित्र्यमे उत्कृष्ट होने हैं। अर्थात् कल्पोपपन्न देवोमे उत्पन्न कराने वाले रत्नत्रयके आराधकोसे उत्कृष्ट होते हैं। उनकी तपश्चर्या उत्तम होती है, वे ईर्ष्यापथ आसक्तके धारी होते हैं अर्थात् कर्पायरहित कायकी क्रियासे होनेवाला शुभास्रव ही उनके होता है। वे मरकर लवसत्तम अर्थात् भ्रूवेयक या अनुदिश विमानवासो देव होते हैं ॥१९२८॥

गा०—कल्पवासी देव अपनी देवागनाओंके साथ जिस सुखको भोगते हैं उससे अनन्तगुणा मुख अहमिन्द्रदेव भोगते हैं ॥१९२९॥

गा०—जो क्षपक ज्ञान दर्शन और यथाग्यान चारित्र्यमे लीन रहते हैं, अपनी तपश्चर्याको निगन्तर वडाते हैं, वे विमुद्ध लेद्यावाले होते हैं ॥१९३०॥

गा०—वे आराधक क्षपक सम्यक् भावना पूर्वक शरीर त्यागकर अनन्तगुणी अणिमा आदि ऋद्धियोंसे सम्पन्न उपरिम स्वर्गमे स्थान प्राप्त करते हैं ॥१९३१॥

सुयभक्तीए विसुद्धा उग्गतवणियमजोगससुद्धा ।
 लोगतिया सुरवरा हवति आराधया वीरा ॥१९३२॥
 जावदिया रिद्धिजो हवति इदियगदाणि य सुहाणि ।
 ताड लहति ते आगमेसिं भदा सया खवया ॥१९३३॥

‘जावदिया रिद्धीओ’ यावन्त्य ऋद्धयो भवन्ति यावन्तीन्द्रियसुखानि च भवन्ति तानि सर्वाणि लप्स्यन्ते भद्रात्पया क्षपका ॥१९३२-१९३३॥

जे वि हु जहणिय तेउलेस्ममाराहणं उवणमति ।
 ते वि हु सोघम्माइसु हवति देवा ण हेट्टिन्ला ॥१९३४॥

‘जे वि हु जहणिय’ जेऽपि जघन्यामाराधना तेजोलेस्याप्रवृत्तामुपभन्ति तेऽपि सोघमादिषु देवा भवन्ति, नाघोभाविनो देवा ॥१९३४॥

किं जपिएण बहुणा जो सारो केवलस्स लोगस्म ।
 त अचिरेण लहते फासित्ताराहण णिहिलं ॥१९३५॥

‘किं जपिएण बहुणा’ किं बहुनोक्तं यत्तद्वैस्यास्य लोकस्य सारभूत तदचिरेण लभन्ते आराधना प्रपन्ना ॥१९३५॥

भोगे अणुत्तरे भुंजिऊण ततो बुदा सुमाणुस्से ।
 इडिद्धीमतुलं चइत्ता चरति जिणदेमिय घम्म ॥१९३६॥

‘भोगे अणुत्तरे’ भोगानुत्कृष्टान् भुक्त्वा स्वर्गच्युता मनुष्यभवेऽपि प्राप्य सकलामृद्धिं ता च त्यक्त्वा जिनाभिहितं धर्मं चरन्ति ॥१९३६॥

गा०—श्रुतभक्तिसे विसुद्ध, उप्रतप, नियम और आतापन आदि योगसे शुद्ध धीर आराधक लोकान्तिक देव होते हैं ॥१९३२॥

गा०—जितनी ऋद्धियाँ हैं और जितने भी इन्द्रिय सुख हैं उन सबको भद्रपरिणामी क्षपक आगामी कालमें प्राप्त करते हैं ॥१९३३॥

गा०—तेजोलेस्यासे युक्त जो क्षपक जघन्य आराधना करते हैं वे भी सौघर्म आदि स्वर्गमें देव होते हैं, नीचेके देव नहीं होते। अर्थात् भवनत्रिक्रमे जन्म नहीं लेते ॥ १९३४॥

गा०—अधिक कहनेसे क्या ? जो भगवन्त लोकका सारभूत है उस सबको आराधना करने वाले शीघ्र ही प्राप्त कर लेते हैं ॥१९३५॥

गा०—स्वर्गके उत्कृष्ट भोगको भोगकर स्वर्गसे च्युत होनेपर मनुष्य भवमें जन्म लेते हैं और वहाँ भी समस्त ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं। फिर उसे त्यागकर जिन भगवान्के द्वारा वह बड़े हुए धर्मका पालन करते हैं ॥१९३६॥

सदिमंतो धिदिमंतो सद्दासवेगवीरियोवगया ।

जेदा परीसहाणं उवसग्गाणं च अभिभविय ॥१९३७॥

‘सदिमंतो’ स्मृतिमन्त घृतिसमन्विता श्रद्धामवेगवीर्यमहिता परीपहाणा विजेतार उपमर्गाणामभि-
भवितार ॥१९३७॥

इय चरणमधक्खादं पडिवण्णा सुद्धदसणमुवेदा ।

सोधिंति ज्ञाणज्जा लेस्साओ संकिलिट्ठाओ ॥१९३८॥

‘इय चरणमधक्खादं’ एव यथाख्यातचारित्र्य प्रतिपत्ता शुद्धदर्शनमुपगता ध्यानयुक्ता सविलप्टदेश्या
विनाशयन्ति ॥१९३८॥

सुक्क लेस्समुवगदा सुक्कज्झाणैण खविदसंसारा ।

उग्गुक्ककम्मकवया उर्विति सिद्धिं घुदकिलेसा ॥१९३९॥

‘सुक्क लेस्समुवगदा’ शुक्ललेश्यामुपगता शुक्लध्यानेन क्षपितसंसारा उन्मुक्तकर्मकवया दूरीकृत
कल्पेणा सिद्धिमुपमान्ति ॥१९३९॥

एव सधारगदो विसोघइत्ता वि दसणचरित्त ।

परिवडदि पुणो कोई ज्ञायतो अट्टरुद्दाणि ॥१९४०॥

‘एव सधारगदो’ उक्तैर्न प्रकारेण सस्तरमुपगतोऽपि वृत्तदर्शनचारित्र्यसुद्धिरपि वदित्तमंगोरवादार्त-
रौद्रपरिणत पतति । तत्र दोषमाचष्टे ॥१९४०॥

ज्झायतो अणगारो अट्टं रुद्धं च चरिमकालम्भि ।

जो जहइ सयं देहं सो ण लहइ सुग्गदिं खवओ ॥१९४१॥

गा०—वे शास्त्रोका अनुचिन्तन करते हैं, धैर्यशाली होते हैं, श्रद्धा, सवेग और शक्तिसे
युक्त होते हैं । परीपहोको जीनते हैं और उपसर्गोको निरस्त करते हैं, उनसे अभिमूढ नहीं
होते ॥१९३७॥

गा०—इस प्रकार शुद्ध सम्पद्दर्शन पूर्वक यथाख्यात चारित्र्यको प्राप्त करके ध्यानमे मग्न
होकर सक्लेश्यायुक्त अगुम लेश्याओका विनाश करते हैं ॥१९३८॥

गा०—शुक्ललेश्यासे सम्पन्न होकर शुक्लध्यानके द्वारा संसारका क्षय करते हैं और
कर्मोके कवचसे मुक्त हो, सब दुःखोको दूर करके मुक्तिको प्राप्त होते हैं ॥१९३९॥

गा०—इस प्रकार सस्तरपर आरुढ होकर और सम्पद्दर्शन तथा सम्पक्चारित्र्यको निर्मल
करके भी कोई-कोई क्षपक कर्मोको गुरुता होनेसे आर्तरोद्र ध्यानपूर्वक रत्नत्रय रूप आराधनासे
गिर जाता है ॥१९४०॥

गा०—जो क्षपक साधु मरते समय आर्तरोद्र ध्यानपूर्वक अपने शरीरको छोडता है वह
सुगति प्राप्त नहीं करता ॥१९४१॥

'ज्जापतो अणारो' मरणकाले आन्तरीद्रयो परिणतो भूत्वा य स्वदेहं जहाति तामो क्षपक मुगतिं लभते ॥१९४१॥

जदि दा मुभाविदप्पा वि चरिमकालम्मि सकिलेसेण ।

परिवड्दि वेदणट्ठो खवओ मंथारमारुटो ॥१९४२॥

'जदि दा मुभाविदप्पा वि' यदि तावन्मुभावितात्मापि सस्तरमाह्वं वेदनात् क्षपक सक्लेद्येन हेतुना सम्मार्गात्परिपतति ॥१९४२॥

किं पुण जे ओसण्णा णिच्चं जे वा वि णिच्चपासत्था ।

जे वा सदा कुसीला संसत्ता वा जहाछदा ॥१९४३॥

'किं पुण' किं पुनर्न परिपतन्ति ये नित्यमवसन्ना ये च नित्य पादर्वस्या ये वा सदा कुसीला ससत्ता वा स्वच्छन्दा ॥१९४३॥

तत्र अवमन्ता निरूप्यन्ते—

गेच्छहि केडं पुरिमा पक्खी इव पजरतगणिरुद्धा ।

ससरणपजरचकिदा ओसण्णागा पावहरति ॥१९४४॥

यथा कर्दमे क्षुण्ण मार्गादीनोज्वसन्न इत्युच्यते स द्रव्यतो ज्वसन्न । भावावमन्न अमुद्धचरित्र सीदति उपकरणे, वमति मस्तरप्रतिलेखने, स्वाध्याये, विहारभूमिशोचने, गोचारशुद्धौ, ईर्ष्यामिमादिषु, स्वाध्यायकालावलोचने, स्वान्यायविमर्शे, गोचारे, च अनुश्रुत, आवश्यकेष्वलस, जवातिरिक्तो वा जनाधिक करोति कुर्वन्च यथोक्तमावश्यक वाक्त्रायाम्ना करोति न भावन एवभूदचारित्रे ज्वनीदतीत्यवसन्न । पन्थान पश्यन्ति

गा०—यदि अपनी आत्माकी सम्यक् भावना करने वाले भी मस्तरपर आरूढ हों, मवलेश-के कारण मरते समय मन्मार्गसे गिर जाते हैं ॥१९४२॥

गा०—तो जो नित्य अवसन्न, नित्य पादर्वस्य, सदा कुसील ससक्त और स्वच्छन्द साधु हैं उनका कहना ही क्या है ? ॥१९४३॥

गा०—टी०—अवमन्न आदिका स्वरूप कहते हैं—

जैसे कोई पुरुष क्रीचडमे फँस गया या मार्गमें एक गधा तो उसको अवसन्न कहते हैं । वह द्रव्यरूपसे अवसन्न है । उसी प्रकार जिसका चारित्र अशुद्ध होता है वह भाव अवमन्न होता है । वह उपकरणमें, वसतिकामे, मस्तरके शोधनेमें, स्वाध्यायमें, विहार करनेकी भूमिके शोधनेमें, गोचरीकी शुद्धतामें, ईर्ष्यामिति आदिमें, स्वाध्यायके कालका ध्यान रखनेमें और स्वाध्यायकी समाप्तिमें तत्पर नहीं रहता । छह आवश्यकोंमें आलस्य करता है । या दूसरोंमें करता तो अधिक है किन्तु वचन और कायसे करता है, भावमें नहीं करता । इस प्रकार चारित्रका पालन करते हुए खेदसिन्न होता है इससे उसे अवसन्न कहते हैं ।

१ इस शायी पर किसी प्रति में इमाक नहीं दिया है । न इस पर किसी को टीका हो है । स०

तत्प्रमीपेज्येन कश्चिद् गच्छति, यथागो मार्गपाश्वस्थ, एव निरतिचारसयममार्गं जानन्नपि न तत्र वर्तते, किंतु मयममार्गपाश्वे तिष्ठति नैकान्तेनाभयत, न च निरतिचारसयम^१ सोऽभिधीयते पाश्वस्य इति । शय्याधरपिण्डमभिहितं नित्यं च पिण्ड भुङ्क्ते, पूर्वापरकालयोर्दातुसस्तव करोति, उत्पादनेपणादोषदुष्ट वा भुङ्क्ते, नित्यमेकस्या वसतीवमति, एकस्मिन्नेव सस्तरे शेते, एकस्मिन्नेव क्षेत्रे वसति । गृहिणा गृहाम्भन्तरे निषया करोति, गृहदोष-करणैर्व्यवहरति, दु प्रतिलेखमप्रतिलेख वा गृह्णाति, सूचीकर्त्तरिनश्छेदसददानपट्टिकाशुर्कर्णशोचनाजिनघाही, शीवनप्रसालनावधूननरञ्जनादिवहुपरिकरमव्यापुतरव वा पाश्वस्य । क्षारचूर्णं शीबोरलवणसर्गिरित्यादिक अनागाडकारणेषु गृहोत्वा स्थापयन् पाश्वस्य^२ । रात्रौ यद्येष्ट शेते, सस्तरं च यथाकामं बहुतर करोति । उपकरणवकुशो देहवकुश — दिवसे वा शेते च य पाश्वस्य । पदप्रक्षालनं श्रद्धा वा मस्तरण-मन्त्रेण करोति, यश्च गणोपजीवी तृणपञ्चकसेवापरद्वयं पाश्वस्य । अपमत्र संक्षेप — अयोग्यं सुखशीलतया यो निषेवते कारणमन्तरेण स सर्वथा पाश्वस्य^३ । कुत्सितशील कुशील । यद्येव अवसन्नादोना कुशीलत्व प्राप्नोति, नैव श्लोकप्रकटकुत्सितशील कुशील इति दिवेकोऽत्र ग्राह्यः । स च कुशीलाज्जेकप्रकारं कश्चित्कौ-तुकशील औपग्रविलेपनविद्याप्रयोगेणैव, सौभाग्यकरण राजद्वारिककौतुकमादरायति य स कौतुकुशील ।

जैसे कोई मार्गको देखते हुए भी उस मार्गसे न जाकर अन्य उसके समीपवर्ती मार्गसे जाता है, उसे मार्ग पाश्वस्य कहते हैं । इसी प्रकार जो निरतिचार सयमका मार्ग जानते हुए भी उममें प्रवृत्ति नहीं करता किन्तु मयमके पाश्ववर्ती मार्गमें चलता है, वह न तो एकान्तसे असयमी है और न निरतिचार सयमी है । उसे पाश्वस्य कहते हैं । शय्याधरपिण्डका स्वरूप पहले कहा है उस भोजनको नित्य करता है । भोजन करनेसे पहले और भोजन करनेके पश्चात् दाताकी स्तुति करता है । अथवा उत्पादन और एषणा दोषसे दूषित भोजन करता है । नित्य एक ही वसतिकामे रहता है । एक ही सस्तरपर सोता है । एक ही क्षेत्रमें रहता है । गृहस्थोके परके भीतर बैठना है । गृहस्थोके उपकरणोका ल्पयोग करता है । बिना प्रतिलेखनाके वस्तुको ग्रहण करता है या दुष्टता पूर्वक प्रतिलेखना करता है । सुई, कैंची, नख काटनेके लिये तहिनी, छुरा, कानका मील निकालनेकी सीक, चम आदि पासमें रखता है । और सीना, धोना, रगना आदि कामोंमें लगा रहना है, वह पाश्वस्य है । क्षारचूर्ण, सुर्पा, नमक, घी इत्यादि बिना कारण ग्रहण करके पासमें जो रखता है वह पाश्वस्य है । जो रातमें मनमाना माता है, मस्तरा इच्छानुसार लम्बा चौड़ा बनाता है वह उपकरण वकुश है । जो दिनमें सोता है वह देहवकुश है । ये भी पाश्वस्य हैं । जो बिना कारण पैर धोता है और तेल लगाता है तथा जो गणोपजीव है वह पाश्वस्य है । मागान यह है कि सुखशील होनेके कारण जो बिना कारण अयोग्यका सेवन करता है वह सर्वथा पाश्वस्य है ।

जिसका शील कुत्सित है वह कुशील मुनि है

शङ्का—यदि ऐसा है तो अवसन्न आदि भी कुशील कहलायेंगे ।

समाधान—नहीं, क्योंकि लोकमें जिसका कुत्सित शील प्रकट है वह कुशील है, यह में भेद ग्रहण करना चाहिये । वह कुशील अनेक प्रकारका होता है । कोई कौतुक कुशील होता है जो औपग्र लगानेकी विद्याके प्रयोग द्वारा सौभाग्यके कारण राजद्वारमें कौतुक दिखलाना है ।

करिचन् भूतिकर्मकुशील भूतिप्रहणमुपलक्षण भूत्या, घून्या, सिद्धार्थकं, पुण्यै, फलैश्चकादिभिर्वा मन्त्रितं रक्षा वशीकरण वा य करोति स भूतिकुशील । उक्त च—

भूदीयव घूलीय वा सिद्धत्यग पुष्फरुदकावीहि ।

रक्व वसिगरण वा करेदि जो भूदिगकुशीलो ॥

करिचन्प्रनेनिकाकुशील, अगुष्ठप्रसेनिका, अक्षरप्रसेनी, शशिप्रसेनी, सूर्यप्रसेनी स्वप्नप्रसेनीत्येवमादिभिर्जन रञ्जयति य सोऽभिधीयते प्रसेनिकाकुशील इति । करिचान्निमित्तकुशील विद्याभिमन्त्रैरौषध प्रयोगैर्वा असयत चिकित्सा करोति सोऽप्रसेनिकाकुशील । कश्चिन्निमित्तकुशील अष्टाङ्गनिमित्त ज्ञात्वा यो लोकास्पादेष करोति स निमित्तकुशील । आत्मनो जाति कुल वा प्रकाश्य यो भिक्षादिकमुत्पादयति स आजीवकुशील । केनचिदुपद्रुत पर शरण प्रविशति, अनाथशाला वा प्रविश्य आत्मनेचिकित्सा करोति स वा आजीवकुशील । विद्यायोगादिभि परद्रव्यापहरणदम्भप्रदर्शनपर क्वचकुशील । इन्द्रजालादिभिर्यो जन विस्मापयति सोऽभिधीयते कुहनकुशील इति । वृक्षगुल्मादीना पुष्पाणा, फलाणा च समभवमुपदर्शयति गर्भस्थापनादिक च करोति य स समूर्टनाकुशील । ब्रह्मजाना, कीटादीना, वृक्षादीना, पुष्पफलादीना, गर्भस्य परिशातन आभिचारिक च य करोति शाप च प्रयच्छति स प्रपातनकुशील ॥ उक्त च—

काओतिक्रभूदिकम्मे पसिणा पसिणे णिमित्तमाजोवे ।

क्वक्वकुहन समुच्छण पपादणादीकुशीलो बु ॥ इति ॥

कोई भूतिकर्मकुशील होता है । यहाँ भूति शब्दसे भस्म, घूल, सरसो, पुण्य, फल, अथवा जल आदिसे मन्त्र पढ़कर रक्षा या वशीकरण जो करता है वह भूतिकर्म कुशील है । कहा है—

जो भस्म, घूल, सरसो, पुण्य, फल, जल आदिके द्वारा रक्षा या वशीकरण करता है वह भूतिकर्म कुशील है । कोई प्रमेनिकाकुशील होता है जो अगुष्ठप्रमेनिका, अक्षरप्रमेनिका, शशिप्रमेनिका, सूर्यप्रमेनिका, स्वप्नप्रमेनिका आदि विद्याओंके द्वारा लोगोंका मनोरजन करता है । कोई अप्रसनिका कुशील होता है जो विद्या, मन्त्र और औषध प्रयोगके द्वारा असयमी जनोंका इलाज करता है । कोई निमित्तकुशील होता है जो अष्टांग निमित्तोंको जानकर लोगोंको इष्ट अनिष्ट बतलाता है । जो अपनी जाति, अथवा कुल बतलाकर भिक्षा आदि प्राप्त करता है वह आजीवकुशील है । जो किमीके द्वारा सताये जानेपर दूसरेकी शरणमे जाता है अथवा अनाथशालामे जाकर अपना इलाज कराता है वह भी आजीव कुशील होता है । जो विद्या प्रयोग आदिके द्वारा दूसरोंका द्रव्य हरने और दम्भप्रदर्शनमे तत्पर रहता है वह क्वचकुशील होता है । जो इन्द्रजाल आदिके द्वारा लोगोंको आश्चर्य उत्पन्न करता है वह कुहनकुशील है । जो वृक्ष, शाबी, पुष्प और फलोंको उत्पन्न करके बतलाता है तथा गर्भस्थापना आदि करता है वह सम्मूर्च्छनाकुशील है । जो ब्रह्मजातिके कोट आदिका, वृक्ष आदिका, पुष्प फल आदिका तथा गर्भका विनाश करता है, उनकी हिंसा करता है, शाप देता है वह प्रपातन कुशील है । कहा है—

कीनुक कुशील, भूतिकर्म कुशील, प्रसेनिका कुशील, अप्रमेनिका कुशील, निमित्तकुशील, आजीव कुशील, क्वचकुशील, कुहनकुशील, सम्मूर्च्छनकुशील, प्रपातन कुशील आदि कुशील होते

आदिशब्दपरिगृहीता कुशीला उच्यन्ते—क्षेत्र हिरण्य चतुष्पद च परिग्रह ये गृह्णन्ति हरितकन्दफल-
भोजिन कृतकारितानुमतपिण्डोपधि वसतिनेवापरा, स्त्रीकथारतय, मैथुनसेवापरायणा, विवेकास्रवादि
अधिकरणोत्पत्ताश्च कुशीला । घृष्ट प्रमत्त विवृतवेषदच कुशील । ससक्तो निरुप्यते—प्रियचारित्र्ये प्रिय-
चारित्र्य अप्रियचारित्र्ये दृष्टे अप्रियचारित्र्य, नटवदनेकरूपग्राही ससक्त । पञ्चेन्द्रियेषु प्रमत्त त्रिविधगौरव-
प्रतिवद्ध, स्त्रीविषये सव्येयसहित गृहस्थजनपियदच ससक्त । 'अवसण्णो' अवसन् । पार्श्वस्थसमर्गात्स्वय-
मपि पार्श्वस्थ, कुशीलससर्गात्स्वयमपि कुशील, य स्वच्छन्दनपर्कात्स्वयमपि स्वच्छन्दवृत्ति । यथाछन्दो
निरुप्यते—उत्सूत्रमनुपदिष्ट स्वेच्छाविकल्पित यो निरुपयति साग्निधीयते यथाछन्द इति । तथापि वर्षे पतति
जलधारणमसयम श्रुवर्तारिकादिभि वैशाखनयनप्रदासन आत्मविराधनान्यथा भवतीति भूमिस्थ्या तुणपुञ्जे
वसत अवस्थितानामावाप्रेति, उद्देशिकादिके १जनेऽदोष ग्राम सकल पर्यटतो महती जीवनिकायविराधनेति,
गृहामत्रेषु भोजनमदोष इति कथन, पाणिपात्रिकस्य परिदातनदोषो भवतीति निरूपणा, सप्रति यथोक्तकारी न
विद्यत इति च भाषण एवमादिनिरूपणापरा स्वच्छन्दा इत्युच्यन्ते ॥१९४४॥

हैं । गायामे आये आदि शब्दसे ग्रहण किये कुशीलोको कहते हैं—जो क्षेत्र, सुवर्ण, चौपाये आदि
परिग्रहको स्वीकार करते हैं, हरे कद, फल खाते हैं, कृत कारित अनुमोदनामे युक्त भोजन, उपधि
वसतिकाका सेवन करते हैं, स्त्रीवधामे लीन रहते हैं, मैथुन सेवन करते हैं, आस्रवके अधिकरणोमे
लगे रहते हैं वे सब कुशील है । जो घृष्ट, प्रमादी और विकारयुक्त वेप धारण करता है वह
कुशील है ।

अब ससक्तका स्वरूप कहते हैं । चारित्र्य प्रेमियोमे चारित्र्यप्रेमी, और चारित्र्यसे प्रेम न
करनेवालोमे चारित्र्यके अप्रेमी, इस तरह जो नटकी तरह अनेक रूप धारण करते हैं वे ससक्त मुनि
हैं । जो पञ्चेन्द्रियोके विषयोमे आसक्त होते हैं ऋद्धिगारव, सातगारव और रसगारवमे लीन होते
हैं, स्त्रियोके विषयमे रागरूप परिणाम रखते हैं, और गृहस्थजनोंके प्रेमी होते हैं वे ससक्त मुनि
हैं । वे पार्श्वस्थके ससर्गमे पार्श्वस्थ, कुशीलके समर्गसे कुशील और स्वच्छन्दके सम्पर्कसे स्वय भी
स्वच्छन्द होते हैं ।

अब यथाच्छन्दका स्वरूप कहते हैं—जो बात आगममे नहीं कही है, उसे अपनी इच्छानु-
सार जो कहता है वह यथाच्छन्द है । जैसे वर्षामे जलधारण करना अर्थात् वृक्षके नीचे बैठकर
ध्यान लगाना अमशम है । छुरे कैंची आदिके बेश काटनेको प्रशंसा करना और कहना कि केश-
लाच करनेसे आत्माकी विराधना होती है । पृथ्वीपर मोनेमे तुणोमे रहनेवाले जन्तुओको वाया
होती है । उद्दिष्ट भोजनमे कोई दोष नहीं है क्योंकि भिक्षाके लिये पूरे ग्राममे भ्रमण करनेमे
जो व निकायकी महती विराधना होती है । घरके पात्रोमे भोजन करनेमे कोई दोष नहीं है ऐसा
कहना । जो हाथमे भोजन करना है उसे परिगातन दोष लगता है ऐसा कहना । आजकल
आगमानुसार आचरण करनेवाले नहीं हैं ऐसा कहना । इत्यादि कहने वाले मुनि स्वच्छन्द बहे
जाते हैं ॥१९४४॥

अविसुद्धभावदोसा कसायवमगा य मंदसवेगा ।

अच्चासादणमीला मायानहुला णिदाणकदा ॥१९४५॥

'अविसुद्धभावदोसा' भावा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणामा, तथा दोषा शङ्कादय ते अविसुद्धा अनिराहृता यन्ते अविसुद्धभावदोषा । 'कसायवसिगा' कषायवसवतिन । मन्दसवेगा । 'अच्चासादणमीला' गुणाना गुणिना चापमानकरिण । प्रचुरमायानिदान गता ॥१९४५॥

सुहसादा किमज्झा गुणसायी पावसुत्तपडिसेवी ।

विसयामापडिबद्धा गारवगरुया पमाइल्ला ॥१९४६॥

'सुहसादा' सुमात्वादनपरा । 'किमज्झा' कि मह्य केनचिदिति सर्वेषु सधकार्येष्वनादना । 'गुणसायी' गुणेषु मम्मग्दानादिषु क्षेत्र इव निरुत्साहा । 'पावसुत्तपडिसेवी' आत्मन परेषा वा अगुमपरिणामस्य मिष्या-त्वासयमक्षयायाणा प्रवर्तक शान्त्र पापसूत्र निमित्त, वैद्यक, कौटिल्य, स्त्रीपुरुषलक्षण, धानुवाद, काव्यनाट-कानि, चोरशास्त्र, शम्भोका, प्रहरणविद्याचित्रकलागान्धर्वगन्धयुक्त्यादिक एतस्मिन् पापसूत्रे कृतादिराम्यामा 'विसयामापडिबद्धा' अभिमनविषयपरिप्राप्यया वा आगा तस्या प्रतिबद्धा, 'गारवगरुया' गारवत्रयंगुरव । 'पमाइल्ला' विजयादिपञ्चदशप्रमादमहिता ॥१९४६॥

ममिद्रीसु य गुत्तीसु य अभाविदा सीलसंजमगुणेसु ।

परतत्तीसु य तत्ता अणाहिदा भावसुद्धीए ॥१९४७॥

'ममिद्रीसु य' ममितिषु गुतिषु च सयमगुणेषु भावनारहिता परव्यापारेषु प्रवृत्ता भावगुद्धा वनादना ॥१९४७॥

उक्त प्रकारके क्षपक मरते समय सन्मार्गसे क्यों च्युत हो जाते हैं यह सात गायार्थोंसे कहते हैं—

गा०—टी०—वे क्षपक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्ररूप परिणामोंके जो शका आदि दोष हैं उन्हें दूर नहीं करते हैं कषायोंके बशवर्ती होते हैं, उनका सवेगभाव मन्द होता है, गुणोंका और गुणीजनोका वे अपमान करते हैं, तथा माया और निदानशक्त्यकी उनमें प्रचुरता होती है ॥१९४५॥

गा०—टी०—वे मुखसील होते हैं, मुझे किसीमें क्या, ऐसा मानकर वे मधके मव कार्योंमें अनादरभाव रखते हैं, सम्यग्दर्शन आदि गुणोंमें उनका उत्साह नहीं होता । अपने और दूसरोंके अगुम परिणामको तथा मिष्यान्व, अयम और क्षयायको बढ़ानेवाला शान्त्र पापसूत्र है । निमित्त शान्त्र, वैद्यक, कौटिल्यशास्त्र (राजनीति), स्त्री पुरुषके लक्षण बतलानेवाला कामशास्त्र, धानुवाद (भौतिकी), काव्य नाट्य, चोरशास्त्र, शम्भोका लक्षण बतलानेवाला शास्त्र, प्रहार करनेकी विद्या, चित्रकला, गायत्र (नाच गाना), गन्धशास्त्र, युक्तिशास्त्र आदि पापशास्त्रोंमें उनका आदर होना है उमीका वे अध्ययन करते हैं । इष्ट विषयोंकी आशामें लगे रहते हैं, तीन गारवमें आमक होते हैं । विक्रया आदि पन्द्रह प्रमादोंमें युक्त होते हैं ॥१९४६॥

गा०—ममिति, गुति और सील तथा सयमके गुणोंमें भावनारंभ रहित होते हैं । लौकिक कार्यों में लग्न रहते हैं भावोंकी शुद्धिकी ओर ध्यान नहीं देते ॥१९४७॥

गंधअणियत्ततण्हा बहुमोहा सबलसेवणासेवी ।

सहरसरूवगधे फासेसु य मुच्छिदा घडिदा ॥१९४८॥

‘गयाणिपत्ततण्हा’ अतृप्तपरिग्रहतृष्णा, ‘बहुमोहा’ अज्ञानबहुला । सबलसेवनापरा, गंधादिपु
विषयेषु मूर्छिता तैवघटिता ॥१९४८॥

परलोगणिप्पिवासा इहलोगे चैव जे सुपडिवद्धा ।

मज्झायादीसु य जे अणुट्ठिदा संकिलिट्ठमदी ॥१९४९॥

‘परलोगणिप्पिवासा’ परलोकनिस्पृहा, ऐहिकेष्वेव कार्येषु प्रतिबद्धा, स्वाध्यायादिष्वनुद्यता,
मविलम्बमनय ॥१९४९॥

सव्वेसु य मूलुत्तरगुणेषु तह ते सदा अइचरता ।

ण लहति खवोवसम चरित्तमोहस्म कम्मस्म ॥१९५०॥

मूलोत्तरगुणेषु मदा सात्विचारा न लभन्ते चारित्रमोहस्य क्षयोपशम ॥१९५०॥

एव मूढमदीया अवतदोसा करेति जे काल ।

ते देवदुब्भगत मायामोसेण पावति ॥१९५१॥

‘एव मूढमदीया’ एव मूढबुद्धयो अनपास्तदाया ये काल कुर्वन्ति ते देवदुर्भगता प्राप्नुवन्ति
मायया ॥१९५१॥

किंमज्झ गिरुच्छाहा हवति जे सव्वसधक्कज्जेसु ।

ते देवसमिदिवज्झा कप्पंते हुति मुरमिच्छा ॥१९५२॥

‘किं मज्झगिरुच्छाहा’ किं महामिति ये सर्वसधकार्येष्वनादृतास्ते देवमतिवाहा कल्याणामन्ते
सुरमिच्छा भवन्ति ॥१९५२॥

गा०—उनकी परिग्रहकी तृष्णा कभी तृप्त नहीं होती। अज्ञानमें डूबे रहते हैं। गृहस्थोंके
आरम्भमें फौंसे होते हैं, शब्द, रस, रूप, गन्ध और स्पर्शमें ममत्वभाव रखते हैं ॥१९४८॥

गा०—परलोककी चिन्ता नहीं करते। इसी लोक सम्बन्धी कार्यों में लगे रहते हैं।
स्वाध्याय आदिमें उद्यम नहीं करते। उनकी मति सकलेशमय होती है ॥१९४९॥

गा०—मदा मूलगुणों और उत्तरगुणोंमें अतिचार लगाते हैं। इसमें उनके चारित्रमोहका
क्षयोपशम नहीं होता ॥१९५०॥

गा०—इस प्रकार दोषोंको दूर न करनेवाले वे मूढबुद्धि जब मरते हैं तो मायाचारके
कारण अभागे देव होते हैं ॥१९५१॥

गा०—वे मुनि अत्रस्थायी ‘मुझे इससे क्या’ ऐसा मानकर मधके मय कार्योंमें अनादर

कदप्पभावणाए देवा कदप्पिया मदा होंति ।
 खिन्मिसयभावणाए कालगदा होंति खिन्मिसया ॥१९५३॥
 अभिजोगभावणाए कालगदा आभिजोगिया हुति ।
 तह आसुरीए जुत्ता हवंति देवा असुरकाया ॥१९५४ ।
 सम्मोहणाए काल करिचु दुदुगा सुरा हुति ।
 अण्णापि देवदुग्गह उवयति विराधया मरणे ॥१९५५॥

स्पष्टार्थभुत्तरगायात्रय ॥१९५३॥१९५४॥१९५५॥

इय जे विराधयित्ता मरणे असमाधिणा मरेज्जण्ह ।
 त तेसि बालमरण होइ फल तस्स पुव्वुत्त ॥१९५६॥

‘इय जे विराधयित्ता’ एव ये रत्नत्रय विनाश्य मरणकाले अममाधिना मृतिमुपयान्ति तत्तेषा बाल-
 मरण भवति । तस्य बालमरणस्य फल पूर्वमुक्तमेव ॥१९५६॥

जे सम्मत्त खवया विराधयित्ता पुणो मरेज्जण्ह ।
 ते भवणवासिजोदिसभोमेज्जा वा सुरा होति ॥१९५७॥

‘जे सम्मत्त खवया’ ये क्षपका सम्यक्त्व विनाश्य भ्रियन्ते भवनवासिनो ज्योतिष्का व्यन्तरा वा
 भवन्ति ॥१९५७॥

दंसणणाणविहूणा तदो चुदा दुक्खवेदणुम्मीए ।
 संमारमण्डलगदा भमति भवसागरे मूढा ॥१९५८॥

भाव रखनेके कारण देवोकी समितिसे बहिष्कृत सौवर्मादि कल्पोके अन्तमे वसनेवाले चाण्डाल
 जातिके देव होते हैं ॥१९५२॥

गा०—कन्दर्प भावनासे मरकर कन्दर्प जातिके देव होते हैं । किल्बिपभावनासे मरकर
 किल्बिपक जातिके देव होते हैं ॥१९५३॥

गा०—आभियोग्य भावनासे मरकर आभियोग्य जातिके देव होने हैं । तथा आसुरी
 भावनासे मरकर असुर जातिके देव होते हैं ॥१९५४॥

गा०—सम्मोहन भावनासे मरकर दुदुग जातिके देव होते हैं । अन्य भी विराधना
 करके मरनेवाले मुनि देवगतिमे हीन देव होते हैं ॥१९५५॥

गा०—इस प्रकार जो क्षपक मरते समय रत्नत्रयको नष्ट करके असमाधिपूर्वक मरते हैं
 उनका वह मरण बालमरण होता है और उन बालमरणका फल पूर्वमे कहा है ॥१९५६॥

गा०—जो क्षपक सम्यक्त्वको नष्ट करके मरते हैं वे मरकर भवनवासी, व्यन्तर या
 ज्योतिषीदेव होते हैं ॥१९५७॥

गा०—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमे रहित वे मूढदेव स्वर्गमे च्युत होकर दुःखकी वेदना-
 रूपी लहरोसे भरे समारसमदमे भ्रमण करते हैं ॥१९५८॥

‘दसमणाषविहोणा’ सम्पददर्शनज्ञानहीनास्तात स्वर्गाच्च्युता दुःखवेदनामपि भवसागरे मूढा भ्रमन्ति,
ससारमण्डल गता ॥१९५८॥

जो मिच्छत गतूण किण्हलेस्सादिपरिणदो मरदि ।

तल्लेस्सो भो जायइ जल्लेस्सो कुणदि सो कालं ॥१९५९॥

‘जो मिच्छत गतूण’ य कृष्णलेश्यादिपरिणतो मिथ्यात्व गत्वा म्रियते तल्लेश्यो जायते । परत्र च
जल्लेश्य काल वृत्तवान् । फलति ॥१९५९॥

विजहणा निरूप्यते—

एवं कालगदस्स दु सरीरमतोच्च होज्ज चाहिं वा ।

विज्जावच्चकरा त सय विक्किंचति जटणाए ॥१९६०॥

‘एवं कालगदस्य’ एव कालगतस्य शरीरमन्तर्विर्वाबन्धित वैयावृत्यकरा स्वयमेवापनयन्ति
यत्नेन ॥१९६०॥

समणाण ठिदिक्खो वासावासे तहेव उडुवधे ।

पडिलिहिदक्खा णियमा णिसीहिया सव्वसाघृहिं ॥१९६१॥

‘समणाण ठिदिक्खो’ श्रमणाणा स्थितिवल्पो वर्षावासे ऋतुप्रारम्भे च नियमेन सर्वे साधुनिर्निषोधिका
नियमेन प्रतिवेशनीया ॥१९६१॥

तस्या लक्षणमाचष्टे—

एगता सालोगा णादिविकिट्टा ण चावि आसण्णा ।

वित्थिण्णा विद्धत्ता णिसीहिया दूरमागाढा ॥१९६२॥

गा०—जो क्षपक मिथ्यादृष्टि होकर वृष्ण आदि लेश्याके साथ मरता है वह जिस लेश्याके
साथ मरता है उसी लेश्यावाला होकर जन्म लेता है ॥१९५९॥

गा०—इस प्रकार नगर आदिके मध्यमे या नगरमे बाहर मरणको प्राप्त उम क्षपकके
शरीरको वैयावृत्य करनेवाले परिचारक मुनि स्वय ही मावधानतापूर्वक हटा देते हैं ॥१९६०॥

गा०—वर्षा ऋतुके चार मासोंमे एक स्थानपर वास प्रारम्भ करते समय और ऋतुके
प्रारम्भमे मग साधुओंको नियममे निषोधिकाकी प्रतिलेखना करना चाहिये, यह साधुओंका
स्थितिकल्प है ॥१९६१॥

विशेषार्थ—मुमुक्षु साधुगण तो अपने शरीरमे भी निरीह होते हैं वे मृत क्षपकके शरीरको
हटानेका प्रयत्न क्यों करते हैं ? ऐसी शका होनेपर आचार्य उत्तर देने हैं कि पूर्वमे साधुओंके जो
दस स्थितिवल्पोका वधन किया है, उममे एक माम और पञ्जोसत्रण कल्प भी हैं । उमके अनुसार
जब साधु वर्षा योग धारण करते हैं या ऋतुका प्रारम्भ होता है तब उन्हें निषोधिका दर्शन करना
आवश्यक होता है । जहाँ क्षपकके शरीरको स्थापित किया जाना है उम स्थानको निषोधिका
कहते हैं । इसलिये निषद्याका दर्शन साधुओंका आवश्यक वतंव्य होनेमे मुमुक्षु साधु निषद्याके
निर्माणके लिये स्वय प्रयत्न करते हैं ॥१९६१॥

'एगता सालोग' एकाता परै प्रायेणादृत्या नातिदूरा नात्यासन्ना विस्तीर्णा विध्वग्ता दूरमव-
गाटा ॥१९६२॥

अविमुय असुसिर अधमा सा उज्जोवा बहुममा असिणिद्धा ।

णिज्जंतुगा अरहिदा अविला य तथा अणावाधा ॥१९६३॥

जा अवरदक्खिणाए व दक्खिणाए व अहव अवराए ।

वमघीदो विग्इज्जइ णिसीधिया मा पसत्थत्ति ॥१९६४॥

'जा अवरदक्खिणाए' अपरदक्षिणाशाया, दक्षिणस्या, अपरस्या वा दिशि वसतित निपीधिका
प्रसस्ता ॥१९६३॥ ॥१९६४॥

सव्वममाधी पडमाए दक्खिणाए दु मत्तमो सुलभ ।

अवराए सुविहारो होदि य सं उवाधिलाभो य ॥१९६५॥

'सव्वममानी पडमाए' सर्वेषा समाधिर्भवति पडमाए' अपरदक्षिणदिगबन्धिताया निपीधिकाया,
दक्षिणदिगबन्धितायामाहार सुलभ । पश्चिमाया सुवविहार उपकरणलाभश्च ॥१९६५॥

जदि तेमिं वाधादो दट्टुव्वा पुव्वदक्खिणा होड ।

अवरुत्तरा य पुव्वा उदीचिपुव्वुत्तरा कममो ॥१९६६॥

'जदि तास्ति वाधादो' यदि ता निपीधिका न लभ्यन्ते, पूर्वदक्षिणनिपीधिका द्रष्टव्या, अपरोत्तरा वा
पूर्वा वा उदीची वा पूर्वोत्तरा वा क्रमेण ॥१९६६॥

निपधाका लक्षण कहते हैं—

गा०—निपीधिका एकान्त स्थानमे होना चाहिये जहाँ दूसरे लोग उसे न देख सकते हो ।
नगर आदिसे न अति दूर और न अति निकट होनी चाहिये । विस्तीर्ण होनी चाहिये । प्रामुक्
होनी चाहिये तथा अतिदृष्ट होनी चाहिये ॥१९६२॥

गा०—वह चीटियोमे रहित होनी चाहिये । अन्दर प्रवेश कराने वाले छिद्रोंमे रहित होनी
चाहिये । प्रकाशवात्रो होनी चाहिये । समभूमि होनी चाहिये । गोश्री नहीं होनी चाहिये, अन्तु
रहित होनी चाहिये । तिरछे छिद्रवाली नहीं होनी चाहिये तथा वायारहित होनी चाहिये ॥१९६३॥

गा०—तथा वह निपीधिका क्षपक्वे स्थानसे पश्चिम-दक्षिण दिगामे या दक्षिण दिगामे
या पश्चिम दिगामे हो तो उत्तम होती है ॥१९६४॥

गा०—यदि निपीधिका पश्चिम दक्षिण दिगामे हो तो सर्व मघको समाश्रित्य लाभ होना
है । यदि दक्षिण दिगामे हो तो मघको आहार लाभ सुलभ होता है । यदि पश्चिम दिगामे हो
तो मघका विहार सुखपूर्वक होता है तथा उपकरणोंका लाभ होना है ॥१९६५॥

गा०—यदि उक्त दिगाओमे निपीधिका निर्माणमे वात्रा हो ता क्रमग पूव दक्षिणमे,
पश्चिम-उत्तरमे, पूरवमे या उत्तरमे या पूर्वोत्तरमे होना चाहिये ॥१९६६॥

१ एगता टोकाकारे नैच्छन्ति । अतिदूर-आ०, अतिमुन्ना-मु० । २ अहरिदा मु० । ३ अणवा वा० ।
४ उवणिज्जइ आ०, वणिज्जइ-मु० ।

एदासु फलं कमसो जाणेज्ज तुमतुमा य कलहो य ।

भेदो य गिलाण पि य चरिमा पुण कड्ढदे अण्ण ॥१९६७॥

‘एदासु’ एतासु निषीधिकीसु फलं कमसो विजानोयान् । ‘तुमतुमा य’ पूर्वदक्षिणस्या स्पर्धा अपर-
तरस्या कलह, पूर्वस्या भेद उदोच्चा व्याधि, पूर्वोत्तरस्या अन्योन्वेनापहृष्यते ॥१९६७॥

ज वेल कालगदो भिक्खू त वेलमेव णीहरण ।

जग्गणव्रघणछेदणविधी अवैलाए कादव्वा ॥१९६८॥

‘ज वेल कालगदो भिक्खू त वेलमेव णीहरण’ यस्या वेलामा मृतो भिक्षु तस्या वेलायामेवापनयन-
कर्तव्य, अवैलाया मूनरवेन् जागरण वन्धन छेदन वा कर्तव्य ॥१९६८॥

के जागरण कुर्वन्तीत्याचष्टे—

बाले बुद्धे सीसे तवस्सिभीरुगिलाणए दुहिदे ।

आयरिए य विक्किंचय घीरा जग्गति जिदणिदा ॥१९६९॥

‘बाले बुद्धे’ बालबुद्धान्, शिक्षकान्, उपस्थितान्, भोरान्, व्याधितान्, दुःखितानामाचार्यान् अपाकृत्य
घीरा जितनिद्रा जागरण कुर्वन्ति ॥१९६९॥

के वप्नतीत्याचष्टे—

गीदत्था कदकरणा महाबलपरक्कमा महामत्ता ।

वधति य छिंदति य करचरणगुह्यपदेसे ॥१९७०॥

गा०—किन्तु पूर्व-दक्षिण दिशामे होनेसे ‘मै ऐसा हूँ, तूम ऐसे हो’, इत्यादि रूप सघर्ष
होता है। पश्चिमोत्तर दिशामे होनेसे कलह होता है। पूर्व दिशामे होनेसे मधमे भेद पडता
है। उत्तर दिशामे होनेसे व्याधि होती है। पूर्वोत्तर दिशामे होनेसे परस्परमे स्त्रीचातानी
हाती है। यह क्रमसे उक्त दिशाओमे निपद्या बनानेका फल है ॥१९६७॥

विशेषाय—प० आशाधर जीने अपनी टीकामे लिखा है कि पूर्वोत्तर दिशामे निपद्या
करनेसे दूसरे मुनिकी मृत्यु होती है ॥१९६७॥

गा०—जिस समय साधु भरे उसी समय उसे वहाँसे हटा देना चाहिये। यदि असमयमे
भरा हो तो जागरण, वन्धन या छेदन करना चाहिये ॥१९६८॥

जागरण कौन करते हैं यह कहते हैं—

गा०—बालमुनि, बुद्ध मुनि, शिक्षक मुनि, सपस्वी मुनि, डरपोक मुनि, रोगी मुनि और
दुःखित हृदय आचार्यों के निवाय निन्द्रा को जातनेवाले घोर मुनि जागरण करते हैं ॥१९६९॥

वाँधते कौन हैं, यह कहते हैं—

गा०— जो मुनि गृहीतार्थ होते हैं, जिन्होंने अनेक बार क्षपकोका कर्म किया है, महाबल-

'गोदत्या' गृहीतार्या, कृततरणा महावलपराक्रमा महासत्त्वा वघ्नन्ति छिन्दन्ति च करषरण बहुष्ठ-
प्रदेश वा ॥१९७०॥

एवमकरणं को दोष इत्यासङ्काया दोषमाचष्टे—

जदि वा एस ण कीरेज्ज विधि तो तत्थ देवदा कोई ।
आदाय त कलेवरमुट्टिज्ज रमिज्ज वाघेज्ज ॥१९७१॥

'जदि वा एस' यद्येप विधिर्न क्रियते नदाचिद्देवता क्रीडनशीला मृतकमादाय उत्तिष्ठेत् प्रधावेद्रमेत वा
वाघवेद्रा तद्दर्शनात् बालादोना चित्तमक्षोभं पलायनं मरणं वा भवेत् ॥१९७१॥

'उयसयपडिदावण्ण उवण्णगहिद तु तत्थ उवकरण ।
सागारिय च दुविह परिहारियमपरिहारिय वा ॥१९७२॥
जदि विक्खादा भत्तपडण्णा अज्जा व होज्ज कालगदो ।
देउलसागारिच्चि व सिवियाकरण पि तो होज्ज ॥१९७३॥

'जदि विक्खादा भत्तपडिणा' यदि सर्वजनप्रकटा सल्लेखना आयिका वा भवेत् कालगता स्यात्परसका
गृहस्था वा तत्र शिविका कतव्या ॥१९७२॥१९७३॥

तेण पर सठाविय सथारगद च तत्थ वधिचा ।
उट्टेतरक्खण्हं गाम ततो मिरं किच्चा ॥१९७४॥

तेन पर सत्याप्य तेन मृतकेन सस्तरवन्धात्ततो मृतकवन्धनं कृत्वा प्रामाभिमुखं स्थिरं कृत्वा उत्थान-
रक्षणार्थं ॥१९७४॥

शाली, महापराक्रमी, महासत्वशाली वे मुनि मृतकके हाय, पैर या अगूठेको बाँधते या छेदते
हैं ॥१९७०॥

ऐसा नहीं करनेमें दोष कहते हैं—

गा०—यदि यह विधि न की जाये तो कोई मनो-विनोदी देवता मृतकको उठाकर दौड़
सकता है, क्रीडा कर सकता है, वाघा पहुँचा सकता है और उसे देखकर बालक आदि का चित्त
चञ्चल हो सकता है, वे डरकर भाग सकते हैं और उनका मरण भी हो सकता है ॥१९७१॥

क्षपकके उपचारके लिये उपकरणोंके प्रकार बतलाते हैं—

गा०—कुछ उपकरण तो वसतिकामे सम्बद्ध होते हैं। कुछ उपकरण गृहस्थ सम्बन्धी
होते हैं। उनमेंमें कुछ त्याज्य होते हैं और कुछ त्यागने योग्य नहीं हैं ॥१९७२॥

अप आयिकाओंकी सन्यास विधि कहते हैं—

गा०—यदि भक्त प्रतिज्ञा मग्न करने वाली विन्मत्त आयिका हो या कोई गृहस्था हो या
स्थान को रक्षित हो तो उसके लिये शिविका बनाना चाहिये ॥१९७३॥

गा०—शिविका बनानेके पश्चान् उसके शवको शिविकामे रखकर मस्तरके साथ उसे

१ एता टाकागरा नेच्छति ।

‘पुञ्जाभोगिय मग्गेण आसु गच्छन्ति तं समादाय ।

अट्टिदमणियत्त ता य पिट्ठदो अणिम्भता ॥१९७५॥

‘पुञ्जाभोगियमग्गेण’ पूर्वालोकितेन मार्गेण आसु गच्छन्ति तत्समादाय अस्थित अनिवर्तमाना पृष्ठत आलोचन मुक्त्वा ॥१९७५॥

कुसमुट्ठिं घेत्तूण य पुरदो एगेण होइ गतच्च ।

अट्टिदअणियत्ततेण पिट्ठदो लोयण मुच्चा ॥१९७६॥

‘कुसमुट्ठिं घेत्तूण’ कुसमुट्ठि गृहीत्वा पुरस्तादेवेन गन्तव्य, अस्थित अनिवर्तमानेन अपृष्ठावलोकित्वा ॥१९७६॥

तेण कुसमुट्ठिघाराए अब्बोच्छिण्णाए समणिपादाए ।

सथारो कादब्बो मव्वत्थ समो सर्गि तत्थ ॥१९७७॥

‘तेण कुसमुट्ठिघाराए’ तेन पुरस्ताद्गतं पूर्वनिष्पितनिषोधिकास्थाने कुसमुट्ठिघारया अब्बुच्छिन्नया समनिपातया सवन्न सम सस्तर कार्यं सट्ठत्त ॥१९७७॥

जत्थ ण होज्ज तणाइ चुण्णेहिं वि तत्थ केमरेहिं वा ॥

सधरिदब्बा लेहा सव्वत्थ समा अब्बुच्छिण्णा ॥१९७८॥

‘जत्थ ण होज्ज तणाइ’ यत्र न लभ्यन्ते कुशतूणानि तत्र चूर्णं वा केसरं वा सस्तर कार्यं सर्वत्र समोऽब्बुच्छिन्न ॥१९७८॥

बाँध देना चाहिये जिसमें वह उठ न सके । उसका मिर गाँवकी ओर रहना चाहिये ॥१९७५॥

गा०—उम निषिकाको लेकर पहले देखे हुए मार्गसे शीघ्र जाते हैं । न तो मार्गमें रकते हैं और न पीठेकी ओर देखते हैं ॥१९७५॥

गा०—उमके आगे एक मुट्ठीमें कुश लेकर कोई मनुष्य जाना चाहिये । उमकी भी न तो मार्ग में रक्ना चाहिये और न पीछे देखना चाहिये ॥१९७६॥

गा०—उम आगे गये पुरपको पहलेसे देखे गये निषोधिकके स्थानमें जाकर लगातार मुट्ठीसे एक समान कुश डालते हुए एक सस्तर बनाना चाहिये जो सर्वत्र सम हो ॥१९७७॥

गा०—जहाँ कुश न मिलते हैं वहाँ प्रासुक चावल आदिके चूर्णसे अथवा प्रासुक केसरसे सस्तर बनाना चाहिये जो सर्वत्र सम हो ॥१९७८॥

विशेषार्थ—गाथामे ‘लेहा’ पाठ है उसका अर्थ रेखा होता है । अत आगाधर जीने उसका यह अर्थ किया है कि चूर्ण या केसरमें मस्तकसे लेकर पैर तक समान रेखा बनाना चाहिये । हमारी समझके अनुसार यह वह क्रिया है जिसे चौक पूरना कहते हैं । जो सर्वत्र शुभ क्रियामें किया जाता है ॥१९७८॥

अममत्वे दोषमाचष्टे—

जदि विसमो सथारो उवारीं मज्झे व होज्ज हेट्ठा वा ।

मरण गिलाणय वा गणिवसभजदीण णायच्चा ॥१९७९॥

'जदि विसमो सथारो' यदि विषम मस्तर उपरिष्टान् मध्ये अथस्ताद्धा । उपरिवैषम्ये गणिनो मरण व्याधिर्वा, मध्य विषमश्चेत् वृषभस्य मरण व्याधिर्वा, अधस्ताद्विषमत्वे यतीना मरण व्याधिर्वा ॥१९७९॥

जत्तो दिमाए गामो तत्तो सीस करित्तु सोवधिय ।

उट्ठ तरक्खणट्ठ वोसरिदव्व मरीर त ॥१९८०॥

'जत्तो दिमाए गामो' यस्या दिशि ग्राम तत शिर वृत्वा सपिच्छक शरीर व्युत्पद्य, उत्थानरक्ष-
णायं ग्रामाद्विषमभिमुखतया शिरोरचना ॥१९८०॥

उपकरणस्थापनाया तत्र गुणमाचष्टे—

जो वि विराधिय दमणमते काल करित्तु होज्ज सुरो ।

मो वि विवुज्झट्टि दट्ठण सदेह मोवधिं सज्जो ॥१९८१॥

'जो वि विराधिय' योऽपि दानं विनाशयन्ते कालगतस्मुरो भवेत् सोऽपि जानाति गोपकरण स्वदेह
दृष्ट्वा प्रागृह समय इति ॥१९८१॥

णत्ता भाए रिक्खे जदि कालगदो सिव तु 'सव्वेसि ।

'एक्को दु समे खेत्ते दिवड्ढखेत्ते मरति दुवे ॥१९८२॥

सस्तरैके विषम होनेपर दोष कहते हैं—

गा०—यदि मस्तर ऊपर मध्यमे या नीचे विषम होता है तो ऊपरमे विषम होनेपर आचार्य
का मरण या उन्हें रोग होता है । मध्यमे विषम होनेपर एलाचार्यका मरण या उन्हें रोग होता
है । और नीचे पैरके पास विषम होनेपर अन्य माधुओंका मरण या उन्हें रोग होता है ॥१९७९॥

विशेषार्थ—आशापर जो ने लिम्बा है कि उक्त व्याख्यान टीकाकारोका है । किन्तु
टिप्पणकमे कहा है—ऊपरमे विषम होनेपर गणिका मरण होता है । मध्यमे विषम होनेपर
एलाचार्यको रोग होता है और नीचेमे विषम होने पर साधुओंको रोग होता है ॥१९७९॥

गा०—जिम दिशामे ग्राम हो, उन ओर मिर करके पीछीके साथ उन शवको रख देना
चाहिये । शवके उठनेके भयमे उसका सिर गाँवको ओर किया जाना है ॥१९८०॥

उपकरण (पीछी) स्थापित करनेके गुण बहते हैं—

गा०—जो मध्यकत्वकी विराधना करके मरकर देव होता है वह भी पीछीके साथ अपना
शरीर (शव) देखकर ही यह जान लेता है कि मैं भी पूर्वभवमे सयमो था ॥१९८१॥

• गा०—अल्पनक्षत्रमे यदि दापकका मरण होता है तो मन्वा कत्याण होता है । यदि

१ सव्वेहि—अ० आ० । २ एक्को दु मो मरिज्ज वत्ते दिट्ठदु मित्ते मरिति दुषो—आ० ।

सदभिसभरणा अद्वा मादा असलेस्म जिड्डु अवरवरा ।

रोहिणिविसाहपुणव्वसु त्तिउत्तग मज्झिमा सेमा ॥१९८३॥

'जन्ता भागे रिक्ते' अन्वयनक्षत्रे यदि क्षयक कालं गत सर्वस्य णिव भवति, मध्यमनक्षत्रे यदि मृत्यु अन्येष्वेको मृतिमुपैति, महानक्षत्रे यदि मृतो द्वयोर्भवति मरण ॥१९८२-१९८३॥

गणरक्खणत्थ तम्हा तणमयपडिर्विदय खु कादूण ।

एकं तु समे खेत्ते दिवड्ढखेत्ते दुवे देज्ज ॥१९८४॥

'गणरक्खणत्थ' गणरभणार्थं तस्मात्तृणमय प्रतिविम्बक कृत्वा मध्यमनक्षत्रे एक दद्यात् । उत्तमनक्षत्रे प्रतिविम्बद्वय ॥१९८४॥

प्रतिविम्बदानमाचष्टे—

तट्ठाणसावणं चिय तिकसुत्तो ठविय मडयपासम्मि ।

विदियवियप्पिय भिक्खु कुज्जा तह विदियतदियाण ॥१९८५॥

'तट्ठाणसावण' मृतकपार्श्वे तत्प्रतिविम्ब म्याप्य त्रिकमुर्ध्वर्धोपवेश्नु, तन्मिन्स्थाने द्वितीयोर्ध्वित इति एकांपणेऽप्य क्रम । द्वयो प्रतिविम्बयोरपणे द्वितीयतृतीयौ दत्ताविति त्रि आचष्टे ॥१९८५॥

मध्यम नक्षत्रमे मरण होता है तो शेष साधुजोमेने एकका मरण होता है । यदि महानक्षत्रमे मरण होता है तो दो का मरण होता है ॥१९८२॥

गा०—शतभिषा, भरणी, आर्द्रा, स्वाति, आश्लेषा, ज्येष्ठा ये जघन्य नक्षत्र हैं । रोहिणी, विशाखा, पुनर्वसु, उत्तरा फाल्गुनी, उत्तरा भाद्रपद, उत्तरापादा ये उत्कृष्ट नक्षत्र हैं । शेष नक्षत्र मध्यम है ॥१९८३॥

विदोषार्थ—प० आशाधर जो ने कहा है, अल्प नक्षत्रमे मतलब है जो पन्द्रह मूर्त तक रहते हैं । ऐसे शतभिषक्, भरणी, आर्द्रा, स्वाति, आश्लेषा, ज्येष्ठा इन छहमेंमे एक नक्षत्र या उसके अंशमे मरण होनेपर सबका कल्याण होता है । जो नक्षत्र तीस मूर्त तक रहते हैं ऐसे अश्विनी, वृत्तिका, मृगशिरा, पुष्य, मघा, पूर्वफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, अनुराधा, मूल, पूर्वाषाढा, श्रवण, धनिष्ठा, पूर्वभाद्रपद, रेवती, इनमेंमे किसी एक नक्षत्र या उसके अंशमे मरण होनेपर एक अन्य मुनिकी भी मृत्यु होती है । जो नक्षत्र पैंतालिस मूर्त तक रहते हैं ऐसे उत्तर फाल्गुनी, उत्तराषाढा, उत्तरा भाद्रपदा, पुनर्वसु, रोहिणी, विशाखामेमे किसी एक नक्षत्र या उसके अंशमे मरण होनेपर दो अन्य मुनियोकी भी मृत्यु होती है ॥१९८३॥

गा०—इम लिये मघकी रक्षाके अग्निप्रायमे तृणोका पुतला बनाकर यदि मध्यम नक्षत्रमे मरण हुआ है तो उसके साथ एक पुतला देवे । यदि उत्तम नक्षत्रमे मरण हुआ तो उसके साथ दो पुतले देवे ॥१९८४॥

गा०—टी०—मृतकके पाममे उम पुतलेकी स्थापित करके तीन बार उच्च स्वर्गमे धोपणा करे कि मैंने उम दूसरेके स्थानमे यह दूसरा स्थापित किया है । जिकने स्थानमे यह पुतला स्थापित

असदि तणे चुण्णेहिं च केसरञ्जारिद्वियादिचुण्णेहिं ।
कादचोय ककागे उवरिं हिट्ठा 'तकारो से ॥१९८६॥

'असदि तणे' प्रतिविम्बकरणार्थमिति तूणे चूर्णे पुण्यवेसरैर्वा भस्मना इत्यकाचूर्णैर्वा उपरि ककार लिखित्वा तस्याघन्तात् 'तकार कुर्यात्' इति लिखेदित्यर्थः ॥१९८६॥

उवगहिद उवकरण हवेज्ज ज तत्थ पाडिहरिय तु ।
पाडिवोधिच्चा सम्म अप्पेदव्व तय तेसिं ॥१९८७॥

'उवगहिद उवकरण' मृत्कणायने यद्गृहीतमुपकरण वस्त्रकाष्ठादिक गृहस्थयाश्च कृत्वा तत्रोपकरणे यत्प्रतिनिवर्तनीय वस्त्रादिक तस्याडिहारिकमित्युच्यते । तदर्थमित्ययं तेषां गृहस्थानां सम्यक्प्रति-
बोध्य ॥१९८७॥

आराधणपत्तीय काउसग्ग करेदि तो सघो ।
अधिउत्ताए इच्छागार खवयस्स वसघीए ॥१९८८॥

'आराधणपत्तीय' आराधनास्माकमित्येव यथा स्यादिति सघं वासोत्सर्गं करोति, क्षापकस्य वसतो
अधियुक्तदेवता प्रति इच्छाकार काय युष्माकमिच्छया सघोऽत्रासितुमिच्छतीति ॥१९८८॥

सगणत्थे कालगदे खमणमसज्झाइय च तदिवस ।
ण'ज्झाइ परगणत्थे भयणिज्ज खमणकरणंपि ॥१९८९॥

'सगणत्थे कालगदे' आत्मीयगणत्थे यतो काल गते उपवास कार्यं स्वाध्यायश्च न कर्तव्यस्तस्मिन्

किया है वह चिरकाल तक जीवित रहकर तपस्या करे। यह एक पुतला देनेका विधान है। दो पुतले स्थापित करने पर तीन बार घोषणा करे कि मैंने दूसरा और तीसरा पुतला स्थापित किया है। ये दोनों जिनके बदलेमें स्थापित किये हैं वे दोनों माधु चिरकाल तक जीवित रहकर तप करें ॥१९८५॥

गा०—यदि पुतला बनानेके लिये तृण न हो तो डूँट पत्थर आदिके चूर्णसे अथवा, केदार, क्षार वगैरहमें ऊपर ककार लिखकर उसके नीचे तकार लिखे। इस प्रकार 'क' अक्षर लिखे ॥१९८६॥

गा०—टी०—मृत्कणकी शय्याके निर्माणके लिये गृहस्थोंने जो वस्त्र काष्ठ आदि लिया गया हो, उनमेंसे जो लौटा देने योग्य हो उसे पाडिहारिक कहते हैं। उस पाडिहारिकको गृहस्थोको सम्यक् रीतिमें समझा बुझाकर लौटा देना चाहिये ॥१९८७॥

गा०—हमें भी इसी प्रकार आराधनाकी प्राप्ति हो इस भावनामें मघ एक कायोन्मर्ग करे। तथा क्षापककी वसतिकालकी जो अधिष्ठात्री देवता हो उसके प्रति इच्छाकार करे कि आपकी इच्छासे मघ इस म्यानपर बैठना चाहता है ॥१९८८॥

गा०—टी०—अपने मघके माधुवा स्वर्गवास होनेपर उस दिन उपवास करना चाहिये और

दिने । परगणमध्ये काल गते पठन्ति उपवासकरणमपि भाज्य । अन्ये तु पठन्ति, 'न ज्ज्ञाद् परगणन्ये' स स्वाध्याय वर्तव्य परगणस्ये मूने उपवासकरणीय भाज्यमिति तेषा व्याख्या ॥१९८०॥

एव षड्विंशत्ता पुणो वि तदियदिवसे उवेक्खंति ।

सधस्स सुहविहार तस्म गदी चेव णादु जे ॥१९९०॥

'एव षड्विंशत्ता' उन्तेन इमेण क्षपकशरीर प्रतिप्याप्य पुनन्तृतीये दिवसे गत्वा पश्यन्ति, सधस्य सुखविहार तस्य च गतिं ज्ञातु ॥१९९०॥

जदि दिवसे सच्चिद्विदि तमणालद्ध च अक्खद मडय ।

तदिवासाणि सुभिक्षं खेमसिख तम्हि रज्जम्मि ॥१९९१॥

'जदि दिवसे' यावन्तो दिवसा न वृक्षादिभिरस्पृष्टमक्षत च तन्मृतकः तदिवासाणि तावन्ति वर्षाणि सुभिक्ष क्षेम शिव च तस्मिन् राज्ये ॥१९९१॥

ज वा दिसमुवणीद मरीरयं खगचदुप्पदगणेहिं ।

खेमं सिव सुभिक्ष विहरिज्जो तद्दिस सघो ॥१९९२॥

'ज वा दिसमुवणीद' या वा दिशमुपनीत शरीर पक्षिभिरश्चतुष्पदैर्वा ता दिश सघो विहरेत् क्षेमादिव तत्र ज्ञात्वा ॥१९९२॥

जदि तस्स उच्चमंगं दिस्सदि दंता च उवारिगिरिसिहरे ।

कम्ममलविप्पमुक्को मिद्धिं पत्तोत्ति णादब्बो ॥१९९३॥

'जदि तस्स उच्चमंग' यदि तस्य शिरो दृश्यते दन्ता वा गिरिशिखरस्योपरि बर्ममलविप्रमुक्तः सिद्धिमसौ प्राप्त इति ज्ञातव्य ॥१९९३॥

स्वाध्याय नहीं करना चाहिये । दूसरे मधके साधुका मरण होनेपर स्वाध्याय तो नहीं ही करना चाहिये । उपवास कर भी सकते हैं, नहीं भी करते । अन्य ऐसा पढते हैं कि दूसरे मधके साधुका मरण होनेपर स्वाध्याय करना चाहिये । उपवास कर भी सकते हैं नहीं भी करते ॥१९८९॥

गा०—उक्त प्रकारसे क्षपकका शरीर स्थापित करके तीसरे दिन जाकर देखते हैं कि सधका विहार मुखपूर्वक होगा या नहीं । तथा मृतककी गति अच्छी हुई या बुरी ॥१९९०॥

गा०—जितने दिनों तक वह शव गीदह आदिसे सुरक्षित रहता है उतने वर्षों तक उस राज्यमें सुभिक्ष और शान्ति रहती है ॥१९९१॥

गा०—अथवा पक्षी और पशुओंके द्वारा वह शरीर जिस दिशामें ले जाया गया हो क्षेम-सुभिक्ष आदि जानकर उसी दिशामें सधको विहार करना चाहिये ॥१९९२॥

गा०—यदि उमका गिर और दात पर्वतके गिगरके ऊपर दिग्गई दे तो वह मुक्तिको प्राप्त हुआ है, ऐसा जानना चाहिये ॥१९९३॥

त्रेमाणिओ थलगदो समम्मि जो दिसि य वाणवितरओ ।

गङ्गाए भवणवासी एस गदी से ममासेण ॥१९९४॥

'त्रेमाणिओ थलगदो' वैमानिको देवो जात उत्तमभूमिस्ये उत्तमाङ्गे, समभूमिदेशे यदि दृश्यते ज्योतिष्का व्यन्तरो जात, गते यदि दृश्यते भवनवासी देवो जात, एषा गतिस्तस्य सक्षेपेण निम्पिता । विजहणति सूत्र-पद गत । विजहणा ॥१९९४॥

आराधकस्तवनमुत्तर ते सूर्रा भगवतो—

ते सूर्रा भयवतो आहच्चइदूण सघमज्झम्मि ।

आराधणापडाया चउप्पयारा धिदा जेहि ॥१९९५॥

'ते सूर्रा भगवत आहच्चइदूण' प्रतिज्ञा कृत्वा सघमः चतुष्प्रकाराधना पताका वैयागृहीता ॥१९९५॥

ते धण्णा ते णाणी लद्धो लाभो य तेहिं मव्वेहि ।

आगधणा भयवदी पडिवण्णा जेहि सपुण्णा ॥१९९६॥

'ते धण्णा' पुण्यवन्त । ते ज्ञानिन, ते लक्ष्यलाभा, सर्वेभ्यो वैयाराधना भगवती सपूर्णा प्रति-पन्ना ॥१९९६॥

किं णाम तेहिं लोगे मद्धानुभावेहिं हुज्ज ण य पत्त ।

आराधणा भगवदी सयला आराधिदा जेहिं ॥१९९७॥

'किं णाम तेहिं लगे' किनाम तैकिं महानुभागेरप्राप्त वैयाराधिता सकला आराधना भगवती ॥१९९७॥

विशेषार्थ—आशाधरजी ने 'कर्ममल विप्रमुक्त' का अर्थ मिथ्यात्व आदि स्तोक कर्मों से मुक्त किया है । तथा लिखा है कि जयनन्दिके टिप्पणमें 'सिद्धि' का अर्थ सवार्थसिद्धि किया है । किन्तु प्राकृतटीकामें सिद्धिका अर्थ निर्वाण किया है ॥१९९३॥

गा०—टी०—यदि मूलरुका मस्तक उन्नत भूमिभागमें दिखाई दे तो वह मरकर वैमानिक देव हुआ जानना । यदि सम भूमिभागमें दिखाई दे तो वह ज्योतिष्क देव या व्यन्तर हुआ जानना । यदि मध्येमें दिखाई दे तो वह भवनवासी देव हुआ जानना । इस प्रकार यह उसकी गति सक्षेपमें कही है ॥१९९४॥

आगे आराधक क्षपकका स्तवन करते हैं—

गा०—जिन्होंने सघके मध्यमें प्रतिज्ञा करके चार प्रकारकी आराधना रूप पताकाको प्रहण किया वे शूरवीर और पूज्य हैं ॥१९९५॥

गा०—जिन्होंने भगवती आराधनाको सम्पूर्ण किया वे पुण्यशाली और जानी हैं और उन्होंने जो प्राप्त करने योग्य था उसे प्राप्त कर लिया ॥१९९६॥

गा०—जिन्होंने सम्पूर्ण भगवती आराधनाका आराधन किया उन महानुभावोंने लोकमें क्या प्राप्त नहीं किया ॥१९९७॥

निर्यापकस्तवनमुत्तर—

ते वि य महाणुभावा घण्णा जेहि च तस्स खवयस्म ।
सच्चादरसत्तीए उवविहिदाराघणा मयला ॥१९९८॥

'ते वि य महाणुभावा' तेऽपि च महाभागा धन्या र्थस्तथा तस्य क्षपकस्य सर्वादरेण शक्त्या च सर्व-
आराधना उपविहिता ॥१९९८॥

निर्यापकाना फलमाचष्टे—

जो उवविधेदि सच्चादरेण आराधण सु अण्णस्म ।
मपज्जदि णिविग्घा सयला आराधणा तस्स ॥१९९९॥

'जो उवविधेदि' जो ढीकयति सर्वादरेण अन्यस्याराधना तस्य आराधना सकला निविघ्ना
सपद्यते ॥१९९९॥

ये क्षपकप्रेक्षणाय यान्ति तानपि स्तौति—

ते वि कदत्था घण्णा य हुति जे पापकम्ममलहरणे ।
पहायति खवयत्तित्थे सच्चादरभत्तिसजुत्ता ॥२०००॥

'ते वि कदत्था' तेऽपि वृत्तार्था धन्याश्च भवन्ति ये क्षपकतीर्थे पापकर्ममलापहरणे सर्वादराभियुक्ता
स्नान्ति ॥२०००॥

क्षपकस्य तीयता व्याचष्टे—

गिरिणदियादिपदेसा तित्थाणि तवोघणेहि जदि उमिदा ।
तित्थ कय ण हुज्जो तवगुणरासी मय खवउ ॥२००१॥

आगे निर्यापकको प्रशंसा करते हैं—

गा०—वे महाणुभाव भी धन्य हैं जिन्होंने सम्पूर्ण आदर और शक्तिसे उम क्षपकको
आराधना सम्पन्न की ॥१९९८॥

निर्यापकको प्राप्त होनेवाले फलको कहते हैं—

गा०—जो निर्यापक सम्पूर्ण आदरके साथ अन्यको आराधना करता है—उमको समस्त
आराधना निविघ्न पूर्ण होती है ॥१९९९॥

जो क्षपकको देखने जाते हैं उनकी भी प्रशंसा करते हैं—

गा०—टी०—क्षपक एक तीर्थ है क्योंकि ससाग्ने पार उतारनेमें निमित्त है । उममें स्नान
करनेमें पापकर्म रूपी मल हर होता है । अत जो दशक समस्त आदर भक्तिके साथ उस महा-
तीर्थमें स्नान करते हैं वे भी वृत्तकृत्य होते हैं तथा वे भी सौभाग्यशाली हैं ॥२०००॥

क्षपकके तीर्थ होनेका समर्थन करते हैं—

गा०—यदि तपस्विमोके द्वारा सेवित पहाड नदी आदि प्रदेश तीर्थ होते हैं तो तपस्यारूप
गुणोकी शक्ति क्षपक स्वय तीर्थ क्यों नहीं है ॥२००१॥

'गिरिणविद्यादिपदेता' गिरिणद्यादिप्रदद्या यदि तपोधनेरुपितानि तीर्थानि तीर्थं स्वयं कथं न भवेत् क्षपकस्तपोगुणराशि ॥२००१॥

पुष्परिमीण पडिमाओ वदमाणस्स होइ जदि पुण्ण ।

खवयस्स वदओ किह पुण्णं विउल ण पाविज्ज ॥२००२॥

'पुष्परिमीण पडिमाओ' पूर्वेषा ऋषीणा प्रतिमा वदमानस्य यदि पुण्य भवति क्षपके वन्दनोद्यत कथं विपुल पुण्यं न प्राप्नुयान् ॥२००२॥

जो ओलग्गदि आराधय सदा तिच्चभत्तिसज्जुत्तो ।

भयज्जदि णिच्चिग्घा तस्स वि आराहणा मयला ॥२००३॥

'जो ओलग्गदि आराधय' यस्नेवते आराधक सदा तीव्रभक्तिमयुक्त, सपद्यते निर्विघ्ना तस्याभ्याराधना सकला ॥२००३॥

मविचारभत्तवोसरणमेवमुववण्णिट मवित्थारं ।

अविचारभत्तपच्चक्ख्खाणं एत्तो पर वुच्छ ॥२००४॥

'सविचारभत्तवोसरण' सविचारभक्तप्रत्याख्यानमेवमुपवर्णित सविस्तर अविचारभक्तप्रत्याख्यान अत पर प्रवक्ष्यामि ॥२००४॥

तत्थ अविचारभत्तपडण्णा मरणम्मि होइ आगाढो ।

अपरक्कम्मस्स मुण्णिणो कालम्मि असपुहुत्तम्मि ॥२००५॥

'तत्थ अविचारभत्तपडण्णा' अविचारभक्तप्रत्याख्यान सहसोपस्थिते मरणे भवति । अपराक्रमस्य यत्ने सविचारभक्तप्रत्याख्यानस्य काले असति ॥२००५॥

तत्थ पढम णिरुद्ध णिरुद्धतरय तहा हवे विदिय ।

तदियं परमणिरुद्ध एव तिविघ अत्रीचार ॥२००६॥

'तत्थ पढम णिरुद्ध' तत्र अविचारभक्तप्रत्याख्याने प्रथम निरुद्ध, द्वितीय निरुद्धतरक, तृतीय परम-निरुद्ध एव त्रिविधमविचारभक्तप्रत्याख्यान ॥२००६॥

गा०—यदि प्राचीन ऋषियोगी प्रतिमाओकी वन्दना करनेवालेको पुण्य होता है तो क्षपक की वन्दना करने वालोंको विपुल पुण्य कथो नहीं प्राप्त होगा ॥२००२॥

गा०—जो तीव्र भक्तिपूर्वक क्षपककी सेवा करता है उसकी भी सम्पूर्ण आराधना सफल होती है ॥२००३॥

गा०—इस प्रकार विस्तारसे विचारपूर्वक किये गये भक्तप्रत्याख्यानका कथन किया । आगे अविचार भक्तप्रत्याख्यानका कथन करते हैं ॥२००४॥

गा०—जब विचार पूर्वक भक्तप्रत्याख्यान करनेका समय न रहे, और महसा मरण उपस्थित हो जाये तो कुछ करनेमें अनमर्थ मुनि अविचार भक्त प्रत्याख्यान स्वीकार करता है ॥२००५॥

गा०—अविचार भक्तप्रत्याख्यानके तीन भेद है—प्रथम निरुद्ध, दूसरा निरुद्धतर और तीसरा परमनिरुद्ध ॥२००६॥

निरुद्धमेवभूतस्य भवतीत्याचष्टे—

तस्स णिरुद्धं भणित् रोगादकेहिं जो समभिभूदो ।

जधावलपरिहीणो परगणगमणम्मि ण गमत्थो ॥२००७॥

तस्स णिरुद्ध भणित्' तस्य निरुद्धमुक्त रोगेण आतड्डुन वा यस्समभिभूत जहावलपरिहीणा वा परगणगमनाममर्थो य ॥२००७॥

जावय बलविरिय से सो विहरदि ताव णिप्पडीयारो ।

पच्छा विहरदि पडिजग्गिज्जतो तेण सगणेण ॥२००८॥

जावय बलविरिय' यावद्वलवीय चास्ति । 'से' तस्य । 'सो विहरति' स तावद्गणे प्रवर्तते निष्प्रतीकार यदा शक्तिरस्तीन्द्रन्दूना तदा पश्चाद्विहरति तेन स्वगणेन क्रियमाणोपकार ॥२००८॥

इय मण्णिरुद्धमरण भणिय अणिहारिम अवीचार ।

मो चेव जधाजोग्ग पुव्वुत्तविधी हवदि तस्म ॥२००९॥

'इय सण्णिरुद्धमरण भणित्' एव सन्निरुद्धमरण भणित्, जहावलपरिहानतया व्याध्यभिभवेन वा स्वस्मिन्गणे निरुद्धो यन्तस्य मरण निरुद्धमरण । 'अणिहारिम' सविचारभक्तप्रत्याख्यानोस्तपरित्यागाभावात्, परित्यागहीन अनियतविहारविधिविचारणाभावाद्वादीचार । आरम्य एव गणे आचार्यस्य समीपे प्रव्रज्यती-
चार उक्त्वा निन्दागर्हापर कृतप्रतिक्रम कृतप्रायश्चित्तो यावद्वीर्यमस्ति तावन्निष्प्रतीकारो विहरति, यदा हीनसर्वचेष्टन्तदा परैरनुगृह्यमाणो विहरति ॥२००९॥

निरुद्ध किसके होता है, यह कहते हैं—

गा०—जो रोगमे ग्रस्त है, पैरोगे चलनेकी शक्ति न होनेसे दूसरे सधमे जानेमे असमर्थ है उसके निरुद्ध नामक अविचार प्रत्याख्यान होता है ॥२००७॥

गा०—जवतक उसमे शक्ति रहती है तवतक वह अपने सधमे रहते हुए किसीसे परिचर्या नहीं कराता । पीछे शक्तिहीन होनेपर अपने सधके द्वारा परिचर्या कराता हुआ विहरता है ॥२००८॥

गा०—टी०—पैरोगे चलनेकी शक्ति न होनेसे तथा रोगसे ग्रस्त होनेके कारण जो अपने ही सधमे निरुद्ध है—रुका है उनके मरणको निरुद्धमरण कहते हैं । इस प्रकार निरुद्धमरणका स्वरूप कहा है । सविचार भक्तप्रत्याख्यानमे जिस प्रकार मध आदिका त्याग किया जाता है वह इसमे सभव न होनेसे यह मरण पणित्यागसे रहित है । और इसमे अनियत विहार आदि विधिका विचार न होनेसे यह अवीचार है । अर्थात् अपने ही सधमे आचार्यके समीपमे दीक्षा लेकर उनसे अपने दौप कट्ठवर अपनी निन्दा और गर्हा करता है, प्रतिक्रमण करता है, प्रायश्चित्त लेता है । और जब तक शक्ति रहती है तब तक दूसरेकी सहायताके बिना अपनी आराधना करता है । जब शक्ति अत्यन्त हीन हो जाती है तब दूसरेसे सहायता लेकर अपनी आराधनाओका पालन करता है ॥२००९॥

दुविध तं पि अणीहारिम पगास च अप्पगाम् च ।

जणणादं च पगाम इदर च जणेण अण्णाद ॥२०१०॥

'दुविधं तं पि अणीहारिम' द्विविध तदपि अणीहारमन्त्रित भक्तप्रत्याख्यान प्रकाशरूपमप्रकाशरूपमिति ।
ज्ञात प्रकाशरूपमित्यदप्रकाशात्मक ॥२०१०॥

खवयस्स चित्तमागं खित्त काल पडुच्च सजण वा ।

अण्णम्मि य तारिसयम्मि काण्णे अप्पगाम तु ॥२०११॥

'खवयस्स चित्तसार' क्षपकस्य बृद्धि, बल, क्षेत्र, काल, स्वजन वा प्रतिपद्य अन्यस्मिन्वा तादृशे
कारणे जाने अप्रकाशभक्तप्रत्याख्यान, यदि क्षपक क्षुदादिपरीपहामह, वसतिर्वा अविविक्ता, कालो वा
अतिरुक्षो, बधवो वा यदि परित्यागविघ्न कुर्वन्ति न प्रजाय कार्यं । निरुद्ध गद ॥२०११॥

निरुद्धतरय व्याचष्टे—

वालग्गिवग्घमहिसगयरिछपडिणीय तेण मिच्छेहिं ।

मुच्छाविस्सुचियादीहिं होज्ज सज्जो हु वावची ॥२०१२॥

'वालग्गिवग्घमहिम' व्याप्तेनाग्निना, व्याघ्रेण, महिषेण, गजेन, ऋक्षेण, शत्रुणा, स्तेनेन, म्लेच्छेन,
मूर्च्छया, विमूचिकादिभिर्वा मद्यो व्यापत्तिभवेत् ॥२०१२॥

जाव ण वाया कियदि बल च विरिय च जाव कायम्मि ।

तिव्वाए वेदणाए जाव य चित्त ण विक्खित्त ॥२०१३॥

'जाव ण वाया कियदि' यावद्वाग्नि विनश्यति बल वीर्यं च यावदन्ति काये तीव्रया वेदनया यावच्चित्त
न व्याक्षिप्त भवति तावत् ॥२०१३॥

शा०—टी०—वह अनिहार नामक भक्तप्रत्याख्यान, जिसमें अपना मद्य नहीं छोड़ा जाता
है, और इनीलिये जिसे स्वगणस्थ भी कहा जाता है, दो प्रकार है—एक प्रकाशरूप और दूसरा
अप्रकाशरूप । जो लोगोके द्वारा ज्ञात होता है वह प्रकाशरूप है और जिसकी लोगोको भवर नहीं
होती, वह अप्रकाशरूप है ॥२०१०॥

शा०—टी०—क्षपकके मनोबल, क्षेत्र, काल अथवा स्वजन तथा इस प्रकारके अन्य कारणके
होनेपर उमे दृष्टिमे रखकर अप्रकट भक्तप्रत्याख्यान होता है । अर्थात् यदि क्षपक भूख प्यास
आदिकी परीपह महनेमे असमर्थ होता है, या, वसति एकान्तमे नहीं होती, या प्रीप्प आदि शत्रु
होती हैं या परिवारके लोग विघ्न कर सकते हैं तो ममाधिको प्रकट नहीं किया जाता ॥२०११॥

अत्र निरुद्ध समाधिकी विधि कर्तव्य है—

शा०—सर्प, अग, व्याघ्र, भंसा, हाथी, रौड, शत्रु, चोर, म्लेच्छ, मूर्छा या विमूचिका
आदि रोगसे तत्काल यदि मरण उपस्थित हो ॥२०१२॥

शा०—तो जब तक बोली वन्द न हो, जब तक शरीरमें बल और शक्ति रहे, और जब
तक तीव्र वेदनावे कारण चित्त व्याकुल न हो ॥२०१३॥

णच्चा संवट्टिज्जंतमाउग सिग्घमेव तो भिक्खु ।

गणियादीण सण्णिहिदाण आलोचए सम्म ॥२०१४॥

णच्चा संवट्टिज्जत आउग' ज्ञात्वा सह्यमाणमायु शीघ्रमेव ततो भिक्षुराचार्यादीना सन्निहितानाम-
लोचना सम्पक् कुर्वत् रत्नत्रयाराधनाया परिणत । व्युत्सृजेत् वमति, मस्तरमाहारमुपधि शरीर परिचारकान्,
बलवीर्य हाने परगणगमनासमर्था निरद्धा प्रदशा प्रकषेण निरुद्धतरक इत्युच्यते ॥२०१४॥

एव गिरुद्धदरय विदिय अणिहारिम अवीचार ।

सो चैव जघाजोग पुब्बुत्तविधी हवदि तस्स ॥२०१५॥

स्पष्टार्यगाथा । निरुद्धर ॥२०१५॥

वालादिएहिं जडया अक्खित्ता होज्ज भिक्खुणो वाया ।

तडया परमणिरुद्ध भणिद मरण अवीचार ॥२०१६॥

'वालादिएहिं' व्यालादिभिः पूर्वोक्तं यदोपहृतस्य वाग्निनष्टा तदा पग्निनिरुद्धमरण । वाग्निरो-
घोऽत्र परमशब्देनोच्यते ॥२०१६॥

णच्चा संवट्टिज्जतमाउग सिग्घमेव तो भिक्खु ।

अरहतसिद्धसाहूण अविग सिग्घमालोचे ॥२०१७॥

'णच्चा संवट्टिज्जत आउग' ज्ञात्वोपसन्ध्यमाणमायु अर्हता सिद्धाना मायूना चान्तिने शीघ्र
मालोचना कुर्वति ॥२०१७॥

गा०—माधु, अपनी आयुको शीघ्र ही समाप्त होती हुई जानकर जो निकटवर्ती आचार्य
आदि हो, उनके सन्मुख अपने दोषोकी सम्पक् रूपसे आलोचना करे । तथा रत्नत्रयकी आराधनामे
तत्पर होता हुआ वमति, मस्तर, आहार, उपाधि, शरीर और परिचारकोंसे ममत्वका त्याग कर दे ।
बल और वीर्यके क्षीण होनेसे जिनके प्रदेश अन्य सधमे जानेमे अत्यन्त असमर्थ होते हैं उन्हें
निरुद्धतरक कहते हैं ॥२०१४॥

गा०—इस प्रकार विहार रहित अत्यन्त निरोध रूप अविचार भक्तप्रत्याख्यानके दूसरे
भेद निरुद्धतरका कथन किया । पूर्वमे भक्त प्रत्याख्यानको जो विधि कही है वही विधि यथायोग्य
यहाँ भी जानना ॥२०१५॥

गा०—जत्र पूर्वोक्त मर्ष आदिसे डसे जानेके वा ण क्षणकरी वाणी नष्ट हो जाती है, वह
बोल नहीं सकता तत्र उसके परम निरुद्ध नामक अविचार भक्तप्रत्याख्यान होता है । यहाँ परम
शब्दमे वाणीका रकना कहा है ॥२०१६॥

गा०—तव वह साधु शीघ्र ही अपनी आयुको समाप्त होनी हुई जान अर्हन्तो, सिद्धो और
सायुजनोंके पासमे सकाल आलोचना करे ॥२०१७॥

आराधणाविधी जो पुर्व्वं उववण्णिदो सर्व्वित्थारो ।

सो चैव जुज्जमाणो एत्थ विही होदि णादब्बो ॥२०१८॥

'आराधणाविधी' आराधनाया विधेयं पूर्वं विस्तारो व्याख्यत स एवात्रापि मुख्यमानो जातव्य ॥२०१८॥

एव आसुक्कारमरणे वि सिज्जति केइ धुदकम्मा ।

आराधयित्तु केई देवा वेमाणिया होंति ॥२०१९॥

'एव आसुक्कारमरणे वि' एव सहसा मरणेऽपि मिध्यन्ति विधुत्कर्मसहतय । केचिदाराध्य वैमानिका देवा भवन्ति ॥२०१९॥

आराधणाए तत्थ दु कालस्स बहुत्तण ण हु पमाण ।

बहवो मुहुत्तमत्ता ससारमहण्णव तिण्णा ॥२०२०॥

अथमल्पेन कालेन निवृत्तिर्मान्येत्याशङ्का न कार्येति वदति—'आराधणाए तत्थ दु', तस्यामाराधनाया कालस्य बहुत्व न प्रमाण । बहवो मूर्तमात्रेणाराध्य ससारमहार्णव तीर्णा ॥२०२०॥

खणमेत्तेण अणादियमिच्छादिट्ठी वि वद्धणो राया ।

उसहस्स पादमूले सबुज्झिता गदो सिद्धिं ॥२०२१॥

'खणमेत्तेण' क्षणमात्रेणानादिमिथ्यादृष्टिरपि बद्धननामधेयो राजा ऋपभस्य पादमूले सबुद्धो गत सिद्धि ॥२०२१॥

सौलसतित्थयराण तित्थुप्पण्णस्स पढमदिवसम्मि ।

सामण्णणाणसिद्धी भिण्णमुहुत्तेण सपण्णा ॥२०२२॥

परमणिषड् ॥२०२२॥

गा०—पूर्व्वमे जो आराधनाकी विधि विस्तार पूर्व्वक कही हैं वही यहाँ भी यथायोग्य जानना ॥२०१८॥

गा०—इस प्रकार सहसा मरण होनेपर भी कोई-कोई मुनि कर्मोंको नाश करके मुक्त होते हैं और कोई आराधना करके वैमानिक देव होते हैं ॥२०१९॥

गा०—थाडे ही समयमे मोक्ष कैसे हो सकता है ऐसी आशका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि आराधनामे कालका बहुत्तणना प्रमाण नहीं है । बहुत्तसे मुनि एक मुहूर्त मात्रमे आराधना करके ससारसमुद्रको पार कर गये हैं ॥२०२०॥

गा०—अनादि मिथ्यादृष्टि भी बद्धन नामका राजा भगवान् ऋपभदेवके पादमूलमे बोध को प्राप्त होकर मोक्षको गया ॥२०२१॥

गा०—भगवान् ऋपभदेवसे शान्तिनाथ तीर्थकर पर्यन्त सोलह तीर्थकरोंके तीर्थकी उत्पत्ति होनेके प्रथम दिन ही बहुत्तसे माधु दीक्षा लेकर एक क्षन्तमुहूर्तमे वेवलजानको प्राप्तकर मुक्त हुए ॥२०२२॥

१ एता टीकात्रागे नेचरति ।

११०

एसा भक्तपदङ्गणा वाससमासेण वण्णिदा विधिणा ।
इत्तो इगिणिमरण वाससमासेण वण्णेसिं ॥२०२३॥

‘एसा भक्तपदङ्गणा’ एतद्भक्तप्रत्याख्यान व्यासन मक्षेपेण च वणित । अत्र ऊर्ध्वं सान्यासि-
कमिगिणीमरण व्यासमानाम्ना वर्णयिष्यामि ॥२०२३॥

जो भक्तपदङ्गणाए उवक्कमो वण्णिदो भविथारो ।
सो चैव जधाजोग्गं उवक्कमो इगिणीए वि ॥२०२४॥

‘जो भक्तपदङ्गणाए’ यो भक्तप्रत्याख्यानस्य उपक्रमो व्यावर्णित सविस्तार स एव यथासम्भवमुपक्रमो
इगिणीमरणेऽपि ॥२०२४॥

पव्वज्जाए सुद्धो उवसपज्जित्तु लिगक्कप्प च ।
पवयणमोगाहित्ता विणयममाधीए विहरित्ता ॥२०२५॥

‘पव्वज्जाए सुद्धो’ प्रव्रज्याया मुद्धो दीक्षाग्रहणयोग्य इत्यर्थ । एतेन अर्हता निरूपिता । ‘उव-
सपज्जित्तु’ प्रतिपद्य । ‘लिगक्कप्प च’ योग्य लिङ्ग ‘लिग इत्यनेन सूचितम् । पवयणमोगाहिता’ श्रुतमवगाह्य
एतेन शिक्षा उपन्यन्ता । ‘विणयसमाधीए विहरित्ता’ विनयसमाधी विहृत्य ॥२०२५॥

णिप्पादित्ता सगण इगिणिविधिसाधणाए परिणमिया ।
सिदिमारुहित्तु भाविय अप्पाण सल्लिहित्ताण ॥२०२६॥

‘णिप्पादित्ता सगण’ योग्य वृन्दा स्वगण । इगिणीविधिसाधनाय परिणतो भूत्वा, ‘सिदिमारुहित्तु’
परिणामथे निमाहस्य । ‘भाविय’ भावना प्रतिपद्य । ‘अप्पाण सल्लिहित्ताण’ आत्मान सल्लिख्य ॥२०२६॥

गा०—इम भक्तप्रत्याख्यानका विस्तार और मक्षेपसे विधिपूर्वक कथन किया । आगे
इ गिनीमरण का विस्तार और मक्षेपसे वर्णन करेंगे ॥२०२३॥

गा०—जो भक्त प्रत्याख्यानकी विधि विस्तारसे कही है वही विधि इगिनीमरणकी यथा-
योग्य जाननी चाहिये ॥२०२४॥

वही विधि कहते हैं—

गा०—जो दीक्षा ग्रहणके योग्य है वह निग्रन्थ लिग धारण करके श्रुतका अभ्यास करे
तथा विनय और समाधिमें विहार करे ॥२०२५॥

विशेषार्थ—दीक्षा ग्रहण योग्यसे अर्हताका कथन किया है, लिगमे लिगकी सूचना की है ।
और श्रुतान्याससे शिक्षाका ग्रहण किया है । इस प्रकार भक्तप्रत्याख्यानमे जो कहा या उसीको
यहाँ कहा है ॥२०२५॥

गा०—अपने मयको इगिनीमरणकी विधिकी भाषनामे योग्य करके अपने चित्तमे यह
निश्चय करे कि मैं इगिनीमरणको साधना करूँगा । फिर शुभ परिणामोकी श्रेणि पर आरोहण
करके तप आदिकी भावना करे और अपने शरीर और कर्पायोंको कृत्र करे ॥२०२६॥

परियाइगमालोचिय अणुजाणित्ता दिम महजणस्म ।

तिविधेण खमावित्ता मवालवुड्ढाउल गच्छ ॥२०२७॥

‘परियाइगमालोचिय’ क्रमेण रत्नत्रयाचारमालोच्य । ‘अणुजाणित्ता’ अनुज्ञाप । ‘दिम’ गणपर । ‘महजणस्म’ महाजनस्य चतुर्विधसधम्येत्यर्थ । ‘तिविधेण खमावित्ता’ त्रिविधेन क्षमापित्वा । सवाल-वृद्धाकुल गच्छ ॥२०२७॥

अणुमट्टि दादूण य जावज्जीवाय विप्पओगच्छी ।

अब्भदिगजादहासो णीदि गणादो गुणसम्मगो ॥२०२८॥

‘अणुमट्टि दादूण य’ शिक्षा दत्त्वा गणपतेर्गणस्य च । ‘जावज्जीवाय विप्पओगच्छी’ यावज्जीव विप्र-योगार्थी । ‘अब्भदिगजादहासो’ कृतायोऽस्मीति जातस्य । ‘णीदि गणादो’ नियतिं यतिवणान् । ‘गुणसम्मगो’ संपूर्णगुण ॥२०२८॥

एव च णिक्कमित्ता अतो वाहि व थडिले जोगे ।

पुढवीसिलामए वा अप्पाण णिज्जवे एक्को ॥२०२९॥

‘एव च णिक्कमित्ता’ एव विनिष्क्रम्य । ‘थडिले जोगे’ समे समुन्वते कठिने जीवरहिततया योग्ये । ‘अतो वाहि व’ अतर्वर्तिना । ‘पुढवीसिलामए वा’ पृथ्वीसस्तरे शिखामये वा । ‘अप्पाण णिज्जवे एक्को’ आत्मान निर्जयेद् देहनहाय ॥२०२९॥

पुण्वुत्ताणि तणाणि य जाचित्ता थडिलम्भि पुण्वुत्ते ।

जदणाए सथरिच्चा उच्चरसिरमधव पुच्चसिर ॥२०३०॥

‘पुण्वुत्ताणि तणाणि य’ पूर्वोक्तानि तृणानि निस्सधि नि छिद्रजतुरहितानि शरीरस्थितिसाधनमा-
णाणि मूत्रनि प्रतिलेखनायोग्यानि ग्राम नगर वा प्रविश्य याज्ञया गृहीतानि पूर्वोक्ते स्थण्डिले कोज्जो सालाव

गा०—रत्नत्रयमे लगे दोषोकी क्रमसे आलोचना करे और अपने स्थान पर अन्य आचार्य-
की स्थापना करके उन्हें सब बतला दे । तथा चतुर्विध वृद्ध मुनियोंने भरे अपने गच्छको शिक्षा
देकर जीवनपर्यन्तके लिये मधसे अलग होनेकी इच्छा करता हुआ प्रसन्न होता है कि मैं कृतार्थ
हुआ और इस प्रकार वह सम्पूर्ण गुणोंसे विशिष्ट होकर मुनिमधसे चला जाता है ॥२०२७-२८॥

गा०—इस प्रकार मधसे निकलकर गुफा आदिके अन्दर या बाहर जीवरहित तथा समान
रूपसे ऊँचे कठिन भूमिप्रदेशमें पृथ्वीरूप सस्तर पर या शिलामय मस्तर पर एकाकी आश्रय
लेता है । अपने शरीरके मिवाय उसका अन्य कोई महापक् नहीं होता ॥२०२९॥

गा०—दो०—वह गाँव या नगरमें जाकर तृणोकी याचना करता है जो तृण छिद्ररहित,
जन्तुरहित, कोमल तथा शरीरकी स्थितिके लिये साधन मात्र और प्रतिलेखनाके योग्य होने
चाहिये उन तृणोंको वह उक्त भूमि प्रदेश पर प्रतिलेखनापूर्वक मावधानतामें पृथक्-पृथक् करके

विस्तीर्णां विध्वस्त अमुपिरोऽदिल निजन्तुवस्तास्मिन्मण्डले । 'जदणाए सर्परत्ता' यन्नेन मस्तर वृत्वा यत्न ७ तृणाना पृथक्करण मस्तरभूमिप्रतिलेखन, 'उत्तरसिरमधव पुत्रसिर सद्यार सर्परत्ता ध' पूर्वात्-माङ्गमुत्तरोत्तमाङ्ग वा रुस्तर मस्तीर्य सिर प्रभृति काय पादो च यत्नेन प्रमाग्य ॥२०३०॥

पाचीणाभिमुद्धो वा उदीचिहुत्तो व तत्थ सो ठिच्चा ।

सीसे कदजलिपुडो भावेण विसुद्धलेस्सेण ॥२०३१॥

'पाचीणाभिमुद्धो वा उदीचिहुत्तो व तत्थ सो ठिच्चा' प्राङ्मुखो उदहमुखी वा भूत्वा तत्र मस्तरं सस्थित्वा । 'सीसे कदजलिपुडो' मस्तरं न्यस्तद्वृताञ्जलि । 'भावेण विसुद्धलेस्सेण' विगुद्धलेऽयाममन्विनेन भावेन ॥२०३१॥

अरहादिअतिग तो किच्चा आलोचण सुपरिसुद्ध ।

दसणणाणचरित्त परिसारेदूण णिस्सेस ॥२०३२॥

'अरहादिअतिग' अ 'दादन्तिक' । 'तो' परचात् आलोचना कृत्वा सुपरिसुद्ध दसणणाणचरित्त पडि-सारेदूण' दर्शनज्ञानचारिणाणि मस्त्वत्प निरवशेष ॥२०३२॥

सव्व आहारविधि जावज्जीवाय वोसरत्ताण ।

वोमरिदूण असेम अब्भतरवाहिरे गधं ॥२०३३॥

सर्वं आहारविधि सर्व आहारविकल्प । यावज्जीव परित्यग्य बाह्याभ्यन्तरानशेषान् परिग्रहाश्च त्यक्त्वा ॥२०३३॥

सव्वे विणिज्जणतो परीपहे धिदिउलेण सजुत्तो ।

लेस्माए विरुज्जतो घम्म ज्झाण उव्वणमित्ता ॥२०३४॥

सर्वे विणिज्जणतो' सर्वांश्च जयन् परिग्रहान् घृतिबलममन्वित लेऽयामविगुद्ध सन् घर्मध्यान प्रतिपद्य ॥२०३४॥

पंला देता है । वह भूमिप्रदेश भी प्रकाश सहित, विस्तीर्ण, उद्वरहित तथा जन्तुरहित होना चाहिये । उसपर मस्तर ऐसा होना चाहिये जिसमें मित्र पूर्वदिशा या उत्तर दिशाको ओर रहे । तब मिरमें लेकर पर तब शरीरका मावधानीमें परिभाजन करके पूरव या उत्तरकी ओर मुख करके उम मस्तर पर बैठना है और हाथोंकी अजली बनाकर मस्तरमें लगाता है तथा विगुद्ध लेऽया पूर्वक अहन्त आदिके सामने अपने दोषोंकी आलोचना करके सम्म्यग्दर्शन, सम्म्यग्ज्ञान और सम्म्यक्चारित्र्य को पूर्ण रूपमें निर्मल करता है ॥२०३०-२०३२॥

गा०—समस्त प्रकारके आहारके विकल्पको जीवनपर्यन्तके लिये त्याग देना है तथा ममन्त अभ्यन्तर और बाह्य परिग्रहको त्याग देना है ॥२०३३॥

गा०—धैर्यके बलसे युक्त वह क्षपक मत्र परीपहोको जीतता है और लेऽया विगुद्धिमें ममन्ने हो, घर्मध्यान करता है ॥२०३४॥

ठिच्चा णिसिट्ठा वा तुवड्ढिण व मक्कायपडिच्चरणं ।
 सयमेव णिरुवसग्गे कुणादि विहारम्मि मो भयव ॥२०३५॥
 मयमेव अप्पणो सो करेदि आउटणादि किरियाओ ।
 उच्चारदीणि तथा मयमेव विकिचिदे विधिणा ॥२०३६॥
 जाधे पुण उवसग्गा देवा माणुस्सिया व तेरिच्छा ।
 ताधे णिप्पडियम्मो ते अधियासेदि ।वग्दमओ ॥२०३७॥
 आदितियसुसघडणो सुभसठाणो अभिज्जघिदिकवचो ।
 जिदकरणो जिदणिहो ओघरलो ओघसग्गे य ॥२०३८॥

‘ठिच्चा’ न्यित्वा आसित्वा शयन वा कृत्वा स्वकायपरिकर स्वयमेव निरूपसर्गे विहारे करोति । स्वमेवात्मन करोत्याङ्कुषनादिका क्रिया उच्चारकादिक च निराकारोर्जित प्रतिष्ठापनासमितिसमन्वित । यदि पुण उवसग्गा’ यदा पुनरुपसर्गा दवमनुष्यतिर्यक्कृता भवन्ति तदा निष्प्रतीकागस्तान् सहते विगतभय । ‘आदितियसुसघडणो’ आद्येषु त्रिषु सहननेषु अत्यन्तममहनन शुभसस्थानोऽभेधघृतिक्वचो जितकरणो जितनिद्रो महाबलो निनरा शूर ॥२०३५-२०३८॥

वीभत्थभीमदरिसणाविगुब्बिदा भूदरक्खसपिसाया ।

खोभिज्जो जाद वि तय तधवि ण सो सभम कुणइ ॥२०३९॥

‘वीसत्थभीमदरिसणाविगुब्बिदा’ वीभत्सभीमदर्शनविक्रिया भूतराजसपिसाया यद्यपि क्षोभ कुर्वन्ति तथा प्यसौ न सभम करोति ॥२०३९॥

इड्ढिमतुल विउब्बिय किण्णरक्किपुरिसदेवकण्णाओ ।

‘लोलति जदिवि तगं तधवि ण सो विम्भय जाई ॥२४०॥

गा०—वह कायोत्सर्गसे स्थित होकर अथवा पर्यङ्कासन आदिसे बैठकर अथवा एक पादवंसे शयन करते हुए धर्मध्यान करता है । तथा उपसर्गरहित दशामे स्वय ही अपने शरीरकी परिचर्या—हाथ-शेरोका सकोचन, फेलाना आदि करता है । स्वय ही प्रतिष्ठापना सपिनपुर्वक शौच आदि करता है ॥ यदि देवकृत, मनुष्यकृत या तिर्यञ्चकृत उपसर्ग होता है तो उसका प्रतिकार नहीं करता है और निर्भय होकर उसे सहन करता है ॥ क्योंकि उसके धादिके वचवृषभनाराच, वज्जनाराच और नाराच नामक तीन शुभ सहननोमंसे कोई एक सहनन होता है, समचतुरस्र मस्थान होता है । न भेदने योग्य धर्मरूपो कवच होता है । वह इन्द्रियो और मिद्रा पर विजय प्राप्त करता है । महाबली और शूरवीर होता है ॥२०३५-३८॥

गा०—यदि अत्यन्त भयकर विक्रियाके द्वारा भूत, राक्षस और पिशाच जातिके व्यन्तरदेव उमे डरावें तो भी वह विचलित नहीं होता ॥२०३५॥

'इडिदमतुल विगुदिव्य' ऋद्धिमतुला विद्वत्पत्निरकिपुरषादिदेवकन्या यद्यप्युपलालन कुर्वन्ति तदाप्यसौ न विस्मय मति ॥२०४०॥

सर्वो योगगलकाओ दुःखत्ताए जदिवि तमुवणमेज्ज ।

तद्यवि य तस्स ण जायदि ज्ञाणस्स विसोत्तिया को वि ॥२०४१॥

'सर्वो योगगलकाओ' सर्वं पुद्गलद्रव्य दुःखतया यदि तमभिहन्ति तदापि तस्य न जायते ध्यान-
स्थान्ययावृत्ति ॥२०४१॥

सर्वो योगगलकाओ सोःखत्ताए जदि वि तमुवणमेज्ज ।

तद्य वि हु तस्स ण जायदि ज्ञाणस्स विसोत्तिया को वि ॥२०४२॥

स्पष्टोत्तरगाथा ॥२०४२॥

मच्चित्ते साहरिदो तत्थ उवेकखटि वियत्तसव्वंगो ।

उवमग्गे य पसते जदणाए थडिलमुवेदि ॥२०४३॥

'सच्चित्ते साहरिदो' व्याघ्रादिभि सचित्ते निक्षिप्त म तत्रैवोपेक्षते स्वकनसर्वाङ्ग । उपसर्गं प्रसाते
थलेन स्पष्टिलमुपैति ॥२०४३॥

एवं उवमग्गविधि परीसहविधि च सोधिया सतो ।

मणवयणकायगुत्तो सुणिच्छिदो णिज्जिदकसाओ ॥२०४४॥

'एव उवसग्गविधि एवमुपसर्गान् परिपहात्च सहमानस्त्रिगुप्त सुनिश्चितो निश्चितवपाय ॥२०४४॥

इहलोए परलोए जीविदमरणे सुहे य दुक्खे य ।

णिप्पडिबद्धो विरहदि जिददुक्खपरिस्ममो धिदिम ॥२०४५॥

गा०—किन्नर किपुरष जातिके व्यन्तर देवोकी देवागनाएँ अतुल ऋद्धिरूप विक्रियाके द्वारा यदि उसे लुभाती हैं तो भी वह उनके लोभमें नहीं आता ॥२०४०॥

गा०—यदि तीन लोकवर्ती समस्त पुद्गल द्रव्य दुःखरूप परिणत होकर उसे दुःखी करें तब भी वह ध्यानमें विचलित नहीं होता ॥२०४१॥

गा०—तथा तीन लोकवर्ती समस्त पुद्गलद्रव्य सुखरूप परिणत होकर उसे सुखी करें तब भी वह ध्यानमें विचलित नहीं होता ॥२०४२॥

गा०—यदि व्याघ्र आदिके द्वारा वह हरित तृणोंसे भरे हुए प्रदेशमें डाल दिया जाता है तो अपने शरीरका मोहत्याग शान्तभावसे बड़ी स्थिर रहता है और उपसर्ग दूर होनेपर सावधानता पूर्वक तृणरहित भूमिप्रदेशमें चला आता है ॥२०४३॥

गा०—इस प्रकार उपसर्गों और परीषहोको सहन करते हुए वह मनोगुप्ति वचनगुप्ति और कायगुप्तिका पालन करता है । तथा स्थिरतापूर्वक कपाचोंको जीतता है ॥२०४४॥

गा०—दुःख और परिश्रमपर विजय प्राप्त करने वाला वह धीर वीर क्षपक इत लोक,

‘इहलोगे परलोगे’ इह परत्र च जीविते मरणे सुखे दुःखे च अप्रतिबन्धो विहरति जितदुःखपरिश्रम
धृतिमान् ॥२०४५॥

वायणपरियट्टणपुच्छणाओ मोत्तूण तथय धम्मथुदिं ।
सुत्तथपोरिसीसु वि सरेदि सुत्तथमेयमणो ॥२०४६॥

‘वायणपरियट्टणपुच्छणाओ’ वाचना, परिवर्तन, प्रश्न च मुक्त्वा च तथा धर्मोपदेश सूत्रस्यायस्य वा
स्मरत्येकचित्त ॥२०४६॥

एव अट्टवि जामे अनुवट्टो तच्च ज्ञादि एयमणो ।
जदि आघरूचा गिहा हविज्ज सो तत्थ अपदिण्णो ॥२०४७॥

‘एव अट्टवि जामे’ एवमेवात्सु यामेषु निरतशसनक्रियो ध्यायेकचित्त, यथाहृत्य निद्रा भवेन तत्र
अप्रतिज्ञोप्तो ॥२०४७॥

सज्झायकालपडिलेहणादिकाओ ण मति किरियाओ ।
जम्हा ममाणमज्झे तस्स य ज्ञाण अपडिसिद्ध ॥२०४८॥

‘सज्झायका-पडिलेहणादिकाओ’ स्वाध्यायकालप्रतिलेखनादिका क्रिया न भन्ति यस्मान् स्मरणमध्येषु
तस्य ध्यान न प्रतिपिद्ध ॥२०४८॥

आवासग च कुणदे उवधोकालम्मि जं जहिं कमदि ।
उवकरणपि पडिलिहइ उवधोकालम्मि जदणाए ॥२०४९॥

‘आवासग च कुणदे’ आवश्यक च करोति कालद्वयेषु यस्मिन्काले प्रवर्तते, उपकरणप्रतिलेखनमपि
यत्नेन कालद्वये करोति ॥२०४९॥

परलोक, जीवन, मरण, सुख और दुःखमें रागद्वेष रहित होकर विहरता है अर्थात् न जीवन
आदिसे राग करता है और मरण आदिसे द्वेष करता है ॥२०४५॥

गा०—स्वाध्यायके पाँच भेदोंमेंसे वाचना, आम्नाय, पृच्छना और धर्मोपदेशको त्यागकर
वह अस्वाध्यायकालमें भी एकाग्रमनसे सूत्रके अर्थका ही अनुचिन्तन करता है । अर्थात् सतत
अनुप्रेक्षारूप स्वाध्यायमें ही लीन रहता है ॥२०४६॥

गा०—इस प्रकार वह दिन रातके आठों पहरोमें निद्राको त्यागकर एकाग्र मनसे ध्यान
करता है । यदि कभी बलान् निद्रा आ जाती है तो सो लेता है ॥२०४७॥

गा०—अन्य मुनियोंकी तरह न तो उनका स्वाध्यायकाल ही नियत होना है और न उन्हें
प्रतिलेखना आदि क्रिया करना ही आवश्यक होना है । उनके लिये स्मृशानमें भी ध्यान करना
निषिद्ध नहीं है ॥२०४८॥

गा०—किन्तु दिन रातमें जब जो आवश्यक करनेका विधान है वह अवश्य करते हैं और
मावधानता पूर्वक दोनों कालोंमें अपने उपकरणोंकी प्रतिलेखना भी करते हैं ॥२०४९॥

महसा चुक्करकलिदे गिंसीधियादीसु मिच्छकारे सो ।

आसिअगिंसीधियाओ गिग्गमणपवेसणे कुण्ड ॥२५००॥

‘महसा चुक्करकलिदे’ सहसा स्खलने जाते मिथ्या मया वृत्तमिति ब्रवीति, निष्क्रमणप्रवेशयो आमि-
कानिपोधिकान्दप्रयोग करोति ॥२०५०॥

पादे कटयमादिं अच्छिम्मि रजादिय जदावेज्ज ।

गच्छदि अघाविधिं सो परणीहरणे य तुण्हिक्को ॥२०५१॥

‘पादे कटयमादिं’ पादयो कटकप्रवेशे नेत्रयो रज प्रभृतिप्रवेशेऽपि तूष्णीमास्ते, परनिराकरणेऽपि स
तूष्णीमास्ते ॥२०५१॥

वेउव्वणमाहारयचारणसीरासवादिलद्धीसु ।

तवमा उप्पण्णासु वि विगगभावेण सेवदि सो ॥२०५२॥

‘वेउव्वणमाहारय’ विविधाऋद्धौ आहारकऋद्धौ चारणऋद्धौ क्षीरासवादिल्लिधियु वा तपमोत्पन्ना-
स्वपि विरागत्या न किंचित्मेवते स ॥२०५२॥

भोणाभिग्गहणिरदो रोगादंकादिवेदणाहेदु ।

ण कुणदि पडिकार सो तहेव तण्हाछुहादीण ॥२०५३॥

‘भोणाभिग्गहणिरदो’ मौनव्रतोपपन्न रोगातद्वादिवेदनानिमित्त प्रतीकार न करोति तथैव तृडा-
दीनामपि ॥२०५३॥

उवएसो पुण आइरियाण इगिणिग्गदो वि छिण्णकधो ।

देवेहि माणुसेहिं व पुट्ठो घम्म कघेदिचि ॥२०५४॥

गा०—यदि उसमें स्वचिन् चूक जाते हैं तो भिरा दोष मिथ्या हो’ ‘मैंने गलत किया’ ऐसा
बोलते हैं। तथा बाहर जाने और भीतर प्रवेश करनेपर ‘आसही, निसही’ शब्दोंका उच्चारण भी
करते हैं ॥२०५०॥

गा०—यदि पैरमें कांटा घुस जाता है या बाँवमें धूल आदि चली जाती है तो चुप रहते
हैं स्वयं उसे दूर नहीं करते। यदि दूसरा दूर करता है तब भी चुप ही रहते हैं ॥२०५१॥

गा०—यदि तपके प्रभावसे उन्हें विक्रिया ऋद्धि, आहारक ऋद्धि या चारण ऋद्धि अथवा
क्षीराश्रव आदि ऋद्धियाँ प्रकट होती हैं तो निरागी होनेमें उनका किञ्चित् भी सेवन नहीं
करते ॥२०५२॥

गा०—वह मौनका पालन करनेमें लीन रहते हैं, रोग आदिमें होनेवाले कष्टको दूर करनेका
प्रयत्न नहीं करते। इसी प्रकार भूख प्यास आदिका भी प्रतीकार नहीं करते ॥२०५३॥

'उवसो पुण आइरियाण' उपदेश पुन आचार्याणा इङ्गणीगतोऽपि धम कययति देवेमनुष्यैवां पृष्ट ।
कय कययति टिन्नकय प्रवर्तनेन महता ॥२०५४॥

एवमद्यक्खादविधि साधित्ता इगिणीं धुदकिलेमा ।

मिज्झति केड केई हवति देवा विमाणेसु ॥२०५५॥

'एवमद्यक्खादविधि' एव यदाध्यानक्रमेण इङ्गणी प्रमाय निरस्तकृशा केचित्मिथ्यन्ति, केचिद्वैमानिक-
देवा भवन्ति ॥२०५५॥

एद इगिणिमरण वासममासेण वण्णिद विधिणा ।

पाओगमरणमित्तो समामदो चैव वण्णेमि ॥२०५६॥

स्पष्टार्थं गाथा । इङ्गणी ॥२०५६॥

पाओवगमणमरणस्य होदि मो चैव उवक्कमो मच्चो ।

वुत्तो इगिणिमरणस्सुक्कमो जो मवित्थारो ॥२०५७॥

स्पष्टार्थं ॥२०५७॥

णवरिं तणमथारो पाओवगदस्स होदि पडिमिद्धो ।

आदपग्पओगेण य पडिमिद्ध मच्चपरियम्म ॥२०५८॥

'णवरिं तणमथारो' णवर तृणसस्तर प्रायोपगमनगन्ध प्रतिपेद, आत्मपरप्रयोगेण यन्मास्त्रतिपिद्ध
सर्वं प्रतीकार । स्वपरसपाद्यप्रतीकारापेक्ष भक्तप्रत्याख्यानविधि, परनिरपेक्षमात्मनपाद्यप्रतीकारमिगिणी-
मरण, सर्वप्रतीकाररहित प्रायोपगमनमित्यमीषा भेद ॥२०५८॥

गा०—अन्य आचार्यों का मत है कि इगिणीमरण करते हुए भी क्षपक देवों या मनुष्योंके
द्वारा पूछे जानेपर थोडासा धर्मोपदेश भी करता है किन्तु अधिक नहीं करता ॥२०५४॥

गा०—इस तरह ऊपर कहे अनुसार इगिणीमरणकी माधना करके कोई तो समस्त
बन्धोसि छूटकर मुक्त हो जाने है और कोई मरकर वैमानिकदेव होते हैं ॥२०५५॥

गा०—इस इगिणीमरणका विस्तार और भक्षेपमे विधिपूर्वक कथन किया । आगे प्रायोप-
गमनका भक्षेपमे कथन करेंगे ॥२०५६॥

गा०—ऊपर इगिणीमरणकी जो विस्तारमे विधि कही है वही मत्र विधि प्रायोपगमन
मरणकी होती है ॥२०५७॥

गा०—किन्तु इनना विशेष है कि प्रायोपगमनमे तृणोके मथरेका-तृणशय्याका निषेध
है । क्योंकि उमम स्वयं अपनेमे और दूसरोंमे भी मत्र प्रकारका प्रतीकार करना करना निषिद्ध
है ॥२०५८॥

टी०—भक्तप्रत्याख्यानमे तो अपनी सेवा स्वयं भी कर सकता है और दूसरोंमे भी
करा सकता है । इगिणीमे अपनी सेवा स्वयं कर सकता है, दूसरोंमे नहीं करा सकता । किन्तु

सो सल्लेहिददेहो जम्हा पाओवगमणमुवजादि ।

उच्चारादिविक्किंचणमवि णत्थि पओगदो तम्हा ॥२०५९॥

‘सो सल्लेहिददेहो’ स भम्यक्तूहृत्तरोरो यस्मात्प्रायोपगमनमुपयाति तस्मादुच्चारादिनिराकरणमपि नास्ति प्रयोगत ॥२०५९॥

पुढवी आऊतेऊवणप्फदितसेसु जदि वि साहरिदो ।

वोमट्ट चत्तदेहो अघाउग पालए तत्थ ॥२०६०॥

‘पुढवी आऊतेऊवणप्फदितसेसु जदि वि साहरिदो’ पृथिव्यादिषु जीवनिवायेषु यद्यपि केनचिदाहृष्ट-
स्तथापि व्युत्पृष्टगरीरसस्कारस्वयत्तदेह स्वमायु पालयेत् ॥२०६०॥

मज्जणयगघपुप्फोवपारपडिचारणे वि कीरंते ।

वोसट्टचत्तदेहो अघाउग पालए तथवि ॥२०६१॥

‘मज्जणयगघपुप्फोवपारपडिचारणे वि कीरंते’ यद्यपि कश्चिदभिपेक्षयेत् गन्धपुष्पादिभिर्वा सम्तुयात्
तथापि व्युत्पृष्टयत्तशरीरो न रम्यति न तुष्यति न निवारयति ॥२०६१॥

वोमट्टचत्तदेहो तु णिक्खिवेज्जो जहिं जघा अगं ।

जावज्जीव तु सय तहि तममं ण चालेदि ॥२०६२॥

‘वोमट्टचत्तदेहो’ व्युत्पृष्टयत्तशरीरो निक्षिपेत् कश्चिदन्यग्मिन्ययाङ्ग यावज्जीव स्वय तस्मिन्तदङ्ग न
चालयति ॥२०६२॥

एव णिप्पडियम्म भणति पाओवगमणमरहता ।

णियमा अणिहार त मिया य णीहारमुवसग्गे ॥२०६३॥

प्रायोपगमनमे अपनी सेवा न स्वय करता है और न दूसरोंसे कराता है। यही इन तीनोंमें
मेव है ॥२०५८॥

गा०—यत जो अपने शरीरको सम्यक् रूपसे कृश करता है अर्थात् अस्थि चर्ममात्र शेष
रहता है वही प्रायोपगमन मरण करता है। अत मल भूत्रके स्वय या दूसरोंके द्वारा त्याग
करानेका प्रश्न ही नहीं रहता ॥२०५९॥

गा०—यदि कोई उन्हे पृथ्वी, जल, तेज, वनस्पति और त्रम आदि जीवनिवायोमें फँक
देता है तो शरीरमें भ्रमत्व त्यागकर अपनी आयुके समाप्त होने तक वही पडे रहते हैं ॥२०६०॥

गा०—यदि कोई उनका अभिपेक्ष करे या गन्ध पुष्प आदिमें पूजा करे तब भी शरीरसे
भ्रमत्व त्यागकर न रोप करते हैं, न प्रमत्न होते हैं और न उसे ऐसा करनेमें रोक्ते हैं ॥२०६१॥

गा०—शरीरसे भ्रमत्वका त्याग करने वाला वह प्रायोपगमनका धारी क्षपक जिम श्वेत्त्रमे
जिम प्रकारसे शरीरका कोई अंग रखा गया हो, उसको बेगा ही पडा रहने देता है, स्वय अपने
अंगको हिलाना दुष्यता नहीं है ॥२०६२॥

गा०—इम प्रकार अर्हतदेव प्रायोपगमनकी स्व और परवृत्त प्रतीवारसे रहित कहते हैं।

‘एव ग्निपडिघार’ एव स्वनरकृतप्रतीकाररहित प्रायोपगमन जिना बदनन्ति, निश्चयेन तत्प्रायोपगमन-
मनीहारमचल स्याच्चलमपि उपसर्गं परकृत चलनमपेक्ष्य ॥२०६३॥

एतदेवोत्तरगायया स्पष्टयति—

उवसर्गेण वि साहरिदो सो अण्णत्थ कुणदि ज काल ।

तम्हा वुत्त णीहारमदो अण्ण अणीहार ॥२०६४॥

एतदेव स्पष्टयति ॥२०६४॥

पडिमापडिवण्णा वि हु कर्त्ति पाओवगमणमप्पेगे ।

दीहद्द विह्वता इगिणिमरणं च अप्पेगे ॥२०६५॥

‘पडिमापडिवण्णा वि हु प्रतिमाप्रतिपन्ना अपि एके प्रायोपगमन कुर्वन्ति, एके इङ्गिणिमरण ।
पाउय ॥२०६५॥

आगाढे उवसर्गे दुब्भिक्षे मच्चदो वि दुत्तारे ॥

कदजोगि ममधियासिय कारणजादेहिं वि मरति ॥२०६६॥

‘आगाढे उवसर्गे’ उपसर्गं महति दुब्भिक्षे वा दुम्तरं जाते कृतयोगिन परीपहसहा कारणजातमा-
थित्य मरणे कृतोत्साहा भवन्ति । तस्यैव वस्तुन उदाहरणानि उत रगाथाभिन्मूच्यन्ते ॥२०६६॥

निश्चयसे प्रायोपगमन अचल होता है । किन्तु उपसर्ग अवस्थामे मनुष्यादिके द्वारा चलायमान
क्रिये जानेपर चल भी होता है अर्थात् स्वय शरीरको न हिलानेमे तो अचल ही है किन्तु दूसरेके
द्वारा हिलाने पर चल होता है ॥२०६३॥

आगेकी गायते इसीको स्पष्ट करते हैं—

गा०—उपसर्गं अवस्थामे एक स्थानमे उठाकर दूसरे स्थानमे डाल दिये जाने पर यदि वह
वही मरण करता है तो उसे नीहार कहते हैं, और ऐसा नहीं होनेपर पूर्व स्थानमे ही मरण हो
तो वह अनीहार कहाता है ॥२०६४॥

गा०—जिनकी आयुका काल अल्पसे रहता है वे प्रतिमा योग धारण करके प्रायोपगमन
करते है । और कुछ दीर्घकाल तक विहार करते हुए इगिनीमरण करते है ॥२०६५॥

विशेषार्थ—आशापर जो ने इमका अर्थ इम प्रकार किया है—कुछ तो सल्लेखना न
करके ही कायोत्सर्ग पूर्वक प्रायोपगमन करते है और कोई चिरकाल तक उपवास करके प्रायोप-
गमन करते है । इसी प्रकार इगिणी भी जानना । अर्थात् उन्होंने दोनों मरणोके दोनो प्रकार
कहे है । ऊपरके अर्थके अनुसार अल्प आयु वाले प्रायोपगमन करते है इसीमे वे अपने शरीरकी
सेवा न स्वय करते है न दूसरेसे कराते है । दीर्घ आयु शेष रहने वाले इगिनीमरण करते है अन
वे अपने शरीरकी सेवा स्वय तो करते है दूसरेमे नहीं कराते । उन्हें स्वय मलमूत्रादि का त्याग तो
करना होना ही है ॥२०६५॥

गा०—महान् उपसर्गं अथवा भयानक दुब्भिक्ष होनेपर परीपहोको महन करनेमे समय
मुनि अल्प भी मरणके कारण उपस्थित होनेपर उत्साहपूर्वक मृत्युका आलिगन करते है ॥२०६६॥

कोमलय घम्ममीहो अट्ट साधेदि गिद्धपुट्टेण ।
 णयरम्मि य कोल्लगिरे चदसिग्गि विप्पजहिदूण ॥२०६७॥
 पाडलिपुत्ते धृदाहेदु मामयकदम्मि उवसग्गे ।
 साधेदि उयभसंणो अट्ट विक्खाणम किच्चा ॥२०६८॥
 अहिमारएण णिवदिम्मि मारिदे गहिदममणलिंणेण ।
 उट्टाहपसमणत्थं मत्थग्गहण अकामि गणी ॥२०६९॥
 सगडालएण वि तघा सत्तग्गहणेण साधिदो अत्थो ।
 वररुडपओमहेदु रुट्टे णदे महापउमे ॥२०७०॥
 एव पण्डियमरण मवियप्प वण्णिद सवित्थारं ।
 वुच्छामि वालपडियमग्गं एत्तो समासेण ॥२०७१॥

आगेकी गाथाओमे इसीके समर्थक उदाहरण देने हैं—

गा०—अयोध्या नगरीमें धर्मसिंह नामक राजाने अपनी चन्द्रथा नामक पत्नीको त्यागकर दीक्षा धारण की। और अपने स्वसुरके भयसे कोल्लगिरि नगरमें हाथीके बलेवरमें प्रवेश करके आराधनाकी साधना की ॥२०६७॥

विशेषार्थ—वृ० क० कोशम इसकी कथाका नम्बर १५४ है।

गा०—पाटलीपुत्र नगरमें ऋषभसेन नामक श्रेष्ठोंने अपनी पत्नीको त्यागकर दीक्षा ली। अपनी पुत्रीके स्नेहवश स्वसुरके द्वारा उपमर्ग किये जानेपर ऋषभसेनने द्वास रोककर साधना की ॥२०६८॥

विशेषार्थ—इसकी कथाका क्रमांक १५५ है।

गा०—श्रावस्ती नगरीके राजा जयसेनन बौद्धधर्म त्यागकर जैनधर्म धारण किया था। इसमें वृषित होकर लहिमारक नामक बौद्धने उसे उस समय मार डाला जब वह आचार्य यति-वपभवी नमस्कार कर रहा था। तब मुनिने अपना अपवाद दूर करनेके लिये दस्त्रसे अपना घात करते हुए मात्तक की ॥२०६९॥

विशेषार्थ—इसकी कथाका क्रमांक १५६ है।

गा०—पाटलीपुत्रमें नन्दराजाका मंत्री शकटाल था। उसने महापद्म मूर्तिमें जिन दीक्षा ग्रहण की। उसके विरोधी वररुचिने राजा महापद्मको रष्ट करके शकटालको मारनेका प्रयत्न किया तो शकटाल मुनिने पद्म नमस्कार मन्त्रका ध्यान करते हुए छुरीमें अपना पेट फाड़ डाला और इस प्रकार आराधनाकी साधना की ॥२०७०॥

विशेषार्थ—इसकी कथाका नम्बर १५७ है।

गा०—इस प्रकार भेद सहित पण्डितमरणका विस्तारसे कथा किया। जाने मक्षेपने वाल-

पडितमरण । एव पण्डितमरण सविकल्प सविस्तर व्यावर्णिन, वक्ष्यामि बालपण्डितमरणनित उर्ध्वं सक्षेपेण ॥२०६७-२०७१॥

देसैक्कदेसविरदो सम्मादिट्ठी मरिज्ज जो जीवो ।

त होदि बालपण्डितमरण जिणसामणे दिट्ठु ॥२०७२॥

देसैक्कदेसविरदो' सर्वांसयमप्रत्याख्यानम्याममर्थ हिंसाग्नेकदेशाद्विरत स्थूलभतप्राणातिपातादि-
'पञ्चकादेसविरत इत्युच्यते । एकदेशविरतो नाम देशविरमणेर्जपि एवदेशाद्ब्यावृत्त सम्यग्दृष्टिर्गो त्रियने तस्य तदालपण्डितमरण ॥२०७२॥

एतदेव स्पष्टयति—

पच य अणुव्वदाड सच्चयसिक्खाड देसजदिधम्मो ।

सञ्चेण य देसेण य तेण जुदो होदि देसजदी ॥२०७३॥

'पच य अणुव्वयाड' पञ्चाणुव्वतानि शिक्षाव्रतानि वा सप्त प्रकाराणि देशयतेष्वर्धं । तेन समस्तेन धर्मेण युत स्वराक्या वा तदेकदेशेन युतोर्जपि देशयतिरेव । द्वादशविधगृह्णधमप्रत्यायनपराणि सूत्राभ्युत्तराणि प्रमिद्वार्यानि ॥२०७३॥

पाणवघमुमावादादत्तादाणपरदारगमणेहि ।

अपरिमिदिच्छादो वि अ अणुव्वयाडं विरमणाड ॥२०७४॥

ज च दिसावेरमण अणत्थदडेहिं ज च घेरमण ।

देसावगामिय पि य गुणव्वयाड भवे ताड ॥२०७५॥

पण्डितमरणका कथन करेंगे ॥२०७१॥

गा०-टी०—जो समस्त असयमका त्याग करनेमें असमर्थ है म्यूल हिंसा, स्थूल झठ, स्थूल चोरी, म्यूल कुशील और स्थूल परिग्रह आदि पांच पापोंका त्याग करता है उसे देशविरत कहते हैं । और जो देशविरतिके भी एक देशमें विरत होता है अर्थात् अपनी शक्तिके अनुसार हिंसादिका त्याग करता है ऐसा सम्यग्दृष्टि एक देशविरत कहा जाता है । इस प्रकार जो समस्त या एकदेश गृह्ण्य धर्मका पालक श्रावक होता है उसके मरणको जिनागममें बालपण्डितमरण कहा है ॥२०७२॥

उमीको स्पष्ट करते हैं—

गा०—पाच अणुव्वत और सात शिक्षाव्रत ये देशसयमी श्रावकका धर्म है । जो उस समपूर्ण श्रावक धर्मका पालक है अथवा अपनी शक्तिके अनुसार उसके एक देशका पालक है वह भी देशसयमी ही है ॥२०७३॥

आगे वारह प्रकारके गृहीधर्मको कहते हैं जो प्रमिद हैं—

गा०—हिंसा अमन्य, त्रिना दी हुई वस्तुका ग्रहण, पर स्त्री गमन और इच्छाका अपरि-
माण इनमें विरगिरूप पाच अणुव्वत हैं ॥२०७४॥

गा०—दिसाविरति, अनर्थदण्डविरति, देशावकाशिक ये तीन गुणव्वत हैं ॥२०७५॥

भोगाण परिसखा सामाड्यमतिहिसविभागो य ।
 पोसहविधि य सव्वो चटुरो सिक्खाउ वुत्ताओ ॥२०७६॥
 आसुक्कारे मरणे अच्चोच्छिण्णाए जीविदासाए ।
 पादीहि वा अमुक्को पच्छिमल्लेहणमकामी ॥२०७७॥

'आसुक्कारे मरणे' सहसा मरणे अच्छिन्नाया जीवितासाया वन्धुभिर्वा न मुक्त पश्चिममन्त्रे स्वनाम कृत्वा कृतालोकनो निश्चल्य स्वगृह एव सस्तरमारुह्य देशविरतस्य मृतिर्बालपण्डितमित्युच्यते ॥२०७६-७७॥

आलोचिदणिस्सल्लो मघरे चेवारुहितु सथार ।
 जदि मरदि देमविरदो त वुत्तं बालपण्डिय ॥२०७८॥
 जो भत्तपदिण्णाए उवक्कमो विरथरेण णिद्धिदो ।
 सो चेव बालपण्डिमरणे णेओ जहाजोगो ॥२०७९॥
 वेमाणिएसु कप्पोवगेसु णियमेण तस्स उववादो ।
 णियमा सिज्जादि उक्कस्मएण वा सत्तमम्मि भवे ॥२०८०॥
 इय बालपण्डिय होदि मरणमरहतसासणे दिट्ठ ।
 एत्तो पण्डितपण्डितमरणं वोच्छं समासेण ॥२०८१॥

स्पष्टार्था त्रयो गाय। बालपण्डित ॥२०७८-२०८१॥

गा०—भोगपरिमाण, सामायिक, अतिथिसविभाग और प्रोपधोपवास ये चार शिक्षाव्रत कहे हैं ॥२०७६॥

गा०—महसा मरण उपस्थित होनेपर, जीवनकी आशा रहनेपर, अथवा परिजनोके द्वारा मुक्त न किये जानेपर अन्तिम सल्लेखना धारण न करके, अपने दोषोंकी आलोचना पूर्वक शल्य रहित होकर अपने घरमें ही सस्तरपर स्थित होकर देशविरत श्रावकके मरणको बालपण्डित मरण कहते हैं ॥२०७७॥

गा०—विधिपूर्वक आलोचना करके, माया मिथ्यात्व और निदान शल्यमें मुक्त होकर अपने घरमें सस्तरपर आरुह्य होकर यदि श्रावक देशविरत मरता है तो उसे बालपण्डित मरण कहा है ॥२०७८॥

गा०—भक्तप्रत्याख्यानमें जो विधि विस्तारसे कही है वही सब विधि बालपण्डितमरणमें यथायोग्य जानना ॥२०७९॥

गा०—वह श्रावक मरकर नियमसे सौधमादि कल्पोपपन्न वैमानिक देवोंमें उत्पन्न होता है और नियमसे अधिक से अधिक सात भवोंमें मुक्त होता है ॥२०८०॥

गा०—इन प्रकारके मरणको अरहन्त भगवान्के धर्ममें बालपण्डित कहा है। आगे सप्तपसे पण्डित पण्डितमरणको कहते हैं ॥२०८१॥

साहू जहुत्तचारी वड्डंतो अप्पमत्तकालम्मि ।

ज्झाण उवेदि धम्म पविट्ठुकामो खवगसेदि ॥२०८२॥

‘साहू जहुत्तचारी’ शास्त्रोक्तोन् मार्गेण प्रवर्तमानत्साधुरप्रमत्तगुणस्थानवाले धर्म्यं ध्यानमुपैति क्षपकश्रेणिं प्रवेष्टुकाम ॥२०८२॥

ध्यानपरिकर बाह्य प्रतिपादयति—

सुचिए समे विविचे देसे णिज्जतुए अणुण्णाए ।

उज्जुअआयददेहो अचल वधेत्तु पल्लिक ॥२०८३॥

‘सुचिए समे’ शुचो समे एकान्तदेशे निर्जन्तुके अनुगते तत्स्वामिभिः ऋज्वाप्यतदेह पत्न्यङ्कमचल वद्ध्वा ॥२०८३॥

वीरासणमादीयं आसणममपादमादियं ठाण ।

सम्म अधिद्धिदो वा सिज्जमुत्ताणमयणादि ॥२०८४॥

‘वीरासणादिगं’ वीरामनादिक्रमान्न वद्ध्वा समपादादिना स्थिता वा अथवा उत्तानशयनादिना वा वृत् ॥२०८४॥

पुव्वभण्णिदेण विधिणा ज्झादि ज्झाण विसुद्धलेस्साओ ।

पववणसभिण्णमदी मोहस्स खयं करेमाणो ॥२०८५॥

‘पुव्वभण्णिदेण विधिणा’ पूर्वोक्तेन क्रमेण ध्याने प्रवर्तते विशुद्धलेशेन । प्रवचनार्थमनुप्रविष्टमति मोहनोय क्षय नेतुमुद्यत ॥२०८५॥

सजोयणाऋमाए खवेदि ज्ञाणेण तेण भो पढम ।

मिच्छत्त सम्मिम्म क्रमेण भम्मत्तमवि य तदो ॥२०८६॥

‘सजोयणाऋमाए’ अनन्तानुबन्धिन क्रोधमानमायालोभान् क्षपयति ध्यानेन, तेनागो प्रथम मिष्यात्,

गा०—शास्त्रोक्त मार्गसे प्रवृत्तिं करता हुआ साधु क्षपक श्रेणिपर आन्ध होनेकी इच्छासे अप्रमत्त गुणस्थानमे धर्मध्यान करता है ॥२०८२॥

ध्यानकी बाह्य सामग्री कहते हैं—

गा०—पवित्र और जन्तुरहित एकान्त प्रदेशमे, उस स्थानके स्वामीकी आज्ञा प्राप्त करके, समभूमिभागमे शरीरको सीधा रखते हुए पत्यकामन बाजकर अथवा वीरासन आदि लगाकर, अथवा दोनों पैरोंको समरूपमे रखते हुए खडे होकर अथवा ऊपरको मुखकर शयन करते हुए या एक करवटमे लेटकर पूर्वमे कही विधिके अनुसार विशुद्ध लेश्यापूर्वक मोहनोय कमका क्षय करनेमे नत्पर होता हुआ ध्यान करता है तथा चतुर्दश पूर्वोंका अर्थ श्रवण करनेसे उसकी बुद्धि निर्मल होनी है अर्थात् उनके श्रुतजानावरणका प्रबल क्षयोपशम होता है ॥२०८३-२०८५॥

गा०—प्रथम ही वह उन ध्यानके द्वारा अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभना क्षय

सम्यङ्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व च क्रमेण एव प्रकृतिसप्तक विनाश्य क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा क्षपकश्रेण्यधिरोहणा-
भिमुखोऽथ प्रवृत्तकरण अप्रमत्तस्थाने प्रतिपद्य ॥२०८६॥

अथ स्वयसेदिर्माधिगम्म कुण्ड साधु अपुव्वकरण सो ।

होइ तमपुव्वकरण कयाइ अप्पत्तपुव्वति ॥२०८७॥

‘अथ स्वयसेदिमधिगम्म’ अथ क्षपकश्रेणीमधिगम्म करोति माधुरपूर्वकरणमभौ । किं तदपूर्व-
करणमित्याशङ्क्यामुच्यते । ‘होइ तमपुव्वकरण’ भवति तदपूर्वकरण ‘कदाइ अप्पत्तपुव्वति’ कदाचिदप्राप्त-
पूर्वमिति ॥२०८७॥

अणिवित्तिकरणणाम णवम गुणठाय च अधिगम्म ।

णिहाणिहा पयलापयला तथ थीणगिद्धि च ॥२०८८॥

‘अणिवित्तिकरणणाम णवम गुणठायमधिगम्म’ अनिवृत्तिगुणस्थानमुपगम्य णिहाणिहा पयलापयला
निद्रानिद्रा प्रचलाप्रचला स्थानगृद्धि च ॥२०८८॥

णिरयगदियाणुपुव्वि णिरयगदिं थावर च सुहुमं च ।

साधारणादवुज्जोवतिरयगदिं आणुपुव्वीए ॥२०८९॥

‘णिरयगदियाणुपुव्वि’ नरकगत्यानुपूर्वि, नरकगति, स्यावर, सूक्ष्म माधारण, आतप, उद्योत
तिर्यग्गत्यानुपूर्वि ॥२०८९॥

करता है फिर मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृतियोंका क्षय करके क्षायिक
सम्यग्दृष्टि होकर क्षपक श्रेणिते अभिमुख होनेके लिये अप्रमत्त गुणस्थानमें अथ प्रवृत्तकरण करता
है ॥२०८६॥

टा०—अनन्त मसारका कारण होनेसे मिथ्यात्वको अनन्त कहते हैं । उसके माघ बन्धनेसे
अनन्तानुबन्धी क्रोध आदि चार यहाँ संयोजना शब्दसे लिये गये हैं । मिथ्या पदार्थों के अभिनिवेश-
में जो निमित्त होता है वह मिथ्यात्व नामक दर्शन मोहनीय है । जिस मिथ्यात्वका स्वरस अर्ध-
गुद्ध हो जाता है उसे सम्यक् मिथ्यात्व कहते हैं । और जिस मिथ्यात्वका शुभ परिणामके द्वारा
स्वरस क्षीण हो जाता है उसे सम्यक्त्व दर्शन मोहनीय कहते हैं । इसके उदय रहते हुए भी
तत्त्वार्थकी श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन होता है । किन्तु क्षायिक सम्यग्दर्शन इन मानोंके अभावमें ही
होता है । और क्षायिक सम्यग्दृष्टी ही क्षपक श्रेणिपर आरोहण करता है ॥२०८६॥

गा०—क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर वह क्षपक श्रेणिपर आरोहण करके प्रथम अपूर्वकरण
करता है । उसे अपूर्वकरण इसलिये कहते हैं कि उसमें इस प्रकारके परिणाम कभी भी नीचेके
गुणस्थानोंमें प्राप्त नहीं किये थे ॥२०८७॥

गा०—उमके पश्चान् वह माधु अनिवृत्ति करण नामक नवम गुणस्थानको प्राप्त करके
निद्रानिद्रा, प्रचला-प्रचला, स्थानगृद्धि, नरकगत्यानुपूर्वी, नरकगति, स्यावर, सूक्ष्म, माधारण,

इगविगतिगचदुरदियणामाड तघ तिरिक्खगदिगाम ।

खवयित्ता मज्झिल्ले खवेदि सो अट्ठवि कमाए ॥२०९०॥

‘इगविग’ एकद्वित्रिचतुरिग्रियजाती, तिर्यग्गति, अप्रत्याख्यानचतुष्क, प्रत्याख्यानचतुष्क च क्षययति ॥२०९०॥

तत्तो णपुसगित्थीवेद हासादिछक्कपुवेद ।

क्रोध माण माय लोभ च खवेदि सो कममो ॥२०९१॥

‘तत्त णपुस’ ततो नपुसक वेद, स्त्रीवेद, हास्यादिपट्क, पुवेद, सज्वलनक्रोधमानमाया क्षययति । पश्चात्लोभमज्वलन ॥२०९१॥

अध लोभसुहमकिट्ठी वेदतो सुहमसपरायत्त ।

पावदि पावदि य तथा तण्णाम सजम सुद्ध ॥२०९२॥

‘अध लोभसुहमकिट्ठी’ अथ पश्चाद्वादरकृष्टेत्तरकाळ लोभसूक्ष्मकृष्टि वेद्यमान । ‘सुहमसपरायत्त पावदि’ सूक्ष्मसापरायता प्राप्नोति । ‘पावदि य तथा’ प्राप्नोति च तथा तन्नामक सयम शुद्ध सूक्ष्मसापरायता अधिगच्छति ॥२०९२॥

तो सो खीणकसाओ जायदि खीणासु लोभकिट्ठीसु ।

एय चवितक्कावीचार तो ज्झादि मो ज्झाण ॥२०९३॥

आत्तप, उद्योत, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रिय जाति, दो इन्द्रिय जाति, त्रौन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति, तिर्यग्गति, इन सोलह कर्मप्रकृतियोका क्षय करके मध्यकी आठ कषाय अप्रत्याख्यानानावरण और प्रत्याख्यानानावरण क्रोध मान माया लोभका क्षय करता है ॥२०८८-२०९०॥

गा०—फिर क्रमसे उसी नवम गुणस्थानमें नपुसक वेद, स्त्रीवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय जुगुप्सा, पुरुषवेद और सज्वलन, क्रोध मान मायाका क्षय करता है । अन्तमें सज्वलन लोभका क्षय करता है ॥२०९१॥

विशेषार्थ—क्षयका क्रम इस प्रकार है—हास्यादि छह नोकपायोंको पुरुषवेदमें क्षेपण करके नष्ट करता है । पुरुषवेदको क्रोध सज्वलनमें क्षेपण करके क्षय करता है । इसी प्रकार क्रोध सज्वलनको मान सज्वलनमें मानसज्वलनको माया सज्वलनमें और माया सज्वलनको लोभसज्वलनमें क्षेपण करके क्षय करता है । अन्तमें वादर कृष्टिके द्वारा लोभसज्वलन को वृद्धा करके सूक्ष्म लोभ सज्वलन कषाय शेष रहती है ॥२०९३॥

गा०—वादर कृष्टिके पश्चात् सूक्ष्मकृष्टिरूप लोभका वेदना करता हुआ दमवे सूक्ष्म साम्पराय नामक गुणस्थानको प्राप्त करना है और वहाँ उसी सूक्ष्मसाम्पराय नामक सयमको प्राप्त करता है ॥२०९२॥

'तो सो क्षीणकसाओ जायदि' तत्र सूक्ष्मपरायत्वादनतर 'क्षीणकसाओ जायदि' क्षीणकपायो जायते । 'क्षीणासु लोभकृष्टीसु' सञ्चलनलोभमूढमकृष्टिषु शीणामु । 'तो' तत 'एस्तवित्तकावेचारज्ञानो तो भादि' एस्तवित्तकावेचार ध्यानं ध्याति ॥२०९३॥

ज्ञाणेण य तेण अधक्खादेण य संजमेण घादेदि ।

मेसा घादिकम्माणि 'सम अवरज्जणाणि तदो ॥२०९४॥

'ज्ञाणेण य तेण' तेन ध्यातेन । 'तो' तेनैकत्ववित्तकावेचारेण यथाध्यातेन चारित्र्येण दोषघातिवर्माणि समकालमेव क्षययति । 'अवरज्जणाणि' जीवस्यान्ययाभावकारणानि ॥२०९४॥

मत्थयसूचीए जथा हदाए कसिणो हदो भवदि तालो ।

कम्माणि तथा गच्छति खय मोहे हदे कसिणे ॥२०९५॥

'मत्थयसूचीए जथा हदाए' मस्तकसूच्या यथा हताया । 'कसिणो तालो हदो भवति' वृत्तमस्तालद्रुमो हतो भवति । 'कम्माणि तथा' कर्माण्यपि तथैव 'खय गच्छति' क्षयमुपयाति । 'मोहे हदे कसिणे' मोहे हते वृत्ते ॥२०९५॥

णिहापचलाय दुवे दुचरिमसमयम्मि तस्म खीयति ।

सेसाणि घादिकम्माणि चरिमसमयम्मि खीयंति ॥२०९६॥

'णिहा पचला य दुवे' निद्रापचला च द्वे तस्य क्षीणकपायस्य उपान्यसमये नश्यत । 'सेसाणि घादिकम्माणि' अवशिष्टानि घातिकर्माणि त्रीणि तस्य चरमसमये नश्यति, पच ज्ञानावरणानि, चत्वारि दर्शनावरणानि, पचातरायाश्च ॥२०९६॥

तत्तो णतरममए उप्पज्जदि मव्वपज्जयणिवघ ।

केवल्लणाण सुद्ध तथ केवलदसण चेव ॥२०९७॥

गा०—सूक्ष्म लोभकृष्टिका क्षय होनेपर सूक्ष्म साम्यगयके पश्चात् क्षीण कपाय नामक शरहवे गुणस्थानवर्ती हाता है । वहाँ वह एकत्व वित्तक विचार नामक ध्यानको ध्याता है ॥२०९३॥

गा०—उस ध्यान तथा यथास्थान चार्ित्रके द्वारा वह जीवके अन्यथाभावमे कारण दोष घातिकर्माणा एक माय क्षय करता है ॥२०९४॥

गा०—जैसे ताडके वृक्षकी मस् क सूची, ऊपरका शाखाभार टूट जानेपर समस्त ताडवृक्ष ही नष्ट हो जाता है वैसे ही समस्त मोहनीय कर्मके नष्ट होनेपर कर्म नष्ट हो जाते हैं ॥२०९५॥

गा०—उम क्षीणकपाय गुणस्थानके उपान्य समयमे निद्रा प्रचला नष्ट होती है । और दोष घातिवर्मा—पाच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाच अनराय अन्तिम समयमे नष्ट होते हैं ॥२०९६॥

निद्रानिद्रा, समयम—५०, मूलपा० ।

ततो ज्ञानदर्शनावरणान्तरामशयान् अनन्तरमये उत्पद्यते केवलज्ञान सर्वपर्यायनिवृद्ध, सर्वेषां द्रव्याणां त्रिकालगोचरा ये पर्याया विशेषरूपानि तत्र प्रतिरुद्ध परिच्छेदकत्वेन ज्ञानस्यातिशयो वस्तुगतविशेषरूप परिच्छेदो नाम सामान्यरूपस्य सुगमत्वादियास्यात् भवति । केवल इन्द्रियसहायानपेक्षत्वात् केवलमसहाय्य ज्ञान रागादिमलाभावात् शुद्ध तथा केवलदर्शन च ॥२०९७॥

अव्याघादमत्तद्विद्वमुत्तम सव्वदो अमकुडिद ।

एय सयलमणतं अणियत्त केवल णाण ॥२०९८॥

‘अव्याघाद’ न विद्यते प्रत्यपातरणे व्याघाता वाधास्येत्यव्याघात । निश्चयात्मकत्वात्प्रामाण्यम् । सर्वेषां ज्ञानस्य उत्तम प्रधान श्रुतादिगिरिद केवल साध्यत इति । ‘असकुडिद’ न मत्यादिवदन्पविपयमिति । ‘एशक’ एकस्मिन्नात्मनि स्वयमेव प्रवर्तत इति । ‘सकल सपूर्णमात्मन स्वरूपमिति । मत्यादोनि दयाश्रमपूर्णानि न तपोद । ‘अणत अनन्तप्रमाणवच्छेद । ‘अणियत्त’ न विद्यते निवृत्तिविनाशोऽप्येत्यनिवृत्त केवलज्ञान ॥२०९८॥

चित्तपट व विचित्त तिकालमहिद तदो जगमिण सो ।

मव्व जुगव पस्सटि सव्वमलोग च मव्वत्तो ॥२०९९॥

‘चित्तपट व विचित्त’ चित्रपटवच्चित्र विचित्रद्रव्यपर्यायरूपेण प्रत्यवभामनात् । ‘तिकाल महिद कालत्रयमहित ‘जगदिद’, तत तेन केवलज्ञानेन सर्व युगपत्पर्यत्यलोक कृत्स्न ‘सर्वत’ समतान ॥२०९९॥

वीरियमणतराय होड अणतं तथेव तस्म तदा ।

कप्पातीटस्स महामुणिस्स विग्घम्मि खीणम्मि ॥२१००॥

गा०—टी०—ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायका क्षय होनेके अनन्तर समयमें शुद्ध केवलज्ञान और शुद्ध केवल दर्शन उत्पन्न होता है । वह केवल ज्ञान सब द्रव्योंकी त्रिकालगोचर सब पर्यायोंको जानता है । वस्तुगत विशेषरूपको जानना ही ज्ञानका अतिशय है सामान्यरूपको जानना तो सुगम है । इसीमें केवल ज्ञानको सर्वपर्यायनिवृद्ध कहा है । केवलका अर्थ है असहाय । केवल ज्ञान इन्द्रियोंकी महायतामें रहित है इसीसे उमका नाम केवल है । तथा रागादिमलसे रहित होनेसे शुद्ध है । व्याघातसे रहित है क्योंकि कोई अन्य ज्ञान उसमें वाधा नहीं डाल सकता । निश्चयात्मक होनेमें सन्देह रहित है । श्रुत आदि अन्य सब ज्ञानोंमें प्रधान होनेसे उत्तम है । सब द्रव्य और पर्यायोंमें प्रवर्तमान होनेमें मतिज्ञान आदिकी तरह उमका विषय अल्प नहीं है । तथा एक आत्मामें स्वय ही होनेमें एक है । सम्पूर्ण आत्मस्वरूप होनेसे सकल है । जैसे मति आदि ज्ञान असम्पूर्ण है उस तरह वह सम्पूर्ण नहीं है । अनन्त प्रमाण वाला होनेमें अनन्त है । अविनाशी है, उसका कभी विनाश नहीं होता । विचित्र द्रव्य पर्यायरूपमें प्रतिभाममान होनेसे चित्रपटकी तरह विचित्र-नानारूप है । उम केवलज्ञानमें वह तीन काल सहित इम ममस्त जगतको और सब अलोकको एक माय जानता है ॥२०९७-२०९९॥

गा०—दृष्टस्य अवस्थामे रहित उम महामुनिके अन्तराय कर्मका विनाश होनेपर अन्तराय

‘वर्त्यिमघतराय होदि’ निविघ्न वीर्यं भवति । क्षयोपशमिवस्य हि वीर्यस्य पुन वीर्यांतरायोदये सति विघ्नो भवति, न तथा तस्य निरवरोपक्षये । ‘अनत’ । ‘कृपातीक्ष्ण’ छन्दस्यकल्पना अतीतस्य महामु-
नेविघ्ने विनन्दे ॥२१००॥

तो सो वेदयमाणो विहरइ सेसाणि ताव कम्मणि ।

जावसमत्ती वेदिज्जमाणस्माउगस्स भवे ॥२१०१॥

‘तो सो वेदयमाणो’ केवलज्ञानादिपरिप्राप्यनंतरकाल वेदयमानो विहरति, ‘सेसाणि ताव कम्मणि’ अवगिप्यति तावत्कर्मणि । ‘जावसमत्ती’ यावत्परिसमाप्ति । ‘वेदिज्जमाणस्स आउगस्स भवे’ अनुभूयमानस्य मनुष्यायुषो भवेत् ॥२१०१॥

दसणणाणसमग्गो विरहदि उच्चावय तु परियाय ।

जौगणिरौध पारभदि कम्मणिल्लेवणट्ठाए ॥२१०२॥

‘दसणणाणसमग्गो’ क्षायिकेन ज्ञानेन दर्शनेन च समयो, विहृत्य ‘उच्चावय परीवाय’ उच्चावच पर्याय, चारित्र्यमभिवर्द्धयन् योगनिरोध प्राप्तभवे, कर्मणामघातिनामपहरणार्थं ॥२१०२॥

उक्कस्सएण छम्मासाउगसेमम्मि केवली जादा ।

वच्चति ममुग्घाद सेसा भज्जा समुग्घादे ॥२१०३॥

‘उक्कस्सएण’ उत्कर्षेण षण्मासावसरे आयुषि जाते केवलिनो जातास्ते समुद्धातमुपयाति । दीपा समुद्धाते भाग्या ॥२१०३॥

रहित अनन्तवीर्यं होता है । अर्थात् क्षयोपशमिक वीर्यमे तो वीर्यान्तरायका उदय होनेपर विघ्न आ जाता है । किन्तु समस्त वीर्यान्तरायका क्षय होनेपर प्रकट हुए अनन्त वीर्यमे कोई विघ्न नहीं आता ॥२१००॥

गा०—केवल ज्ञानकी प्राप्तिके अनन्तर जवतक शेष कर्मों की तथा अनुभूयमान मनुष्यायु-
की समाप्ति नहीं होती तब तक वह केवल ज्ञानी विहार करता है ॥२१०१॥

गा०—क्षायिक ज्ञान और क्षायिक दर्शनसे परिपूर्ण वह केवल ज्ञानी चारित्र्यको बढ़ाता हुआ उत्कृष्ट कुछ कम एक पूर्वकोटि तक और जघन्य अन्तमूर्तं मात्र काल तक विहार करता है । फिर अधातिकर्मों को नष्ट करनेके लिये सत्यवचन योग, अनुभयवचन योग, सत्यमनोयोग अनुभय मनोयोग, औदारिक वाययोग, औदारिक मित्र काययोग तथा कामंण काययोगका निग्रह प्रारम्भ करता है ॥२१०२॥

गा०—उत्कर्षमे छह मास आयु शेष रहनेपर जो केवल ज्ञानी होते हैं वे अवश्य समुद्धात-
जीवके प्रदेशोवा शरीरमे बाहर दण्ड आदिके आकार रूपमे निकलना-करते हैं । शेष समुद्धात करते भी हैं और नहीं भी करते, उनके लिये कोई नियम नहीं है ॥२१०३॥

जेसि आउसमाइ णामगोदाइ वेदणीय च ।

ते अकदसमुग्घादा जिणा उवणमति सेलेसिं ॥२१०४॥

‘जेसि आउसमाइ’ येषामपि आयु समानि शेषाप्यघातिकर्मणि तेऽकृतसमुद्धाता एव शैलेभ्य प्रतिपद्यते ॥२१०४॥

‘जेमिं हवति विसमाणि णामगोदाउवेदणीयाणि ।

ते दु कदसमुग्घादा जिणा उवणमति सेलेसिं ॥२१०५॥

ठिदिसतकम्मसमकरणत्थ सव्वेसि तेमि कम्माण ।

अतोमुहुत्त सेसे जति समुग्घादमाउम्मि ॥२१०६॥

‘ठिदिसत्तकम्म’ सत्कर्मणा म्रियति समीकतु चतुणा अतर्मुहूतविशेषे आयुषि समुद्धात याति ॥२१०५-२१०६॥

ओल्ल मत वत्थ विरल्लिदं जह लहु विणिग्वादि ।

सवेडिय तु ण तथा तथेव कम्म पि णादव्व ॥२१०७॥

‘ओल्ल मत’ आद्रे मद्यथा वस्त्र विप्ररणीं लघु शुष्यति न तथा सवेडित्त एवमेव कमापि शातव्यम् ॥२१०७॥

ठिदिवघस्म सिणेहो हेदू खीयदि य मो ममुहदस्म ।

सडदि य खीणसिणेह सेस अप्पड्ढिदी होदि ॥२१०८॥

‘ठिदिवघस्स’ स्थितिवन्धस्य स्नेहो हेतुविनश्यति । समुद्धात गने ‘सटति’ च क्षीणस्नेह शेष कर्मान्पस्थितिक भवति ॥२१०८॥

गा०—जिनके नामकर्म, गोत्रकर्म, वेदनीयकर्मकी स्थिति आयुकर्मके समान होती है वे सयोगकेवली जिन समुद्धात किये बिना शैलेयां अवस्थाको प्राप्त होते हैं ॥२१०४॥

गा०—किन्तु जिनकी आयुकी म्रियति कम होता है और नामगोत्र और वेदनीय कर्मों की स्थिति अधिक होती है वे सयोगकेवली जिन समुद्धात करके ही शैलेयां अवस्थाको प्राप्त होते हैं अर्थात् अयोगकेवली होते हैं ॥२१०५॥

गा०—अन्तमुहूर्त आयु शेष रहनेपर चारो कर्मों की स्थिति समान करनेके लिये समुद्धात करते हैं ॥२१०६॥

गा०—जैसे गोला वस्त्र फैला देनेपर वह शीघ्र सूख जाता है उतनी शीघ्र इकट्ठा रखा हुआ नहीं सूखना । कर्मों की भी वैसी ही दशा जानना । आत्म प्रदेशोंके फैलावसे सम्बद्ध कर्मरज-की स्थिति बिना भोगे घट जाती है ॥२१०७॥

गा०—समुद्धात करनेपर स्थितिवन्धका कारण जो स्नेहगुण है वह नष्ट हो जाता है । और स्नेहगुणके क्षीण होनेपर शेष कर्मों की स्थिति घट जाती है ॥२१०८॥

चटुहि ममएहि दड-कवाड-पदरजगपूरणाणि तदा ।
कममो करेदि तह चैव णियत्तीदि चटुहिं समएहिं ॥२१०९॥

'चटुहिं' चतुर्भिस्समयैर्दण्डादिक् कृत्वा क्रमणो निवर्तते चतुर्भिरिव समयै ॥२१०९॥

काउणाउसमाड णामागोदाणि वेदणीय च ।
सैलैमिमब्धुवैतो जोगणिरोधं तदो कुणदि ॥२११०॥

'काउण' नामगोत्रवेदनीयाना आद्युपा साम्य कृत्वा मुनि मन्मुपनयन् योगनिरोध कर्णेति ॥२११०॥

योगनिरोधक्रममात्रे—

वाटरवाचिगजोगं वाटरकायेण वाटरमणं च ।
वाटरकायपि तथा रुमदि सुहुमेण काएण ॥२१११॥

वाटरो वाटमनोजोगी वाटरकायेन र्णादि । वाटरकाययोग मूमेण काययोगेन ॥२१११॥

तथ चैव सुहुममणवचिजोग सुहुमेण कायजोगेण ।
रुभित्तु जिणो चिट्ठदि' मो सुहुमकायजोगेण ॥२११२॥

'तथ चैव' तर्पण मूक्षमवाटननोजोगी मूक्षमकाययोगेन र्णादि ॥२११२॥

सुहुमाए लेम्माए सुहुमकरिययंघगो तगो ताधे ।
काडयजोगे सुहुमम्मि सुहुमकिग्गियं जिणो झादि ॥२११३॥

गा०-२१०—मयोगकेवली जिन चार समयोमे दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुदात करके क्रमसे चार ही समयोमे उमका नकोच करता है अर्थात् प्रथम समयमे दण्डाकार, दूसरे समयमे कपाटके आकार, तीसरे समयमे प्रतर रूप और चतुर्थ समयमे समस्त लोकमे व्याप्त हो जाते हैं। पाचवे समयमे पुन प्रतररूप, छठे समयमे कपाटरूप, सातवें समयमे दण्डाकार आठवें समयमे मूल शरीरकार आत्म प्रदेग हो जाते हैं ॥२१०९॥

गा०—इन प्रकार नाम, गोन और वेदनीय कर्मों को स्थिति आयुके समान करके मुक्तिकी ओर बटनेवाले मयोगकेवली जिन योगोंका निरोध करते हैं ॥२११०॥

योगनिरोधका क्रम कहते हैं—

गा०—स्थूल काययोगमे स्थित होकर वाटर वचनयोग और वाटर मनोजोगको रोकते हैं और सूक्ष्म काययोगमे स्थित होकर स्थूल काययोगको रोकते हैं ॥२१११॥

गा०—उम्मी प्रकार मूक्षमकाययोगके द्वारा सूक्ष्म मनोजोग और सूक्ष्म वचनयोगको रोककर सयोगकेवली जिन सूक्ष्म काययोगमे स्थित होते हैं ॥२११२॥

सूक्ष्मया लेश्यया सूक्ष्मक्रियया बन्धकस्तदानीं सूक्ष्मक्रियं ध्यानं ध्याति ॥२११३॥

सुहृमकिरिण्णं ज्ञाणेण णिरुद्धे सुहृमकायजोगे वि ।

सेलेमी होदि तदो अवघगो णिच्चलपदेसो ॥२११४॥

'सुहृमकिरिण्णं' तेन ध्यानेन निरुद्धे सूक्ष्मकाययोगे निश्चलप्रदेशोऽव्ययता भवति । वधनिमित्तानाम-
भावान् ॥२११४॥

माणुसगदितज्जादिं पज्जत्तादिज्जसुभगजसक्तिं ।

अण्णदरवेदणीय तसमादरमुच्चगोद च ॥२११५॥

'माणुसगदि' मनुष्यगतिं पञ्चेन्द्रियजातिं, पर्याप्तमादेयसुभगं, यथास्तीतिमन्यतरवेदतोषं, त्रसवादरं,
उच्चगोत्रं च वेदयते ॥२११५॥

मणुसाउग च वेदेदि अजोगी होदूण चैव तक्काल ।

तित्थयरणामसहिदो' ताओ वेदेदि तित्थयगे ॥२११६॥

मनुष्यायुश्च वेदयते अजोगी भूत्वा तीर्थकरनाममहितास्तीर्थकरो वेदयते ॥२११६॥

देहतियघघपरिमोक्खत्थं तो केवली अजोगी मो ।

उवयादि ममुच्छिण्णकिरिय तु ज्ञाण अपडिवादी ॥२११७॥

देहति य देहत्रिवन्धपरिमोक्षार्थं समुच्छिन्नक्रियानिवृत्तिध्यानं ध्याति ॥२११७॥

सो तेण पचमत्ताकालेण खवेदि चरिमज्जाणेण ।

अणुट्टिण्णाओ दूचरिमसमये मव्वाओ पपडीओ ॥२११८॥

गा०—सूक्ष्म लेश्याके द्वारा सूक्ष्मकाययोगने वह सातावेदनीय कर्मका बन्ध करना है तथा
सूक्ष्मक्रिय नामक तीसरे शुक्लध्यानको ध्याता है ॥२११३॥

गा०—उम सूक्ष्मक्रिय नामक शुक्लध्यानके द्वारा सूक्ष्म काययोगका निरोध करके वह
शीलोका स्वामी होना है तथा आत्माके प्रदेशोंके निश्चल हो जानेमें उन्हें कर्मबन्धन नहीं होता,
क्योंकि कर्मबन्धके निमित्तोका अभाव है ॥२११४॥

गा०—उम समय अयोगकेवली होकर वह मनुष्यगति, पञ्चेन्द्रिय जगति, पर्याप्ति, आदेय,
सुभग, यथा कीर्ति, सान्ना या असानावेदनीय, त्रम, वादर, उच्चगोत्र और मनुष्यायु इन ग्यारह
कर्म प्रकृतियोंके उदयका भोग करने हैं । और यदि तीर्थकर होने हैं तो तीर्थकर सहित धारह
प्रकृतियोंका अनुभवन करते हैं ॥२११५-१६॥

गा०—उमने पश्चात् अजोगकेवली परम औदारिक, तेजम और वामरण इन तीन शरीरोंके
बन्धनमें छूटनेके लिये समुच्छिन्नक्रिय अप्रति पातो नामक चतुर्थ शुक्लध्यानको ध्याने है इसका
दूमरा नाम व्युपरनक्रिया निवर्ती है ॥२११७॥

'सो तेण' स तेन पञ्चमानाकालिनेन ध्यानेन क्षययति द्विचरमसमये अनुदीर्घा सर्वा प्रवृत्ती ॥२११८॥

चरिमसमयम्मि तो सो खवेदि वेदिज्जमाणपयडीओ ।

वारस तित्थयरजिणो एक्कारम सेम सब्बण्ह ॥२११९॥

'चरिमसमयम्मि' अत्ये समये क्षययति वेद्यमाना प्रवृत्तीर्द्वादश तीर्थचरजिन । शेषसर्वत्र एकादश ।

'नामकखण' नाम्ना विनाशेन तैजसगरीरवन्धो नश्यति । आयुष क्षयेण औदारिकवन्धनात् ॥२११९॥

णामकखण तेजोसरीरवधो वि हीयदे तस्स ।

आउकखण ओरालियस्स वधो वि हीयदि से ॥२१२०॥

त सो वधणमुक्को उड्ह जीवो पओगदो जादि ।

जह एरण्डयचीय वधणमुक्क ममुप्पदिदि ॥२१२१॥

स्पष्टोत्तरायाद्वय ॥२१२०-२१२१॥

सग विजहणेण य ल्हुदयाए उड्ह पयादि सो जीवो ।

जध आलाउ अलेओ उप्पदिदि जले णिवुड्हो वि ॥२१२२॥

'सगजहणेण' सगत्यागाल्लपुतयोर्द्धं प्रयाति जलनिमग्ननिर्लेपालाबुवन ॥२१२२॥

झाणेण य तह अप्पा पओगदो जेण जादि सो उड्ह ।

वेगेण पूरिदो जह ठाडुदुकामो वि य ण ठादि ॥२१२३॥

'झाणेण य' ध्यानेनात्मा प्रयुक्तो यत्तूच्चवं बगेन पूरितो यथा न तिष्ठति स्यात्तुक्वामोपि ॥२१२३॥

गा०-टी०-इम ध्यानका काल 'अ इ उ ऋ लृ' इन पाच मात्राओंके उच्चारणमें जितना काल लगता है उतना है । इतने कालवाले उस अन्तिम ध्यानके द्वारा अयोगकेवली गुणस्थानके उपान्त्य समयमें विना उदीरणके सब ७२ कर्म प्रकृतियोंको खपाते हैं, उनका क्षयकर देते हैं, और अन्तिम समयमें तीर्थकर केवली बारह प्रकृतियोंका क्षय करते हैं तथा सामान्य केवली ग्यारह प्रकृतियोंका क्षय करते हैं ॥२११८-१९॥

गा०-उनके नामकर्मका क्षय होनेसे तैजस गरीर बन्धका भी क्षय हो जाता है । और आयुकर्मका क्षय होनेसे औदारिक गरीर बन्धका क्षय हो जाता है ॥२१२०॥

गा०-इस प्रकार बन्धनमें मुक्त हुआ वह जीव वेगमें ऊपरको जाता है जैसे बन्धनसे मुक्त हुआ एरण्डका बीज ऊपरको जाता है ॥२१२१॥

गा०-समस्त बर्म नोकर्मरूप भारमें मुक्त होनेके कारण हल्का हो जानसे वह जीव ऊपर को जाता है । जैसे मिट्टीके लेपने रहित तूम्बी जलमें डूबनेपर भी ऊपर ही आती है ॥२१२२॥

गा०-जैसे वेगमें पूर्ण ध्यात्कि ठहरना चाहते हुए भी नहीं ठहर पाता है वैसे ही ध्यानके

१. क्षीयदे मु० । २. नीयदि -मु० । ३. सगम्म विजहणेण -आ० ।

जह वा अग्निस्स सिंहा सहावदो चैव होहि उड्डगदी ।
जीवस्म तह सभावो उड्डगमणमप्पवसियस्स ॥२१२४॥

स्पष्टोत्तरगाथा ॥२१२४॥

तो मो अविग्गहाए गदीए समए अणतरे चैव ।
पावदि जयस्स सिंहर खिचं कालेण य फुसतो ॥२१२५॥

‘तो सो अविग्गहाए’ ततोऽज्ञावविग्रह्या गत्या अनतरसमय एव जगत्शिखर प्राप्नोति ॥२१२५॥

एव इहइ पजहिय देहतिग सिद्धखेत्तमुवगम्म ।
सव्वपरियायमुक्को सिज्झदि जीवो सभावत्थो ॥२१२६॥

‘एव इहइ’ एवमिह देहत्रिक विहाय सिद्धक्षत्रमुपगम्य सर्वप्रचारविमुक्त सिष्यति जीव स्वभावस्थ ॥२१२६॥

तस्याथ स्थानमाचष्टे—

ईसिप्पम्भाराए उवरिं अत्थदि सो जोयणम्मि सीदाए ।
ध्रुवमचलमजरठाण लोगसिंहरमस्सिदो सिद्धो ॥२१२७॥

‘ईसिप्पम्भाराए’ ईपत्त्राम्भाराया उपरि न्यूनयोजने ध्रुवमचल स्थान लोकशिखरमास्थित सिद्ध ॥२१२७॥

प्रयोगसे आत्मा ऊपरको जाता है ॥२१२३॥

गा०—अथवा जेमे आगकी लपट स्वभावसे ही ऊपरको जाती है वैसे ही कर्मरहित स्वाधीन आत्माका स्वभाव ऊर्ध्वगमन है ॥२१२४॥

गा०—कर्मों का क्षय होते ही वह मुक्त जीव एक समयवाली मोडे रहित गतिसे सात राजुप्रमाण आकाशके प्रदेशोका स्पर्श न करते हुए अर्थात् अत्यन्त तीव्रवेगसे लोकके शिखरपर विराजमान हो जाता है ॥२१२५॥

गा०—इस प्रकार इसी लोकमें तेजस, कामर्ण धोर औदारिक शरीरोको त्यागकर सप्त प्रकारके प्रचारसे मुक्त हुआ जीव, सिद्धिक्षेत्रमें जाकर अपने टकोत्कीर्ण ज्ञापक भाव स्वभावमें स्थित होकर मुक्त हो जाता है ॥२१२६॥

गा०—उस सिद्धिक्षेत्रके नीचे स्थित आठवी पृथिवीको कहते हैं—ईपत्त्राम्भार नामकी आठवी पृथ्वीके कुछ ऊपर एक योजन पर लोकका शिखर स्थित है जो ध्रुव, अचल और अजर है । उसपर सिद्ध जीव तिष्ठता है ॥२१२७॥

विशेषार्थ—आठवी पृथिवीका नाम ईपत्त्राम्भार है । मध्यमें उसका वाहृत्य आठ योजन है । दोनो ओर क्रमसे हीन होता गया है । अन्तमें अगुलके अमस्यातर्वे भाग प्रमाण अत्यन्त सूक्ष्म बाहुल्य रह जाता है । इस तरह ऊपरको उठे हुए विशाल गोल श्वेत छत्रके समान उभका आकार है । उसका विस्तार पैंतालीस लाख योजन है । उसके ऊपर तीन वातवलय हैं । उनमेंसे तीन

धम्माभावेण दु लोगगो पडिहम्मदे अलोगेण ।

गदिमुचकुणदि हु धम्मो जीवाण पोग्गलाण च॥ २१२८॥

'धम्माभावेण दु' धर्मास्तिकायस्याभावे लोकाग्रं प्रतिहृत्यते अलोकेन, यतो जीवपुद्गलाना गतेरूप-
कारको धर्म स बोपरि नास्ति ॥२१२८॥

ज जस्स दु सठाणं चरिमसरीरस्म जोगजहणम्मि ।

त सठाण तस्म दु जीवघणो होइ सिद्धस्स ॥२१२९॥

दसविधपाणाभावो कम्माभावेण होइ अच्चतं ।

अच्चतिगो य सुहदुक्खाभावो विगट्ठेहस्स ॥२१३०॥

दसविधाना प्राणानामत्यताभावेन भवति आत्यतिक्रम्य सुखदुःखाभाव ॥२१२९-२१३०॥

ज णत्थि वधहेदु देहग्गहणं ण तस्स^१ तेण पुणो ।

कम्मकलुसो हु जीवो कम्मकर्दं देहमादियदि ॥२१३१॥

'ज णत्थि वधहेदु' यत्नास्ति वधकारण तेन न मुक्तस्य देहग्रहण, कर्मकटुपीडितो हि जीव कर्म-
कृतदेहमादत्ते ॥२१३१॥

कज्जाभावेण पुणो अच्चत णत्थि फदण तस्म ।

ण पओगदो वि फदणमदेहिणो अत्थि सिद्धस्स ॥२१३२॥

कोस विस्तार वाले दो वातवलयोंके ऊपर एक हजार पाच सौ पिचहत्तर धनुष विस्तार वाला तीसरा तनुवातवलय है। उसके पाच सौ पच्चीस धनुष मोटे अन्तिम भाग में सिद्ध भगवान विराजते हैं ॥२१२७॥

गा०—धर्मद्रव्य लोकके अग्रभाग तत्र ही है। अत मुक्तजीव लोकाग्रमे आगे अलोकमे नहो जाता, क्योंकि धर्मद्रव्य गति करते हुए जीवों और पुद्गलोलकी गतिमे उपकार करता है ॥२१२८॥

गा०—मन वचन काययोगोका त्याग करते समय धयोगी गुणस्यानमे जेमा अन्तिम शरीरका आकार रहता है, उस आकाररूप जीवके प्रदेशोका, धनरूप सिद्धोका आकार होता है ॥२१२९॥

गा०—मिद्ध भगवानके कर्मोका अभाव होनेसे दस प्रकारके प्राणोका सर्वथा अभाव है। तथा शरीरका अभाव होनेमे इन्द्रिय जनित सुखदुःखा अभाव है ॥२१३०॥

गा०—मुक्तजीवके कर्मवन्दका कारण नहीं है। अत वह पुन शरीर धारण नहीं करता। क्योंकि कर्मों से वद जीव ही कर्मकृत शरीरको धारण करता है ॥२१३१॥

गा०—मिद्ध जीवोको कुठ करना शेष न होनेसे उनमे हलन चलनका अत्यन्त अभाव है।

'कञ्जाभावेण पुणो' कार्याभावेन तत्सपदन नास्ति तत्त्व न च परप्रयोगगतमपि सपदनमस्त्यदेहस्य सिद्धस्य ॥२१३२॥

कालमणतमधम्मोपगग्हिदो ठादि गयणभोगाहो ।

मो' उवकारो इट्ठो ठिदिसभावो ण जीवाणं ॥२१३३॥

'कालमणत' अनन्तकाल अधर्मास्तित्वायोपगृहीत गगतमनुप्रविष्ट तिष्ठति । 'उवकारो इट्ठो' अधर्मान्तिक्रियेन सपाद्यउपकार अधम्यानलक्षण इट्ठो यस्मान जीवस्य स्थितित्त्वभावश्चैतन्यादिवन् ॥२१३३॥

तेलोक्कमन्ययत्थो तो सो सिट्ठो जग णिरवसेस ।

सव्वेहिं पज्जएहिं य सपुण्ण सव्वदब्बेहिं ॥२१३४॥

'तेलोक्कमन्ययत्थो' त्रैलोक्यमस्तकम्य ततोऽप्यो जगन्निरवसोप सर्वे पर्यायस्सर्वैर्द्रव्यैस्सपुण ॥२१३४॥

पस्सदि जाणदि य तहा तिण्णि वि काले सपज्जए मव्वे ।

तह वा लौगममेस पस्सदि भयव विगदमोहो ॥२१३५॥

'पस्सदि जाणदि' पश्यति जानाति च कालत्रये पर्यायमहितानसोपास्तथा चालोकमसोप पश्यति भगवान् विगदमोह ॥२१३५॥

भावे मगविसयत्थे सुग्गे जुगव जहा पयासेइ ।

सव्वं वि तथा जुगव केवलणाण पयासेदि ॥२१३६॥

'भावे मगविसयत्थे' आत्मगोचरस्थान् भावान् सृष्टौ युगपद्यथा प्रकाशयति तथा सर्वमपि ज्ञेय युगपत्केवलज्ञान प्रकाशयति ॥२१३६॥

गदरागदोसमोहो विभओ विमओ णिरुस्सओ विरओ ।

युधज्जणपरिगोदगुणो णममणिज्जो तिलोगस्स ॥२१३७॥

और वे शरीर रहित हैं । अत वायु आदिके प्रयोगसे भी उनमें हलन चलन नहीं होना ॥२१३२॥

गा०—सिद्ध जीव जो अनन्तकाल तक आकाशके प्रदेशोंको अवगाहित करके ऊहरा रहता है मो यह अवस्थान रूप उपकार अधर्मास्तित्वायका माना गया है, क्योंकि जैसे जीवका स्वभाव चैतन्य आदि है उस प्रकार जीवका स्वभाव स्थिति नहीं है ॥२१३३॥

गा०—तीनों लोकोंके मस्तकपर विगजमान वह सिद्ध परमेष्ठी समस्त द्रव्यों और समस्त पर्यायोंसे सम्पूर्ण जगतको जानते देखते हैं । तथा वे मोहरहित भगवान् पर्यायोंसे सहित तीनों कालोंको और अमन्त अलोकको जानते हैं ॥२१३४-३५॥

जैसे सूर्य अपने विषयगोचर सब पदार्थों को एक साथ प्रकाशित करता है वैसे ही वेबल ज्ञान सब पदार्थोंको एक साथ प्रकाशित करता है ॥२१३६॥

'गदरागदोसमोहो' दूरीकृत रागद्वेषमोह, 'विभओ' विगतभय 'विमओ' विगतमद, क्वचिदप्यनुत्सुका
निरस्तकर्मरञ्ज पटल, बुधजनपरिगीतगुण' विष्टपत्रयेण नमस्करणीय ॥२१३७॥

णिष्वावइत्तु ससारमहग्निं परमणिष्बुदिजलेण ।

णिष्वादि सभावत्यो गदजाडजरामरणरोगौ ॥२१३८॥

'णिष्वावइत्तु' क्षयगुणनीय ससारमहाग्निं परमनिर्वृत्तजलेन तृप्यति स्वरूपस्यो विनष्टजाति-
जरामरणरोग ॥२१३८॥

जावं तु किञ्चि लोए सारीर माणस च सुहदुक्खं ।

त सव्व णिज्जिण्णं असेमदो तस्स सिद्धस्स ॥२१३९॥

'जावं तु किञ्चि लोए' यावत् किञ्चिल्लोदे शारीर मानस वा यत्सुख दुःख च तत्सर्वं निर्वृत्तं निरव-
शेष । प्रकारवासन्न्यनिरासायमशेषग्रहण ॥२१३९॥

ज णत्थि सव्ववाधाओ तस्स सव्व च जाणइ जदो से ।

ज च गदज्झवसाणो परमसुही तेण सो सिद्धो ॥२१४०॥

'ज णत्थि सव्ववाधाओ' यन्न सन्ति सर्ववाधा, सब च यतो ज्ञानाति, यच्चापगताभ्यवसान, तेनागो
निद्ध परमसुखी भवति ॥२१४०॥

परमिद्धिपत्ताणं मणुगाण णत्थि त सुह लोए ।

अन्वावाधमणोवमपरमसुह तस्म सिद्धस्स ॥२१४१॥

'परमिद्धिपत्ताणं' परमामृद्धि चक्रलाघनतादिका प्राप्तानामपि मनुजाना नास्ति तत्सुख लोके यदनु-
पम तस्य सिद्धस्य सुखमन्वावाधम् ॥२१४१॥

गा०—जिन्होने रागद्वेष मोहको दूरकर दिया है, जो भय रहित, मदरहित, उत्कण्ठा
रहित और कर्मरूप धूलिपटलसे रहित है तथा जानीजन जिनका गुणगान करते हैं वे सिद्ध भगवान
तीनों लोकोंके द्वारा वन्दनीय हैं ॥२१३७॥

गा०—परम निर्वृतिरूप जलसे मसाररूपो महान् अग्निको बुझाकर तथा जन्म-जरा-मरण
रोगोंको नष्ट करके अपने स्वरूपमें स्थित मुक्तात्मा निर्वाणको प्राप्त करते हैं ॥२१३८॥

गा०—मसारमें जितना भी शारीरिक और मानसिक सुखदुःख है वह सब पूर्णरूपसे उस
सिद्ध परमेष्ठिके नष्ट हो चुका है ॥२१३९॥

गा०—क्योंकि निद्ध परमेष्ठिके समस्त वाधाएँ नहीं हैं, और वह समस्त वस्तुओंको जानने
हैं तथा अध्यवसान-विवल्यवासनामें रहित हैं । अतः वे परमसुखी हैं ॥२१४०॥

गा०—उन सिद्धोंके जो दाया रहित अनुपम परम सुख है वह सुख इस लोकमें परमऋद्धि
चक्रवर्तित्व आदिको प्राप्त मनुष्योंके भी नहीं है ॥२१४१॥

देविंदचक्रवट्टी इदियसोक्तं च ज अणुहवति ।

सद्भस्वरूवगध्रप्फरिसप्पयमुत्तम लोए ॥२१४२॥

‘देविंदचक्रवट्टी’ देवेन्द्राश्चक्रवर्तिनश्च यदिद्रियमुत्तमनुभवति शब्दरमरूपगधस्यर्थात्मिक लोके प्रयात ॥२१४२॥

अव्वावाध च सुह सिद्धा ज अणुहवति लोग्गो ।

तस्म ह्ण अणतभागो इदियसोक्ख तय होज्ज ॥२१४३॥

‘अव्वावाध सुह’ अव्वावाधात्मक मुख यत्सिद्धा लोकाप्रेञ्जुभवति तस्मान्तभागो भवति तदिद्रियमुत्तमपूर्वभावणितम् ॥२१४३॥

ज सव्वे देवगणा अच्छरमहिया सुह अणुहवति ।

तत्तो वि अणत्तगुण अव्वावाह सुह तस्स ॥२१४४॥

‘ज सव्वे देवगणा’ यत्सुत्तमनुभवति साप्तरोगणा सर्वे ददास्ततोऽप्यनन्तगुण तस्य सिद्धस्यावावाधमुखम् ॥२१४४॥

तीसु वि कालेसु सुहाणि जाणि माणुमतिरिक्खदेवाण ।

सव्वाणि ताणि ण समाणि तस्म खणमित्तसोक्खेण ॥२१४५॥

‘तीसु वि कालेसु’ त्रिष्वपि कालेषु यानि मानवाना, तिरस्त्रा, दवाना च सुखानि सर्वाणि तानि न समानि सिद्धस्य क्षणमात्रेण सुखेन ॥२१४५॥

ताणि हु रागविवागाणि दुक्खपुण्वाणि चैव मोक्खाणि ।

ण हु अत्थि रागमभवहत्थिदूण किं चि वि सुह णाम ॥२१४६॥

‘ताणि रागविपाकाणि’ तानि रागविपाकानि रागस्य दुःखहेतोर्जनकानि, एतेन दुःखानुगच्छित

गा०—इस लोकमें देवेन्द्र और चक्रवर्ती शब्द रस रूप गन्ध और स्पर्श जन्य जिस उत्तम इन्द्रिय सुखको भोगते हैं, तथा लोकके अग्रभागमें स्थित सिद्ध जिस वाधा रहित सुखको भोगते हैं उसके मामले वह इन्द्रिय सुख उसका अनन्तवा भाग भी नहीं है ॥२१४२-४३॥

गा०—अप्सराओंके साथ सब देवगण जिम सुखको भोगते हैं उसमें भी अनन्तगुण वाधा रहित सुख सिद्धोको होता है ॥२१४४॥

गा०—सब मनुष्यो तिर्यञ्चो और देवोको तीनो कालोंमें जितना सुख होता है वह सब सुख सिद्धोंके एक क्षणमात्रमें होनेवाले सुखके भी बराबर नहीं है ॥२१४५॥

गा०—मनुष्यादिके होनेवाला सुख रागका जनक है और राग दुःखका कारण है जत

नामोद्भयमुखाना दापोर्जम्भित । दु खपूर्वाणि न हि क्षुधादिदु खमत्तरेण अगनादिक प्रीति जनयति । न चास्ति रागमनपाकृत्य सुख नाम किञ्चित् ॥२१४६॥

इन्द्रियमुखस्वरूपमभिधाय अतिन्द्रियमुख व्यावर्णयति—

अणुत्वममेयमखयममलमजरमरुजमभयमभव च ।

एयतियमच्चतियमव्वावाध सुहमजेय ॥२१४७॥

‘अणुत्वममेय’ तत्समानस्य तदधिकम्याभावात् सुखस्थ तदनुपम, छद्यस्थज्ञानैर्मातुमगवयत्वादमेय, प्रतिपदाभूतस्य दु खस्याभावादक्षय, रागादिमलभावादमल, जरारहितत्वादजर, रोगाभावादरुज, भयाभावादभय, भवाभावादभव, ऐकातिक दु खस्य सहायस्याभावादैकातिकमसहाय अव्यावाधरूप तत्सुख ॥२१४७॥

विमएहि से ण कज्ज ज णत्थि छुदादियाओ वाधाओ ।

रागादिया य उवभोगहेदुगा णत्थि ज तस्स ॥२१४८॥

‘विमएहि से ण कज्ज’ शब्दादिभिर्विपर्ययं न कार्यं यत सिद्धस्य न सति शुषादिना वाधा, रागादयश्च विषयोपभोगहेतवो न सति यस्मात्तस्य ॥२१४८॥

एदेण चेव भणिदो भासणचक्रमणचित्तणादीण ।

चेट्ठाण सिद्धम्मि अभावो हदसव्वकरणम्मि ॥२१४९॥

‘एदेण चेव भणिदो’ एतेनैवोक्तः भाषण-चक्रमण-चित्तनादीना चेष्टानामभाव सिद्धे हतसर्व-क्रिये ॥२१४९॥

इन्द्रियमुख दु खको लानेवाला है तथा दु खपूर्वक होता है। अर्थात् पहले दु ख होता है तब वह मुख होता है क्योंकि भुख व्यास आदिका दु ख हुए बिना भोजनादि प्रिय नहीं लगते। रागभावके बिना मसारमे किञ्चिन् भी मुख नहीं है ॥२१४६॥

इन्द्रिय मुखका स्वरूप कट्कर अतीन्द्रिय मुखको कहते हैं—

गा०—टी०—उसके समान या उसमे अधिक मुखका अभाव होनेसे अतीन्द्रिय मुख अनुपम है। छद्यस्थ जीवोंके ज्ञानके द्वारा उसना माप करना अशक्य होनेसे अमेय है। उसके विराधी दु खका अभाव होनेसे वह अक्षय है—उसका कभी नाश नहीं होता। उसमे रागादिमलका अभाव होनेसे वह अमल है। उसमे जरा रागका भय न होनेसे वह अजर है। रोगका अभाव होनेसे अरुज है। भयका अभाव होनेसे अभय है। पुनर्भव न होनेसे अब्रव है। उसके साथमे दु ख न होनेसे ऐकान्तिक है। अनन्तकाल तक रहनेसे आत्यन्तिक है—ऐसा वह अव्यावाधरूप मुख होता है ॥२१४७॥

गा०—मिद्धोमे मग्धादि विषयोंमे कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि सिद्धोको भूख व्यास आदि की वाधा नहीं होती तथा विषयोंके उपभोगके कारण राग आदि भी नहीं है ॥२१४८॥

गा०—इमीमे सब प्रकारकी क्रियाओंसे रहित मिद्धोमे बोलना, चलना-फिरना तथा विचारना आदि भी नहीं है ॥२१४९॥

इय सो खाडयमम्मत्तमिद्धदाविरियदिट्ठणाणेहिं ।

अच्चतिगेहि जुत्तो अब्वावाहेण य सुहेण ॥२१५०॥

‘इय सो खाडय’ एवमसौ क्षायिकेण सम्यक्त्वेन सिद्धतया वीर्येण अनन्तज्ञानानन्ददर्शनेन चात्यन्तिकेन युक्तोऽन्यादायेन सुखेन ॥२१५०॥

अकमायत्तमवेदत्तमकारकदा विदेहदा चेव ।

अचलत्तमलेत्त च ह्नुति अच्चतियाइ से ॥२१५१॥

‘अकसायत्व’ अकपायत्व, अवेदत्वमकारकता विदेहता अचलत्वमलेपत्व च आत्यन्तिक तन्म्य भवति । कौषादिनिमित्तानां कर्मणा प्राक्तनानां विनाशादभिनवानां वाऽभावादकपायत्वमात्यन्तिक एवमेवावदत्व । साध्यस्यापरम्याभावादकारकत्व । प्राक्तनस्य शरीरस्य विलीनत्वाद्द्वैहान्तरकारिण कर्मणोऽभावाद्विदहनया अवस्थान्तरप्राप्तिनिमित्तादभावादचलत्व । कमनिमित्तपरिणामाभावान् प्राक्तनानां च कर्मणा विनाशादलेपत्वमप्यात्यन्तिकम् ॥२१५१॥

जम्मणमरणजलोघं दुक्खपरकिलेससोगवीचीय ।

इय संसारसमुद्द तरति चदुरगणावाए ॥२१५२॥

‘जम्मणमरणजलोघ’ जन्ममरणजलोघ दुःखसकलेशोऽकवीचिव संसारसमुद्र सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्र-
तपसश्चित्तचतुरङ्गवावा तरन्ति ॥२१५२॥

एवं पण्डिदपण्डिदमरणेण करति भव्वदुक्खाण ।

अतं गिरतराया णिव्वाणमणुत्तर एत्ता ॥२१५३॥

शा०—इम प्रकार वह मिद्ध परमेष्ठी क्षायिक सम्यक्त्व, मिद्धत्व, अनन्तवीर्य, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अव्यावाध मुखमे युक्त होने हैं । ये सब आत्यन्तिक होते हैं, इनका कभी विनाश नहीं होता ॥२१५०॥

शा०—टी०—ज्ज्ञोव आदिमे निमित्त पूर्वं कर्मोंका विनाश होनेमे और नवीन कर्मोंका अभाव होनेसे मिद्धोमे आत्यन्तिक अकपायत्व है । इसी प्रकार आन्यन्तिक अवेदत्व है । उनके लिये कोई करने योग्य कार्य शेष न रहनेसे अकारकत्व भी सदा रहता है । पूर्वं शरीरका विनाश होनेसे और नवीन शरीरको उत्पन्न करनेवाले कर्मका अभाव होनेसे सिद्धोमे सदा विदेहता है । अन्य अवस्थाको प्राप्त होनेसे निमित्तका अभाव होनेसे सदा अचल है । उनके कर्मके निमित्तमे होनेवाले परिणामोंका अभाव होनेसे तथा पूर्वके कर्मोंका विनाश होनेसे वे सदा लेपरहित होते हैं ॥२१५१॥

शा०—जिममे जन्म मरणरूपी जलका समूह भग है, दुःख सकलेश और मोक्षरूपी लहरें उठा करती हैं, उस समाररूपी समुद्रको सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चरित्र और सम्यक् तपरूपी नावसे पार करते हैं ॥२१५२॥

‘एव पण्डितपण्डितमरणेण’ एवमुक्त्वा ब्रह्मेण पण्डितपण्डितमरणेण सर्वदुःखानानन्तं बुञ्जति । निरन्तराया निविन्ना निर्वाणमनुत्तरं प्राप्ताश्च । एतेन पण्डित-पण्डितमरणं व्याख्यातं । ‘पण्डितपण्डितमरणं गद’ ॥२१५३॥

एव आराधिता उक्कस्माराहणं चतुस्सुधं ।

कम्मरयविप्पमुक्का तेणेव भवेण सिज्झति ॥२०५४॥

‘एव आराधिता’ एवमारोध्य । उक्कस्माराधना’ उत्कृष्टाराधना । चतुस्सुधं’ समीचीनदर्शनानां चरणतपोभिधानं चतुष्पत्त्वं । ‘कम्मरयविप्पमुक्का’ कर्मरजोविप्रमुक्तान्तेनैव भवेन सिध्यन्ति ॥२१५४॥

आराधयित्तु धीरा मज्झिममाराहणं चतुस्सुधं ।

कम्मरयविप्पमुक्का तदिणं भवेण सिज्झति ॥२१५५॥

आराधयित्तु धीरा जहण्णमाराहणं चतुस्सुधं ।

कम्मरयविप्पमुक्का सत्तमज्झमेण सिज्झति ॥२१५६॥

आराधयित्तु धीरा’ आराध्य धीरा जघन्यमाराधना चतुष्पत्त्वा कर्मरजोविप्रमुक्ता सप्तमेन जन्मना सिध्यन्ति ॥२१५५-२१५६॥

एव एमा आराधणा ममेदा ममामदो बुत्ता ।

आराधणाणिवद्दं सब्बपि हुं होदि सुदणाण ॥२१५७॥

‘एव एसा’ एवमेवा आराधना सप्रभेदा ममासतो निरूपिता । आराधनायामस्या निबद्धं सर्वमपि श्रुतज्ञानं भवति ॥२१५७॥

आराधणं असेमं वण्णेदुं होज्जं को पुणं ममत्थो ।

सुदकेवली वि आराधणं असेमं ण वण्णिज्जं ॥२१५८॥

गा०—इस प्रकार वे क्षपक पण्डितपण्डितमरणसे सब दुःखोंका अन्त करते हैं और बिना वाधाके उत्कृष्ट निर्वाणको प्राप्त करते हैं ॥२१५३॥

गा०—इस प्रकार मध्यदर्शन, मध्यज्ञान, सम्यक् चारित्र्य और सम्यक् तत्त्व रूप चार प्रकारकी उत्कृष्ट आराधनाकी आराधना करके कर्मरूपी धूलिमें छूटकर उसी भवसे मुक्ति प्राप्त करते हैं ॥२१५४॥

गा०—उक्त चार भेदरूप मध्यम आराधनाकी आराधना करके धीर पुण्य कर्मरूपी धूलिमें छूटकर तीसरे भवमें मुक्ति प्राप्त करते हैं ॥२१५५॥

गा०—उक्त चार भेदरूप जघन्य आराधनाकी आराधना करके धीर पुण्य कर्मरूपी धूलिमें छूटकर सातवें भवमें मुक्ति प्राप्त करते हैं ॥२१५६॥

गा०—इस प्रकार इस भेदमय आराधनाका मध्येपमे बन्धन बिया । इस आराधनामें जो कुछ कहा गया है वह मन श्रुतज्ञान है ॥२१५७॥

आराधन असेत निरवशेषामाराधना वर्णयितु ऋत्समर्थो भवेत्, श्रुतवेवत्यपि निरवशेष न वर्णयन् ॥२१५८॥

अञ्जलिगणदिगणि-सच्चगुत्तगणि-अञ्जमित्तणदीण ।

अवगमिय पादमूले सम्म सुत्त च अत्थ च ॥२१५९॥

‘अञ्जलिगणदि’ आचार्यजिनदिगणिन, मवगुत्तगणिन, आचार्यमित्रनदिनदच पादमूले मम्यगुत्त श्रुत वावगम्य ॥२१५९॥

पुब्बायरियणिवद्धा उवजीवित्ता इमा समचीए ।

आराधणा सिवज्जेण पाणिदलभोइणा रइदा ॥२१६०॥

‘पुब्बायरिय’ पूर्वाचार्यकृतमित्तव उपजीम्य इय आराधना स्वराक्या शिवाचार्येण रचिता पाणि-दलभोजिना ॥२१६०॥

छट्टुमत्थदाए एत्थ दु ज वद्ध होज्ज पवयणविरुद्ध ।

सोथेतु सुगीदत्था पवयणवच्छलदाए दु ॥२१६१॥

‘छट्टुमत्थदाए’ छट्टस्यतया यदत्र प्रवचननिवर्शनवद्ध (विन्द) भवेत् तत्सुगुहोताया शोधयतु प्रवचन-वत्सलतया ॥२१६१॥

आराधणा भगवती एव भचीए वण्णिदा सती ।

संधस्स शिवजस्स य समाधिवरमुत्तम देउ ॥२१६२॥

‘आराधणा भगवती’ आराधना भगवती एव भक्त्या कीर्तिता मवगुत्तगणिन मधस्य शिवाचार्यस्य च विपुला सकलजनप्रार्थनीया अब्यावाधमुत्ता मिद्धि प्रयच्छतु ॥२१६२॥

गा०—मेरे ममान कौन अल्पश्रुतज्ञानी सम्पूर्ण आराधनाका वर्णन करनेमें समर्थ हो सकता है ! श्रुतकेबली भी सम्पूर्ण आराधनाको नहीं कह सकते । अर्थात् भगवान् सर्वज्ञ हो आराधनाका सर्वस्व वर्णन कर सकते हैं ॥२१५८॥

गा०—आर्य जिननन्दिगुणि, सर्वगुत्त गणि, और आर्य मित्रनन्दीके पादमूलमें मम्यग्रूपमें धृत और उनके अर्थको जानकर पूर्वाचार्यके द्वारा रची गई आराधनाको आधार बनाकर हस्त-पुटमें आहार करनेवाले मुझ शिवाचार्यने अपनी शक्तिमें इस आराधना ग्रन्थको रचा ॥२१५९-६०॥

गा०—छट्टस्य अर्थात् अल्पज्ञानी होनेमें हममें जो कुछ आगमके विरुद्ध लिखा गया हो, उसे आगमके अर्थको सम्यग्रूपसे ग्रहण किये हुए ज्ञानोजन मुधाग्नेकी वृषा करें ॥२१६१॥

गा०—इस प्रकार भक्तिपूर्वक वर्णनको हुई भगवती आराधना सर्वगुत्त गणीके मधको तथा रचयिता शिवाचार्यकी ममस्त जनोमें प्रार्थनीय अब्यावाध मुग्रूप मिद्धिको प्रदान करें अर्थात् उनके प्रमादमें हम सबको मुक्त्वध्यानकी प्राप्ति हो ॥२१६२॥

असुरासुरमण्युकिण्णररविसमिकिंपुरिसमहियवरचरणो ।
 दिसउ मम वोहिलाह जिणवरवीरो तिहुवणिंदो ॥२१६३॥
 खमदमणियमघराण धुदरयसुहदुक्खविप्पजुत्ताणं ।
 णाणुज्जोदियसल्लेहणम्मि सुणामो जिणवराणं ॥२१६४॥

गा०—जिनके पूजनीय चरणोंको असुर, सुर, मनुष्य, किन्नर, सूर्य, चन्द्र, वीर किम्पुत्य जातिके व्यन्तर पूजते हैं वे तीनों लोकके स्वामी वीर जिनेन्द्र मुझे बोधिलाभ प्रदान करें ॥२१६३॥

गा०—जिन्होंने स्वयं क्षमा, इन्द्रियदमन और नियमोंको धारण करके कर्ममलको नष्ट किया, तथा सासारिक सुख दुःखसे रहित हुए और अपने ज्ञानके द्वारा सल्लेखनाको प्रकाशित किया उन जिन देवोंको नमस्कार हो ॥२१६४॥

भगवती आराधना समाप्त हुई ।

श्रीमदपराजितसूरेण्टीकाकृतः प्रशस्तिः

नमः सकलतत्त्वार्थप्रकाशनमहौजमे ।

भव्यचक्रमहाचूडारत्नाय सुखदायिने ॥१॥

श्रुतायाज्ञानतममः प्रोद्यद्भर्मशिखे तथा ।

केवलज्ञानसाम्राज्यभाजे भव्यैकवधवे ॥२॥

चन्द्रनन्दिमहाकर्मप्रवृत्त्याचार्यप्रणिव्येण आरातीयसूरिचूलाग्निना नागनन्दिगणिपादपमोपनेवाजातमति-
 लवेन बलदेवसूरिशिष्येण जिननामनोद्वरणधारेण लज्जयश प्रसरेण अपराजितसूरिणा श्रीनन्दिगणिनाबचोदिनेन
 रचिता आराधनाटीका श्रीविजयोदयानाम्ना समाप्ता ।

टीकाकार अपराजित सूरिकी प्रशस्ति

जो समस्त तत्त्वार्थको प्रकाशित करनेके लिये महान् प्रकाशरूप है, भव्य समुदायके लिये महान् गिरोमणि है, जिसे वे मिरपर धारण करते हैं, सुखको देनेवाला है, अज्ञानरूपी अन्धकारके लिये उगती हुई प्रकाश विररण है, जिसके द्वारा केवल ज्ञानरूपी साम्राज्य प्राप्त होता है तथा जो भव्य जीवोपा एकमात्र दन्धु है उन श्रुतको नमस्कार हो ।

जो चन्द्रनन्दि नामक महाकर्म प्रकृति आचार्यके प्रनिष्य हैं, आरातीय आचार्यों के चूडामणि हैं, नागनन्दि गणिके चरण कमलोंकी मेवाके प्रमादसे जिन्हें ज्ञानका लेश प्राप्त हुआ, जो बलदेव सूरिके शिष्य हैं और जिन नामनका उद्धार करनेमें धीरवीर हैं, जिनका यश सर्वत्र फैला है, उन अपराजित सूरिने श्रीनन्दिगणिको प्रेरणामें श्री विजयोदया नामक आराधना टीका रची ।

गाथानुक्रमणिका

अ	पृ० गा०		पृ० गा०
अकडुगमतित्तयमण	६९४ १८८५	अणुकपा सुद्धुवबोगो	८१४ १८२८
अकदम्मि वि अवराये	५३० ९४१	अणुपालिदा य आणा	२८९ ३०८
अकसायत्तमवेदत्त	९०५ २१५१	अणुपालिदो य दीहो	१९७ १५६
अखलिदममिडिदमव्वा	४३९ ६५१	अणुपुब्बेण य ठविदो	४५३ ६९८
अग्गिपरिक्खत्तादो	६४८ १३१६	अणुपुब्बेणाहार	२५७ २४९
अग्गिविसकिण्हसप्पा	४६३ ७२८	अणुवद्धरोमविग्गह	२२३ १८५
अग्गिविसकिण्हसप्पा	४६३ ७२९	अणुमाणेदूण गुह	६०७ ५७४
अग्गिविससत्तुसप्पा	७२५ १५०१	अणुलोमा वा सत्तू	११० ७१
अग्गो वि य ड्हिदु जे	५३९ ९८०	अणुवत्तणाए गुणवयणेहि	५३६ ९६२
अघमे समे अससिरे	४३४ ६४०	अणुवमममेयमक्खय	९०४ २१४७
अच्चेलक्क लोचो	११४ ७९	अणुसज्जमाणए पुण	४५३ ६९७
अच्छाहि ताव सुविहिद	३८३ ५१६	अणुसट्ठि दादूण	८७७ २०२८
अच्छिणिमेसणमित्तो	७४१ १६५७	अणुसुरो पडिसूरि	२४० २०४
अच्छीणि सघमिरिणो	४६३ ७३१	अण्णम्मि चावि एदा	११३ ७३
अज्ज जिणतदिग्गणि	९०७ २१५९	अण्णस्म अप्पणो वा	५०३ ८३०
अज्जवमाणट्टाणत	७९३ १७७५	अण्णस्म अप्पणो वा	५४७ १०१७
अज्जवसाणविसुद्धीए	२६१ २५९	अण्ण अवरज्जतस्म	५१० ८५८
अज्जवसाणविसुद्धी	२६१ २६१	अण्ण इम सरोर	७४२ १६६५
अट्टे चउप्पमारे	७५५ १६९६	अण्ण निण्हदि देह	७८९ १७६८
अट्ठपदेसे मुत्तूण	७९० १७७३	अण्ण च एवमादी य	४०१ ५६१
अट्ठदलिया छिग्गवक्क	८०७ १८१०	अण्ण पि तहा वत्तु	२९३ ३६०
अट्ठीणि होत्ति तिण्णि हू	५४८ १०२१	अण्ण व एवमादी	४०० ५५९
अडई गिरि दरि सागर	५१० ८५४	अण्णाणी वि य गोवो	६७४ ७५८
अणणुण्णादग्गहण	६१० १०००	अण्णो वि वो वि ण गुणो	७३१ १६१९
अणसण अवमोयरिय	२३६ २१०	अत्थणिमित्तमदिभय	५७६ ११२३
अणिग्ग्हिद वलविरिया	२८१ ३००	अत्थम्मि हिंदे पुरिसो	५०९ ८५३
अणिदाणो य मुणिवरो	६३८ १२७७	अत्थाण वज्जणाण य	८३७ १८७९
अणिवित्तिकरणणाम	८९० २०८८	अत्थाण वज्जणाण	८३६ १८७६
अणिहृदपरगदहिदया	५३४ ९५४	अत्थे मतन्हि मुह	५१० ८५५
अणिहृदमणमा इदिय	८१० १८३२	अदिग्ग्हिदा वि दोसा	६७० १८०६

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
अदिल्लुयो वि दोमे	५०९	९३९	अद्भुजदचरियाए	३५९	४५८
अदिवडइ बल खिप्प	७६६	१७२१	अद्भुज्जदम्मि मरणे	४४२	६५९
अदिमयदाण दत्त	२९०	३२९	अद्भुद्वाण च रादो	२४४	२२९
अदिमजदो वि दुज्जण	२९६	३५०	अद्भुद्वाण किदियम्म	२६५	१२७
अद्धा णत्तेण-मावय	२८०	३०८	अभिजोभावाणाए	८५९	१९५४
अद्धाणरोहणे जण	४२१	६१३	अभिणंदणादिद्या पच	७००	१५५०
अद्धाणमण सव्वा	२३६	२११	अभिभूददुब्बिगघ	५५२	१०४१
अद्घुवममरणमेगत	७६१	१७१०	अमणुण्ण सपओगे	७५५	१६०७
अघ खवगसेटि	८९०	२०८७	अमुग्गिम्मि इदो काले	३९१	५३४
अघ तेउ-अम्म-सुवक	८४७	१९१७	अमुयतो मम्मत्त	८२२	१८३८
अघ-लोह सुहुमकिट्टि	८९१	२०९२	अम्मापिदुमारिमो मे	४५७	७१२
अविगेमु वहुमु सनेमु	६७८	१४२३	अम्हे वि खमा वेमो	३०५	३८०
अपरिग्गहस्स भुणिणो	६११	१२०५	अयसंसणत्थ दुत्त	५२०	९०१
अपरिस्माइ णिब्बावओ	३१९	४२०	अरत्त च अणवेला	२४०	२१८
अपरिस्माइ मम्म	२७३	२९६	अरहत्तृषडो सरिमो	४१३	५९४
अप्पच्चओ जकित्ती	५०६	८४२	अरहतणभोवकाणे	४७२	७५४
अप्पपरियम्म उवधि	२११	१६५	अरहतसिद्ध आइरिय	५२०	९००
अप्पपमन परिहरह	२०९	३६१	अरहतसिद्धकेवलि	७३३	१६२८
अप्पाउगारोगिदया	४८८	७९७	अरहतसिद्धचेइय	८३	४५
अप्पा णिच्छरदि जहा	६९२	१४७७	अरहतसिद्धचेदिय	४६८	७४३
अप्पा दमिदो लोएण	१२४	९०	अरहतसिद्धभत्ती	२८५	३१९
अप्पायत्ता अज्जत्तप्प	३३३	१२६३	अरहतसिद्धमाार	४०१	५६०
अप्पा य वचिओ तेण	६८५	१४४८	अरिहादि अनिातो	८७८	२०३२
अप्पो वि तवो बहुग	६८६	१६५८	अरिहे लिंगे निक्खत्ता	१०५	६६
अप्पो वि परम्म गुणो	३०४	३०५	अलिएहि हत्तिपवयणेहि	५३६	९६३
अवलत्ति होदि ज मे	५३८	९७४	अलिय म क्विपि भणिय	५०६	८४१
अन्नमहियजादहानो	४५७	७१०	अवधिद्वाण णिरय	७३८	१६४४
अन्नमादोहि विणा	५५३	१०४२	अवरण्ह स्कखटाहो	७६५	१७१९
अन्नतरवाहिरा	५७०	११११	अववादियलिकादो	१२१	८६
अन्नतर वाहिरगे	६८४	१४४५	अवहट्टु अट्टरहे	७५५	१६९९
अन्नतरमोपीए	६५७	१३४३	अवहट्टु वायजौगे	७४९	१६८०
अन्नतरमोपीए	८४६	१९००	अधिकत्थनो आणुणो	३०१	३६६
अन्नतर मोपीए	८१६	१०१०	अविग्गट्टु वि तव ओ	२६१	२६०
अन्नावगानमयण	२४४	२२८	अवितक्कमवीचार	८३८	१८८०

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
अवियक्कमवोचार	८३९	१८८२			
अवि य व्हो जीवाण	५२४	९१६	आ		
अविरद सम्मादिट्ठी	६५	२९	आइरिय पादमूले	४१३	५९५
अविरमण हिसादो	८१०	१८२०	आउघवामस्स उर	५७८	११३०
अविसुद्ध भावदोमा	८५७	१९४५	आउज्वेदसमत्ती	४३०	६२६
अविसुय असुत्तिर	८६१	१९६३	आएसस्स तिरत्त	३१७	४१५
अब्बाघादममदिद्ध	८९३	२०९८	आएस एज्जत	३१४	४१२
अब्बावाघ च सुह	९०३	२१४३	आवपिय अणुमाणिय	४०३	५६४
अब्बोच्छित्तिणिमित्त	२६७	२७७	आक्खेवणी कहा सा	४४०	६५५
असदि तणे चुण्णेहि	८६७	१९८६	आक्खेवणी य सवे	४८०	६५४
असमाधिणा व काल	४४८	६७८	आगमदो जो वालो	४१५	६००
असिधार व विम वा	७४२	१६६१	आगम माहृप्पगओ	४४२	६५८
असिप्पे दुब्बिक्खे वा	७०४	१५३७	आगम सुदआणाथा	३५५	४५१
असुचि अपेच्छणिज्ज	५४६	१०१४	आगतुनावच्छब्बा	३१५	४१३
असुरसुरमणुसकिण्णर	६०८	२१६३	आगतुघरादोसु वि	४३४	६३८
असुरपरिणामवहुलत्त	८३०	१८५२	आगाढे उवसग्गे	८८५	२०६६
असुहा अत्या कामा	८०६	१८०७	आगामभूमिउदधी	५३४	९५७
अह तिरियउड्डलोए	७६१	१७०९	आगामम्मि वि पक्खी	७९३	१७७६
अहव सुदिपाणय से	३४१	४४७	आचेलक्कुट्टेसिय	३२०	४२३
अहवा अप्प भासा	६३०	१२५४	आणक्खिदाय लोचेण	१२५	९१
अहवा चारित्तारा	२४,	८	आणाभिकस्त्रिणावज्ज	२३९	२१६
अहवा ज उम्भावेदि	५०१	८२१	आणा मज्ज साखिल्लदा	२८२	३१२
अहवा सण्हादिपरी	६१६	१४२६	आणा ह्वत्तियादीर्हि	४५४	७०२
अहवा तल्लिच्छाइ	६४१	१२८७	आदट्टमेव चित्ते	३६९	४८५
अहवा दसणाण्णच	२१३	१६९	आदपरसमुद्धारो	१४७	११०
अहवा समाधिहेट्टु	४५६	७०७	आदहिदपइण्णा भाव	१३२	९९
अहवा सयबुद्धोए	५००	८१९	आदहिदमयाणतो	१३५	१०१
अहवा सरीरमेज्जा	२१५	१७१	आदा कुल गणो	२५५	२४४
अहवा होइ विणामो	५८१	११४८	आदाणे णिक्खेवे	८९७	८१७
अह मावमेसरुम्मा	८४९	१९०४	आदाणे णिक्खेवे	५८२	११५३
अहिमारएण णिवदिम्मि	८८६	२०६९	आदितिय सुमघडणो	८७०	२०३८
अगमुदे य वट्टविधे	३७७	५०१	आदुर मल्ले मोमे	४७६	६१८
अतो वहि व मज्जे	५५३	१०६४	आपुच्छा य पडिच्छण	१०७	६८
अघलयरहिरमूतो	१७५	१३०	आवद्धाविदिट्ठो वा	६७१	११९७
			आमामण परिभासण	६३८	६४८
			आमत्तणि आणवणी	६००	११८९

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
धामतेक्षण गर्ण	२६७	२७८	आलवणेहि भरिदो	८३४	१८७०
आमासयम्मि पक्का	५४४	१००६	आलोइद असेस	४०४	५६६
आयरिय उवज्झाए	५२०	८९७	आलोचण गुणदोसे	३६५	४७६
आयरियत्तादिणिदाणे	६२३	१२३४	आलोयणाए सेज्जा	२१२	१६८
आयरियधारणाए	२८८	३०५	आलोयणापरिणदो	३१३	४०७
आयरियपादमूले	४१३	५९५	आलोयणापरिणदो	३१३	४०८
आयरियसत्थवाहेण	६४०	१२८४	आलोयणापरिणदो	३१३	४०९
आयरियाण वीसत्थदाए	३७३	८९०	आलोयणा हु दुविहा	३९२	५३५
आयविलणिव्वियणी	२६०	२५६	आलोचिदणिस्सल्लो	८०८	२०७८
आयविलेण सिंभ	४५४	७००	आलोचिद अनेस	४१५	६०१
आयापायविदण्हू	१३८	१०५	आलोचिद असेस	४१६	६०५
आयार-जोद-कप्पगु	३१४	४११	आलोचेमि य सव्व	४०७	५७३
आयार-जोद-कप्पग्	१७१	१३२	आलोयण मुणित्ता	४२५	६१७
आयारत्थो पुण से	३३६	४२९	आलोयणादिया पुण	३९८	५५६
आयारवमादोया	३८८	५२८	आलोयणापरिणदो	३१३	४०६
आयारव च आधा-	३१८	४१९	आलोयणेण ह्रिदय	५६३	१०७९
आयार पचविह	३१९	४२१	आवडणत्थ जह ओ-	६२४	१२३७
आयासवेरभयदुवख	३०३	३७२	आवडिया पडिकूला	७०१	१५१५
आरण्णओ वि मत्तो	४७६	७६२	आवसधे वा अप्पा	११४	७८
आरने जीववहो	४९७	८१४	आवादमेत्त सोवखो	७४०	१६५५
आराधणपत्तोय	१५५	७०५	आवासपठाणादिमु	३१५	४१४
आराधणपत्तोय	८६७	१९८८	आवामय च कुणदे	८८१	२०४९
आराधण असेम	९०६	२१५८	आसयवसेण एव	२९८	३५८
आराधणाए तत्थ दु	८७५	२०२०	आसव मवर णिज्जर	७४	३७
आराधणापडाय	४७४	७५७	आमागिरिदुग्गाणि य	६४३	१२९८
आराधणापुरस्सर	४७०	७५२	आसादित्ता कोई	४५१	६९१
आराधणाविधी जो	८७५	२०१८	आसादिदा तओ होति	७३४	१६२९
आराधयित्तु धीरा	९०६	२१५५	आमी अणतम्बुत्तो	७२७	१६०१
आराधयित्तु धीरा	९०६	२१५६	आमांय महाजुद्धाइ	५२९	९३६
आराहणाए कज्जे	४१	१९	आमीवित्सेण अवरद्धस्स	५१७	८८६
आराहणा भगवदी	९०७	११६२	आमीविसोव्व वुविदा	५३०	९४०
आल जणेदि पुरुमस्स	५३८	९७५	आमुक्कारे मरणे	८८८	२०७७
आलवण च वायण	७५९	१७०५	आहट्टिदूण चिरमवि	५२५	११९
आलगण च वायण	८३४	१८६९	आहागत्थ काऊण	७३८	१६४६

	पृ० गा०		पृ० गा०
आहारल्य पुरिसो	७३७ १६४१	इय चरणमधक्ताद	८५२ १९३८
आहारल्य मज्जा	७३७ १६४२	इय जइ दोसे य गुणे	३६४ ४७४
आहारल्य हिंसइ	७३६ १६३७	इय जो दोस लहुग	४१० ५८३
आहारमओ जोवो	३३८ ४३७	इय जे विराधयित्ता	८५९ १९५६
आहिडय पुरिसस्स य	७९८ १७९२	इय ज्ञायतो खवओ	८४३ १८९७
		इय णिव्ववओ खवयस्स	३७९ ५०८
		इय दढ गुणपरिणामो	२८३ ३१६
		इय दुट्ठय मग जो	१७७ १४१
		इय दुल्लहाए वोहोए	८३३ १८६५
		इय पच्छण पुच्छय	४११ ५८८
		इय पण्णाविज्जमाणो	७४४ १६७३
		इय पपविभागयाए	४२४ ६१४
		इय पव्वज्जा भडि	६३९ १२८२
		इय पुव्वकद इणमज्ज	७३२ १६२३
		इय बालपडिय होदि	८८८ २०८१
		इय मज्झिममाराधण	८५० १९२७
		इय मुक्खिमयमारा	६४९ १९२३
		इय समभावमुवगदो	८४३ १९००
		इय सव्वसमिदकरणो	१२१ ८५
		इय सणिरुद्धमरण	८७२ २००९
		इय सामण्ण साहू	४२ २१
		इय सो खवओ ज्ञाण	८८० १८८४
		इय सो खाइयसम्मत्त	९०५ २१५०
		इय सव्वत्थवि सवर	८२३ १८३९
		इय सल्लीण मुवगदो	२४९ २३५
		इरियादाणणिल्लेवे	१२९ ९५
		इहइ परलोगे वा	६३४ १२६६
		इह परलोइय दुक्खाणि	७३७ १६४३
		इह परलोए जदि दे	५६७ ११०१
		इह य परत्त य लोए	६७५ १४१३
		इय य परत्त य लोए	६७८ १४२१
		इह य परत्त य लोए	६७८ १४२५
		इह य परत्त य लोए	६८० १४३०
		इह य परत्त य लोए	६८० १६३३
		इह य परत्त य लोए	६८६ १४५३
इगविगतिगच्चउरिदिय	८९१ २०९०		
इच्चेवमदिवकतो	८३४ १८७१		
इच्चेवमाइ कवच	७४५ १६७५		
इच्चेवमादि भविचित्तयदो	६२३ १२३२		
इच्चेवमादि दुक्ख	७२३ १५८२		
इच्चेवमादि दोसा	३७५ ४९७		
इच्चेवमादि विणओ	१६७ १२४		
इच्चेवमादि विविहो	२४० २१९		
इच्चेवमेदगविचि	६३८ १२७८		
इच्चेव समणघम्मो	६९० १४७१		
इच्चेव कम्ममुदओ	७३१ १६१७		
इट्ठेसु अणिट्ठेसु य	७४७ १६८३		
इडिहमतुल विउविवय	८७९ २०४०		
इण्हि पि जदि ममात्ति	७४२ १६६३		
इत्तिरिय सव्वगण	२२० १७९		
इत्थि विण्णयाभिलासो	५१४ ८७३		
इत्थी त्थि य ज लिग	११५ ८०		
इदि पचहि पचहदा	६५९ १३४८		
इघ किं पर लोगे वा	८०४ १७९८		
इय अट्ठगुणो वेदो	३८० ५०९		
इय अप्प परिस्सममम	३५९ ४५९		
इय अव्वत्त जइ सा	४१३ ५९३		
इय आलवण मणुपेहा	८३३ १८६८		
इय उजुभावमुवगदो	३९९ ५५५		
इय एदे पच्चविधा	६४६ १३०९		
इय एस लोगवम्मो	८०६ १८०५		
इय एमो पच्चक्खो	१६९ १२८		
इय स्सामिय चेरग	४५८ ७१४		

इ

	पृ० गा०		पृ० गा०
इह लोइय परलोइय	५०७ ८४५	इ दिय मामग्गीवि	७३४ १७१६
इह लोए परलो ए	८८० २०४५	इ दियसुह साउलओ	२२७ १९१
इह लोए वि महल्ल	५२७ ९२९		
इहलोग वधवा ते	७७५ १७४६		
इहलोगिय परलोगिय	८०७ १८०८	ईमप्पवभाराए	८९९ २१२७
इगालो घोव्वते	५५२ १०३८	ईमालुयाए गोवव	५३१ ९४४
इगालो धुव्वते	८०८ १८११		
इदियकसायउवधीण	२१४ १७०		
इदियकसायगुरुगत	६११ १२८९	उक्कूवेज्ज व सहसा	३३९ ४४१
इदियकसायगुरुगत	६४२ १२९४	उक्कस्सएण छम्मासाउग	८९४ २१०३
इदियकसायगुरुगत	६८४ १३०१	उक्कस्सएण भत्तप	२५१ २५४
इदियकसायगुरुगत	६४५ १३०६	उक्कस्सा केवल्लिणो	९५ ५०
इदियकसायचोरा	६७२ १४०१	उगम उप्पादण एसणा	२४५ २३२
इदियकसायजोगणि	७५६ १७००	उगम उप्पादणोसणा	३१८ ४१७
इदियकसायणिग्गह	६५६ १३३९	उगम उप्पादणएसण	४३२ ६३५
इदियकसायदुद्द तस्सा	६७० १३९१	उगम उप्पायणए	६०४ ११९१
इदियकसायदोमेहि	६४६ १३०७	उगगाहितस्सुदधि	५६८ ११०३
इदियकसायदोस	६५५ १३३८	उच्चत्तणम्मि पीदी	६२० १२२६
इदियकसायदुद्द तस्सा	६७० १३९०	उच्चत्तण व जो णीच	६२० १२२७
इदियकसायपणिवा	१४६ ११४	उच्चासु व णोचामु व	६१८ १२२३
इदियकसायपण्णग	६७० १३९२	उज्जस्सो तेजस्सो	३६८ ४८०
इदियकसायमइला	६५६ १३४०	उज्जुय भावम्मि असत्त	५३६ ९६७
इदियकसायमइओ	६५२ १३२६	उज्जोवणमुज्जवण	७ २
इदियकसायवसगो	६१३ १३३०	उज्जति जत्य हत्थी	७३० १६१३
इदियकसायवसगो	६५५ १३३६	उड्डहणा अदिचवला	६७२ १३९८
इदियकसायवसिया	६४६ १३०८	उड्डाहकरा येरा	३०७ ३८८
इदियकसायमण्णा	५६५ १०८८	उड्डे सभकवडिडय	३०९ ३९५
इ दियकसायहत्थो	६७३ १४०३	उण्ह वाद उण्ह	७०८ १५४३
इ दियकसायहत्थो	६७३ १४०४	उत्तरगुण उज्जमणे	१५० ११८
इ दियकसायहत्थो	६७३ १४०५	उदए पवेउज्जहि सिला	५३६ ९६६
इ दियकसायवग्घा	६७२ १४०२	उदयम्मि जायवडिडय	५६८ ११००
इ दियगहोवसिट्ठो	६५२ १३२४	उद्धमणस्स ण रदो	७३९ १६५१
इ दियचोरपरद्धा	६४३ १२९५	उद्धमणस्स ण सुह	६३२ १०६१
इ दियदुद्द तस्सा	८१८ १८३१	उप्पाडिता धीरा	३६८ ८७३
इ दियमवमगीर	५८३ ११५७	उत्तभावेज्ज व गुणमे	६९७ १४९८

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
उम्मगदेमणो मग	२२४	१८६	एदाओ पच वि वज्जिय	२२५	१८८
उम्मत्तो होइ णरो	५८२	११५१	एदारिमम्मि थेरे	४३०	६२८
उयसय पडिदावण्ण	८६३	१९७२	एदासु फल कमसो	८६२	१९६७
उलाव समुवल्लावार्हि	५६३	१०८२	एदाहि भावणाहि य	२१५	१८७
उल्लीणोल्लीणोहि	२५६	२८८	एदाहि भावणाहि हु	६१२	१२०७
उवण्णो पुण आयरि	८८२	२०५४	एदाहि सदा जुत्तो	६०५	११९४
उवगहिद उवकरण	८६७	१९८७	एदे अत्ये सम्म	५५८	१०६३
उवगूहण ठिदिकरण	८१	४४	एदे गुणा महल्ला	२९०	३३१
उवगूहणादिया पुव्वुत्ता	१४६	११३	एदेण चेव भणिदो	९०४	२१४९
उवसग्गेण वि माहरिदो	८८५	२०६४	एदेण चेव पदिट्ठा	६०५	११९३
उवममइ किण्ह मप्पा	४७५	७६१	एदे दोमा गणिणो	३१०	३९८
उवमम दयादमाउह	८१८	१८३०	एदे सव्वे दोसा	३१०	३९९
उवमतवयणमगिहत्य	१६८	१२६	एदे सव्वे दोमा	५१३	८६९
उव्वादो तद्दिवम	३१८	४१८	एदे सव्वे दोसा	५२७	९३०
उस्सगियत्तिगकदस्म	११३	७६	एदेसि दोमाण	५०७	८४६
उस्सरइ जस्स चिरमवि	१११	७८	एदेसि दोसाण	५८५	११६१
उदुरकदपि सद्	५११	८६३	एदेमि लेस्माण	८४५	१९०४
			एदेसु दससु णिच्च	३३५	४२४
			एद डगिणि मरण	८८३	२०५६
			एयग्गेण मण	७५७	१७०३
			एयत्त भावणाए	२३३	२०२
			एयसमएण विघुणदि	४५८	७१७
			एयस्स अण्णो को	७०२	१५१९
			एयाए भावणाए	२३५	२०६
			एयाणेयमवगद	७६१	१७०८
			एया वि मा समत्था	४६८	७६५
			एवमणुद्धदोसो	३९३	५३०
			एव जघाक्खादविधि	८४८	१९२०
			एवमवक्खादविधि	८८३	२०५५
			एवमवलायमाणो	२५०	२३७
			एवमवि दुल्लहपर	३३८	४३४
			एव अट्ठवि जामे	८८१	२०४७
			एव अधियामेंतो	७६६	१६७८
			एव आउत्तिट्ठा	३०६	३८६
			एव आउत्तिउत्ता	६०७	१५०१

ए

एइदियेसु पच वि	७९५	१७८३
एए अण्णो य बहु	५४०	९८५
एक पदिब्बइ कण्णा	५४१	९९१
एकम्मि वि जम्मि पदे	४७९	७७४
एक्क पि अक्खवर जो	१०२	६१
एक्क व दो व तिण्णि य	३११	४०४
एगमवि भावसल्ल	३९४	५४२
एकम्मि चेव देहे	६३५	१२६७
एगावगतिमच्चउ	७८८	१७६७
एगम्मि भवग्गहणे	४४९	६८१
एगन्ता सालोगा	८६०	१९६२
एगुत्तग्गेट्ठीए	२३८	२१४
एगो जइ णिज्जवओ	४४६	६७३
एगो सयारगदो	३८५	५२१
एदम्मि णवरि मुणिणो	२८७	३१४
एदाउ अट्ठ पवग्गण	१०७	११९९

	पृ० गा०		पृ० गा०
एव आराधिता	१०६ २१५४	एव पडियमरण	८८६ २०७१
एव आसुक्कारमरणे	८७५ २०१९	एव पि कौरमाणो	६९६ १४९५
एव इहइ पयहिय	८९९ २१२६	एव पिणद्धसवर	८२६ १८४९
एव उग्गम उप्पाद	२५६ २४७	एव भावमाणो	२३५ २०७
एव उवसग्गविधि	८८० २०४४	एव महाणुभावा	४४५ ६६९
एव एद सव्व	७२६ १५९७	एव मूढमद्रीया	८५८ १९५१
एव एदे अत्थे	५५८ १०६२	एव वासारत्ते	६३१ ६३०
एव एसा आराधणा	९०६ २१५७	एव विचारयित्ता	२०६ १५८
एव कदकरणिज्जो	५९० ११७५	एव विसग्गिभूद	५१५ ८७५
एव कदपरियम्मो	२६५ २७२	एव सिदि परिणामो	२१० १६३
एव कदे णिमग्गे	३८२ ५१८	एव सम्म सहस	६७५ १४१४
एव कसायजुद्धम्मि	८४० १८८६	एव सरीरसल्ले	२६० २५८
एव कालगदस्स दु	८६० १९६०	एव सव्वत्थेसु वि	७४९ १-९०
एव केई गिहिवा	६४९ १३१९	एव सव्वे देहम्मि	५५० १०३१
एव खवओ कवत्थेण	७४६ १६७७	एव सथारगदस्स	६९४ १४८८
एव खवओ सथारगओ	६९३ १४८४	एव सथारगदो	८५२ १९४०
एव खु वोसरित्ता	३९८ ५५३	एव सारिज्जतो	६९८ १५०३
एव च णिककमित्ता	८७७ २०२९	एव सुभाविदप्पा	८४८ १९१८
एव चदुरो चदुरो	८४६ ६७१	एव सुभाविदप्पा	७४८ १६८६
एव चेट्टतस्सवि	५७९ ११३५	एस अखडियसोलो	३०८ ३७७
एव ज ज पस्सदि	५०८ ८४९	एम उवाओ कम्मा	६८८ १४४४
एव जाणतेण वि	३९० ५३१	एसणणिव्वेवादा	६०७ १२००
एव जो महिलाए	५६७ ११००	एसा गणवरथेरा	२७२ २९२
एव णादूण तव	६९० १४५९	एसा भत्तपइण्णा	८७६ २०२३
एव णिप्पडियम्म	८८४ २०६३	एसो सव्वसमासो	३०४ ३७६
एव णिग्गदरप	८७४ २०१५		
एव तुब्ब उवएसेण	६९३ १४८०		
एव तु भावसल्ल	३६२ ४६८		
एव दसणमारहात्तो	९३ ४७		
एव पडिकमणाए	४५९ ७१८		
एव पडिट्ठवित्ता	८६८ १९९०		
एव परजणदुक्खे	५२६ ९२४		
एव परिमगित्ता	३८० ५१०		
एव पत्तयणनारसु-	४३० ६७७		
एव पडिदपडिद	९०५ २१५३		
		ओ	
		ओगाढगाढणिचिदो	८१० १८१८
		ओग्घेण ण व्हाओ	५४१ ९९३
		ओघेणालोचैदि हू	३९२ ५३६
		ओमोदरिए घोराए	७०७ १५३९
		ओल्ल मत वत्थ	८९६ २१०७
		ओसण्ण सेवणाओ	६४१ १२८८
		क	
		कवत्तसवयण णिट्ठुर	५०२ ८२४

पृ०	गाथा	पृ०	गाथा
७०६	१५३७	४०२	५६३
६२८	१२४६	८९६	२११०
९००	२१३२	४९७	८१३
४६४	७३२	५१५	८७६
५५१	१०३४	५२८	९३१
७२४	१५९०	५२०	८९८
२५३	२४२	६८८	१४६०
४२५	६१५	५१९	८९४
४३८	६४७	५१७	८८५
८५०	१९२९	५१६	८८०
८२५	१८४६	५१७	८८३
७३१	१६१६	५१९	८९६
७९७	१७८८	५२४	९१७
७९५	१७८१	५१६	८८२
६४८	१३१५	५९७	११८३
५४३	१००१	३७	९
३०८	३९२	८०५	१८०३
२४९	२३४	९०१	२१३३
५६०	१०६७	६१९	१२२४
४६७	७४०	२६६	२७५
७६०	१७०७	८२४	१८४२
६८८	१४५९	१४३	११२
३९४	५४३	३०३	३७३
२३५	३०४	१९७	१५७
७३०	१८१५	८४४	१९०७
५२५	९२०	१०२	१३३
३६२	४६७	९५०	२०३०
१९५	१५३	४०६	५६९
२२२	१८२	७०९	१७४९
२२१	१८१	८११	१८२१
८५९	१९५३	७५७	१७२३
८४४	६६४	७२९	१६११
१६४	१२०	७३०	१६१४
३९१	५३३	५४६	१०१३
७०८	१५८५		

	पृ०	गाथा	पृ०	गाथा
किह् पुण णवदसमासे	५४५	१००८	कूड हिरण्ण जह् णिच्छएण	४१५ ६०२
किचि व दिट्ठिमुपावत्त	७५६	१७०१	केई गहिदा इदिय बोरेहि	६४१ १२९०
किं जपिएण बहुणा	६९३	१४८१	केई अगोमदिगदा	७०३ १५२३
किं जपिएण बहुणा	८५१	१९३५	केई विमुत्तसगा	७०५ १५३२
किं णाम तेहि लोणे	८६९	१९९७	केट्ठण विस पुरिसो	४०४ ५६७
किं पुण अणयार महा	७१०	१५५४	केवलकण्ण लोण	८४८ १९२०
किं पुण अवसेसाण	२७८	३०५	केसा समज्जति हू	१२२ ८७
किं पुण कठपाणो	७४०	१६५३	कोई डहिज्ज जह् चदन	८१२ १८२४
किं पुण कुलगण सधस्स	७०५	१५९९	कोई तमादयित्ता	४५२ ६९४
किं पुण गुणसहिदाओ	५६०	९८९	कोई रहस्समेद	३७४ ७९३
किं पुण छुहा व तण्हा	६९३	१६८२	को इत्थ मज्ज माणो	६७८ १४२२
किं पुण जदिणा गसा-	७०४	१५२६	को एत्थ विभओ दे	७६० १६५४
किं पुण जीवणिकाये	७२८	१६०७	कोटी मतो लद्धूण	६१५ १०१७
किं पुण जे ओसण्णा	८५३	१९४३	को णाम अप्पसुखम्स	७११ १६५९
किं पुण तरणो अवहस्सु	५६६	१०९३	को णाम णिरव्वेगो	६८३ १४४०
किं पुण तरणो अवहस्सु	२९१	३३४	को णाम णिरव्वेगो	६८३ १४४१
किं मज्ज णिरच्छाहा	८५८	१९५२	को णाम भडो कुलजो	७०१ १५१३
किं मे जपदि किं मे	५६७	१०९८	को तम्स दिज्जइ तवो	४११ ५८७
वुट्टावुट्टि चण्णाचुण्णि	७१५	१५६६	कोध भय लोभ हस्स	६१० १२०१
वुणदि य माणो णोचा	६२१	१०३०	कोध खमाए माण	२६२ २६२
वुण वा णिहामोक्ख	६८८	१४४३	कोवो माणो माया	५७५ ११०१
वुणह अपमादमावात्तएसु	२७४	२९८	कोमो सत्तुगुणकरो	६६२ १३५९
वुणिमवुडिभवा लहुगत्त	८०७	१८०९	कोमवी ललिय घडा	७०७ १५४०
वुणिमवुडो वुणिमेहि य	५४८	१०००	कोमलय घम्मसीहो	८८६ २०६७
वुणिमरम वुणिमगध	५५८	१०६१	कोमि तुम किं णामो	६९७ १५००
वुद्धो वि अप्पसत्थ	६१५	१२१०	कोहस्स य माणस्म य	२६२ २६३
वुलगामणयररज्ज	२७३	२९५	कोहो माणो लोभो	६६७ १३८१
वुलजस्स जममिच्छन	६५०	१३३७		
वुलव्वतेयभोगा	७९९	१७२६	खणणुत्तावणवालण	२३१ २००
वुलव्ववाणाअलमुद	६६४	१३६९	खणमेत्तेण अणादिय	८७५ २०२१
वुविदो व विण्णमणो	५३५	९६०	खमदमणियमधराण	९०८ २१६४
वुव्वतस्म वि जत्त	४८५	७८६	खवजो गिलामिदगो	३६० ८६०
वुसमुट्ठि घेतू ण थ	८६४	१९०६	खवग पडिज्जगणाए	४४६ ६७४
वुसुममगधमवि जहा	२९७	३५३	खवगस्म घरदुवार	६१४ ६६५
वुभोपाएसु तुम	७१६	१५६८	खवयस्म अप्पणो वा	४४७ ६७५

ख

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
जदि दा सुभाविदप्पा	८५३	१९४०	जलिदो हु कसायगी	२६४	२६८
जदि दिवसे सचिट्ठदि	८६८	१९९१	जल्लविल्लितो देहो	१२८	९४
जदि धरिसणमेरिसय	३७५	४९६	जस्स पुण उत्तमट्टम	४४९	६८३
जदि पवयणस्स सारो	४०	१८	जस्म पुण मिच्छदिट्ठिस्म	१०२	६०
जदि मूलगुणे उत्तर	४११	५८६	जस्म य कवेण जीवा	१७७	१३९
जदि वा एसण कोरेज्ज	८६३	१९७१	जस्म वि अब्वभिचारी	११३	७७
जदि वा सवेज्ज सत्तेण	६७६	१४१६	जह अप्पणो गणस्म य	६९२	१४७८
जदि वि कह्वि वि गया	५७९	११३६	जह आइच्चमुदित	७७२	१७३०
जदि विकखादा भत्तप	८६३	१०७३	जह इघणेहि अग्गी	६३१	१२५८
जदि वि य से चरिमते	७४८	१६८५	जह इघणेहि अग्गी	७३९	१६४९
जदि वि विक्किचदि जतू	५८३	११५५	जह इ घणेहि अग्गी	६४५	१९०७
जदि विसमो सधारो	८६५	१९७९	जह कवचेण अभिज्जेण	७४५	१६७६
जदि विसयगघहृत्यो	६७३	१४०६	जह कटएण विद्धो	३९३	५३८
जदि वि सय धिरवुद्धी	२९२	३०५	जह कमिय भिगारो	४०९	५८१
जदि सो सत्थ मरिज्जो	५७८	११३१	जह कुडओ ण सक्को	५७१	१११४
जदि होज्ज मच्चिष्ठापात	५५०	१०३३	जह कोइ तत्तलोह	६६१	१३५६
जघ इ घणेहि अग्गी	५७९	११३७	जह कोइ लोहिदकय	४१६	६०६
जघ उग्गविसा उरगो	६६३	१३६२	जह कोडिल्लो अग्गि	६२८	१२४५
जघ करिसयस्स घण्ण	६६३	१३६१	जह गहिदवेयणो विय	६९०	११७०
जघ कोडिसमिद्धो वि	६६६	१३७६	जह जह गुणपरिणामो	२८४	३१७
जघ तडुलस्स को-	८८६	१९११	जह जह पिण्डेदसम	८१८	१८५८
जघ भिवख हिडतो	६५३	१३२९	जह जह भुजइ भोगे	६३१	१२५६
जघ सण्णद्धो पगगहिद	६५३	१३२८	जह जह मणोइ णरो	५३३	९५२
जमणिच्छती महिल	५२६	९२५	जह जह वयपरिणामो	५५९	१०६५
जम्मण अभिणिक्खवणे	१८२	१४५	जह जह सुदमोग्गहाहदि	१३७	१०४
जम्मणभरणजलोघ	९०५	२१५२	जह ण करेदि तिमिछ	३५८	४५५
जम्मसमुद्धे वह्दोसवीचिए	८०९	१८१५	जह णाम दब्बसल्ले	३६२	४६६
जम्हा असच्चवयणादिएहि	४८६	७९०	जह णीरस पि कडुय	६७४	१६०९
जम्हा चरित्तसारो	३५	१४	जह ते ण पिय दुक्क	४८०	७७६
जम्हा णिग्गथो सो	५८७	११६६	जहदि व पियय दोस	२०६	३५२
जम्हा मुद वितक्क	८३५	१८७५	जह परिमिदो इमो तह	३७४	४०८
जम्हा मुद वितक्क	८३७	१८७८	जह पक्खुभिदुम्मीए	३७८	५०५
जम्हि थ वारिदमेत्ते	१७७	१४०	जह पत्थरो पडतो	८४६	१९०८
जल्लवणसमिमुत्ता	५०३	८२९	जह परमण्णस्म त्तिम	५०५	८३९

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
जह पव्वदेसु मेरु	४८५	७८४	ज षणपरिभवणियडिप-	५२४	९१५
जह वालो जप्पतो	३९६	५४९	ज पाणयपरिम्मम्मि	४५६	७०८
जह वाहिरलेम्माओ	८४४	१९०१	ज बद्धमसखेज्जाहि	४५८	७१६
जह भेपज पि दोस	१००	५७	ज भज्जिदोमि भज्जिदगपि	९१७	१५६९
जह मक्कडओ खणमवि	४७६	७६३	ज वा गरहिदवयण	५०१	८२३
जह मक्कडओ घादो	५०८	८४८	ज वा दिसमुवणीद	८६८	१९९२
जह मारओ पवड्डइ	५०८	८५०	ज बेल कालगदो	८६२	१९६८
जह रामकुलपसूओ	४१	२०	ज मव्वे देवगणा	९०३	२१४४
जह वा अग्गिम्मस सिट्ठा	८९९	२१०४	ज ह्ठोदि अण्णदिट्ठ	४०८	५७६
जह वाणियग्ग सागर	७४३	१६६८	जा अवरदक्खिणाए	८६१	१९६४
जह वाणिया य षणिय	६०४	१२३८	जा उवरि उवरि गुणपडिवत्ती	२१७	१७३
जह वालुयाए अवडो	४०८	५७८	जागरणत्थ इच्चेवमादिक	६८३	१४३८
जह मीलरक्खयाण	५४०	९८८	जागदि फासुयदव्व	३४०	४४६
जह सुकुमुलो वि वेज्जो	३८९	५३०	जागह य मज्झ थाम	४०७	५७२
जह सुत्तबद्ध सउणो	६३६	१२७२	जाण तत्त्मादिहद	१३५	१०२
जं अण्णाणी कम्म	१४१	१०७	जाणइय मज्झ एसो	४१६	६०४
ज असभूद्वभावण	५००	८२०	जादिकुल सवाम	५१९	८९३
ज अत्ताणी णिप्पडियम्मो	७०२	१५७९	जादो मु चारदत्तो	५६२	१०७६
ज अयद्धदो उप्पाडिदाणि	७१६	१५६७	जाये पुण उवसग्गे	८७९	२०३७
ज एव तेल्लोक	४८४	७८२	जा रायादिणियत्ती	५९५	११८१
ज किंचि खादि ज कि	५४७	१०१८	जालस्स जहा अते	६३५	१२६९
ज कूडमामलीए दुक्ख	७१०	१५६२	जावइयाइ तणाइ	५३४	१५६
ज पाविओ मि अवमो	७१८	१५६५	जावइयाइ दुक्खाइ	४८८	७९९
ज गव्वभासदुणिम	७०६	१५९६	जावइया किर दोसा	५१५	८७७
ज नडवडित्तकरचरणगो	७१८	१५७५	जावज्जीव मव्वाहार	४५५	७०३
ज च दिमावेग्गण	८८७	२०७५	जाव ण वाया खियदि	८७३	२०१३
ज छोडिओ मि ज मोडिओसि	७१७	१५७२	जावदियाइ कल्लाणाइ	८२७	१८५३
ज जस्स दु सठाण		२१२९	जावदियाइ सुहाइ	७९४	१७७९
ज जीवणिकायवहेण	४९६	८१०	जावदिया रिद्धोवो	८५१	१९३३
ज णत्थि सब्बवाधा	९०२	२१४०	जाव य खेममुभिव्व	२०८	१६१
ज णिज्जरेदि वम्म	२४९	२३६	जाव य सदी ण णस्सदि	२०७	१६०
ज णीलमडवतत्तलोह	७१४	१५६४	जावय बलविरिय मे	८७२	२००८
ज दुक्ख मपत्तो	७२५	१५९०	जावति किंचि दुक्ख	७४०	१६६२
ज दीह्वगलमवासदाए	२६७	२७९	जावति केइ भोगा	६३०	१२५५

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
जावति केइ सगा	५९०	११७४	जे वि अहिंसादिगुणा	९९	५६
जावतु किंचि लोए	००२	०१३०	जे वि हु जहणिय तेउ-	८५१	१९३४
जावति केइ सगा	०६३	२६६	जेसि आउसमाइ	८९५	२१०४
जावतु केइ सगा	०२१	१८०	जेमि हवति विसमाणि	८९५	२१०५
जा सब्बसुदरगी	५५५	१०५०	जे मेमा सुक्काए	८४७	१९१४
जाहे मरीरचेदुळा	११८	१६८७	जो अप्प सुक्खहेदु	६१५	१२१५
जिणपडिह्व विरियारो	११९	८८	जो अभिलासो वसएमु	८१२	१८२३
जिणवपणममिदभूद	७१०	१५५५	जो अवमाणणव रण दोम	६७८	१४२४
जिण-सिद्ध-माहु-धम्मा	०८७	३२४	जो उवविघेदि सब्बा	८७०	१९९९
जिदणिहा ताल्लिच्छा	४४४	६६६	जो ओलगादि आरा	८७१	२००३
जिदरागो जिददोसो	७५०	१६९३	जो हु सदिविप्पहूणो	८२२	१८३७
जिन्नाए वि लिहूतो	३६८	४८३	जो गच्छिज्ज विसाद	७०५	१५३०
जिन्नामूल वोल्लेइ	७४०	१६५६	जोगाभाविदकरणो	४५	२२
जीवगदमजीवगद	४९२	८०४	जोगेहि विचित्तेहि दु	२५९	२५५
जीवनहो अप्पवहो	४८७	७९३	जोगमकारिज्जतो	२२७	१९२
जीवस्स कुजोणिगदस्स	६३६	१०७१	जोग कारिज्जतो	२२८	१९४
जीवस्स णत्थि तित्ती	६३१	१२५७	जो जस्स वट्टिदि हिदे	७८४	१७५८
जीवस्स णत्थि तित्ती	७३८	१६४८	जो जाए परिणमिता	८४७	१९१६
जीवाण णत्थि कोई	७७१	१७३०	जो जारिमओ कालो	४४५	६७०
जीवोसु मित्त चित्ता	७४९	१६९१	जो जारिसीय मेत्ती	२९५	३४५
जीवो अणादिकार	४६२	७२७	जो णिक्खवणपवेसे	३५९	४५७
जीवो कसायवट्टलो सतो	४९७	८११	जो पुण इच्छदि रमिदु	६३३	१२६२
जीवो वभा जीवम्मि	५१३	८७२	जो पुण एव ण करिज्ज	६९८	१५०२
जीवो मोक्खपुरक्कड	८०७	१८५१	जो पुण धम्मो जीवण	७७६	१७४७
जुण्ण पोच्चल मइल	५६५	१०९०	जो पुण मिच्छादिद्वी	९७	५४
जुण्णो व दरिदो वा	५३२	९५०	जो भत्तपदिण्णाए	८७६	२०२४
जुत्तस्म तवधुराए	४४२	६६०	जो भत्तपदिण्णाए	८८१	२०७९
जुत्तो पमाणरइवो	४३६	६४४	जो भावणमोक्कारेण	४७३	७५५
जूगाहि य लिक्खहि	१२३	८८	जो महिलाससग्गी विसव	५६६	१०९६
जे आसि सुभा एण्हि	६७१	१४१०	जो मिन्टत्त गतूण	८६०	१९५९
जे मारवो हि रइदा	३९६	५४६	जो रि य विणिप्पडत्त	१७९	१४०
जेट्ठामूले जोण्हे	५१८	८९०	जो वि य विराधियदसण	८६५	१९८१
जेणंगमेव दब्ब	८३७	१८७७	जो मघर पि पलित	२३०	०८६
जे पुण सम्मन्नाओ	९७	५३	जो सम्मत्त खवया	८५०	१०५७
			जो होदि जघाछदो	६४५	१३०५

	पृ०	गाथा	पृ०	गा०
ज्ञाण करेइ खवयस्तो	८४१	१८८८	४१७	६०९
ज्ञाण कसायडाहे	८४२	१८९३	५०४	८३२
ज्ञाण कसायपरचक्क	८४२	१८९४	७३५	१६३६
ज्ञाण कसायरोगेसु	८४२	१८९५	८६५	१९८२
ज्ञाण कसायवादे	८४२	१८९२	४८५	७८३
ज्ञाण किलेससावद	८४२	१८९१	७४२	१६६४
ज्ञाण पुधत्तसवितक्क	८३४	१८७२	१९२	१५०
ज्ञाण विसयद्धुहाए	८४२	१८९६	७५४	१६९५
ज्ञाणागदेहि इदिय	६७०	१३९३	७०४	१५२८
ज्ञाणेण य तह अप्पा	८९८	२१२३	३०१	३६४
ज्ञाणेण य तेण अधक्खा	८९२	२०९४	४७९	७७३
ज्ञायतो अणगारो	८५२	१९४१	६६५	१३७४
			५७४	१११८
			६२९	१२४९
			४१४	५९७
			५१८	८८९
			८०८	१८१४
			८८३	२०५८
			७४३	१६६७
			६५५	१३३७
			६६९	१३८९
			८२४	१८४४
			६९९	१५०६
			६९५	१४९३
			४७७	७२६
			२७१	२८८
			२७१	२८९
			८५०	१९३०
			२२२	१८३
			३१	११
			४७८	७६९
			६५४	१३३३
			६५४	१३३१
			४७८	७६८
			६५४	१३३२

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
णाण पि गुणे णामेदि	६५४	१३३४	णिद्ध मधुर हिदय	३६६	४७८
णाणादेसे कुसलो	१९२	१५०	णिघणगमणमेयभवे	७३५	१६३५
णाणुज्जोएण विणा	४७८	७७०	णिद्ध मधुर हिदयगम	४३९	६५२
णाणस्य केवलीण	२२२	१८३	णिच्च पि विसयहेदु	५२१	९०२
णाणुज्जोओ जोओ	४७७	७६७	णिघणगमण एयभवे	७२९	१६०९
णाणे दसणतववीरिये	४२०	६१२	णिप्पत्त वटइल्ल	४००	५५७
णाणेण सन्वभावा	१३३	१००	णिप्पादिक्का सणण	८७६	२०२६
णाणोवओगरहिदेण	४७४	७५९	णिरएसु वेदणाओ	७११	१५५७
णामक्खयेण तेजो	८९८	२१२०	णिरयकडियम्मि पत्तो	७१२	१५६१
णावाए णिञ्चुडाए	७०७	१५३८	णिरयगदियाणुपुञ्चि	८९०	२०८९
णावागदाव बहुगइ	७६३	१७१३	णिरयतिरक्खगदीसु य	७११	१५५६
णासदि बुद्धी जिम्भावसस्स	७३६	१६३९	णिरुवक्कमस्स कम्मस्स	७७१	१७२९
णासदि मदी उदिण्णे	७६७	१७२४	णिलओ कलोए अलियस्स	५३८	९७६
णासिज्ज अगोदत्थो	३३७	४३१	णिवादि विहूण खेत्त	२७३	२९७
णासेदूण कसाय	६६२	१३५८	णिव्ववएण तदो से	३७६	५०७
णासो अत्यस्स खओ	५३९	९७८	णिव्वाणस्स य सारो	३५	१३
णिउण विउल सुद्ध	१३०	९८	णिव्वावइत्तु ससार	९०२	२१३८
णिवक्खवणपवेसादिसु	१९३	१५२	णिसिदिक्का अप्पाण	४३६	६४५
णिक्खेवो णिव्वत्तो	४९५	८०७	णिस्सल्लस्सेव पुणो	६१२	१२०८
णिग्गहिदिदियदारा	२८३	३१५	णिस्सल्लो कदमुद्धी	४५९	७२०
णिग्गथ पन्वयण	७८	४२	णिस्सगो चेव सदा	५८८	११६९
णिच्च दिया य रत्ति	५११	८६२	णिस्सयी य अपोल्लो	४३६	६४३
णिच्च पि अमज्जत्थे	६७२	१३९९	णीचत्तण व जो उच्चत्त	६२१	१२२८
णिज्जवया आयरिया	४५९	७१९	णीच ठाण णीच	१६५	१२२
णिज्जावया य दोण्णिवि	४४६	६७२	णीचो व णरो बहुग	५१९	८९५
णिज्जूह पि य पासिय	३४०	४४५	णीच णि कुणदि कम्म	५२१	९०३
णिद् जिणाहि णिच्च	६८१	१४३४	णीचो वि होइ उच्चो	६१८	१२२२
णिद्दजओ य दद्वज्ञापदा	२५४	२४३	णीयल्लवो व सुतवेण	६८७	१४५८
णिद्दा तमस्स सरिसो	६८३	१८४२	णीयल्लगोवि रट्ठो	६६३	१३६५
णिद्दा पचला य दुवे	८९२	२०९६	णीया अत्या देहादिया	७५५	१७४५
णिद्ध मधुर गभीर	३७८	५०४	णीया करति विग्घ	७८४	१७५९
णिद्ध मधुर पल्लादपिज्ज	६९९	१५०९	णीया सत्तू पुरिसस्स	७८४	१७६०
णिद्ध मधुरगभीर	२६९	२८२	णोइदिय पणिघाण	१५०	११७
णिद्ध मधुर हिदय	३६५	४७७	ण्हारूण णवसदाइ	५८८	१०२२

पृ० गा०

पृ० गा०

त

तत्काल तदाकाल	७९१	१७७१	तम्हा तिबिह वोसरि	४५१	६८९
तद्गणसावण चिप	८६६	१९८५	तम्हा तिबिहवि तुम	५९८	११८४
तण-मत-कट्टछारिप	४००	५५८	तम्हा पडिचरियाण	३८६	५२३
तम्हा अणतन्तुतो	७२७	१६००	तम्हा पव्वज्जादी	३९०	५२२
तम्हा-सुहादि-परिदाविदो	४८१	७७७	तम्हा मतूलमूल	३९६	५४८
तम्हादिएसु सहणिज्जेमु	३०९	३९४	तम्हा सव्वे सगे	५८९	११७३
तत्तो णपुसगित्यावेद	८९१	२०९१	तम्हा मा पल्लवणा	५४१	९२६
तत्तो णतरसमए	८९२	२०९७	तम्हा सो उड्ढहणो	४७६	७६४
तत्तो दुक्खे पये	१७६	१३८	तरुणस्स वि बेरग	५६२	१०७७
तत्तो मास व्वुदभुद	५४३	१००२	तरणेहि सह वसतो	५६१	१०७३
तत्य अवाओवाय	४५२	६९५	तरणे वि वुड्ढसीलो	५६०	१०७०
तत्य अविचारभत्तप	८७१	२००५	तवभावणाए पचेदियाणि	२२६	१९०
तत्य णिदाण तिबिह	६१३	१२०९	तव भावणा य सुदसत्त	२२५	१८९
तत्य पढम गिरद्ध	८७१	२००६	तवमकरितस्सेदे दोसा	६८६	१४५२
तत्य य कालमणत्त	३६३	४७०	तवसजमम्मि अण्णेण	४१२	५९०
तत्य वि साहुवकार	७०३	१५२४	तवसा चैव ण मोक्खो	८२६	१८४८
तत्थोवसमियसम्मत्त	६६	३०	तवसा विणा ण मोक्खो	८२३	१८४०
तदिओ णाणुण्णादो	३८६	५२२	तव्विवरीद मोस	६०२	११८८
तदिय असत्तवय	५०१	८२२	तव्विवरीद सव्व	५०३	८२८
तध चैव मुहुममणवचि	८९६	२११२	तस्स अवाओपायविदसी	३६१	८६४
तध रोमिण सय पुव्वमेव	६६२	१३५७	तस्म ण कर्पाद भत्त	११२	७५
तम्हा इह-परलोए	४९७	८१५	तस्म गिरद्ध भणिद	८७२	२००७
तम्हा कलेवरकुडो	७४४	१६७२	तस्स ण भावो सुद्धो	६८५	१४४७
तम्हा खवणाओपाय	३६४	८७५	तस्स पदिण्णामेर	६९९	१५०८
तम्हा गणिणा उप्पीलणेण	३७०	८८७	तह अण्णाणो जीवा	७९४	१७७८
तम्हा चेट्ठिदु कामो	६०६	११९८	तह अण्णो कुलस्स य	७०२	१५२०
तम्हा जिणवयणरुई	३६४	४७२	तह अप्प भोगमुह	६३०	१२५३
तम्हा ण उच्चणोचत्तणाइ	६२१	१२०९	तह आयरिओ वि	३६८	४८२
तम्हा ण कोइ कस्सइ	७८३	१७५७	तह आवइपडिक्कलदाए	७०१	१५१६
तम्हा णाणुवओगो	४७७	७६५	तह चैव णोवसाया	२६४	२७०
तम्हा णिव्विमिदव्व	३५९	४५६	तह चैव देमकुलजाइ	३३७	४३३
तम्हा णीया पुरिमम्म	७८५	१७६२	तह चैव पवयण नव्वमेव	३७५	४९५
तम्हा ह वमायग्गी	२६४	२६९	तह चैव मच्चुवघपरद्धो	५५७	१०५८
			तह चैव य तहो	७१०	१५५०

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
तह चेव सय पुव्व	७३२	१६२२	तिविहा सम्मत्ताराहणा	९४	४८
तह जाण अहिंसाए	४८५	७८७	तिहि चहुँहि पचहि वा	४९१	८००
तह भाविद सामण्णो	४५	२३	तोसु वि कालेसु सुहाणि	९०३	२१४५
तह मरइ एवकओ चेव	७७१	१७४४	तुज्झत्य वारमगमुद	३८१	५१२
तह मिच्छत्त कडुगिगे	४६४	७३३	तुरतेल्लपि पियतो	६४७	१३११
तह-मुज्झतो खवगो	६९७	११०९	ते अदिसूरा जे ते	५६९	११०६
तह वि य चोरा चारभडा	५८१	११६६	ते अप्पणो वि देवा	७३०	१६१२
तह विसयामिसघत्थो	५००	८९०	तेओ वि इदधणु तेज	७६६	१७२०
तह सजमगुणभरिद	३७९	५०६	तेओ पम्मा सुक्का	८४५	१९०३
तह सामण्ण किच्चा	६३७	१२७४	ते चेव इदियाण	६५८	१३४५
तह सिद्ध चेदिए पवयणे	६६८	७४६	तेजाए लेम्साए	८४७	१९१५
त एव जाणतो	३९६	५४७	तेण कुममुट्ठिवाराए	८६४	१९७७
त णत्थि ज ण लब्भइ	६९०	१४६७	तेण पर अविद्याणिय	३१७	४१६
त ण खम तु पमादा	३६३	४७१	तेण पर मठाविय	८६३	१९७४
स पुण गिरुद्ध जोगो	८३९	१८८३	तेण भयणारोहइ	५८१	११६५
त मिच्छत्त जममद्दहण	९८	५५	तेण रहस्म भिदतएण	३७३	४९१
त वत्थु मोत्तब्बा	२६२	२६४	तेणिवममोमहिंसारवख	७५५	१६९८
त सो वघणमुक्को	८९८	२१२१	ते तारिसया माणा	५२९	९३५
ताडण तासण वघण	७२२	१५७७	ते धण्णा जे जिणवर	८३३	१८६७
ताणि हू रागविवागाणि	९०३	२१६६	ते धण्णा जिणधम्म	८०७	१८५४
तारिसओ णत्थि अरी	५३८	९७२	ते धण्णा ते णाणो	८६९	१९९६
तारिमयममेज्जमय	८०८	१८१३	तेलोककेण वि चित्तस्स	६६९	१३८६
ताव खम मे कादु	२०९	१६२	तेलोककजोविदादो	४८६	७८१
तिण्णि य वसजलीओ	५६९	१०२८	तेलोककमत्थयत्थो	९०७	२१३४
न्तिओ असतोए	५७९	११३९	तेलोकक सब्बसार	८४८	१९१९
तिन्थयरचक्कघरवासुदेव	५४०	९९०	तेल्लकसायादीहिं य	४२०	६८७
तिन्थयर पवयणसुदे	७३१	१६३०	तेल्लोक्काडविडहणो	५६०	११०९
तिन्थयराणा कोवो	२८१	३१०	ते वि वदत्था घण्णा	८७०	२०००
तिन्थयरो चहुणाणी	२७८	३०४	ते वि य महाणुभावा	८७०	१९९८
तियरण सब्बावासय	३८०	५११	तेमि असद्दहत्तो	८१४	५९८
तिरियगदि अणुपत्तो	७१८	१५७६	तेसि आराधणणायगाण	४६९	७४८
तिरियगदीए वि तहा	११२	८६६	तेहिं चेव वदाण	५९०	११७९
तिविह तु भावसल्ल	३९४	५४१	तेमि पचण्ह पि य	५९३	११८०
तिविह पि भावसल्ल	३०५	५४५	ते सूर्य भयवता	८६९	१९९५

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
ते आयरिय उवझाथ	४५६	७०९			
तो उप्पीलेदव्वा	३६६	४७९	दट्टु वि अमेज्जमिद	५४२	९९९
तो एयत्तमुवगदो	३९९	५५४	दट्टूण अण्णदोस	३०३	३७४
तो खवगवयण कमल	६९१	१४७२	दट्टूण अप्पणादो	६६५	१३७०
तो जाणिऊण रत्त	५३६	९६५	दट्टूण परकलत्त	५२५	९१८
तो गच्चा सुत्तविदू	४२९	६२५	दढसुप्पो सूलदहो	४७९	७७२
तो तस्स उत्तमट्ठे	३८३	५१७	दमण च हत्थिपादस्स	७२४	१५८९
तो तस्स तिगिच्छा जाणएण	६९५	१४९२	दव्वपयासमकिच्चा	४५१	६८८
तो ते कुसोलपडिसेवणा	६४३	१२९६	दव्वसिदि भावसिदि	२१८	१७५
तो ते सोलदरिद्दा	६४५	१३०३	दव्व खेत काल	३५६	४५२
तो दसणचरणाधारएहि	४१३	५९६	दव्वाइ अणैयाइ	८३५	१८७४
तो पच्छिममि काले	२२०	१७८	दसविघ पाणाभावो	९००	२१३०
तो पडिचरिया सबमस्स	८४३	१८९९	दसविहठिदिक्खे वा	३१९	४२२
तो पाणएण परिभाविदस्स	४५४	७०१	दडकसालट्ठिमदाणि	७२४	१५८८
तो भट्टवोधिंलाभो	३६३	४६९	दडण-मुडण-ताडण	७२४	१५८७
तो भावणादियत्त	६४०	१२८५	दडो जउणावक्केण	७०९	१५४९
तो वेदणावसट्ठो	६९६	१४९७	दताणि इ दियाणि य	२५१	२४०
तो सत्तमम्मि मासे	५४५	१०११	दतेहि चच्चिद वीलण	५४५	१००९
तो साधु सत्य पथ	६४२	१२९१	दसणणाणचरित्त	७७४	१७४१
तो सो अविग्गहाए	८९९	२१२५	दसणणाणचरित्त	७५०	१६९२
तो मो एव भणिओ	३९७	५५१	द सणणाण चरित्तो	८५०	१९२८
तो सो खवधो त अणुसट्ठि	६९१	१४७५	दसणणाणचरित्तो	३९७	५५०
तो सो खीणकसाओ	८९१	२०९३	दसणणाणदिचारे	३७०	४८९
तो सो वेदयमाणो	८९४	२१०१	दसणणाणविहूणा	८५९	१९५८
तो सो हीलणओरु	३६७	४६३	दसणणाणसमग्गो	८९४	२१०२
थामापहार पासत्यदाए	४०७	५७१	दसणणाणे तवसजमे	२८७	३२२
थूणाओ तिण्णि देहम्मि	५४९	१०२६	दसणभट्टो भट्टो	४६६	७३७
थेरस्स वि तवसिस्सवि	२९१	३३३	दसणभट्टो भट्टो	४६६	७३८
थेरा वा तरणा वा	५५९	१०६४	दसणमाराहत्तेण	१२	४
थेरो बहुस्सुदो वा पच्चई	५६५	१०९२	दसणमुदत्तवचरण	८२९	१८६०
थोलाइदूण पुब्ब	३६०	४६२	दसण सोधो ठिदिकरण	१८१	१४४
थोलाइदूण पुब्ब माणी	७०१	१५१४	दत्तेहि य मसएहि य	७०८	१५४६
थोवाइयस्स बुलजस्स	७०२	१५१७	दाऊण जहा अत्य	६३७	१२७३
			दारिद् अडिदत्त	८०५	१८०२

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
दारैव दारवालो	८२२	१८३६	देविद चक्कवट्टी	६३२	१२५९
दास व मण अवस	१८०	१४३	देविद चक्कवट्टी	९०३	२१४२
दिट्ठ पि ण सञ्भाव	५३७	९७०	देविद रायगहवइ	५१३	८७०
दिट्ठ व अदिट्ठ वा	४०८	५७७	देवेहि भीसिदो वि हु	२३०	१९८
दिट्ठा अणादिमिच्छादिट्ठी	३९	१७	देवो माणी सतो	७२५	१५९४
दिट्ठाणुभूदसुदविसयाण	५६५	१०९१	देमकुलरुवमारोग	८३०	१८६३
दिवसेण जोयणसय	१०१	५८	देस भोच्चा हा हा	४५२	६९२
दिब्बे भोगे अच्छरसाओ	७२५	१५९५	देसामासिय सुत्त	५७२	१११७
दीणत रोसचित्ता	७२३	१५८६	देसेक्क देसविरदो	८८७	२०७२
दीसइ जल व मयतण्हिया	६२९	१२५१	देहतियवधपरिभोक्खत्व	८९७	२११७
दुक्खक्खय कम्मक्खय	६१६	१२१९	देहम्मि मच्छुल्लिगे	५४९	१०२७
दुक्खस्स षडिगरंतो	७९७	१७८९	देहस्स वीयणिप्पत्ति	५४१	९९७
दुक्ख उप्पादिता	६३४	१२६५	देहस्स लाघव णेहसवेगो	२५५	२४६
दुक्खा गिद्धोघत्थस्सा	७८१	१६५८	देहस्स सुक्कसोणिय	५४२	९९८
दुक्खा च भाविद होदि	२५२	२४१	देहे छुहादिमहिदे	६२६	१२४३
दुक्ख अणतखुत्तो	७९४	१७८०	दोसेहि तेहि वहुग	७९७	१७९०
दुक्खेण देवमाणुसभोगे	६३५	१२७०			
दुक्खेण लभदि माणुस्स	४८२	७८०	घ		
दुक्खेण लहइ जीवो	३६१	४६५	घणिद पि सजमतो	१०१	५९
दुगच्छदुअण्येपाया	७७२	१७३२	घण्णा हु ते मणुस्सा	२७५	३०१
दुज्जणससग्गीए	२०५	३४६	घण्णो सि तुम सुविहिद	३८२	५१५
दुज्जणससग्गीए	२९५	३४८	घत्ति पि मजमतो	५१२	८६४
दुज्जणससग्गीएवि	२९६	३५१	घम्मस्म लक्खण से	७५९	१७०४
दुट्ठा चवला अदि	६४६	१३१०	घम्म चदुप्पयार	७५१	१६९४
दुविध त पि अणीहा	८७३	२०१०	घम्माघम्मागासाणि	७१	३५
दुविह-परिणामवाद	७८८	१७६६	घम्माभावेण दु लोगगो	९००	२१२८
दुविह तु भत्तपच्चक्खाण	१०४	६४	घम्मेण होदि पुज्जो	८२७	१८५२
दुविहा पुण जिणवयणे	१०	३	घादुगद जह कणय	८२६	१८४७
दुस्सहपरीसहेहि य	२७७	३०३	घादो हवेज्ज अण्णो	४१२	५८९
दूओ वमणिघग्घो	५७७	११२५	घावदि गिरिणदिसोद	७६५	१७१८
दूरेण साधुसत्य	६४४	१३००	धिदिखेइएहि इ दियण्डे	६७१	१३९५
देवत्त माणुसत्तेज ते	७२३	१५८३	धिदिघणिदवद्धकच्छो	२३५	२०५
देविगमाणुसभोगे	६१५	१२१३	धिदिघणिय बट्ठकच्छा	७०५	१५३३
देविद चक्कवट्टी	७३९	१६५०	धिदिवलकरमादहिद	३७९	५०७
			धिदिवम्मिएहि उवसम	६७२	१४००

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
धीरत्तणमाहृष्य	७३७	१६४०	पदमक्खर च एक्ख	७६	३८
धीर पुरिस चिण्णाइ	४०६	५७०	पन्धु दोधिलाभा	६३९	१२८०
धीरपुरिमपणत्त	७४४	१६७१	परगणवासी य पुणो	३०७	३८९
धूली णेहुत्तुप्पिनात्ते	८०९	१८१७	परदव्वहरणवुद्धी	५१२	८६८
			परदव्वहरणमेद	५११	८५९
			परदोसगहणलिच्छो	२९६	३४९
प			परभिच्चदाए ज ते	७२३	१५८५
पडमणिपत्त व जहा	६०६	११९५	परमीड्ड पत्ताण	९०२	२१४१
पक्कामयासयत्या	५४९	१०२५	परमहिल सेवतो	५२५	९२१
पक्खिय चाउम्मात्तिय	४१२	५९२	परलोगणिप्पिवासा	८५८	१९४९
पगदे णिम्मेस गाहाए	३७८	५०३	परलोगम्मि य चोरो	५१२	८६५
पगलत्त रधिरधारो	७१८	१५७४	परलोगम्मि वि दोसा	५०६	८४४
पगुणो वणो भसत्तल	४१४	५९९	परिदड्ढत्तसव्वचम्म	५५०	१०३२
पच्चवक्खाणपडिक्कमणु	४५७	६८६	परिभागम्मि असत्ते	६७९	१४२७
पच्चवक्खाण सामण	१०७	६९	परमाणू वि कहचिवि	५३५	९५९
पच्चाहरित्तु विसयेहि	७५७	१७०२	परियाइगमा लोचिय	८७७	२०२७
पजहिय मम्म देह	८५०	१९३१	परिवडिहदोवघाणो	२६५	२७१
पडहत्थस्स न तित्तो	५७९	११३८	परिहर असत्तवयण	४९८	८१७
पडिक्कविदे विमण्णे	७३१	१६१८	परिहरइ तट्ठणगोट्ठो	५६२	१०७८
पडिचरण आपुच्छिय	३८५	५२०	परिहर छज्जीवणिकायवह	४८०	७७५
पडिचोदणा सहणदाए	३०८	३९१	परिहर त मिच्छत्त	४६२	७२५
पडिचोदणा महणवाय	२६४	२६७	परसवयणादिगेई	६९९	१५०७
पडिमापडिवण्णा वि हु	८८५	२०६५	परस कडुय वयण	५०२	८२६
पडिह्व कायसफामणदा	१६६	१२३	पवयणणिह्वयाण	४१७	६०७
पडिलेहणेण पडिलेहिज्जइ	१२९	९६	पव्वज्जाए सुट्ठो	८७६	२०२५
पडिसेवणादिचारे	४२६	६१९	पव्वज्जादी सव्व	३९३	५३७
पडिसेवणादिचारे	४२७	६२०	पव्वज्जादी सव्व	३८२	५१३
पडिसेवादो हाणो	४२८	६२२	पव्वदमित्ता माणा	५२८	९२४
पडिसेविस्ता कोई	४२०	६२४	पस्सादि जाणदि य तहा	९०१	२१३५
पढम असत्तवयण	४९९	८१८	पहिया उवागमे जह	७८२	१७५३
पटमेण व दोवेण व	३३८	४३९	पचच्छ सत्तमदाणि जौयणाण	३११	४०३
पट्टने मोयदि वेगे	५१८	८८७	पचमहव्वयजुत्तो	२८६	३२१
पणिघाण पि य दुविह	१५०	११५	पचमहव्वयरव्वा	४६०	७३२
पत्तम्म दायणस्स य	२४२	२२३	पच य अणुव्वदाइ	८८७	२०७३
पत्थ हिदयाणिट्ठ	२९९	३९९	पचविधे आयारे	३३५	४२५
पत्थ हिदयाणिट्ठ	२९९	३६०	पचविह जे सुद्धि	२११	१६६

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
पचविह जे सुद्धि	२१२	१६७	पासत्यादीपणय	२९३	३४१
पचविध बवहार	३५५	६५०	पामत्यो पामत्यस्स	४१६	६०३
पचसमिदा तिगुत्ता	८४९	१९२५	पासित्तु कोइनादी	४५१	६९०
पचेव अत्यिकाया	७६०	१७०६	पासिय मुच्चा व सुर	५६२	१०७५
पचेदियप्पयारो	४३७	६३४	पासेहि ज च गाह	७१७	१५७१
पजरमुक्को सउणो	६६८	१३१४	पामो व बघिदु जे	९३९	९८०
पडिदपडिदमरण	६०	७६	पाहाडघादु भजन	५५२	१०४०
पडिदपडिदमरणे	६१	२७	पियधम्मवज्ज भोरु	१९०	१४७
पथ छडिय सो जादि	६६२	१२९३	पियधम्मा दढधम्मा	४३७	६४६
पाउमकालपदीवोब्ब	७३७	९४८	पियविप्पओग दुक्ख	७२३	१५८४
पाओदएण अत्यो	७७०	१७२६	पिल्लेदूण रडत	३६८	६८१
पाओदएण सुट्टुवि	७७१	१७२७	पिण्ड उवहि सेज्ज	२७१	२९०
पाओवगमणमरणस्स	८८३	२०५७	पिंड उवधि सेज्ज	२७२	२९१
पाओणाभिमुहो वा	८७८	२०३१	पिंड उवधि सेज्जा	२७३	२९२
पाओणोदीचिमुहो	४०१	५६२	पिंडोवधि सेज्जाए	४१८	६११
पाओणोदीचोमुहो	३९७	५५२	पोणत्यणिदुवदणा	५५४	१०४९
पाडयणियसणभक्खा	२४१	२२१	पोदी भए य सोगे	६८१	१४३६
पाडलिपुत्ते घूदाहेदु	८८६	२०६८	पुज्जो वि णरो	६६४	१३६६
पाडलिपुत्ते पचालगोद-	६६०	१३५०	पुटविदनागणिपवणे	४१८	६९०
पाडेदु परसू वा	५३९	९८३	पुटवो वाऊ तेऊ	८८४	२०६०
पाणगभसिभल पग्गुय	६९४	१४८५	पुटवो सिलामओ वा	४३६	६३९
पाणिदलयरिदग्गो	५१६	८८१	पुणरवि तहेव त ससार	७३८	१६४७
पाणवधमुसावादा	८८७	२०७४	पुण्णोदएण कस्सइ	७७१	१७२८
पाणो वि पाडिहेर	६९८	८१६	पुरिसत्तादिगिदाण	६१६	१०१८
पादे कटयमादि	८८२	२०५१	पुरिमत्तादीणि पुणो	६१७	१२२०
पादोमिय अधिकरणिय	४९०	८०१	पुरिमम्म अप्पमत्यो	५६१	१०७६
पापविमोत्तिग परिणाम	१६८	१२७	पुरिमम्म दु वीसभ	५२९	९३८
पापम्माभवदार	५०६	८४३	पुरिमम्म पावक्कम्मोदएण	७२८	१६०५
पायोपगमणमरण	६४	२८	पुरिसम्म पुणो साधू	७८५	१७६१
पावइ दोम मायाए	६६६	१३७८	पुरिम बधमुवणेदि ति	५३७	९७१
पावपओगा मणवचिकाया	८१३	१८७७	पुरिमो मक्कडिमरिमो	६६३	१३६३
पावपयोगामवदार	८१९	१८७३	पुव्वनदक्कम्म सडण	८०३	१८४१
पाव करेदि जीवो	७७४	१७६२	पुव्वक्कदमज्जक्कम्म	७२३	१०४
पासन्न्यमदमहस्सादो	२९८	३५६	पुव्वक्कदमज्जपाव	६७७	१४१९
			पुव्वभणिदेण विदिणा	८८९	२०८५

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
भार णरो बहूतो	७२६	१७८७	महिलादिभोगसेवी	६२९	१२५०
भावाणुरागपेमाणुराग	८६५	७३६	महिला पुरिममवण्णाए	५३३	९५१
भावे सर्गविसयत्थे	९०१	२१३८	महिला पुरिम वयणेहि	५३६	९६४
भिउडो तिबलिमवपणो	६६१	१३५५	महिलालोयण पुव्वरदिसरण	६११	१२०४
भिण्ण पयडिम्मि लोए	७८२	१७५८	महिलावाहविमुक्का	५६९	११०७
भोदो व अभोदो वा	७२७	१६०४	महिला विग्घो घम्मस्स	५३९	९७९
भुजतो वि सुभोयण	६६७	१३१२	महिलावेसविलवी	५२७	९२६
भूमि समरु द लहुओ	४३५	६४२	महिलासु णत्थि वीमभ	५२९	९३७
भूमोए सम कोला	७०६	१५३६	मट्टकारि समाज्जयमट्टे	४८२	७७९
भोगणिदाणेण य सामण्ण	६२८	१२३६	मट्टलित्त जसिघार	६५८	१३४६
भोगरदोए पासो	६३३	१२६८	मट्टलित्त असिघार	७४१	१६६०
भोगा चित्तेदब्बा	६२४	१२३५	मत्ताभियोगकोदुग	२२३	१८४
भोगाण परिमत्ता	८८८	२०७६	मदा हृत्ति कमाया	८४५	१९०६
भोगे अणुत्तरे भुजिऊण	८५१	१९३६	मा कासि स पमरद	६६४	७३८
भोगेसु देवमाणुस्सगेसु	७४७	१६८२	मा कुणमु तुम वुद्धि	५०७	८४७
भोगोवभोगसोवन्न	६२६	१२४२	माणस्स भजणत्थं	६१७	१२२१
			माणा वि असरिस्स वि	५२१	९०५
			माणो विस्सो सव्वस्स	६६५	१३७१
			माणुण्यत्स पुरिमदुडुभस्स	५२८	९३३
			माणुसगदित्तज्जादि	८९७	२११५
			माणुमभवे वि अत्था	५१२	८६७
			माणुमसपत्ततो	६०	१३५१
			माणेण जाइ कुल्लस्व	६१८	१२११
			माद सुद च भणिणो	५६५	१०८९
			मादाए वि य वेमो	५०६	८४०
			मादा धूदा भज्जा	५२६	९२३
			मादु-पिडु-पुत्त-दारेसु	५८७	११८१
			मायाए मित्तमेदे	६६६	१३०९
			माया करेदि णोत्ता	६६७	१३८०
			मायागहणे बहुदोम	५६८	११०८
			मायादोमा मायाए	६८५	१४५०
			माया पोत्तेइ सुय	७८३	१७५५
			माण व होइ विम्मस्सणिज्जो	५०६	८३६
			माया वि होइ भज्जा	७०१	१७९३

म

मग्गुज्जोवपलोगा	५९९	११८५
मज्जणय गद्य पुप्फो	८८४	२०६१
मज्जार रसिद सरिसोवम	२६९	२८५
मज्झण्ह तिक्खसूर	५६७	१०९९
मणदेह दुक्ख वित्तासिदाण	६८९	१४६६
मणवयणकायजोरोहि	४५७	७११
मणमा गुणपरिणामो	८७२	७५३
मणुमाउय व वेदेदि	८९७	२११६
मत्तो गउव्व णिन्व	५३३	९५३
मत्थयभूत्तोए जघा	८९२	२०९५
मच्चुमेव पिच्छदि जहा	६३५	१०६८
मयतण्हादो उदय	३१२	५६१
मयतण्हियाओ उदय त्ति	४६१	७०८
मरणणि सत्तरस देनिदाणि	४९	२०
मरदि सप वा पुव्व	५५७	१०५१
मल्लस्स णेहपाण	८४१	१८८९
महिलाकुत्तनवाम	५२८	९३२
महिलाण जे दोसा	५४०	०८७

	पृ०	गा०		पृ०	गाथा
मायामल्लम्सालोयणा	६३८	१२७९	रत्ति रत्ति स्वस्त्रे	७८१	१७५२
भारणमीलो कुणदि हू	४८७	७९४	रदणाञ्जला सवग्धा	५३७	९६९
मारेदि एवमवि जो	४८८	७९८	रदि अरदि-हरिम-भय	४८१	७७८
मासम्मि सत्तमे तस्स	५४३	१००४	रयसेदाणमगहण	१३०	७
मासेण पच्च पुलगा	५४३	१००३	रवि-चद-वाद-वेज्जिच्चियाण	७७२	१७३३
मिच्छत्तमोहणादो	४६२	७२६	रसपीदय व कडय	४१०	५८५
मिच्छत्त मोहिदमवी	७८५	१७६३	रगगदण्डो व इमो	७९०	१७६९
मिच्छत्त वेदरागा	५७०	१११२	राइणिय अराडणीएसु	१६९	१२०
मिच्छत्त सल्लदोसा	६३९	१२८१	रागद्दोमाभिह्दा	३९५	५४४
मिच्छत्त सल्लविद्धा	४६३	७३०	रागविवागसतण्हा	५९१	११७७
मिच्छत्तस्स य वमण	४६०	७२१	रागेण य दोसेण य	८२८	१८५६
मिच्छत्त अविरमण	८१०	१८१९	रागो दोसो मोहो	५२४	९१४
मिच्छत्त वेदतो	७७	४०	रागो लोभो मोहो	५७१	१११५
मिच्छत्तासवदार	८१८	१८२९	रागो ह्वे मणुण्णे	५८६	११६४
मिच्छादसणसल्ल	३९३	५४०	रामस्म जामदग्गिस्म	६६९	१३८८
मित्ते सुयणादीसु य	७४७	१६८१	रायादि वुडु वीण	७२८	१६०६
मुक्खो वि णरो कलिणा	६५१	१३२१	रायादिमह्दुटीयागमण	७४५	१६७४
मुक्खस्स वि होदि मदी	७७०	१७२६	राया वि होइ दामो	७९९	१७९५
मुत्त आडयमेत्त	५५०	१०२९	रहो पगसगे सच्चई य	५६६	१०९५
मेषहिमफेण उक्कव	५५६	१०५४	रट्ठो पर वधित्ता	४८८	७९६
मेरुव णिप्पवपा	७०५	१५३१	रुव सुभ च असुभ	६७५	१८१२
मोक्खाभिलासिणो	७३५	१६३४	रुवाणि वट्ठकम्मादियाणि	५५६	१०५३
मोक्खाभिलासिणो	७२८	१६०८	रोग इच्छेज्ज जहा	६२५	१२४०
मोणाभिग्गह्णिण्दो	८८२	२०५३	रोगाण पडिगारो णत्थि	७७३	१७२७
मोत्तुण रागदोमे	३५७	४५३	रोगाण पडिगारा दिट्ठा	७७३	१७३६
मोहग्गिणादिमह्दा	२८२	३१३	रोगादक्कादीहि य	३०९	३९३
मोहोदयेण जीवो	७६	३९	रोगादक्के सुविहिद	६९९	१५१०
मोहोदयेण जीवो	५८१	९९५	रोगादिवेदणावो	७७४	१७४३
			रोगा विविहा वाघावो	७२२	१५८०
			रोगो दाहि वा	५३०	९४९
			रोमाइट्ठो णोलो	६६१	१३१८
			रोमेण महायम्मो	६७७	१११८
			रोहेडम्मि मत्तोए	७०८	१५४४

र

पृ० गा०

पृ० गा०

ल

लज्ज तदो विहस	२९४	३४२
लज्ज तदो विहस	५६३	१०८०
लज्जाए गारवेण व	३७३	६९२
लङ्घण य सम्मत्त	९७	५२
लङ्घण वि तेलोक्क	६६७	७६२
लद्धं मु वि तेसु पुणो	८३२	१८६४
लघिज्जतो अहिणा	६४०	१३१७
लिग च होदि अब्भतरस्स	६५७	१३४४
लीणो वि मट्टियाए	५६०	१०२८
लेस्सासोथो अज्जवसाण	८४५	१००५
लोगम्मि अत्थि पक्खो	५१०	८५७
लीगागासपएसा	७९२	१७७४
लोभो विलीयदि इमो	७६२	१७११
लोचकदे मु डत्त	१२३	८९
लोभे कए वि अत्थो	६८०	१४३१
लोभेणामावतो पावइ दोमे	६६७	१२८०
लोभो तणे वि जावो	६६८	१३८८
लोहेण पीदमुदय व	३७०	४८८
लोभे पवाडिह्ढे पुण	५०८	८५१

व

वड्ढत्तओ विहारो	८४४	१८९०
वग्घपरद्धो लग्गो	५५७	१०५७
वग्घविसचोरअग्गि	५३१	९६६
वग्घादीण दोसे	५४०	९८६
वग्घादीया एदे	५३१	९४३
वग्घो सुक्खेज्ज मदय	६३०	१२५०
वच्छीहि अवदवणता	६९६	१४९४
वज्जणमणपुण्णादग्गिह	६११	१००३
वज्जेदि वभचारी	१२७	९३
वज्जेह अण्यमत्ता	२९१	३३२
वज्जेहि चयणक्कप्प	२७०	२८७
वज्जो य णिज्जमाणो	५६६	१०५६
वट्ठति अपरिदता	६५८	७१५

वड्ढत्तओ विहारो	२६९	२८३
वण्णरणउलो विज्जो	५७७	११२६
वण्णरसगधजुत्त	४०५	५६८
वत्ता कत्ता य मुणो	३७७	५०२
वदभडभरिदमान्हिद	६४०	१२८३
वधवन्वरो वधणहरण	६८७	७९५
वमिग अमेज्जसरिम	५४५	१०१०
वमिदा अमेज्जमज्जे	५६४	१००७
वमिय व अमेज्ज वा	५४६	१०१२
वयणकमलेहि गणिअभि	६९१	१४७३
वयणपडिडवत्ति कुमलत्तण	५२२	९०६
वचहारमयाणतो	३५८	४५४
वसदोए पलिविदाए	७१०	१५५२
वग्गोसु य उचवीसु य	१२६	१५५
वदणभत्तीमितेण	४७०	७५१
वाड्य-पित्थिय-सिभिय	५५६	१०४७
वादी चत्तारि जणा	६१५	६६८
वादुब्भामो व मणो	१७५	१३६
वायणपरियट्ठण पुच्छणाओ	८८१	२०६६
वायाए अकट्ठा	३०२	२६८
वायाए ज कहण	३०१	३६७
वारवदी य असेसा	६६६	१३६८
वाहभयेण पलादो	६४८	१३१३
वाट्ठिन्व दुप्पसज्जा	१०८	७०
विक्खेवणी अप्पुग्दस्स	४४१	६५७
विच्छिण्णगोवग्गो	७१७	१५७३
विज्जा जहा पिमाय	४७५	७६०
विज्जा वि भत्तिवत्तस्म	४६८	७४७
विज्जावन्धस्म गुणा	६९५	१४९१
विज्जाहरा य बलदेव	७७३	१७३८
विज्जू व चचले केण	८०६	१८०६
विज्जू व चचलाड	७६२	१७१२
विज्जा सहमतवल	७०२	१७३४
विज्जायदि मूग्गी	५११	८९२

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
विट्ठापुणो भिण्णो	५५१	१०३७	बोहू गिलादि देह	२६५	२७३
विणएण विप्पहूणस्स	१७०	१२०	बोलज्ज चवमत्तो	७७३	१७३९
विणओ पुण पचविहो	१४२	१११	बोसट्टचत्तदेहो	८८४	२०६२
विणओ मोक्खट्टार	१७०	१३१	वदिय णिसुडिय पडिदो	२६८	२८०
विद्वत्थो य अफुडिदो	४३५	६४१			
विधिणा कदस्स सस्सस्स	४६९	७५०			
विमलाहेदु वकेण	८०४	१८००	सक्क हविज्ज दट्ठु	५३५	९६१
वियडाए अविद्यडाए	२४५	२३१	सक्कार उवकार	५३०	९४२
विरियत्तरायमलसत्तणेण	६८५	१८४९	सक्कारो सकारो	५१४	८७४
विबर्हाहि एसणाहि य	२५७	२४१	सक्का वसी छेत्तु	३३८	४३६
विविहाओ जायणाओ	५८४	११६०	सक्कीकदराय हीलण	७३४	१६३१
विब्बोगतिवसदतो	५६०	१०८	सक्कीकदरायासादणे	७३५	१६३३
विसएहि से ण कज्ज	९०४	२१४८	सगडालएण वि तधा	८८६	२०७०
विसयमहापकाउल	६८८	१४६०	सगडो हु जइणिगाए	५६६	१०९४
विसयवणरमणलोला	६७३	१४०७	सगणत्थे कालगदे	८६७	१९८९
विसयसमुद्द जीव्वण	५७०	१११०	सगणे आणाकोवो	३०७	३८७
विमयाडवीए उम्मग	८१८	१८५५	सगणे व पररणे धा	३०३	३७१
विसयाडवीए मज्जे	६४०	१२८६	मगुणम्मि जणे सगुणो	३०२	३६९
विसयाभिसारगाड	७९६	१७८५	सच्चम्मि तलो सच्चम्मि	५०५	८३६
विस्साकर हव	११८	८३	सच्च धवगददोस	५०४	८३५
वीरपुरिसेहि ज	६९२	१४७९	सच्च असच्चमोस	६००	११८६
वीरमदीए सुलगद	५३१	९४५	सच्च बदति रिसओ	५०४	८३१
वीरासणमादीय	८८९	२०८४	सच्चित्ता पुण गया	५८३	११५६
वीरासण च दण्डाय	२४३	२२७	सच्चित्ते साहरिदो	८८०	२०४३
वीरिसमणत्तराय	८९३	२१००	सच्चेण जगे होदि पमाण	५०५	८३७
वीमत्यदाए पुरिसो	५६३	१०८१	सच्चेण देवदाओ	५०४	८३३
वीस पलिया पचेत्व	४९२	८०३	सज्जायकाल पडिलेहणादि	८८१	२०४८
वीसफलतिणिमोदय	४९२	८०३	सज्जायभावणाए	१४१	१०९
बुद्धो वि तरणसीलो	५६१	१०७१	सज्जाय कुब्बतो	१३६	१०३
बेत्तव्वणमाहारय	८८०	२०५२	सट्ठि साहस्सीवो	६६६	१३७५
बेज्जावच्चकरो पुण	२८७	३२३	सइडाए वडिट्टदाए	२८४	३१८
बेडेइ विमयहेदु	५०३	९१३	मण्णाउ कसाए वि	२७४	३००
बेमाणिएसु मण्णोयगेषु	८८८	२०८०	सण्णा-नारव-येसुण्ण	५७५	११२०
बेमाणिओ धलगदो	८६९	१९९८	सण्णाणदीमु ल्हा	६४३	१२२७
			सत्त तयाओ कालेज्ज	५४९	१०२४

	पृ०	गाथा		पृ०	गाथा
सत्तीए भत्तीए	२८०	३०६	मयणे जणे थ सयणा	५१६	८७९
सत्तो वि ण चैव हृदो	६७६	१८१७	सयमेव अप्पणो सो	८७९	२०३६
मत्य बहुल लेवड	४५४	६९९	सयमेव वतमसण	६४९	१३१८
सदभिस भरणी भद्दा	८६६	१९८३	सरजूए गयमित्तो	६६०	१३६९
सदिबाउमो सदिवले	२५७	२५१	सरवामे वि पडते	६०६	११९६
सदिमलभत्तस्म वि कादव्व	६९८	१५०४	सरसीए च्चदिगाए	८०६	१८०४
सदिमतो धिदीमतो	८५२	१९३७	मलिलादोणि अमेज्ज	८०८	१८१२
सद्दरमरुवगधे	१५०	११६	मलिलणिबुहोव्व	५२२	९०८
सद्दवदीण पास	४४९	६८६	सल्लविसकटएहि	६४२	१२९२
सद्दण मओ ह्वेण	६५८	१३४७	मरल उद्धरिदुमणो	३११	४१०
सद्दे त्वे गधे	३८७	५२५	मत्तलेहण करंतो	२६६	२७४
सद्दे त्वे गधे	६७४	१४०८	सल्लेहण करंतो	२१७	१७४
सपरिग्गहस्स अब्बभ	६२५	१२३९	मल्लेहण पयासेज्ज	३३५	४२७
मप्प बहुलम्मि रण्णे	५८५	११६३	सल्लेहण सुणिता	४४८	६७९
समणाण ठिदिक्कप्पो	८६०	१९६१	सल्लेहणाए मूल	४४८	६८०
समणस्स माणिणो	७०२	१५१८	मल्लेहणा दिसा खामणा	१०६	६७
समिदकदो धदपुण्णो	५४२	१०००	सल्लेहणा परिस्सममिम	७८४	१६७०
समिदा पच्चसु समिदीसु	२७४	२९९	मत्तलेहणा य दुविहा	२३६	२०८
समिदि दिट्ठणावमारुहिय	८२२	१८३५	सत्तलेहणा विसुद्धा	७४३	१६६९
समपलियकणिसेज्जा	२४३	२२६	सल्लेहणा सरीरे	२५८	२५२
समिदीसु य गुत्तीसु य	३७	१६	सविचारभत्त पच्चवक्खाण	१०४	६५
समिदीसु य गुत्तीसु य	८५७	१९४७	मविचारभत्तवोसरण	८७१	२००८
सम्मत्तस्स य लभे	४६७	७४१	सव्वगुण समग्गाण	५४१	९९४
सम्मत्तादोचारा	७९	४३	मव्वामयविमुक्को	५९१	११७६
सम्मट्टमणतुम्भं	८२९	१८५९	सव्वजगजीवहिंदए	३०६	३८३
सम्म कदस्स अपरिस्सवस्स	६९०	१४६८	सव्वजयजीवहिंदए	३०५	३८२
सम्म खवएणालोच्चिदम्मि	४२७	६२१	सव्वतो त्रि विमुत्तो	२९२	३३७
सम्म सुदिमलहत्तो	३३८	४३५	सव्वत्य अप्पवमिलो	५८९	११७१
सम्मादिट्ठिस्स वि	२२	७	सव्वत्य इत्थिवग्गम्मि	२९२	३३६
सम्मादिट्ठो वि णरो	१११	१८२२	सव्वत्य णिव्विसैसो	२१६	१७२
सम्मादिट्ठो जीवो	६८	३१	सव्वत्य णिव्विममो	७४७	१६८४
सम्मोहणाए काल	८५९	१९५५	सव्वत्य दव्वपज्जय	२१६	१७२
मयणास्स जणस्स पिओ	६६५	१३७३	सव्वत्य होइ लहुणो	५८८	११७०
सयण मित्त आसय	५११	८६०	सव्वपरियाइयस्म य	४३१	६३१

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
सञ्चमि इत्यवगमि	५६७	१०१७	सहल माणुसजन्म	८२८	१८५७
सञ्चममाघाणेण य	८४९	१५२६	महमाणाभोगिय दुप्प	८९५	८०८
सञ्चसमाधि पट्माए	८६१	१९२५	सहमा चुक्कर कलिद	८८२	२०५०
सञ्चम्म दायगाण	३०६	३८५	महमाणाभोगिद दुप्प	६०४	११९२
सञ्च अधियासतो	७४३	१६६६	सह्दिय सकण्णयाओ	३०५	३८१
सञ्च आहारविधि	८७८	२०३३	सकप्पडय जादेण	५१७	८८४
सञ्च पि सकमाणो	५८०	११४२	सखित्ता वि य पवहे	२६९	२८४
सञ्च भोच्चा धिद्धी	८५२	६९३	सखेज्जमसखेज्जगुण	९६	५१
मब्वासु अवत्थासु वि	५४४	१००५	सखेज्जमसखेज्ज	७२६	१५९८
मब्वाहारविधानोहि	७३९	१६५२	सखेज्जा सखेज्जाणता	१०२	६२
सञ्चुक्कस्स जोग	८८९	१९२२	सगावि जहणेण व लहुदथाए	८९८	२१२२
सञ्चो रसे पणोदे	२३६	२७९	सगणिमित्त कुद्धो	५८१	११४७
सञ्चो वि कोह्दोसा	६६५	१३७२	सगणिमित्त मारेइ	५७४	१११९
सञ्चो वि गयदोसा	६६९	१३८७	मग परिमग्गणादो	५८७	११६७
सञ्चो वि जये अत्था	६८०	१४३२	मगो म्हाशय ज	५७६	११२४
सञ्चो विणिज्जणतो	८७८	२०३४	मघो गुणसघाओ	४५७	७१३
सञ्चो वि निण्णमगा	३८९	५२९	मजदकमेण खवयस्स	४३८	६४९
सञ्चो वि य उवसगो	७००	१५११	मजदजणस्स य जम्हि	१९६	१५४
सञ्चो विय ते भुत्ता	६७४	१४११	सज्जदजणावमाण	२९८	३५७
सञ्चो वि य मवघा	४८७	७९२	मजमरण भूमोए	८२६	१८५०
सञ्चोमिभासमाण	४८६	७८९	मजमत्ताघणभेत्त	२१०	१६८
सञ्चोमि उदय ममागदस्म	८२४	१८४४	मजमसिहराट्ठो	६१५	१२१४
सञ्चोमि सामण्ण	७३३	१६२६	मजममाराहतेण	१९	६
सञ्चोमि सामण्ण	७३३	१६२७	मजमहेदु पुरिसत्त	६१४	१२१०
सञ्चोमि दुव्व पज्जप	७४६	१६७९	मजोगविप्पओयेमु	७४६	१६८०
सञ्चोसु य मुलुत्तर गुणोसु	८५८	१९५०	सजोपणमुडकण्णण	६९६	८०९
सञ्चो उवहिदवुद्धी	५०९	९५२	मजोदणा क्रमाये	८८९	२०८६
सञ्चो पोग्गलकाओ	८८०	२०४१	सभाव णरेमु मदा	५३४	९५५
सञ्चो पोग्गलराओ	८८०	२०४२	मन सगुण कित्तिज्जत	३०१	३६५
सञ्चो वि जणो सयणो	७८१	१७५१	मने सगणे अम्ह	३१०	४००
सञ्चो वि जहायाधे	४८५	७८५	मत्ता वि गुणा अकहितयस्म	३००	३६३
ममगो वाह परदो	७९४	१७७७	मत्ता वि गुणा कथ्यतयम्म	३००	३६२
मस्सो य भरघनामस्म	६६७	१३८३	मत्तो वि मट्टियाए	५६०	१०६९
			मथारपदोम वा	३३९	४४२

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
सथारभतपाणे	३७६	४९८	साकेदपुरे सीमघरस्म	६६८	१३८५
मपत्ति विवत्तीसु य	६३२	१०६०	साधारण सवीचार	२४३	२२५
सपलियक गिसेज्जा	२४३	२२६	माघुस्म धारणाए वि	२८८	३२६
सभर मुविहिय ज ते	७००	१५१०	साघु पडिला हेदु	५५६	१०५५
सभूदो वि पिदाणेण	६३७	१०७५	साघुम्म णत्थि लोए	२९३	३३९
भरभममारभारभ	४९३	८०५	साधेत्ति ज महत्थ	५९१	११७८
सरभो सकप्पो	४९४	८०६	साम सबलेहि दोम	७१३	१५६३
सवासो वि अणिच्चो	७६३	१७१४	सारीरादो दुक्खादो	७२५	१५९३
सविग्गदरे पासिय	१९०	१४८	सावज्ज सक्किलिट्ठो	४२८	६२३
सविग्गवज्जभोरुम्म	३११	४०२	मा वा हवे विरत्ता	५५५	१०५२
सविग्गस्सवि समग्गीए	२९४	३४३	साहू जघुत्तचारे	८८९	२०८२
सविग्ग सविग्गाण	१८९	१४६	मिण्हाणम्भगुब्बट्ठ	१२६	९२
सविग्गाण मज्जे	२९७	३५५	मिण्हाणम्भगुब्बट्ठणेहि	५५२	१०३९
सविग्गो वि य सविग्गदरो	२९७	३५५	सिदिमाराहित्तु कारण	२१९	१७७
सवेगजणिय करणा	२८६	३२०	सिद्धपुरमुवल्लीणा	६४४	१३०२
सवेगजणियदकरणा	४६८	७४४	सिद्धे जयप्पत्तिद्धे	१	१
सवेगजणिय हासो	२६८	२८१	सिगार तरगाए	५६८	११०५
सवेयणो पुण क्हा	४४१	६५६	सोद उण्ह तण्ह	५२३	९१०
समग्गीए पुरिसस्म	५६४	१०८६	सोदावेइ विहार	२७२	२९३
समग्गी समूदो	५६४	१०८७	सोदुण्ह छुहा तण्हा	३७६	४९९
सत्तयवयणोय तहा	६०४	११९०	सोदुण्ह दसमसपादि	५८६	११६५
सथारत्थो खवओ	६९४	१४८७	सोदुण्हादववाद	५७७	११२७
सनार महाडाहेण	६८७	१४५७	सोदेण पुब्ब इरियदेवेण	७०८	१५४२
सनारमूलहेदु	४६१	७२३	सोलद्धगुणइदोहि दु	३०६	३८४
सनारम्म अणते	७८०	१७५०	सोलवदोओ मुच्चति	५४१	९९२
सनारम्म अणते	८२९	१८६१	सोल वद गुणो वा	४८६	७८८
सनार विममदुग्गे	६८९	१४६५	सोहि तिमिगिल गिलिदम्म	७७३	१०४०
सनार समावण्णा	७२	३६	सुइपाणएण अणुसट्ठि	७२७	१६०३
सनारस्तागरम्म य	३३७	४३२	सुक्क लेम्मसमुवगदा	८५२	१९३९
सनारसागरम्म य	३४१	४४८	सुक्काए लेस्साए	८४६	१९१०
ससारसागरे मे	८०९	१८१६	सुच्चिए समे विचित्ते	८८९	२०८३
सनाराडवि गित्थर	६८३	१४३९	सुच्चिरमवि णिरदिचार	३६	१५
सनिट्ठ फल्लिह परिखा	२४१	२२२	सुच्चिरवि सक्किलिट्ठ	८४०	१८८५
सानेदपुराधिवदो	५२०	९४३	सुजणो वि होइ लुट्ठो	२९५	३४७

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
हासोवहासकीडा	५६४	१०८८	होळण अरो वि पुणो	७८३	१७५६
हिमणिचभो वि व गिहसय	७६७	१७२२	होळण वमणो सोत्तिभा	८०१	१८०१
हिस अलिय चोज्ज	६६४	१३६०	होळण महड्डीओ	८००	१७९७
हिसादि दोस मगरादि	७८७	१७६५	होळण रिऊ बहुदुवखकारओ	८०४	१७९९
हिसादो अविमरण	४८०	८००	होदि कमाउम्मत्तो	६५२	१३२५
हुकारजलि भमुहगुलोहि	८४३	१८९८	होदि य णरये तिब्वा	७१२	१५६०
होइ चउत्तय छट्टट्ठमाइ	२३७	२१२	होदि सचक्खू वि अचक्खु व	५२२	९०७
होइ णरो णिल्लज्जो	७३६	१६३८	हादु सिहडा व जडा	५०५	८३८
होइ सय पि विसीलो	५२७	९०८	होदि य वेस्सो	६६६	१३७८
होइ सुतवो य दोवो	६८८	१४६१			

विजयोदया में आगत पद्यों और वाक्यों की अनुक्रमणी

अ

अचेलगास्स लूहस्स	३२७
अचेलगाण लूहस्स	३२७
अजीवकाया धर्माधर्म [त० सू० ५११]	३६
अज्जवसिदेण वधो [समय० २६२]	४९०
अजानकाष्ठजणितस्तव-	६७७
अण्णाणपेह्गरव	४२१
अतो न सौख्य तदिहास्ति	८०३
अत्ता चव अहिंसा	४८९
अत्यल्पमप्यस्य तदस्तु	३५१
अथ कहुति अरुहा	७०
अनुवृत्ति क्रिया भापा	७१५
अन्वदच पश्यन् वधिरश्च	७६९
अन्यावज्ञादरातिक्रमाण	३४५
अन्येषा यो दु खमशो	३४५
अन्योन्यघातार्थमनुप्रयाति	७२१
अन्योन्यतो मत्यजनाच्च	७२०
अन्योन्यरन्त्रेक्षणनष्टनिद्रा	७२१
अपुट्टो ण दु भासेज्ज	३८
अप्यहिय कादच्च	१९७, ३८५, ३९०
अच्च्युपमानितजीवितदेवै	८०२
अभापका एकोष्का	४८३
अरसमरूवमगन्ध [समय० ४९ गा०]	१४
अलाम्बुपत्त वा दासुपत्त	३२४
अवग्रहीनु च तयेहितु च	७६९
असदभिधानमनूतम् [त० सू० ७१४]	४९८
असिर्मापि कृपि सिल्प	४८२
अह पुण एव जाणिज्जा	
[आचारा० ७१४।२०९]	३२५
आ	
आउगवसेण जीवो	५०
आनेलक्को य ठिदो	३३०

आचेलक्को धम्मो

[वृ० कल्पभा० गा० ६३६९]	३२६
आचेलक्को य जो धम्मो [उत्तरा० २३।२९]	३२७
आज्ञापायविपाकविचयाय धर्म्यम्	
[त० सू० ९।३६]	७५२
आत्मानुभूतान्यपि न स्मरन्ति	७१९
आदाय नैदाघरवि शिर सु	८०१
आदावणादिजोग	१०९
आसंरौद्रधर्म्यांशुबलानि [त० सू० ९।२८]	७५४
आलीयणा हु दिवसिग	३३२
इ	
इद सद वदियाण [पञ्चास्ति० १]	३
इति सततमपोह्यमान	३४८
इत्येवमादि शुभकमचिन्ता	८१७
इत्येवमाद्या सुगुणा	७१५
इन्द्रचापतडिदम्बुधराणा	८००
इरिय गोयर सुमिणादि	३३३
ईशितु सुरनृणामयत्नत	८०१
उ	
उच्छ्वसन श्रमज नृपतेऽपि	८०२
उत्सिपेयुरवनी महाबलात्	८०१
उत्तमसहनस्यैकाग्र [त० सू० १।६५]	७५२
उपपत्तिवलादर्थपरिच्छेदो नय	१७
उप्पण्णाणुप्पण्णा [मूलाचार ७।१२५]	३९५
उवसप्पिणी अवसप्पिणी [सर्वार्थ० मे उद्धृत]	७९२
ए	
एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्	
[त० सू० ९।५]	४३९
एकेन्द्रियद्वीन्द्रियता भवेपु	७६९
एकान्तदु न् निरग्यप्रतिप्ला	३५१
एवं जन्मस्वटता प्रमेय	३५१

विजयोदया मे आगत पद्यो और वाक्यो की अनुक्रमणो

२४३

एगधम्मे पक्त्ताण [उत्त० २३।३०]	३२७	गोञ्जाविकाद्यै परिमर्धमाना	७१९
एगेण ताव कप्पेण	३२७	गम्भीरवासिणो पाणा	४१९
एता कर्मभुवो ज्ञेया	४८२	घ	
एत्थ दु उज्जुगभावा	४२७	घ्नन्ति छिन्दन्ति भिन्दन्ति	
एस सुरासुर [प्रव० सा० १]	३	घ्राण विना गन्धमयो हि	७६९
क		च	
कप्पटिदोऽणुको	२०३	चरामितार्याचरितामर्धया	८१७
कप्पटिदो भुज्जदि	२०४	चारित खलु घम्मो [प्रव० सा० १।७]	३२
कप्पटिद भुज्जदि	२०४	छ	
कम्पने कण्येश्चक्रौ	७१५	छिद्धि भिद्धि तुदाकर्प	७१६
कर्मभूमिषु चक्रास	४८३	छिन्नै शिरोभिश्चरणैश्च भग्ने	७१५
कर्मभूमि समुत्पन्नाश्च	४८२	ज	
कलुपचरितैर्नेष्टज्ञान	७९५	जदि सुद्धस्स य वधो	४९०
कसिणाइवत्य कवलाई [निशीय]	३३४	जम्हा विणेदि कम्म	१४३
काओतिक भूदिकम्मे	८५५	जात्या मतो य कुलाद्वापि	३८५
काकिष्णामपि गणयन्	३५०	जात्यन्धमृका वधिराश्च वाला	७१९
काये पातिनि का रक्षा	२९१	जाद सय समत्त [प्रव० सा० १।५९]	१३३
काष्ठमग्निमनिल जल	६२१	जीवाजीवास्त्रवयन् [त० सू० १।४]	१३३
काष्ठशैलशिलारूपं	७११	जीवान्न हन्या न मृषा वदेय	८१६
कि दर्पणेनावृतलोचनस्य	७६८	जे णित्य हु लघुसिगा	३३१
कुर्यान्न तम्मदाजोद्धृतदत्तवेग	७९९	ज्योतिर्विभूपान् गगनप्रवेशान्	८०१
कुल च रूप च यशश्च	८८८	ठ	
कोऽधिकार सुकुलेषु	६१९	ठावणिओ आयरिय	३३२
क्षुद्रा सन्ति सहस्रश	२९९	ण	
क्षुचाभिभूतस्य हि	३५२	ण कहेज्जो घम्मकह	३२८
खमणो याणेसणो	३३२	णगास्स मुडस्स य [दवै०]	३२७
खती मद्द्व अज्जव	८५	ण सिप्पहायति तम्हा ते	४१९
ग		ण मे णिवारण	३२७
गइ इदिये च काये [मूला० १।१७]	१८	णाळण अठ्ठमुवेच्च	३३०
गदिमधिगदस्स देहो [पञ्चाम्ति० १२९]	१३७	णाण दसणचरित्त	८६
गर्भहृतामपि ते दुरवस्था	८०२	णाणो कम्मस्स खयत्य	४९०
गारत्यो अण्णानित्य	२०४	णिइ व बहु मण्णेज्ज	२७७
गीतवाद्यतत्तित्तमनिनार्द	८००	णिग्ग्यादि जहण्णादिमु [वा अणु० २८]	७८८
गुर्णरनेवैरपि मयुता स्त्रिय	८०४	पेहुत्तुपिदगतस्स [मूलाचार० २३६]	७१०
गुप्तिममितिघमन्नुप्रेक्षा [त० सू० ९।२]	१२५		

त		दृष्टं क्वचित्प्रवरत्नविभूषणो	६२२
तत्त्वार्थथद्धान [त०सू० ११२]	९९, १८१	दृष्टा क्वचित्मुरमनुष्यगणप्रधाना	७९९
तस्य एसे हिरिमणे	३२४	दृष्टान्तसिद्धावुभयोविवादे [स्व० स्तो० ५४]	४१
तत्रैकजीव सुखभागमेव	३५१	दृष्टुं हित श्रोतुमयेहित च	७६९
तत्स्थैयार्थं भावना [त०सू० ७३]	१४९	द्विषेह बुद्धिं प्रवदन्ति	७६८
तत्संवा यदि न स्यान्न	३४८	न	
तथा प्रकारो विकलेन्द्रियाणा	७१९	न केवल ते परलोकः	२७१
तथा प्रकारैरन्वंच	७१५	न सृ त्तिविध तिविधेण	१६०
तथेह सर्वं परिचिन्त्यमान	३५२	नग्न प्रंत इवाविष्ट	६२८
तदविरतदेशविरत [त०सू० ९१३८]	७५४	न नेच्छति द्वेष्टि न	८२१
तद्भाव परिणाम [त०सू० ५१४२]	१०६	न बाञ्छति श्रोतुमिहादरेण	८२०
तम प्रवेशोऽम्भसि मज्जन	७७०	न सेवितु रागवशेन बाञ्छति	८२१
तस्मिन् स्वदेहे परिबाध्यमाने	३४६	नान्तर्गतोऽप्य न बहि	३५४
तानपि चासु पतेत् क्षुदनिष्ठा	८०२	नारकाम्त्र तेष्योन्य	७१५
तालैदि दलेदिनि व तलेव [कल्प०]	५७३	नाल विशाल नयन तृतीय	७३०
तिष्ठ दासेव हन्ति त्वा	७१६	निमज्जमाना उदविन्दुनापि	७१९
तीर्थादवाप्त श्रुतमस्ति यस्य	७६८	निरोक्ष्य न द्वेष्टि	८२०
तेऽवधिना विधिना बहु	८०३	निशम्य न द्वेष्टि यदृच्छयापि	८२०
तेस्ते प्रकारे सतत समन्ता	७२०	निपेव्य न द्वेष्टि यदृच्छयापि	८२०
त्यागाद्भोगादेव समुत्प	८०४	निपेवितु रागवशेन काञ्चति	८२०
त्रिलोकमल्ला	२७१	नृपश्च दास श्वपश्च विप्रो	६१९
द		प	
ददृष्टुण व सोदृष्टुण	२०४	पडिकमण गदिय	३३२
दत्त्वा द्यावापृथिव्यो	७७६	पडिलेखं पाप्रकदल	३२३
दप्प पमाद अणाभोग	४२१	पडिलेहण पादपुछन [आचा० २१५]	३२३
दर्शनमात्रमपि मत्ता	३४८	पटमन्मि सव्वजीवा [आव० सू०गा० ९१]	३३०
दानेन तिष्ठन्ति	१३४	परमचिय विगलदिय	३२
दिव्यवीर्यबलविक्रमायुषो	८०१	परिचत्तेमु वत्येसु	३२६
दुःउपद जहाजाद [मूला० ७१०४]	१५४	पावकाचलमुरत्त वनावनी	८०१
दुःसंयो भवति नरेण	३५०	पास्त्यो सच्छ दो	५५
दुःविष पुण तिविहेण	१६०	पित्तप्रकोपेन विदह्यमाने	३५२
दूरमप्यतिपनन्ति लाप्रवात्	८०१	पीठिन्ना मदपत्यके	४१९
देनप्रवृत्तिगृहिणामावृत्सनात्	८१५	पुष्पात्तव सा त्रिविधानुबम्पा	८१६
देहो भवोत्ति बुच्चदि	४९	पुरप्रामादयो यत्र	४८३
ददह्यमानाश्च दवाग्निवेगे	७२१		

पुष्यगहिद पि णाण	१३९	माल्यैर्गन्धै सुखमनुलिप्ता	८०२
पृथिव्यक्षेत्रो	५	मिथ्यादर्शनाविरति [त०सू० ८।१]	४६१
पृष्टोऽप्यन्यै	३४५	मुष्टिभिर्यष्टिभिलोष्ठै	७१५
पचवदाणि जदीण	१५१	मूत्रपथादशुचेरतिदु ख	८०२
प्रपाल्य मयम यत्र	४८२	मृगपासनमस्तकोष	८००
प्रपीयमानेऽम्बुनि पातितो	८०३	मृत्युकृत च विचिन्त्य	८०२
प्रबन्धे पातयाम्येन	७१६		
प्रमत्तयोगात् प्राणव्य [त०सू० ७।१३]	६०५	घ	
प्रमादलोपार्थमतो नरेभ्यो	७१९	यच्चापद सौख्यमितीष्यतेऽत्र	३५१
प्रमोयते ह्यम्बु तृपाप्रशान्त्यै	३५२	यतश्च नंकान्तसुखप्रदानि	३५२
प्रविकाशय वक्त्रपङ्कजानि	८००	यत्पापे भृशमहिते करोति	३५०
प्रविश्य जन्मोदधिमध्येमेव	७२०	यत्र नार्यो नराश्चैव	४८३
प्राणभृतामिह मध्यमलोके	८०२	यत्र प्रकृतिभद्रत्वात्	४८३
प्राप्नोत्युपात्तादिह	३४५	यन्सुरसौख्यमनाप्य विभावे	८५३
प्राय इत्युच्यते लोक	३९०	यथाणुक्तेऽपहतैर्जप भोजने	८०३
		यथा न भायाच्चलमौलिमालो	८१६
फ		यथाहमचेली	३२६
फुल्लपङ्कजसमैरथ हस्तै	८००	यदि सन्ति गुणास्तस्य	३०१
ब		यद्बद्धशादिप्रहतैर्गजाश्च	७२१
वन्ध को वा कोऽथवा	३४६	यद्येकदेहवहने लभतेऽपवाद	७९९
वलायुपो रूपगुणाश्च	३४६	यस्य गुणस्य भावाद्	४३
वुद्धि तत्र विगुव्य	७०	येषा न माना न पिना	७२०
भ		यस्तु प्राप्याप्यु	३४५
भवेत्वनन्तेषु सुखे तथापि	३५१	य सहसा भयमभ्युपायि	८०३
भूदीय ब ध्रुलीय वा	८५५		
भूत्वाङ्गुलस्यासस्येय	४२३	र	
भूत्वाऽय मुन्दरतरौपि	३५०	रत्तो वा दुद्दो वा	४८०
भूत्वा मनुष्यपतय	६२२	ह्रपरसगन्य	२२
म		रोगजगदिविकलत्वविहोना	८०३
मज्जपती जलीभूय	७१६	रोपेण मानेन च मायया च	८१६
मति स्मृति सज्ञा [त०सू० १।१३]	३७८	ल	
मत्यायुतानामलमेतदेव	७२१	लिङ्ग गृहीत्वा महतामृषीणा	८१७
मद्यतूर्याम्बराहार	४८२	लोको नाऽय नापरो नापि चात्मा	३४६
महागुहा भीमतम प्रवेशात्	७७०	व	
मात्रावियोमेऽपि सतीह	७२०	वने मृगास्तोयतृणप्रपुष्टा	७२१
मा भैष्ट मा भूतव दु खजात	७२०	वने मृगेभ्य पिशितागानेभ्यो	७२१

वराङ्गनाङ्गानि व रागचोदितो	८२०	सर्वोपसर्गानिह मोक्षकामा	७१९
वरिस चोवरधारी [भावना]	३२४	सर्वतश्च विमलाम्बर वणं	८००
ववहारे मम्मत्ते	६१	सव्वम्मि लोखित्ते [वा० अणु० २६]	७९१
वातपित्तकफजै परिमुक्त	८००	सघातज प्रसिधिलास्थि	३५४
वायुप्रकोपजनिते कफपित्तजैश्च	३५४	सपूर्वाशा स्वमुरभिगन्धे	८०२
विघ्नकण्ठमन्तरायस्य [त० सू० ६१७]	२	मवासवेदणोपाद	२७४
वियोजिता आत्मसुतैश्च बाले	१२१	ससारोच्छेदकरो	३४८
विरदो सावगवग्ग च	३३०	ममारवासे भ्रमतो हि	६१९
विषयमुखप्रतिबद्धलोलचित्तो	८१२	साधना शिवगतिमार्ग	३४९
विषया जनितेन्द्रियोत्पवा	८१२	साधूपसेवन यदि	३४८
		सिद्ध सिद्धद्वयण [सम्मति० १११]	३
		मुखेनैव जीवन्तो	८०२
शङ्कराक्षा विचिकित्सा [त० सू० ७१२३]	३८	सुदृष्टयो वापि कृष्टयो वा	८१५
शशुमिश्रमुदासीन	७१५	सुदुर्लभं मानुषजन्म	८१६
शरीरसौम्याय न यद्वच सेवते	८२१	सुहुमा सन्ति पाणा	४१९
शीतापनुत्प्रावरण च दृष्ट	३५२	सूक्ष्मे शरीरैरपि ते	७२०
शीते निवात सलिलादि	७१९	सेसे पुण तित्थयरे [प्रव० सा० ११२]	३
शुक्र सिंघाणक श्लेष्म	४८२	सोलसविधमुद्देश [कल्प०]	३२०
शुक्ले चाद्य पूर्वविद [त० सू० ९१३७]	१३७	सौख्य वाछन्नात्मनो	३४५
शुभ न जिघ्रासति	८२०	स्तनधयान्त्वानपि भक्षयन्त	७२०
श्रवणविवलो वाग्धीनोऽज्ञो	७९५	स्त्रीमुद्रा मकरध्वजस्य [शृ०श०]	३४७
श्रेयोऽर्थिना हि जिनमासन [वराङ्ग १११३]	३९०	स्थानश्रमस्योपधमासन च	३५३
श्रेया कथ न यतयो	३४८	स्वबुद्धिमात्रामपि	७६१
श्वशृगालवृकव्याघ्र	७१५	स्वभावपापा कुक्कवीरिताभि	७२७
		स्वाभाविकी यस्य भर्तिविशुद्धा	७६८
		स्वगंधश्च मोक्षश्च मयोपदिष्टा	८२८
			ह
मचेलगो मुखी होदि	३२६	हृयकर्णा गजकर्णा	४८३
सदादिनु वि पवित्तो	३३३	हरिततणोसहिगुच्छा	५७३
ममणं वदेज्ज मेधावो	३६७	हिरिमणे वा जुग्गिदे	३२८
समुद्रद्वीपमध्यस्था	४८३	हिरि हेतुक् व होइ	३२५
सम्मत्त णाण दमण []	१५	हिसानृतस्तेयविषय [त०सू० ९१३५]	७५४
सम्यग्दर्शनज्ञानचारिणाणि [त० सू० १११]	३६७		
सम्यग्दृष्टि श्रावक विरता [त० सू० ९१४५]	४७		
सर प्रविश्येह यथा नर	७२०		

पारिभाषिक शब्दानुक्रमणी

	अ	आगमभाव सामायिक	१५२
अच्छेज्ज (दोष)	२४६	आगमभाव सिद्ध	५, ८५८
अथालन्द विधि	१९७	आगमभाव अर्हन्	८४
अद्धानशन	२३७	आगमभाव नमस्कार	४७१
अद्वायु	५०	आचार्य	८६
अनशन	१९	आजीव (दोष)	२४७
अनशन के भेद	२३६	आजीव कुशील (मुनि)	८५५
अनभिगृहीत मिथ्यात्व	०९	आज्ञाविचय	७५८
अनायत्तन	८१	आदान निक्षेप समिति	
अनिसृष्ट (दोष)	२४६	आद्यन्तमरण	५३
अनुभवावीचिकामरण	५३	आघा कर्म	२४५
अपायविचय (ध्यान)	७५८	आलोचना	२०
अपवादिक लिंग	११३	आवीचिमरण	५१
अप्रशस्त राग	९६	आसुरो भावना	२०३
अवभोवव्भ (दोष)	२४५		
अभिगृहीत मिथ्यात्व	९९	इगाल (दोष)	इ २४८
अभिन्न दसपूर्वी	७०	इगिनो मरण	८७६
अभियोग्य भावना	२२३	इन्द्रिय	१४७
अर्हाहिड (दोष)	२४६		
इद्धि	१४५	ईर्यासमिति	इ ५९९
अर्हन्त अवर्णवाद	९१		
अवधिमरण	५३	उत्तर गुणप्रत्याख्यान	१५८
अवमोदर्य	१९, २३७	उत्थित निपण्ण (कायोत्सर्ग)	१६२
अवसन्न (मुनि)	८५३	उत्थितोत्थित (कायोत्सर्ग)	१६२
	आ	उद्गम दोष	२४५
आक्षेपणी कथा	४४०	उद्देशिग	२४५
आगमद्रव्य नमस्कार	४७०	उत्पादन दोष	२४६
आगमद्रव्य प्रतिक्रमण	१४६	उद्भिन्न (दोष)	२४६
आगमद्रव्य सिद्ध	५, ८४	उद्यवन	८
आगमद्रव्य अर्हन्	८४	उद्योनन	९
आगमभाव नमस्कार	४७१	उन्मिथ दोष	२४८
आगमभाव प्रतिक्रमण	१५९	उपकरणवकुश	८५४
		उपाध्याय	८६

	पृ०		प०
उभय शुद्धि	१४५	ग	
उपमा सत्य	६०२	गच्छ प्रतिबद्ध अथालन्दक	२०१
उवसपा गमाचार	३८०	गिद्धपुद्ग मरण	५७
		गुप्ति	३७,१४७
ए			
एकत्व वितर्क अवीचार	८३७	घ	
एकत्व भावना	८३४	चारित्र	१९
एकान्त मिथ्यात्व	४६	चारित्राचार	८६,३७९
एषणा समिति	६०४	चिकित्सा दोष	२४७
		चेत्य अवर्णवाद	९१
ओसण मरण	५५	चेत्य वर्ण जनन	८८
		च्यावित्त	४७१
ओ		च्युत (शरीर)	८७०
ओत्सर्गिक लिंग	११३		
ओपशमिक सम्यवत्व	६७	छ	
		छेद (प्रायश्चित्त)	२०
क			
कक्व कुशील	८५५	ज	
कन्दर्प भावना	२२२	जनपद सत्य	६०१
कपाय	१४७	जिन कल्प	२०५
कायक्लेग	१९,०४२	जिन वचन	१०
कायगुप्ति	५९७	जीवाधिकरण	४२४
कापोत्सर्ग	१६१	ज्ञायक शरीर अर्हन्नाम	८४
काल प्रतिक्रमण	१५५	ज्ञानाचार	८६,३१९
काल प्रतिसेवना	३५७		
काल प्रत्यास्मान	१५८	ठ	
काल ससार	३४२,७९१	ठविद	१४१
किल्बिप भावना	२२२	त	
कुशील मुनि	८५४	तद्भव मरण	५३
कुहन कुशील	८५५	तद्घतिरिक्त द्रव्याहंन	८४
कौतुक कुशील (मुनि)	८५४	तपाचार	८६,३१९
धायिक सम्यवत्व	६७	त्यक्त (शरीर)	४७१
धायोपशमिक सम्यवत्व	६७	द	
क्षेत्र प्रतिक्रमण	१५५	दर्शनाचार	८६,३१९
क्षेत्र प्रतिसेवना	१५६	दायक दोष	२४८
क्षेत्र प्रत्यास्थान	१५८	दूत कर्म दोष	२४७
क्षेत्र ससार	३४२,७९०	देह बकुन	८४४
		द्रव्य क्रीत	२४६

	पृ०		पृ०
द्रव्य पूजा	८७	नित्तरण	८
द्रव्य प्रतिक्रमण	१५५	नो आगम द्रव्य नमस्कार	४७०
द्रव्य प्रतिमेवना	२५६	नो आगम द्रव्य व्यतिरिक्त कर्म प्रतिक्रमण	१५६
द्रव्य प्रत्याख्यान		नो आगम द्रव्य प्रतिक्रमण	१५६
द्रव्य प्राण	६९	नो आगम द्रव्य तद्व्यतिरिक्त नमस्कार	१५३
द्रव्य शल्य	३०८	नो आगम द्रव्य सामायिक	१५३
द्रव्य श्रिनि	२१७	नो आगम द्रव्य सिद्ध	५,८५
द्रव्य ममार	३४१,७८९	नो आगम भाव चतुर्विधगतिस्त्व	१५४
		नो आगम भाव नमस्कार	४७०
घ		नो आगम भाव प्रतिक्रमण	१५६
घर्म	८५	नो आगम भाव सामायिक	१५३
घर्म अर्वा वाद	९२	नो आगम भाव सिद्ध	५
घर्म वर्ण जनन	८९		
घर्मानुक्त्वा	८१४	प	
घर्मध्यान	७६९	पण्डित मरण	५४
घात्रोदोष	२४७	परियट्ट	२,२६६
घूम दोष	२६८	परिहार मयम विधि	२०१
घृनित्रल भावना	२२४	पादुकार	२४६
		पादोपगमन मरण	६४
न		पाद्वंस्यमुनि	८५४
नाम अहंत्	८३	पाहृडिग	२४६
नाम नमस्कार	४७०	पामिच्छ (दोष)	२४६
नाम प्रतिक्रमण	१५५	प्राणोपगमन मरण	६४
नाम प्रत्याख्यान	१५७	पिहिना (दोष)	२६८
नाम सत्य	६०१	पुनिक (दोष)	२४९
नाम सामायिक	१५३	पूयक्त्व वितर्कवाचार	८३९
नाम सिद्ध	४,८४	प्रतिक्रमण	२०, ३०, १५५, १५७
निक्षिप्ता (बमनि)	१८८	प्रतिष्ठापना ममिति	६०५
निदान	६१३	प्रनोन्प्रमन्	६०१
निदिन दोष	२४७	प्रत्याख्यान	१५७
निमित्त कुशोल	८५५	प्रदेश वीचिकामरण	५३
निर्वहन्	८	प्रपातन कुशोल	८५५
निर्वान	३३	प्रयो विनय	१५५
निर्वेजनी कथा	४४०	प्रमाणातिरेक दोष	२६८
निःशल्य	१-९	श्रवचन मात्रा	६००
निःशय-निःशय (कायोन्मर्ग)	१६३		

प्रशस्त राग
प्रसेनिका कुशील

व

बलाय मरण
वाल पण्डित मरण
वाल मरण

भ

भक्त प्रत्याख्यान
भक्ति
भव ससार
भवायु
भाव क्रीत
भाव पूजा
भाव प्रत्याख्यान

भाव प्राण
भाव शल्य

भाव ध्रिति
भाव सत्य

भाव ससार

भावि प्रनिव्रतमण

भावि सामायिक

भावि सिद्ध

भाषा समिति

भूति कुशील (मुनि)

म

मनोगुप्ति

मालारोह

मिथ्र (दोष)

मिश्रानुकम्पा

मूल (प्रायश्चित्त)

मूल कर्म दोष

मूल गुण प्रत्याख्यान

मिश्रित दोष

पृ०

२५

८५५

५७

५७

५३

१५८

८७

३४२

४९

२४६

८७

१५८

४९

३९४

२१७

६०१

३४१

७९२

१५६

१५३

५, ८५

६००

८५५

५९५

२४६

२४५

८१५

२७

२४७

१५८

२४७

यथाच्छन्द मुनि
योग

रस परित्याग

रूपसत्य

वचन गुप्ति

वर्णिगवा दोष

बन्दना

वर्ण जनन

वसदृमरण

विक्षेपणी कथा

विनय

विपरीत मिथ्यात्व

विपाक विचय

विष्माणस मरण

विविक्त शय्यासन

विवेक

विवेक (किं भेद)

वीत रागसम्भ्यदर्शन

वीर्यचार

वृत्तिपरिसरस्यान

वैयावृत्य

व्यञ्जनशुद्धि

व्यवहार सत्य

शुद्धित दोष

शुद्धनय

श्रुत

श्रुत अवर्णब्रह्म

श्रुत भावना

श्रुत वर्णजनन

घ

र

व

श

पृ०

८५६

४४

१९, २३८

६०१

५९५

२४७

१५४

८७

५७

४४०

२०, ३०

४७

७५८

५९

२०, २४४

२७

२१४

१६

८६, ३१९

१९, २४०

१४४

६०१

२४७

१७

८५

९२

२२८

८८

	पृ०		पृ०
स		सर्वाविधिमरण	५३
सभावनासत्य	६०१	सशत्यमरण	५६
समूर्च्छनाकुशील	८५५	सामाचारी	१९३
समोह भावना	२२४	साहारण दोष	२४८
मयोजना	४९५	नाद्यु अवर्णवाद	९२
संवेजनी कथा	४४१	साद्यु वर्णजनन	९०
सशाय मिथ्यात्व	४७	सामायिक	१५०, १५५
ससक (मुनि)	८५६	सिद्ध अवर्णवाद	९१
सस्तव दोष	२९७	सिद्ध वर्णजनन	८८
सस्थान विचय	७५८	सूक्ष्मक्रिय ध्यान	८३८
सत्वभावना	२३१	स्थापना प्रतिक्रमण	१५५
समिति	३७, १८८	स्थापना प्रत्याख्यान	१५८
मम्मति सत्य	६०१	स्थापना सत्य	६०१
सराग संम्यक्त्व	९६	स्थापना सिद्ध	५, ८४
सर्वानरान	२३७	स्थापना सामायिक	१५३
सर्वानुकम्पा	६१४	स्वाध्याय	१७८



अशुद्धि-शुद्धि पत्रक

पृ०	प०	अशुद्धि	शुद्धि	पृ०	प०	अशुद्धि	शुद्धि
२	१०	रम प्रकप	रस प्रकपं	४४९	८	जत्प	जन्म
७	४	चचितमि	चचितमिति	४५०	१०	तेल्लकायादमीहि	तेल्लकमायादोहि
१०	२	चरितमि	चरित्तमि	४६८	२	शील	मोल
१४	१३	ज्ञानभे	ज्ञानभेदे	४९६	१४	तस्मान्दि	नन्मादि
४७	१०	वस्तुस्वरूपाव-	वस्तुस्वरूपानव	५०२	१	कक्कम्म	कक्कम
५९	११	गिद्धतुट्टु	गिद्धपुट्टु	५३७	११	दिट्टपि	दिट्टपि प
७२	६	आकग	आकाश	५६५	१	इदियकत्तय	इदियकत्ताय
१६७	४	इच्चेवमानि	इच्चेवमादि	६०६	७	पडते	पडत्ते
१६७	८	पूयावयण	पूयावयण	६२८	१२	स्वनन्निवि	स्वनन्निव
१७१	४	आयारजीव	आयारजोद	६३३	९	वज्जत्तपरदो	वज्जत्तम्परदो
२५५	१४	लाघव	लाघव	६४७	७	मह	तुरु
२९८	३	वासत्प	पासत्प	६७१	१३	वाइद्ध	वावद्ध
३००	१०	सत्तो	सत्ता	६९९	१	कडुव	कडुगं
३०४	१	वरस्त	परस्त	७१६	९	पातयाप्पेन	पातयाम्भेन
३१३	१७	सल्ल उद्धारदु	सल्ल उद्धरिदु	७२३	१५	जंते	ज ते
३२६	८	उपत्त गंस	उपमर्गं स	७३८	११	पुणरिव	पुणरवि
३६०	२	गिलामिदगो	गिलामिदगो	७४१	१	णिमित्तेण	णिमित्तेण
३७७	११	मइसपण्णो	मइमपण्णो	७८३	१२	कोह	कोइ
३९२	८	आपेण	बोधेण	८६९	७	भयवत्तो	भयवत्ता
४०२	१०	किरियम्म	किरियम्म				